



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिन्वाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संग्रह के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

जैनधर्म में आराधना का स्वरूप

लेखिका
साध्वी दिव्यांजनाश्री जी

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ
शान्तापुर (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आनंदमागर जी महाराज
(अंकनीकर)

(तृतीय पट्टाधीन)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीन)



परम पूज्य तपस्वर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

(द्वितीय पट्टाधीन)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरामणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

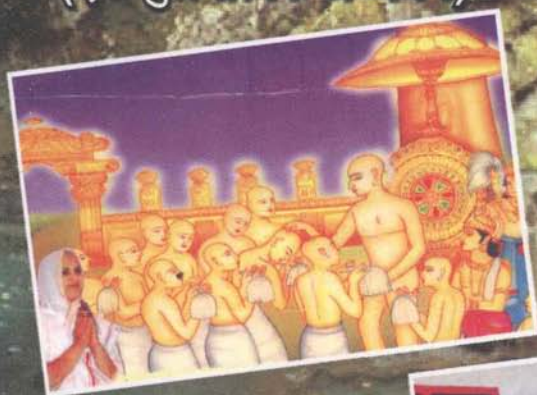
इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

संवेगरंगशाला में प्रतिपादित

जैन धर्म में आराधना का स्वरूप

(एक तुलनात्मक अध्ययन)



प्रेरक

प.पू. सुलोचना श्री जी

लेखिका

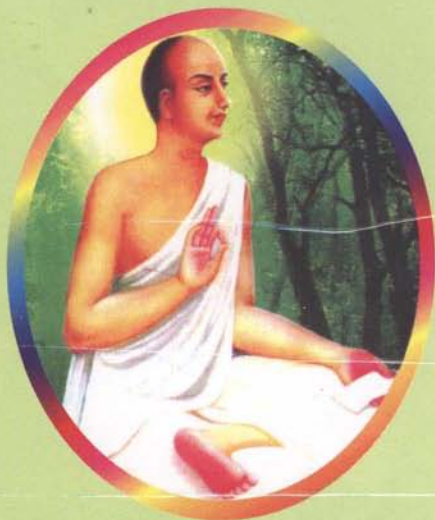
साध्वी दिव्यांजना श्री

सम्पादक एवं मार्गदर्शक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक—प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरुदेव



दादा श्री जिनदत्तसूरिजी



दादा श्री जिनकुशलसूरिजी

संवेगरंगशाला में प्रतिपादित
जैन धर्म में आराधना का स्वरूप
(एक तुलनात्मक अध्ययन)

प्रेरक
प.पू. सुलोचना श्रीजी
प.पू. प्रियरंजना श्रीजी

लेखिका
साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी

सम्पादक एवं निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

- ग्रन्थ का नाम- संवेगरंगशाला में प्रतिपादित
 'जैन धर्म में आराधना का स्वरूप'
 जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य वि.वि.) द्वारा
 पी-एच.डी.की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध
- सम्प्रेरक - साध्वीवर्या श्री सुलोचना श्रीजी; श्री सुलक्षणा श्रीजी
 एवं श्री प्रियरंजना श्रीजी
- लेखिका - साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी
- प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
- प्राप्तिस्थान - १. प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़
 शाजापुर (म.प्र.) ४६५००१
 २. सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना,
 रतनपोल, अहमदाबाद (गुजरात)
- प्रकाशन वर्ष - प्रथम संस्करण ई. सन् २००७
- मूल्य - २५०/-
 दो सौ पचास रुपये मात्र
- मुद्रक - आकृति ऑफसेट
 ५, नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)
 दूरभाष - ०७३४-२५६१७२०
 मोबाईल - ९८२७६-७७७८०

श्री पार्वनाथ परमात्मा



“श्री पार्वमणि जैन तीर्थ”

पेद्दतुम्बलम, आदोनी



॥ सम्यग्ज्ञानप्रदा भूयात् भव्यानाम् भक्तिशालिनी ॥

सादर समर्पण



पूज्या सुलोचनाश्रीजी म.सा.



पूज्या सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

परमात्म भक्ति से जिनका जीवन महकता है, यथा उपवन !
तप-जप-संयम से जिनका जीवन बन गया है यथा दर्पण !
पार्श्वमणि तीर्थोद्धार से जिनका जीवन बन गया है धन्य-धन्य !

ऐसी गुरुवर्याश्रीजी के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन !
मातृहृदया समन्वित है आप वात्सल्य-भाव रस अमृत !
ऐसी गुरुवर्या के चरणों में है यह मेरा जीवन अर्पित !

उन परम श्रद्धेया, शान्तमूर्ति परम पूज्या सुलोचनाश्रीजी म.सा.

एवं पूज्या सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

के पावन चरणों में यह कृति सादर समर्पित ।

- प्रियदिव्यांजनाश्री

ग्रंथ विमोचन



पूज्या साध्वी श्री लयास्मिता श्रीजी म. सा. एवं पूज्या साध्वी श्री प्रियंजना श्रीजी म. सा. के सान्निध्य में लेखिका डॉ. पू. प्रियदिव्यांजना श्रीजी म. सा. को विमोचित ग्रंथ की प्रति भेंट करते हुए प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर के संस्थापक-निदेशक डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशन सहयोगी

१	श्रीमान अशोककुमारजी, गौतमकुमारजी, रमेशकुमारजी निम्माणी	चैन्नई
२	श्रीमान स्व. हेमचन्दजी सा. के सुपुत्र मनोजकुमार, ललितकुमार, संजयकुमार झाबक	चैन्नई
३	श्रीमान नेमीचन्दजी सा. राजेन्द्रकुमारजी कटारिया, (मरुधर में पादरु)	चैन्नई
४	श्रीमान भवरलालजी सा. जयन्तीलालजी गुलेच्छा (मरुधर में पादरु)	चैन्नई
५	श्रीमान चम्पालालजी, कान्तिलालजी, अशोककुमार, गौतमकुमार गुलेच्छा (मरुधर में पादरु)	चैन्नई
६	श्रीमान दादागुरु भक्त मण्डल	चैन्नई
७	श्रीमान स्व. जवरीलालजी की धर्मपत्नी कमलाबाई सा. टाटिया	चैन्नई
८	श्रीमान गुमानमलजी सा. तिलोकचन्दजी भंसाली	चैन्नई
९	श्रीमान खेतमलजी सा. मानमलजी सा तातेड़ मरुधर में विशाला	बाड़ेमर
१०	श्री जगवल्लभ पार्श्वनाथ जैन श्वे. मूर्तिपूजक आराधक संघ	बिजापुर

शुभ आशीर्वाद

न जन्म हमारे हाथ में है, न मृत्यु ! जन्म के लिये समय, स्थान, घर, परिवेश आदि का चुनाव हमारे हाथ में नहीं है। न मृत्यु की तिथि या उस योग्य घटना का चुनाव किया जा सकता है।

पर हमारे हाथ में है जीवन ! जीवनचर्या ! कैसे जीना ? इसका चिन्तन/विश्लेषण कर निर्णय किया जा सकता है।

और जीवन का परिणाम है- मृत्यु की स्थिति ! भले मृत्यु का क्षण हमारे हाथ में न हो, पर मृत्यु की स्थिति हमारे हाथ में है।

स्थिति का अर्थ है- उस समय की मानसिक दशा ! और यह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह जीवन का परिणाम है।

जिस व्यक्ति का चिन्तन गहराई से भर गया हो, वह व्यक्ति जीने के लिये जीवन नहीं जीता अपितु मौत के लिए जीता है और सच्चाई यह है कि जो मौत के लिये जीता है, वही सही अर्थों में जीवन जीता है... उसी का जीवन सार्थक है।

वह मौत की प्रतीक्षा नहीं करता पर आने पर सहर्ष स्वीकार करता है। वह जीवन भी उतने ही आनन्द से जीता है और मृत्यु के क्षणों को भी उतनी ही प्रसन्नता से स्वीकार करता है।

इसीलिये शास्त्रों में कहा है- जिसकी मृत्यु महोत्सव बनती है, उसी का जीवन उत्सव कहलाता है।

मृत्यु के लिए जीने का अर्थ है- मृत्यु को समाधिमय बनाने का पुरुषार्थ करना। समाधि अवस्था में मृत्यु को प्राप्त करने का अर्थ है- भविष्य का उत्तम निर्माण करना और वर्तमान को सार्थक करना।

समाधिमय मृत्यु का संकल्प एक भव्य आत्मा में ही हो सकता है। अधिकतर लोग या तो मृत्यु से डरते हैं या फिर जीवन से हार जाते हैं।

साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी ने अपने शोध-प्रबन्ध के लिये एक अनूठे विषय का चुनाव किया है। अन्तिम क्षणों को कैसे आराधनामय बनाया जाय, यह इसका प्रतिपाद्य विषय है।

इस विषय में पूर्वाचार्यों ने कई ग्रन्थों/प्रकरणों का लेखन किया है। खतरगच्छाचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि म. द्वारा रचित संवेगरंगशाला एक ख्यातनाम अनुपमेय विशाल ग्रन्थ है।

इन ग्रन्थों पर परिशीलन करके एक विराट् कार्य सम्पादित किया है।

यह शोध-प्रबन्ध समाधि का कारक बनेगा और जीवन व मृत्यु को महोत्सव बनाते हुए आराधना की ओर उन्मुख करेगा, ऐसा विश्वास है।

मेरा शुभ आशीर्वाद है कि साध्वी दिव्यांजना श्रीजी साहित्य-संशोधन-लेखन आदि के क्षेत्र में लगातार कार्य करती रहें... प्रगति साधते रहें।

हैदराबाद

- मणिप्रभसागर जी

०७.०७.०७

शुभाशीर्वाद

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में खरतरगच्छ के आचार्यों का साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अवदान रहा है। उनके द्वारा रचित लगभग पाँच हजार कृतियों की जानकारी आज भी उपलब्ध है।

खरतरगच्छ के आचार्यों में आचार्य जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का नाम उनकी महत्वपूर्ण कृति 'संवेगरंगशाला' के कारण सुज्ञात है। संवेगरंगशाला एक वैराग्य-प्रेरक रचना है। यह कृति समाधिमरण सम्बन्धी ग्रन्थों में बृहद्काय है और प्राकृत भाषा में निबद्ध है। लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व रचित इस कृति को आधार बनाकर साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी ने डॉ. सागरमल जैन के मार्गदर्शन में जो शोधकार्य किया और जिस पर उन्हें जैन विश्वभारती संस्थान लांडनू से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई, वह कृति आज 'जैनधर्म में आराधना का स्वरूप' नाम से प्रकाशित हो रही है- यह प्रमोद का विषय है।

साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी खरतरगच्छ संघ की ही एक साध्वी है। वे अध्ययनशील एवं सौम्य स्वभाव वाली हैं। उनकी इस कृति के प्रकाशन के अवसर पर मैं उन्हें बधाई देती हूँ और आशा करती हूँ कि वे श्रुतसेवा के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हों।

इस कृति के मार्गदर्शन, सम्पादन एवं प्रकाशन में डॉ. सागरमलजी जैन और प्राच्यविद्यापीठ शाजापुर ने जो सहयोग देकर यह कार्य पूर्ण किया है उसकी अनुमोदना करते हुए उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान करती हूँ।

उज्जैन

आषाढ़ शुक्ला एकादशी २०६५

महत्तरा पद विभूषिता साध्वीवर्या

श्री विनिताश्रीजी म.सा.

मंगल कामना

संवेगरंगशाला आत्मसाधना का प्रेरक ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें निर्दिष्ट आगमिक निर्देशों का परिपालन कर व्यक्ति जीवन को सार्थक बना सकता है। यह ग्रन्थ इस लोक परलोक में समाधि की उपलब्धि का अमोघ माध्यम है। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नतीसवें अध्ययन में संवेग की महिमा बतायी है। गौतम स्वामी ने पूछा-

“संवेगेण भन्ते। जीवे किं जणयइ?”

भन्ते! संवेग से जीव को क्या प्राप्त होता है?

परमात्मा ने कहा-संवेग से जीव अनुत्तर धर्म-श्रद्धा को प्राप्त करता है। धर्म श्रद्धा से अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करके दर्शन विशुद्धि के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का आराधक बन जाता है तथा उसी भव में या तीसरे भव में अवश्य ही मोक्षगामी बनता है।

“संवेगरंगशाला” इस ग्रन्थ के कर्ता परमपूज्य महाउपकारी आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरिजी हैं। आप नवांगी टीकाकार परम गीतार्थ आचार्य अभयदेवसूरीश्वरजी के लघु गुरु भ्राता थे। भव-भीरु प्राणियों के मार्गदर्शन हेतु इस विशाल ग्रन्थ की रचना की है।

“संवेगरंगशाला” में प्रतिपादित आराधना का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन इस विषय पर साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्रीजी ने अथक परिश्रम कर अनुमोदनीय शोध कार्य किया है। इसमें उन्होंने जन-जन को सम्यक् जीवन जीने की शैली एवं आत्मकल्याण का मार्गदर्शन दिया है।

प्रकाण्ड विद्वान्, प्रबुद्ध चिन्तक डॉ. सागरमलजी सा. जैन के पावन सान्निध्य एवं मागदर्शन में ज्ञानोपार्जन करके उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण जनोपयोगी कार्य किया है। यह ग्रन्थ साधक आत्माओं के लिए प्रकाश स्तम्भ बनकर उनके हृदय पटल पर आच्छादित अज्ञान के आवरण को दूर करने का उत्तम आलंबन बने। साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी श्रुत साधना, आराधना में सतत् गतिशील होकर स्व पर कल्याण में अग्रसर रहे यही अन्तर कामना और है। सह मंगल आशीष!

३१.५.०७

- सुलोचनाश्री
पार्श्वमणि तीर्थ

शुभाशीष

संवेगरंगशाला जैन साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचित है। इसके रचनाकार खरतरगच्छ के जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्री जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) हैं। रंगशाला का अर्थ है नाट्यगृह। रंगशाला दो प्रकार की है एक संसार रंगशाला और दूसरी संवेगरंगशाला। संसार रंगशाला में जीवात्माएँ विभिन्न योनियों में जन्ममरण करते हुए अपना अभिनय करती हैं, जबकि संवेगरंगशाला में जीवात्मा संसार के विरक्त होकर मोक्ष रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आत्म-साधना के विविध उपक्रम करता है। संसार रंगशाला भवभ्रमण का हेतु है जबकि संवेगरंगशाला मुक्ति का मार्ग है।

जिन शासन में तीर्थंकर परमात्मा ने भवभ्रमण से मुक्ति का मार्ग बताया है। संवेग शब्द का अर्थ है- वैराग्य या संसार के प्रति अनासक्ति। राग आत्मा को संसार से जोड़ता है, तो वैराग्य संसार को तोड़ता है। संवेगरंगशाला में आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने वैराग्य की साधना के विविध उपक्रम बताये हैं। उन्होंने भवाभिनन्दी होने की अपेक्षा आत्माभिनन्दी होने का मार्ग बताया है, जिससे आत्मा भवभ्रमण से छूटकर मोक्षरूपी साध्य की प्राप्ति कर सके। सर्व गुणों में संवेग सर्वश्रेष्ठ गुण है क्योंकि यह संसार परिभ्रमण रूप दुःखों से मुक्ति दिलाकर मोक्ष के शाश्वत आनन्द का रसास्वादन करता है।

आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी के अन्तिम आराधना प्रधान इस ग्रंथ के स्वाध्याय से आत्मा निश्चित ही मोक्षानुगामी बनता है। मेरी प्रिय गुरुभगिनी साध्वी दिव्यांजना श्रीजी ने इस महत्वपूर्ण महाग्रंथ को अपने शोध का विषय

बनाकर आगममर्मज्ञ सरल एवं शांत चिन्तक डॉ. सागरमलजी जैन के मार्गदर्शन में इस वैराग्य प्रधान ग्रंथ पर विशालकाय शोधप्रबन्ध लिखकर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। मेरे लिए यह अत्यन्त ही प्रमोद का विषय है अब उनका यह शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है, उनका यह प्रयत्न सफल हो, ऐसा मेरा शुभाशीष है।

साथ ही पार्श्वमणितीर्थ के मूलनायक पार्श्वप्रभु से यह प्रार्थना करती हूँ, उनके इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर जन-जन मोक्षाभिमुखी होकर साधना और आराधना से जुड़े। मेरी भी यही अन्तिम अभिलाषा है कि इसमें प्रतिपादित सम्यक् आराधना से जुड़कर मैं भी मुक्ति रूपी लक्ष्मी का वरण करूँ।

संवेग ही है सम्यक्-दर्शन,
जिससे मिटता भवभ्रमण रुप क्रन्दन।
यह मिथ्या आग्रहों से मुक्त बनाता,
जीवन में आत्मिक आनन्द लाता॥

- साध्वी सुलक्षणा श्री

शुभेच्छा

जिन्दगी की आदि पर हमारा उतना अधिकार नहीं है, जितना अधिकार हमें हमारे जीवन के अंतिम समय के लिये मिलता है। “संवेगरंगशाला में प्रतिपादित आराधना का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन” शोधग्रंथ में पू. साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्रीजी ने दर्शाया है - कब, क्यों और किस तरह जीवन का अन्त हो ताकि हम निःसहाय, आश्रित स्थिति से उभर कर, पापों से बचकर, सहिष्णुतापूर्वक संसार को प्रणाम कर यहाँ से बहुमान सहित प्रयाण कर सकें।

न जीने की इच्छा हो, न करने की अभिलाषा, न यश की आशा हो, न कामना हो इस लोक की, न परलोक की - कामनाओं से ऊपर निष्काम भाव से, अन्तिम समय किन मर्यादाओं में बीते इसका गहन अध्ययन किया है। शोधकर्त्री साध्वीजी ने और उन्होंने इस ग्रंथ में बताया है- जीवन के अन्त के पूर्व की साहसिक, वंदनीय उर्ध्वगामी भूमिका।

उदाहरणों से सिद्धांतों की समझ सरल होती है। इसलिये इस ग्रंथ में अनेक महात्माओं के वृष्टांत दिये गये हैं जिन्होंने अपने जीवन को, काया और कषायों को, समभाव से क्षीण करते हुए, प्रेरणा पूर्ण बनाने का अदम्य साहस किया।

मौत को निमंत्रण देना एक बात है। उसका स्वागत करना अलग।

मृत्यु को अमृत बनाने की सही राह प्रदर्शित करने वाला यह ग्रंथ हर मुमुक्षु के लिए उपयोगी है। साध्वीश्री साधुवाद की पात्र हैं कि उन्होंने एक ऐसा विशिष्ट विषय चुना जो स्व-पर की जिन्दगी के अन्तिम क्षणों में दीप बन जीवन प्रज्ज्वलित कर सके।

- डॉ. ज्ञान जैन
चैन्नई

जैन साधना का महत्वपूर्ण ग्रन्थ

जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर शाखाओं के आचार्यों ने अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना पर विपुल साहित्य की रचना की है। दिगम्बर परम्परा में 'भगवती आराधना' और श्वेताम्बर परम्परा में मरण समाधि इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इसी विषय पर श्वेताम्बर आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने लगभग बारहवीं शती में प्राकृत भाषा में एक बृहद्काय ग्रन्थ की रचना की थी, उसे ही आधारग्रन्थ बनाकर साध्वी दिव्यांजना श्रीजी ने 'जैन धर्म में आराधना का स्वरूप' नामक शोध-ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म में आराधना का क्या स्वरूप है, इसकी चर्चा विस्तार से की गयी है। ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें साधना और आराधना से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भी उल्लेखित हैं। इससे यह ग्रन्थ सामान्य पाठक की भी रुचि का विषय बन गया है। इन कथाओं में से अनेक कथाएँ दिगम्बर परम्परा के आराधना सम्बन्धी ग्रन्थों जैसे भगवती आराधना, आराधना कथाकोश आदि में भी मिलती है। साध्वी दिव्यांजना श्रीजी ने उन सन्दर्भों का भी यथास्थान उल्लेख किया है, जो उनकी व्यापक अध्ययन दृष्टि का परिचायक है। ग्रन्थ की भाषा-शैली सुग्राह्य है। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए मैं साध्वीजी को बधाई देता हूँ।

भोपाल

१० जुलाई, २००७

- डॉ. रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर संस्कृत

एवं

सम्पादक जिनभाषित

साधना प्रधान सुन्दरकृति

साध्वी श्री प्रियदिव्यांजना श्रीजी का शोध-निबन्ध 'जैन धर्म में आराधना का स्वरूप'- एक महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति का आधार आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा विरचित 'संवेगरंगशाला' नामक ग्रन्थ है। मूलग्रन्थ लगभग बारहवीं शती में प्राकृत भाषा में रचित है। पू. साध्वीजी ने इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर जैन धर्म में आराधना का क्या स्वरूप रहा है, इसे विस्तार से एवं पूरी स्पष्टता से प्रतिपादित किया है। यद्यपि प्रस्तुत कृति का मुख्य प्रतिपाद्य तो अन्तिम आराधना अर्थात् समाधिमरण की साधना रहा है, फिर भी प्रसंगानुसार इसमें श्रावक एवं मुनि वर्ग की सामान्य साधना का भी चित्रण है। मेरी दृष्टि में यह कृति सभी स्तर के साधकों के लिए उपयोगी है। इस कृति के अन्त में जैन साधना के विविध पक्षों के सन्दर्भ में लगभग एक सौ प्रेरक कथाएँ भी मूलग्रन्थ के आधार पर संक्षिप्त रूप में दी गई हैं, जिन्हें पढ़कर सामान्य व्यक्ति भी जैन साधना के क्षेत्र में अग्रसर हो सकता है। इस महत्वपूर्ण कृति के युगानुरूप हिन्दी भाषा में सृजन के लिए साध्वीजी धन्यवाद की पात्र हैं।

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन डॉ. सागरमल जैन के सम्पादकत्व में प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर द्वारा हो रहा है, एतदर्थ वे एवं प्रकाशन संस्था भी बधाई की पात्र है।

- डॉ. धर्मचन्द जैन

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग

निदेशक, बौद्ध अध्ययन

ज.ना. व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

एवं सम्पादक, जिनवाणी

प्राक्कथन

जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत संस्कृत, अपभ्रंश, मरुगुर्जर, तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती और हिन्दी भाषा में विपुल साहित्य का सर्जन हुआ है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) द्वारा प्रणीत संवेगरंगशाला नामक यह कृति महाराष्ट्री प्राकृत का एक विशालकाय और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय जैन साधना और आराधना की विधि है। यह उपदेशपरक और वैराग्य प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का संवेगरंगशाला नाम भी सार्थक है, क्योंकि यह संवेग अर्थात् वैराग्य प्रधान तथा भवभ्रमण से मुक्त करने वाली साधना विधि को प्रस्तुत करता है। रंग शाला शब्द का अर्थ नाट्यगृह या रंग मंच है। दार्शनिकों ने इस संसार को रंगमंच की संज्ञा दी है। यह संसार एक रंगमंच है, जहां जीवात्माएं भव-भ्रमण करते हुए अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत करती हैं। किन्तु आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी एक अन्य रंगशाला की कल्पना की है, जिसे उन्होंने संवेगरंगशाला नाम दिया है। संवेग शब्द सम् + वेग से निष्पन्न होता है अर्थात् जिसमें आवेगों (मानसिक संकल्प-विकल्पों या मानसिक आवेगों) का वेग अर्थात् गति सम् हो जाती है। उसे संवेग कहते हैं। संवेग का सामान्य अर्थ वैराग्य या अनासक्ति या माध्यस्थवृत्ति। संवेग चेतना की वह अवस्था है जिसमें आत्मा इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं संकल्प-विकल्पों से मुक्त होकर निराकुल आत्मिक आनन्द को प्राप्त करती है। वस्तुतः संवेग तनाव मुक्त होकर जीवन-जीने की एक शैली है- यही कारण है कि इसे वैराग्य-मार्ग या मोक्षमार्ग कहा गया है। इसीलिए आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी ने इस कृति में जैन धर्म की अपेक्षा से साधना एवं आराधना की विधि प्रस्तुत करते हुए उन्हें अपनी जीवन-शैली का अंग बनाने की

प्रेरणा दी है। यह कृति तार्किक या दार्शनिक वाद-विवाद से परे होकर उपदेश प्रधान है।

साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने से ही मैंने संयमी जीवन की साधना में रत साध्वी प्रियदिव्यांजना श्री को इस पर शोधकार्य करने की प्रेरणा दी। इस कृति को शोध का विषय बनाने की मेरी दृष्टि में अन्य भी कारण थे। प्रथम तो यह कि प्राकृत भाषा का लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन यह ग्रन्थ अध्ययन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित ही रहा है। दूसरे इस के हिन्दी भाषा में एक अच्छे अनुवाद की महती आवश्यकता थी। तीसरे साध्वीजी जिस खरतरगच्छ परम्परा से सम्बन्धित है, यह उसी परम्परा के आद्य आचार्य का ग्रन्थ था। इन सब तथ्यों पर विचार करके ही इस ग्रन्थ पर शोधकार्य करवाने का निश्चय किया गया।

मेरी यह अवधारणा है कि शोधकार्यों के माध्यम से प्राकृत के कुछ प्राचीन किन्तु उपेक्षित ग्रन्थों को पुनः प्रकाश में लाया जाये। इस दृष्टि से यह शोधकार्य किया गया है।

मुझे सन्तोष है कि साध्वी प्रियदिव्यांजना श्रीजी ने लगभग डेढ़ वर्ष मेरे सान्निध्य में रहकर परिश्रम पूर्वक यह कार्य सम्पन्न किया है। जिस पर उन्हें जैन विश्वभारती से पीएच.डी. की उपाधि भी प्राप्त हो चुकी है। आज उसके प्रकाशन की इस बेला में मैं प्रमुदित हूँ कि उनका यह श्रम अब जन-जन के लाभार्थ सार्थक बन रहा है। जहां इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के प्रारम्भिक अध्ययन जैन साधना के साधकों की दृष्टि से उपयोगी है, वहाँ इसका कथा भाग बालकों और महिलाओं के लिए भी उपयोगी होगा और उनमें नवनैतिक और धार्मिक संस्कारों को जाग्रत करेगी।

वैशाख शुक्ल - १०

वि. संवत्- २०६४

भवदीय

डॉ. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ

शाजापुर (म.प्र.)

भूमिका

जैन-धर्म साधना प्रधान है। इसके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधना या आराधना आवश्यक है। यद्यपि मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आवश्यक माना गया है, किन्तु मोक्ष का अन्तिम हेतु सम्यक्चारित्र ही है। सम्यक्चारित्र का परिपालन ही वस्तुतः साधना या आराधना कहलाता है। साधना एवं आराधना हेतु जैन-दर्शन में विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। जैन-साधनात्मक साहित्य के ग्रन्थों में आगम और आगमिक-व्याख्याओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों में भी कुछ ग्रन्थ सामान्य आचार को लेकर लिखे गए हैं, तो कुछ ग्रन्थ अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना को लेकर लिखे गए हैं। आगम-साहित्य में अनेक प्रकीर्णक मूलतः आराधना या विशेष रूप से अन्तिम आराधना (समाधिमरण की आराधना) से सम्बन्धित हैं।

जैन परम्परा में समाधिमरण की आराधना को विशेष महत्व दिया गया है। जैनदर्शन न केवल जीवन जीने की कला सिखाता है, अपितु मरण की कला भी सिखाता है। जीवन और मरण— ये दोनों हमारे जीवन के अनिवार्य पक्ष हैं। अनेक स्थितियों में यह होता है कि व्यक्ति जीवन तो जी लेता है, किन्तु मृत्यु से भयभीत होकर अपने मरण को बिगाड़ लेता है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य पक्ष है। जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो, तो उसका स्वागत किस प्रकार से करना चाहिए; यह बात जैन-धर्म के अन्तिम आराधना सम्बन्धी ग्रन्थों में या समाधिमरण की साधना सम्बन्धी ग्रन्थों में हमें मिलती है।

जैन-धर्म में लगभग ईस्वी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी से आराधना सम्बन्धी या समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस साहित्य में मरणविभक्ति, आराधनापताका, भगवतीआराधना, वीरभद्र आचार्यकृत आराधनापताका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों में जीवन कैसे जीना चाहिए और मृत्यु का अविचलित भाव से कैसे स्वागत करना चाहिए-ये दोनों ही बातें बताई गई हैं। वस्तुतः, प्रत्येक साधक के लिए यह जीवन और मरण-दोनों की कला जानना आवश्यक है।

एक जैन साध्वी के रूप में मेरा जीवन इस आराधना या साधना के लिए समर्पित है, अतः मैंने यह निश्चय किया कि आराधना से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ पर शोधकार्य किया जाए। मैं जिस परम्परा में दीक्षित हुई, उस परम्परा में आराधना से सम्बन्धित सबसे प्राचीन ग्रन्थ आचार्य जिनचन्द्र (प्रथम) द्वारा प्रणीत संवेगरंगशाला है। यद्यपि आराधना सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे गए, किन्तु इन सभी ग्रन्थों में आकार की दृष्टि से संवेगरंगशाला सबसे विस्तृत ग्रन्थ है। कालक्रम की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ग्यारहवीं शती में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में १००५४ गाथाएँ हैं। प्राकृत भाषा में रचित आराधना से सम्बन्धित जैन साहित्य के ग्रन्थों में यह सबसे विस्तृत ग्रन्थ है, इसी कारण यह मेरे अध्ययन के आकर्षण का विषय रहा। यद्यपि इसके पूर्व मरणविभक्ति, भगवतीआराधना, प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका, आदि ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, किन्तु ये सभी ग्रन्थ विद्वत् जगत् में सुपरिचित थे। भगवतीआराधना पर तो पर्याप्त रूप से शोधकार्य भी हुए हैं, जबकि संवेगरंगशाला एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसके नाम से भी विद्वत्-जगत् प्रायः अपरिचित ही रहा है।

जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, यह कृति आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व तक विद्वानों को अप्राप्त ही थी। कुछ ग्रन्थों में इसके लिखे जाने की तथा कुछ भण्डारों में ही इसकी हस्तप्रत उपलब्ध होने की सूचनाएँ थीं, किन्तु इस कृति के सम्बन्ध में विशेष जानकारियों का प्रायः अभाव ही था। यही कारण है कि जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास भाग-५, जो प्रथमतः ईस्वी सन् १९६६ में छपा था, उसमें स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया गया है कि यह कृति अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत कृति का सर्वप्रथम प्रकाशन भी विक्रम

संवत् २०२५, तदनुसार ईस्वी सन् १९६६ में मूल गाथाओं के रूप में जवेरी कान्तिनाल मणिलाल मुम्बई के द्वारा किया गया। इसका सम्पादन आचार्य विजयमनोहरसूरि के शिष्य हेमेन्द्रविजयजी ने किया है। इसके प्रकाशन के पूर्व जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-५ लिखा जा चुका था। इसके पश्चात् इस कृति को उन्हीं आचार्य विजयमनोहरसूरि के शिष्य आचार्य भद्रंकरसूरि ने गुजराती अनुवाद के साथ विक्रम संवत् २०३२ तदनुसार ईस्वी सन् १९७६ में महावीर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ पालड़ी, अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित करवाया गया। इसी क्रम में विक्रम संवत् २०४१ तदनुसार ईस्वी सन् १९८५ में पन्चास श्रीपद्मविजयजी के द्वारा इसका मात्र हिन्दी अनुवाद मेरठ से प्रकाशित किया गया है। इस हिन्दी अनुवाद में मूल गाथाएँ भी नहीं दी गई हैं और उनका हिन्दी अनुवाद भी व्याकरण आदि की दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध नहीं है। इसकी भाषा भी प्रवाहरहित है और विषय को प्रमाणिक रूप से प्रस्तुत नहीं करती है। स्थिति यह है कि अनुवाद के आधार पर विषय को पकड़ पाना भी दुरूह है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने की कथा अधिक पुरानी नहीं है। ग्रन्थ की अनुपलब्धता के कारण पूर्व में किसी भी जैन विद्वान् ने इस पर कोई शोधकार्य नहीं किया और न ही इस ग्रन्थ को लेकर कोई शोध लेख लिखा गया। इस प्रकार समाधिमरण पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी अद्यतन यह ग्रन्थ अचर्चित ही रहा। इसीलिए मैंने यह सोचा कि इस शोध के माध्यम से इस ग्रन्थ और इसकी विषयवस्तु से विद्वत् जगत् और जिज्ञासुओं को परिचित करवाया जा सकता है। यही सोचकर मैंने अपने शोध का विषय “संवेगरंगशाला में प्रतिपादित आराधना का स्वरूप : एक अध्ययन” ऐसा निर्णीत किया। मैं अपने इस कार्य में कहाँ तक सफल हो सकी हूँ, यह तो भविष्य के गर्भ में निहित है, किन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि इस शोध के माध्यम से विद्वत् जगत् एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ से न केवल परिचित होगा, अपितु आराधना सम्बन्धी ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के मूल्य और महत्व को भी जान सकेगा।

न केवल ग्रन्थ-परिचय की दृष्टि से, अपितु तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ पर शोध-कार्य होना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने प्रारम्भिक अध्ययन में मुझे यह ज्ञात हुआ कि इसकी अनेक गाथाएँ समाधिमरण सम्बन्धी प्रकीर्णकों तथा प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका और वीरभद्रकृत आराधनापताका के समरूप हैं। मात्र यह ही नहीं, अचेल परम्परा

की भगवतीआराधना से भी इसकी कुछ गाथाओं की समरूपता प्रतीत होती है। वहीं परवर्ती ग्रन्थों विशेष रूप से प्रवचनसारोद्धार आदि में भी इसकी गाथाओं का अनुसरण देखा जाता है। इस प्रकार संवेगरंगशाला की अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती ग्रन्थों से तुलना भी प्रस्तुत शोध का एक महत्वपूर्ण पक्ष मुझे दृष्टिगत होता है।

आराधना सम्बन्धी पूर्ववर्ती ग्रन्थों से इसकी तुलना करने पर मुझे सबसे रुचिकर विषय इसमें वर्णित आराधना सम्बन्धी कथाएँ लगती हैं। आज तक आराधना सम्बन्धी जो ग्रन्थ मुझे दृष्टिगत हुए हैं, उनमें प्रायः कथाओं के संकेत ही मिलते हैं, जबकि प्रस्तुत कृति में वे कथाएँ अधिक विस्तारपूर्वक दी गई हैं। मेरी दृष्टि में इन कथाओं के मूल स्रोतों की खोज करना भी इस शोधकार्य का एक आवश्यक पक्ष है। प्रस्तुत शोध में यह जानने का प्रयास किया गया है कि इसमें वर्णित कथाएँ प्राचीन आगम-साहित्य, आगमिक-व्याख्या-साहित्य तथा अन्य कुछ आराधना सम्बन्धी साहित्य में किस रूप में उपलब्ध हैं। शोध की दृष्टि से यह तुलनात्मक अध्ययन रुचिकर भी है और महत्वपूर्ण भी। आराधना सम्बन्धी कथाओं को विस्तार से प्रस्तुत करने में यह संवेगरंगशाला अद्वितीय ग्रन्थ है। यद्यपि अचेल-परम्परा में आराधना-कथाकोश आराधना सम्बन्धी कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, फिर भी संवेगरंगशाला में जितने विस्तार से आराधना सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं, उतने विस्तार से आराधना सम्बन्धी कथाएँ आराधना-कथाकोश में भी नहीं हैं। तुलनात्मक अध्ययन से इन सब तथ्यों पर अधिक प्रकाश डाला गया है और इस दृष्टि से मेरा सोचना यह है कि शोध के क्षेत्र में यह अध्ययन एक विशिष्ट अवदान प्रदान कर सकेगा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संवेगरंगशाला ग्रन्थ के रचयिता आचार्य जिनचन्द्रसूरि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में मुख्य रूप से सामान्य आराधना के रूप में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के सामान्य आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें मानवीय गुणों के रूप में सप्त दुर्व्यसन-त्याग और मार्गानुसारी गुणों की चर्चा के पश्चात् गृहस्थधर्म की चर्चा के अन्तर्गत बारह अनुव्रतों और श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। मुनिधर्म में पंच-महाव्रत, पाँच-समिति,

त्रिगुप्ति, दस यतिधर्म, बाईस परीषद, बारह प्रकार के तप आदि का निरूपण किया गया है।

तीसरे अध्याय में समाधिमरण की पूर्व-पीठिका एवं देह-विसर्जन-विधि की चर्चा की गई है। इसमें समाधिमरण कौन ग्रहण कर सकता है; उसकी क्या योग्यता या अर्हता होती है? इसका उल्लेख किया गया है। समाधिमरण कब और क्यों करना चाहिए, इस चर्चा में कहा गया है कि जब आराधक को अपना अन्तिम समय नजदीक दिखाई दे, तब समाधिमरण अंगीकार किया जाता है। समाधिमरण अंगीकार करने से पहले संलेखना की जाती है। संलेखना में सब प्रकार के कषायों को क्षीण करना होता है। सम्यक् रूप से काय एवं कषाय की लेखना संलेखना है अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषायों को कृश करना संलेखना या सल्लेखना है। इस प्रकार जब बाहर से काय और भीतर से कषाय को कृश कर दिया जाता है, तब साधक समाधिमरण को अंगीकार करता है। समाधिमरण संसार से सदा के लिए छुटकारा पाने का साधन है। व्यक्ति भावपूर्वक दीर्घ विधि से मरण को स्वीकार कर सकता है। इसी प्रसंग में ग्रन्थकार ने मरण के विविध रूपों की विस्तार से चर्चा की है। मृत्यु की सन्निकटता जानने के विविध उपायों के साथ, शय्या, संस्तारक की खोज किस प्रकार करनी चाहिए और मुनि की देह को किस प्रकार विसर्जित करना चाहिए, इसका भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय में समाधिमरण की भूमिका तैयार की गई है। संलेखना करके साधक भूमिका का निर्माण कर लेता है; आहार का, अठारह प्रकार के पापों का एवं शरीर का एवं शरीर के प्रति ममता का परित्याग कर देता है। जिस शरीर का बड़े यत्न से पालन-पोषण किया था, जिसे सर्दी-गर्मी और रोगों से बचाया था, उसके प्रति लेशमात्र भी ममत्व धारण नहीं करना और शान्ति और समभाव से आत्म-परमात्म के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसे त्याग देना अर्थात् आसक्ति से मुक्ति के उपायस्वरूप बारह भावनाओं का चिन्तन करना फिर दुष्कृत गर्हा, सुकृत अनुमोदना, क्षमापना आदि की चर्चा इस अध्याय में की गई है। इसके साथ ही अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म-इन चारों की शरण स्वीकार करना, इन्द्रिय-विषयों का दमन करना, कषायजय, लेश्या एवं ध्यान, आदि पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया

गया है। पाँचवें अध्याय में संवेगरंगशाला की आराधना से सम्बन्धित कथाओं का संक्षेप में उल्लेख प्रस्तुत किया गया है। साथ ही कथा का प्रयोजन और उनके मूल स्रोत आगमिक-व्याख्या-साहित्य में एवं समाधिमरण से सम्बन्धित ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ हैं, इसका भी हमने अन्वेषण करने का प्रयास किया है। अन्तिम छठवें अध्याय में समस्त अध्यायों पर उपसंहाररूप अपने चिन्तन का प्रस्तुतीकरण करते हुए सभी अध्यायों का सार संकलित किया गया है।

इस प्रकार छः अध्यायों से युक्त इस शोध-प्रबन्ध की प्रस्तुति-वेला में निश्चित ही मैं आन्तरिक आनन्द और आह्लाद का अनुभव कर रही हूँ।

समाधिमरण के स्वरूप पर आज तक बहुत लिखा जा चुका है। यह विषय इतना गहरा और विस्तृत है कि इस पर जितना लिखा जाएगा, थोड़ा ही होगा, क्योंकि समाधिमरण, अर्थात् अन्तिम आराधना जीवन-निर्माण की जड़ है। फिर भी मैं महसूस करती हूँ कि इस शोध का अपना कुछ मूल्य और उपयोग अवश्य होगा।

समाधिमरण, अर्थात् अन्तिम आराधना जैसे गूढ़ विषय के चुनाव पर यद्यपि मुझे शास्त्रीय-ज्ञान की अल्पज्ञता का भान था, फिर भी मुझे अपने शोध-कार्य के लिए यही विषय उपयुक्त लगा। मैं इस शोधकार्य को अपनी संयम-साधना का ही एक अंग मानती हूँ और विश्वास करती हूँ कि इस अध्ययन से मेरी साधना ही सम्पुष्ट हुई है।

- साध्वी प्रियदिव्यांजनाश्री

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं संवेग या वैराग्य-मार्ग के उपदेष्ट परमपावन तीर्थंकर परमात्मा के चरणों में हृदय की असीम आस्था के साथ वन्दना करती हूँ। तत्पश्चात् उनकी इस संवेग की धारा को जीवन्त बनाए रखने वाले गौतमस्वामी एवं युगप्रभावक चारों दादा गुरुदेवों के प्रति सर्वतोभावेन नतमस्तक हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध की निर्विघ्न सम्पन्नता में कहीं-न-कहीं आगमज्योति आत्मसाधिका प.पू. गुरुवर्या प्रवृत्तिनीजी श्री प्रेमश्री म.सा. का दिव्याशीष भी रहा है। इस ग्रन्थ की पूर्णाहुति की पावन वेला में मैं उनके चरणों में समग्रभावेन सादर सविनय नतमस्तक हूँ।

परमपूज्य प्रज्ञामनीषी उपाध्यायप्रवर श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के पावन चरणों में मेरा श्रद्धाभिसिक्त कोटि-कोटि वन्दन। हमारे लिए आपश्री का सदैव यही आदेश रहता है कि जीवन का प्रथम लक्ष्य अध्ययन है। अतः आप सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इस ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ते रहें। बड़ौदरा में आपश्री की प्रबल प्रेरणा से मुझमें उत्साह जाग्रत हुआ और उसी के फलस्वरूप मैंने शोधकार्य करने का निश्चय किया।

इस ग्रन्थ की सम्पन्नता तक जिनकी पुनीत प्रेरणा रही, वे हैं - बहुश्रुत, प्रबुद्ध ज्ञानयोगी, युग-प्रभावक आचार्य प्रवर श्री कान्तिसागरसूरिजी म.सा. की आज्ञानुवर्तिनी, मम जीवन उपकारी, अध्यात्मयोगिनी, पार्श्वमणितीर्थ प्रेरिका, श्रद्धास्पद परम पूज्य गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा. एवं अनुशासनशीला, गुरुसमर्पिता, तपाराधिका परमपूज्य श्री सुलक्षणाश्रीजी म.सा.। इनके पावन चरणों में, मैं विनम्रभावेन वन्दना करती हूँ। आपका वरदहस्त न केवल इस शोधकार्य में ही, अपितु मेरे समग्र व्यक्तिगत के निर्माण में महत्वपूर्ण रहा है। मैं सदैव आपकी ऋणी रहूँगी। मेरे रोम-रोम में आपके अनन्त उपकारों की सुगन्ध रम रही है। भविष्य में भी आपकी कृपा बनी रहे, मैं यही कामना करती हूँ।

बी.ए. से लेकर एम.ए. तक की शिक्षाओं में जिनका सहयोग मिला, उन गुरु भगिनियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा सहज धर्म है। सहज स्नेहिल पूज्य प्रीतिसुधाश्रीजी म.सा., व्युत्पन्न प्रतिभा के धनी पूज्य प्रीतियशाश्रीजी म.सा., सरलमना पूज्य प्रियस्मिताश्रीजी म.सा., मधुरभाषिणी पूज्य प्रियलताश्रीजी म.सा., व्यवहारकुशल पूज्य प्रियवन्दनाश्रीजी म.सा., जिनशासन समर्पित पूज्य प्रियकल्पनाश्रीजी म.सा., चातुर्य एवं माधुर्य गुणयुक्त पूज्य प्रियश्रद्धांजनाश्रीजी म.सा., प्रतिभासम्पन्न पूज्य प्रियस्नेहांजनाश्रीजी म.सा. और आर्द्रहृदया पूज्य प्रियसौम्यांजनाश्रीजी म.सा. के पावन चरणों में आत्मभावेन मेरा नमन। आप सभी की मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। समय-समय पर आप सभी का सहयोग मिलता रहा। स्व. प्रियभव्यांजनाश्रीजी, प्रियस्वर्णांजनाश्रीजी, प्रियप्रेक्षांजनाश्रीजी, प्रियश्रेयांजनाश्रीजी, प्रियश्रुंताजनाश्रीजी, प्रियदर्शांजनाश्रीजी, प्रियज्ञानांजनाश्रीजी एवं प्रियदक्षांजनाश्रीजी का भी प्रशंसनीय सहयोग रहा है। उन सभी के प्रति हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

प्रारंभिक शिक्षा से आज तक की मेरी शिक्षायात्रा से जुड़ी रही प्रेरणाप्रदीप, मधुरवक्ता एवं प्रसन्नवदन पूज्य प्रियरंजनाश्रीजी म.सा. के प्रति मैं इन क्षणों में अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त कर उनकी आत्मीयता का अवमूल्यन नहीं करूँगी। यद्यपि भावाभिव्यक्ति की एक सीमा होती है और वह मात्र चार पंक्तियों में सिमट कर रह जाती है, परन्तु उनके प्रति आस्था असीम है, क्योंकि अगर वे मुझे अध्ययन से जुड़े रहने की निरन्तर प्रेरणा नहीं देती तो सम्भवतः यह यात्रा अधूरी ही रह सकती थी। उन्होंने मुझे गुरु-बहन के रूप में सम्मान दिया ही, साथ ही गुरुवर्या बनकर स्नेहासिक्त प्रेरणा भी दी। अध्ययनरत प्रियशुभांजनाश्रीजी का आत्मीय सहयोग तो इस ग्रन्थ के साथ जुड़ा ही रहेगा, जिन्होंने सुदीर्घ अवधि तक मेरे अध्ययन-कार्य में पूर्ण योगदान दिया है।

इस शोधकार्य को प्रारम्भ से लेकर अन्तिम पड़ाव तक कुशलतापूर्वक पहुँचाने वाले मूर्धन्यमनीषी, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान् माननीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। मैं अपने-आप को भाग्यशाली मानती हूँ कि उनका सफल निर्देशन एवं सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहा। उदार व्यक्तित्व के धनी डॉ. सागरमलजी जैन ने इस ग्रन्थ को सम्पूर्ण करने हेतु

“प्राच्य विद्यापीठ” शाजापुर में जो-जो सुविधाएँ प्रदान की, उसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ। इस शोध-प्रबन्ध का सपना सार्थक करने में उनका अमूल्य योगदान रहा है। निःसन्देह, शोध-ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय उन्हीं को जाता है। मैं विनम्रभाव से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। वस्तुतः, डॉ. सागरमलजी जैन की प्रेरणा, प्राच्य विद्यापीठ का विशाल पुस्तकालय एवं शान्त वातावरण इस लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

मैं बड़ौदरा निवासी पूर्णिमाबेन धर्मपत्नी नरेशजी पारख के अगाध ज्ञानप्रेम एवं गुरुभक्ति को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ। उन्होंने मुझे अहमदाबाद, मुम्बई, सांचौर, आदि स्थानों से शोध-प्रबन्ध हेतु अध्ययन सामग्री जुटाने में भी सहयोग दिया है, साथ ही अन्य सेवाओं का भी सम्पूर्ण लाभ दिया है। आपकी यह सेवाभावना प्रशंसनीय है। आप साधुवाद की पात्र हैं। इसके साथ ही प्रकाशचन्दजी कटारिया (रेणिगुण्टा) एवं हेमचन्दजी मनोजकुमारजी झाबक (मद्रास) की भी सेवाएँ रही हैं। एतदर्थ, मैं उनकी भी हृदय से आभारी हूँ।

शोध निमित्त शाजापुर प्रवास के दौरान जिनकी आत्मीय स्निग्धता मिलती रही- उन डॉ. सागरमलजी के सुपुत्र श्री नरेन्द्रकुमारजी माण्डलिक, लोकेन्द्रजी नारोलिया, राजेन्द्रजी माण्डलिक, माणकमलजी श्रीश्रीमाल, डॉ. राजेन्द्रजी जैन एवं प्राच्य विद्यापीठ के कर्मचारियों की भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। शाजापुर संघ, ब्यावर संघ, मद्रास संघ, बड़ौदरा संघ, इन्दौर संघ, आदि का सहयोग मेरी श्रुतसाधना में स्मरणीय रहा है।

इस शोध-सामग्री को कम्प्यूटराइज्ड करने में श्री संजयजी सक्सेना एवं श्री अजयजी सक्सेना शाजापुर का एवं प्रुफ-संशोधन में श्री चैतन्य कुमारजी सोनी शाजापुर का विशिष्ट सहयोग रहा है। एतदर्थ, उनके प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में जो भी सहयोगी बने हैं, उन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।



विषय अनुक्रमणिका

अध्याय-१

कृति एवं कृतिकार का परिचय

विवरण	पृ. संख्या
संवेगरंगशाला की रचना का प्रयोजन	१
संवेगरंगशाला के रचनाकार जिनचन्द्रसूरि और उनकी गुरु परम्परा	२
जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का गृही जीवन	३
जिनचन्द्रसूरि का धर्म परिवार	४
जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का व्यक्तित्व	६
संवेगरंगशाला के लेखक की गच्छ परम्परा	६
आचार्य जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का कृतित्व	१०
जिनचन्द्रसूरि का सत्ताकाल	१२
संवेगरंगशाला का सामान्य परिचय	१३
संवेगरंगशाला का रचनाकाल एवं संशोधनकाल	१४
संवेगरंगशाला की विषयवस्तु	१६
आराधना सम्बन्धी जैन साहित्य और उसमें संवेगरंगशाला का स्थान	३१
अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थों में समाधिभरण की अवधारणा	३३
संवेगरंगशाला और आराधनापताका की विषयवस्तु का तुलनात्मक विवेचन	४२
भगवतीआराधना और संवेगरंगशाला का तुलनात्मक अध्ययन	४६
अन्तिम आराधना सम्बन्धी जैन-साहित्य में संवेगरंगशाला का स्थान	५२

अध्याय - २

संवेगरंगशाला में सामान्य आराधना का स्वरूप (गृहस्थधर्म और मुनिधर्म)

आराधना का स्वरूप एवं प्रकार	५४
जैन-धर्म का सामान्य साधनामार्ग	५६
आराधक की योग्यता (अर्हता)	६२
गृहस्थ और मुनिजीवन के लिए सामान्य शिक्षा	६५
गृहस्थ धर्म :-	७१
सप्तदुर्व्यसन-त्याग और अष्ट मूलगुणधारण	७२
श्रावक के मार्गानुसारी गुण	७३
श्रावक के षटावश्यक कर्तव्य	७५
श्रावक के दान के दस क्षेत्र	७७
श्रावक के व्रत	८३
श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	८५
आराधक गृहस्थ की पहचान (लिंग)	१०१
संवेगरंगशाला में वर्णित गृहस्थ का आध्यात्मिक चिन्तन	१०४
मुनिधर्म :-	१०५
श्रमणजीवन का सामान्य स्वरूप	१०६
श्रमणधर्म का आधार: पंचमहाव्रत	१०७
अष्टप्रवचन माता (पाँच समिति और तीन गुप्ति)	११६
दसविध मुनिधर्म	१२०
परीषह	१२६
दसविध सामाचारी	१२६
बारह प्रकार के तप	१३०
षटावश्यक	१३६
साधु की दिनचर्या	१४२
साधु के सामान्य लिंग	१४२

अध्याय - ३

समाधिमरण की पूर्वपीटिका एवं देह-विसर्जन विधि

जैनदर्शन में समाधिमरण का स्वरूप	१४६
आगमों में समाधिमरण की अवधारणा	१४७
समाधिमरण के पर्यायवाची नाम	१४६
जैन परम्परा में समाधिमरण का स्थान	१५०
समाधिमरण कब और क्यों?	१५१
समाधिमरण लेने वाले की योग्यता	१५३
मृत्युकाल जानने के विविध उपाय	१५५
मरण के भेद	१७०
मरण के सतरह प्रकार	१७५
पण्डितमरण की महिमा	१६०
समाधिमरण ग्रहण करने योग्य स्थल	१६१
संस्तारक	१६३
समाधिमरण हेतु मनोनुशासन की प्राथमिकता	१६५
समाधिमरण सम्बन्धी अतिचार	१६८
समाधिमरण प्राप्त मुनि के मृत शरीर का विसर्जन (विजहणा)	
कहाँ और कैसे?	२००
देहत्याग के नक्षत्र और उनके प्रतिफल	२०३

अध्याय - ४

समाधिमरण की आराधना विधि

संक्षिप्त विशेष आराधना (तात्कालिक समाधिमरण की साधना) का स्वरूप	२०८
विस्तृत आराधना (दीर्घकालिक समाधिमरण की साधना) का स्वरूप	२०९
परगण संक्रमण-विधि	२१०
निर्यापक आचार्य की खोज	२१२
निर्यापक आचार्य (सुस्थित)	२१३
निर्यापक आचार्य द्वारा स्वर्गण के साधुओं की सम्मति प्राप्त करना (प्रतीच्छा)	२१९
क्षपक का परगणप्रवेश (उपसम्पदा)	२२०
निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक को हितशिक्षा (अनुशास्ति)	२२१
अटारह पापों का स्वरूप और क्षपक द्वारा उनका त्याग	२२२
समाधिमरण में की जानेवाली तपाराधना की विधि	२३३
तपाराधना क्यों?	२३७
तप के प्रकार	२३८
क्षपक की आराधना के मूल कर्तव्य-आलोचना और प्रायश्चित्त	२४०
समाधिमरण में आसक्ति-विमुक्ति का उपाय, बारह भावनाएँ	२५९
भावना (चार)	२६३
दुष्कृत गर्हा	२८८
सुकृत अनुमोदना	२९०
क्षमापना	२९२
समाधिमरण में चार शरण की स्वीकृति	२९४
समाधिमरण में इन्द्रियदमन की आवश्यकता	२९६
समाधिमरण का मुख्य लक्ष्य कषायजय	२९७
लेश्या	३०१
ध्यान	३०५

अध्याय - ५

आराधना सम्बन्धी कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन

(इसके अन्तर्गत लगभग सौ कथाओं का विवरण एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है, साथ ही इन कथाओं के मूल स्रोतों की भी खोज करने का प्रयत्न किया गया है।)

१. मधुराजा की कथा	३११
२. सुकौशल मुनि की कथा	३१२
३. क्षुल्लक मुनि की कथा	३१५
४. चिलातीपुत्र की कथा	३१७
५. कुलबालक मुनि की कथा	३१६
६. अज्ञदत्त और सुरेन्द्रदत्त की कथा	३२१
७. श्रेणिक राजा की कथा	३२३
८. नमि राजर्षि की कथा	३२६
९. वसुदत्त की कथा	३२८
१०. दुर्गता नारी की कथा	३३०
११. करुचन्द्र की कथा	३३२
१२. सेलकसूरि की कथा	३३५
१३. वज्र और केशरी की कथा	३३७
१४. सहस्रमल की कथा	३४०
१५. अन्धे पुत्र की कथा	३४१
१६. जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा	३४३
१७. स्वयंभूदत्त की कथा	३४५
१८. सुन्दरी और नन्द की कथा	३४७
१९. आर्य महागिरि की कथा	३५०
२०. गंगदत्त की कथा	३५१
२१. शिवभद्राचार्य का प्रबन्ध	३५४

२२. नयशीलसूरि की कथा	३५५
२३. सुकुमारिका की कथा	३५७
२४. . हरिदत्त मुनि की कथा	३५८
२५. ब्राह्मण पुत्र की कथा	३६२
२६. सूरतेज राजा का प्रबन्ध	३६३
२७. दो तोतों की कथा	३६५
२८. गजसुकुमाल मुनि की कथा	३६७
२९. अर्णिकापुत्र आचार्य की कथा	३६८
३०. चण्डरुद्राचार्य की कथा	३७०
३१. सास, बहू और पुत्री की कथा	३७२
३२. वसुराजा और नारद की कथा	३७४
३३. वसुदत्त की कथा	३७६
३४. तीन सखियों की कथा	३७७
३५. लोभानन्दी और जिनदत्त की कथा	३७९
३६. प्रसन्नचन्द्रराजर्षि की कथा	३८१
३७. बाहुबलि का दृष्टान्त	३८२
३८. साध्वी पण्डरा आर्या की कथा	३८४
३९. अहन्नक की पत्नी और अहमित्र की कथा	३८६
४०. कपिल ब्राह्मण की कथा	३८७
४१. धर्मरुचि अणगार की कथा	३८९
४२. हरिकेशी मुनि की कथा	३९२
४३. रुद्र और अंगर्षि की कथा	३९४
४४. क्षुल्लककुमार मुनि की कथा	३९६
४५. सुबन्धुमन्त्री और चाणक्य की कथा	३९८
४६. सती सुभद्रा की कथा	४०१
४७. कूट तपस्वी की कथा	४०३
४८. जमाली की कथा	४०५
४९. ब्राह्मण-पुत्र सुलस की कथा	४०७

५०. मरीचि की कथा	४०६
५१. कांकदी के दो भाइयों की कथा	४१२
५२. मल्लदेव राजा की कथा	४१४
५३. स्थूलभद्र की कथा	४१६
५४. दृढ़प्रहारी की कथा	४१६
५५. ढंढनणमुनि की कथा	४२१
५६. दो व्यापारियों की कथा	४२३
५७. लौकिक ऋषि की कथा	४२५
५८. अभयकुमार की कथा	४२६
५९. कण्डीक की कथा	४२८
६०. अंगदत्त की कथा	४३०
६१. एक श्रावकपुत्र की कथा	४३३
६२. यव साधु की कथा	४३४
६३. चारुदत्त की कथा	४३७
६४. धनसेठ की पुत्र वधुओं की कथा	४३९
६५. नग्गति राजा की कथा	४४१
६६. अनाथीमुनि की कथा	४४२
६७. तापस सेठ की कथा	४४३
६८. महावीर प्रभु का प्रबन्ध	४४५
६९. सुलस और शिवकुमार की कथा	४४७
७०. ब्राह्मण की कथा	४४८
७१. शिवराजर्षि की कथा	४५०
७२. वणिकपुत्र की कथा	४५१
७३. पुष्पशाल की कथा	४५३
७४. समरधीर की कथा	४५५
७५. गन्धप्रिय राजकुमार की कथा	४५७
७६. सोदास की कथा	४५७
७७. सोमदेव ब्राह्मण की कथा	४५९

७८. ब्रह्मदत्त की कथा	४६०
७९. पीठ एवं महापीठ मुनियों की कथा	४६४
८०. नन्दमणियार की कथा	४६६

अध्याय - ६

उपसंहार

४६९

अध्याय - 9

कृति एवं कृतिकार का परिचय

संवेगरंगशाला की रचना का प्रयोजन :

प्राचीन भारतीय संस्कृति के मुख्य रूप से दो अंग हैं-१. वैदिक संस्कृति और २. श्रमण संस्कृति। वर्तमान हिन्दू धर्म मुख्यतः वैदिक संस्कृति का ही विकसित रूप है, जबकि वर्तमान बौद्ध धर्म और जैन धर्म श्रमण संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। जहाँ वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिपरक रही है, वहीं श्रमण संस्कृति निवृत्तिपरक है। श्रमण संस्कृति का बल तप और त्याग पर अधिक रहा है। वह आध्यात्मिक साधना प्रधान है। श्रमण संस्कृति में जीवन की दुःखमयता को बताते हुए निर्वाण या मुक्तिलाभ का संदेश दिया गया है। श्रमण संस्कृति का कहना है कि संसार दुःखमय है और जन्म-जरा और मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। व्यक्ति में रही हुई भोगाकांक्षा ही उसके दुःख और सांसारिक परिभ्रमण का मूल कारण है, अतः शान्तिमय और समाधिपूर्ण जीवन के लिए भोगों से विरक्ति आवश्यक है। व्यक्ति को भोगों से विरक्त होकर वैराग्यपूर्ण जीवन जीना चाहिए।

सामान्य रूप से सभी श्रमण धर्मों और विशेष रूप से जैन धर्म में वैराग्य को प्रधानता दी गई है। जैनधर्म के अनुसार राग और द्वेष ही बन्धन के कारण हैं। इनके कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है और परिणामस्वरूप जन्म-जरा और मृत्यु के दुःख से दुःखी होता है। इन दुःखों से विमुक्ति पाने के लिए राग-द्वेष या तृष्णा के चक्र का भेदन करना होगा। यह भेदन वैराग्य-भावना के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जैन परम्परा में वैराग्य के लिए संवेग और निर्वेद शब्दों का प्रयोग ही उपलब्ध होता है। संवेग का तात्पर्य है- इच्छा और आकांक्षाओं से उत्पन्न तनावों को दूर कर क्रोध, मान, माया, और लोभरूप कषायों के आवेग से मुक्त रहना। इस प्रकार संवेग शब्द वैराग्य का ही पर्यायवाची

है। जिनचन्द्रसूरि की संवेगरंगशाला नामक प्रस्तुत कृति वस्तुतः वैराग्यप्रधान कृति है। इस कृति का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति को भोगासक्ति से ऊपर उठाकर त्याग और वैराग्य के मार्ग में प्रवृत्त करना है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत कृति में वैराग्यप्रधान उपदेशों और कथाओं को प्रस्तुत किया गया है। कृति का नामकरण 'संवेगरंगशाला' इस प्रयोजन से किया गया है कि वह वैराग्य का रंगमंच प्रस्तुत करती है।

संवेगरंगशाला मुख्यतः साधना या आराधनाप्रधान कृति है। इस कृति में लेखक ने साधना या आराधना को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम विभाग के अन्तर्गत उन्होंने गृहस्थ-जीवन और मुनि-जीवन की सामान्य आराधना-पद्धति का चित्रण किया है और उसके पश्चात् जीवन के अंतिम चरण में विशेष या अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना किस प्रकार की जाए, इसका उल्लेख किया है। यदि हम इस कृति की गम्भीरता पर विचार करते हैं, तो यह कृति मुख्य रूप से अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना से ही सम्बन्धित प्रतीत होती है, फिर भी समाधिमरण की साधना की पूर्व भूमिका के रूप में इस कृति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की साधना का उल्लेख करते हुए सम्यक्-चारित्र्य की साधना के अन्तर्गत गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म की सामान्य साधना विधि का संक्षिप्त चित्रण भी उपलब्ध होता है। अग्रिम अध्यायों में हमने सामान्य आराधना के रूप में गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म का विवेचन प्रस्तुत किया है, फिर भी यह ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य समाधिमरण होने से हमने समाधिमरण का विवेचन अधिक विस्तार से किया है। यहाँ सर्वप्रथम हम कृतिकार के सम्बन्ध में विशेष रूप से चर्चा करेंगे।

संवेगरंगशाला के रचनाकार जिनचन्द्रसूरि और उनकी गुरु-परम्परा :

संवेगरंगशाला के रचनाकार आचार्य जिनचन्द्रसूरि हैं। खरतरगच्छ में जिनचन्द्रसूरि नाम से अनेक आचार्य हुए हैं। खरतरगच्छ में यह परम्परा भी रही है कि उसमें हर चौथे आचार्य को जिनचन्द्रसूरि कहा गया है। इस आधार पर यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि प्रस्तुत कृति के कर्ता जिनचन्द्रसूरि कौनसे हैं? किन्तु, जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला की ग्रन्थप्रशस्ति में स्पष्ट रूप से इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। ग्रन्थप्रशस्ति के अनुसार संवेगरंगशाला के रचनाकार जिनचन्द्रसूरि ने अपने को वर्धमानसूरि का प्रशिष्य, बुद्धिसागरसूरि का शिष्य तथा नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि का बड़ा गुरुभ्राता बताया है। जैन-धर्म की श्वेताम्बर-परम्परा को मान्य कोटिकगण की वज्जीशाखा के चन्द्रकुल में आचार्य वर्धमानसूरि हुए। वर्धमानसूरि के दो प्रमुख शिष्य - १. जिनेश्वरसूरि और २.

बुद्धिसागरसूरि हुए। बुद्धिसागरसूरि के शिष्य संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि और नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि थे। इस प्रकार ग्रन्थ-प्रशस्ति के आधार पर यह सिद्ध होता है कि संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे,¹ किन्तु कहीं-कहीं उन्हें जिनेश्वरसूरि का शिष्य भी कहा गया है। वस्तुतः, जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागरसूरि के बड़े गुरुभ्राता थे। दूसरे वर्धमानसूरि के बाद उनके पट्ट पर जिनेश्वरसूरि आसीन हुए थे, अतः आचार्य पद के धारक होने की अपेक्षा से जिनचन्द्रसूरि को जिनेश्वरसूरि का शिष्य भी कहा जाता है। यह तो सत्य है कि जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य जिनेश्वरसूरि की परम्परा में ही दीक्षा ली थी, साथ ही यह भी सम्भव है कि उन्हें दीक्षा जिनेश्वरसूरि ने प्रदान की हो, अतः इस अपेक्षा से भी उन्हें जिनेश्वरसूरि का शिष्य भी माना जा सकता है, किन्तु ग्रन्थ-प्रशस्ति से यही सिद्ध होता है कि जिनचन्द्रसूरि जिनेश्वरसूरि के लघु गुरुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे, साथ ही प्रशस्ति से यह भी सिद्ध होता है कि जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कृति की रचना अभयदेवसूरि के आग्रह पर की थी। अतः, संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि, वर्धमानसूरि के प्रशिष्य एवं बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। खरतरगच्छ परम्परा की अपेक्षा से वे प्रथम जिनचन्द्रसूरि हैं।

जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का गृही जीवन :

दुर्भाग्य से जिनचन्द्रसूरि के सांसारिक जीवन के बारे में कोई भी सूचना उपलब्ध नहीं है, अतः जिनचन्द्रसूरि के माता-पिता कौन थे? वे किस नगर में उत्पन्न हुए थे, आदि के सम्बन्ध में कुछ भी कह पाना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ की प्रशस्ति में यह उल्लेख है कि प्रस्तुत कृति की रचना छत्रावली नगर के पासनाग की बस्ती में विक्रम संवत् ११२५ में हुई थी और इस पुस्तक की प्रथम प्रतिलिपि जिनचन्द्रसूरि के शिष्य जिनदत्तगणि ने की थी। छत्रावली नगरी सम्भवतः वर्तमान छत्राल हो, जो उत्तर गुजरात में स्थित है। प्रशस्ति में यह भी कहा गया है कि प्रसन्नचन्द्रगणि की अभ्यर्थना पर संशोधित संवेगरंगशाला विक्रम संवत् १२०३ में बटवा नगर में ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी गुरुवार को लिपिबद्ध की गई। बटवा सम्भवतः अहमदाबाद के निकट स्थित बटवा हो। ग्रन्थ प्रशस्ति में जिन नगरों का उल्लेख है, उससे यही सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना गुजरात में हुई है। ग्रन्थ का प्रारम्भ कच्छ-देश के वर्णन से होता है। लेखक ने कच्छ-देश का वर्णन बहुत ही मार्मिक रूप से किया है। इससे ऐसा लगता है कि कहीं उसका सम्बन्ध कच्छ-देश से तो नहीं रहा है। दूसरे, ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कच्छ देश के बुद्ध श्रीमाल नाम की नगरी का उल्लेख है। उस नगर का वर्णन भी लेखक ने अत्यन्त

¹ संवेगरंगशाला १०३५-१०४३

सुरुचिपूर्वक किया है। यह सत्य है कि श्रीमाल नगरी, जो वर्तमान में भिन्नमाल के नाम से जानी जाती है, एक समय उत्तरी गुजरात की प्रमुख नगरी रही है। इन सबसे इतना सुनिश्चित है कि लेखक का विशेष सम्बन्ध उत्तरी गुजरात एवं कच्छ-देश से रहा है। ग्रन्थ की संशोधित प्रतिलिपि भी अहमदाबाद के निकट ही बटवा में हुई है, अतः यह मान लेने में कोई बाधा नहीं है कि ग्रन्थकार मुख्यतः उत्तर गुजरात से सम्बन्धित है।

जहाँ तक ग्रन्थकार के गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित वंश, कुल, आदि की जानकारी का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति से और अन्य किन्हीं स्रोत से कुछ यह पता नहीं चलता है कि वे किस जाति और वंश के थे, लेकिन यह सुनिश्चित सत्य है कि आचार्य जिनचन्द्रसूरि जैन-धर्म की श्वेताम्बर-शाखा में दीक्षित थे। यह सभी को निर्विवाद रूप से मान्य है कि वर्धमानसूरि के दो शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि हुए। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि-दोनों सहोदर थे। बुद्धिसागरसूरि के काल के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट रूप से तो ज्ञात नहीं होता, केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उन्होंने विक्रम संवत् १०८० में पंचलिङ्गी नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की थी। इन्हीं बुद्धिसागरसूरि के शिष्य नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव के गुरुभ्राता संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि थे।

जिनचन्द्रसूरि का धर्म-परिवार :

चाहे जिनचन्द्रसूरि के गृहस्थ परिवार के सम्बन्ध में हमें कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं होती हो, किन्तु उनके धर्म परिवार के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला की प्रशस्ति एवं अन्य ग्रन्थों से बिखरी हुई कुछ जानकारियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास में महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर यह लिखते हैं कि जिनेश्वरसूरि ने जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति, आदि अनेक व्यक्तियों को दीक्षा देकर उन्हें अपना शिष्य बनाया,² किन्तु संवेगरंगशाला की अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार जिनचन्द्रसूरि जिनेश्वरसूरि के लघुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। सम्भावना यह लगती है कि बुद्धिसागरसूरि ने अपने भ्राता जिनेश्वरसूरि से ही जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि को दीक्षा-मंत्र प्रदान करवाकर अपना शिष्य बनाया हो। अतः, शिष्य तो वे बुद्धिसागरसूरि के ही थे और संवेगरंगशाला में इसी रूप में उन्होंने अपना परिचय भी दिया है। यह भी सत्य है कि नवाङ्गी वृत्तिकार अभयदेवसूरि उनके गुरुभ्राता थे, क्योंकि उन्होंने भी अपने को बुद्धिसागरसूरि का शिष्य बताया है। ऐसा कहा जाता

² खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास, पृ.-१००

है कि जिनेश्वरसूरि ने अपने लघुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के इन दोनों ही शिष्यों को योग्य जानकर आगे चलकर आचार्य-पद प्रदान किया होगा। जिनचन्द्रसूरि के गुरु बुद्धिसागरसूरि पारिवारिक-दृष्टि से और दीक्षा-गुरु की अपेक्षा से, अर्थात् दोनों ही दृष्टियों से जिनेश्वरसूरि के अनुज थे। ऐसा भी कहा जाता है कि अणहिलपुर-पट्टन के चैत्यवासियों के साथ हुए वाद-विवाद में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि-इन दोनों भाइयों ने भाग लिया था। प्रभावकचरित्र के अनुसार उस वाद-विवाद के समय ये दोनों गुरुभ्राता वर्धमानसूरि के द्वारा आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित थे। यद्यपि उपाध्याय जिनपाल के अनुसार अणहिलपुरपत्तन के वाद-विवाद में विजयी होने के पश्चात् ही जिनेश्वरसूरि ने बुद्धिसागर को आचार्य-पद और उनकी बहन आर्या कल्याणमति को महत्तरा-पद प्रदान किया था। जिनचन्द्रसूरि के गुरु बुद्धिसागरसूरि स्वयं भी एक विद्वान आचार्य थे। श्वेताम्बर-परम्परा में उनका संस्कृत-व्याकरण 'पंचग्रन्थी' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसका अपर नाम बुद्धिसागरव्याकरण और शब्दलक्ष्म भी है। जिनचन्द्रसूरि के गुरुभ्राताओं में सूरसुन्दरीचरित्र के रचनाकार धनेश्वरसूरि तथा नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि-दोनों भी प्राकृत-भाषा और आगम-साहित्य के मर्मज्ञ थे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विक्रम संवत् की १२ वीं शताब्दी में अभयदेवसूरि नाम के तीन आचार्य हुए हैं। इनमें बुद्धिसागरसूरि के शिष्य नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के अतिरिक्त दूसरे जो दो अभयदेवसूरि हैं, उनमें एक राजगच्छीय प्रद्युम्नसूरि के शिष्य एवं महार्णवटीका के रचयिता अभयदेवसूरि हैं और दूसरे हर्षपुरीयगच्छ के जयसिंहसूरि के शिष्य मलधारी अभयदेवसूरि हैं। आचार्य जिनचन्द्रसूरि के धर्म-परिवार में सुमतिवाचक के शिष्य देवभद्रसूरि भी हुए हैं, जिन्होंने प्रसन्नचन्द्रसूरि की अभ्यर्थना पर जिनचन्द्रसूरि द्वारा विक्रम संवत् ११२५ में रचित संवेगरंगशाला को संशोधित किया था। इससे ऐसा लगता है कि देवभद्र भी जिनचन्द्रसूरि के समकालीन ही थे। संवेगरंगशाला की प्रशस्ति के उल्लेख के अनुसार जिनचन्द्रसूरि के विनेय प्रसन्नचन्द्रसूरि की प्रार्थना पर सुमतिवाचक के शिष्य तथा कथारत्नकोश के रचयिता इन्हीं देवभद्रसूरि ने ११३६ में संवेगरंगशाला का संशोधन किया था। ज्ञातव्य है कि सुमतिवाचक भी जिनचन्द्रसूरि के समकालीन ही थे। सुमतिवाचक को जिनेश्वरसूरि का ही शिष्य बताया जाता है। इस प्रकार अभयदेव, प्रसन्नचन्द्र, सुमतिवाचक, धनेश्वरसूरि, देवभद्रसूरि, जिनदत्तसूरि, आदि जिनचन्द्रसूरि के धर्म-परिवार से सम्बन्धित रहे हैं। जिनचन्द्रसूरि का यह धर्म-परिवार वस्तुतः विद्वज्जनों का परिवार था और वे सब बौद्धिक-कार्यों में परस्पर सहयोग भी करते थे।

जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का व्यक्तित्व :

जिनचन्द्रसूरि के व्यक्तित्व का परिचय वस्तुतः उनकी प्रस्तुत कृति 'संवेगरंगशाला' से ही हो जाता है। त्याग और वैराग्य के भावों से परिपूर्ण इस कृति का प्रणयन वही व्यक्ति कर सकता था, जिसका जीवन स्वयं त्याग और वैराग्य से परिपूर्ण हो। वस्तुतः, जिनचन्द्रसूरि ने न केवल त्याग और वैराग्यपूर्ण इस कृति का प्रणयन किया था, अपितु वे स्वयं भी चैत्यवासी परम्परा से भिन्न सविग्न या सुविहित परम्परा में दीक्षित हुए थे। यदि उनकी जीवन दृष्टि सुख-सुविधाओं का लाभ उठाने की होती, तो निश्चय ही वे सविग्न परम्परा में दीक्षित न होकर चैत्यवासी परम्परा में ही दीक्षित होते। यद्यपि उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमें विशेष सूचनाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं, किन्तु उनकी रचना, उनकी गुरु परम्परा और उनके धर्म परिवार से हम उनके व्यक्तित्व का आकलन कर सकते हैं। उनकी कृति और उनकी गुरु परम्परा से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका व्यक्तित्व भोगवादी न होकर त्याग और वैराग्य प्रधान था। दूसरे जब हम उनके गुरुभ्राताओं और धर्म-परिवार को देखते हैं, तो स्पष्ट रूप से यह भी प्रतीत होता है कि वे सभी अपने युग के विशिष्ट विद्वान् रहें हैं। जहाँ उनके गुरु प्रसिद्ध वैयाकरणविद् थे, वहीं उनके गुरुभ्राता अभयदेवसूरि आगमिक परम्परा के विशिष्ट विद्वान् थे। जिनचन्द्रसूरि की प्रस्तुत कृति से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे आत्म साधक होने के साथ-साथ प्राकृत भाषा और साहित्य के गम्भीर अध्येता थे। संवेग और निवेद परक उनकी यह कृति स्वयं ही उनके व्यक्तित्व को उजागर कर देती है। लगभग १०,००० प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह कृति उनके जैन आगमों और जैन परम्परा के अनेक ग्रन्थों के व्यापक अध्ययन का ही परिणाम है।

संवेगरंगशाला लेखक की गच्छ परम्परा :

संवेगरंगशाला के जवेरी कान्तिलाल मणिलाल भाई मुम्बई के द्वारा विक्रम संवत् २०२५ में पत्राकार रूप में प्रकाशित संवेगरंगशाला में संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि को तपागच्छीय उल्लेखित किया। यह सत्य है कि जिनचन्द्रसूरि नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि के गुरुभ्राता हैं और यह भी सत्य है कि अभयदेवसूरि और जिनचन्द्रसूरि-दोनों ही वर्धमानसूरि के प्रशिष्य और जिनेश्वरसूरि के गुरुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के शिष्य हैं। वर्धमानसूरि कोटिकगण की वज्रीशाखा के चन्द्रकुल से सम्बन्धित हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में उपकेशगच्छ को छोड़कर शेष सभी गच्छ कोटिकगण की वज्रीशाखा से ही उत्पन्न हुए हैं। परम्परा के अनुसार तपागच्छ के संस्थापक जगत्चन्द्रसूरि माने जाते हैं। जगत्चन्द्रसूरि बृहद्गच्छीय (बड़गच्छ) आचार्य मणिरत्नसूरि के शिष्यरूप

में दीक्षित हुए थे, किन्तु अपने गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार को देखकर जगत्चन्द्र ने चैत्रगच्छीय आचार्य धनेश्वरसूरि के प्रशिष्य भुवनचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रगणि के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की और बारह वर्षों तक निरन्तर आयबिल-तप किया, जिससे प्रभावित होकर आघाटपुर के शासक जेत्रसिंह ने उन्हें विक्रम संवत् १२८५ में, अर्थात् ई.स. १२२६ में, तपा-विरुद्ध प्रदान किया। इसी आधार पर उनकी शिष्य-परम्परा तपागच्छीय कहलाई। चैत्रगच्छीय धनेश्वरसूरि, उनके प्रशिष्य देवभद्रगणि खरतरगच्छीय धनेश्वरसूरि और देवभद्रगणि से भिन्न थे। जहाँ खरतरगच्छ का प्रारम्भ दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वरसूरि को 'खरतर विरुद्ध' देने के कारण हुआ वहीं तपागच्छ का प्रादुर्भाव जेत्रसिंह के द्वारा जगत्चन्द्रसूरि को 'तपा विरुद्ध' देने के कारण हुआ। यह तो सुस्पष्ट है कि जहाँ खरतरगच्छ का आविर्भाव वि.सं. १०८० में हुआ, वहीं तपागच्छ का आविर्भाव वि.सं. १२८५ में हुआ, अतः दोनों गच्छों के उद्भवकाल में २०० वर्ष का अन्तर है। अभयदेवसूरि और उनके गुरुभ्राता जिनचन्द्रसूरि को चाहे तपागच्छीय आचार्य अपना पूर्वपुरुष मानें, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि वे स्वयं तपागच्छीय नहीं हैं, क्योंकि तपागच्छ का प्रादुर्भाव उनके काल से भी लगभग १५० वर्ष पश्चात् हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि जिनेश्वरसूरि के गुरुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे और लगभग जिनेश्वरसूरि के समसामयिक ही थे। जिनेश्वरसूरि ने वि.सं. ११०८ में कथाकोश-प्रकरण की स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी, अतः जिनेश्वरसूरि वि.सं. ११०८ के बाद ही कभी स्वर्गवासी हुए। बुद्धिसागरसूरि उनके लघुभ्राता थे, अतः बुद्धिसागरसूरि के जीवनकाल में ही जिनेश्वरसूरि को 'खरतर विरुद्ध' मिल गया होगा, किन्तु उस विरुद्ध के कारण खरतरगच्छ नाम तो उनकी शिष्य-परम्परा से बाद में ही प्रचलित हुआ होगा। यह सत्य है कि जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला की प्रशस्ति में और अभयदेवसूरि ने अपने आगमों की टीका में कहीं पर भी अपने को खरतरगच्छीय नहीं बताया है। सर्वत्र ही अपने को सुविहित मुनिजन, मुख्य जिनेश्वर आचार्य के अनुज बुद्धिसागर आचार्य का शिष्य कहा है। अभयदेव ने अपनी समवायांग की वृत्ति में भी अपनी गुरु परम्परा को वर्धमानसूरि से प्रारम्भ करके जिनेश्वरसूरि और उनके अनुज बुद्धिसागरसूरि का उल्लेख किया है और अपने को बुद्धिसागरसूरि का शिष्य बताया है। समवायांग की इस टीका का काल वि.सं. ११२० उल्लेखित है। इससे ऐसा लगता है कि जिनेश्वरसूरि की शिष्य-परम्परा इसके पश्चात् जिनचन्द्र के शिष्य जिनदत्त के काल से ही खरतरगच्छ के नाम से ही अभिहित हुई है। फिर भी, इतना निश्चित है कि जिनचन्द्रसूरि खरतरगच्छ-परम्परा के निकटवर्ती पूर्व पुरुष हैं। उन्हें किसी भी स्थिति में तपागच्छीय सिद्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कह सकते

हैं कि परवर्तीकाल में तपागच्छ की जो परम्परा विकसित हुई है, वह भी कोटिकगण की वज्रीशाखा से ही विकसित हुई है। खरतरगच्छ और तपागच्छ-दोनों ही एक ही परम्परा की दो शाखाएँ हैं, फिर भी खरतरगच्छ पूर्ववर्ती है और तपागच्छ परवर्ती, अतः इतना निश्चित है कि संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि का निकट सम्बन्ध तो खरतरगच्छ की परम्परा से ही है, क्योंकि जिनचन्द्रसूरि के शिष्य जिनदत्तसूरि के काल से यह परम्परा खरतरगच्छ के नाम से अभिहित होती प्रतीत होती है। संवेगरंगशाला की प्रशस्ति में भी संवेगरंगशाला को जिनदत्तसूरि के द्वारा सं. ११२५ में लिपिबद्ध किया जाना उल्लेखित है, अतः संवेगरंगशाला को खरतरगच्छ की परम्परा से ही सम्बद्ध मानना होगा। यह भी स्पष्ट है कि वह चैत्यवासी-परम्पराओं से भिन्न सुविहित-मार्ग या संविग्नपक्ष के आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित है और संविग्नपक्ष का प्रथम गच्छ तो खरतरगच्छ ही है, अतः संवेगरंगशाला के लेखक को तपागच्छीय कहना तो बिल्कुल उचित नहीं है। चाहे वे तपागच्छीय-परम्परा के भी पूर्वपुरुष माने जाएं, किन्तु इस आधार पर उन्हें तपागच्छीय नहीं कहा जा सकता है। यदि ऐसा होगा, तो फिर लोग अपने पूर्वपुरुष के रूप में महावीर को भी श्वेताम्बर या दिगम्बर या खरतरगच्छीय या तपागच्छीय कहने लगेंगे।

सत्य तो यह है कि जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला की रचना स्वयं अभयदेवसूरि की प्रेरणा से की थी। उन्होंने ऐसा उल्लेख संवेगरंगशाला की ग्रन्थ-प्रशस्ति में किया है। अभयदेवसूरि ने अपनी नवांगी वृत्तियों में अपने गुरुभ्राता जिनचन्द्रसूरि का तो कोई उल्लेख नहीं किया, लेकिन इतना अवश्य बताया है कि वे जिनेश्वरसूरि के प्रशिष्य और बुद्धिसागरसूरि के शिष्य हैं। अभयदेवसूरि के गच्छ को लेकर विवादास्पद स्थिति रही, किन्तु उनकी गुरु-परम्परा के सम्बन्ध में इतना सुनिश्चित है कि वे वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि के वरिष्ठ गुरुभ्राता बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे। बुद्धिसागरसूरि के दो शिष्य थे - अभयदेवसूरि और जिनचन्द्रसूरि। अतः, जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि के गुरुभ्राता होने में कोई संदेह नहीं। अभयदेवसूरि ने आगमों की अपनी टीका की ग्रन्थ प्रशस्ति में अपने को संविग्नविहारी कहा है। जहाँ तक वर्धमानसूरि के गच्छ का प्रश्न है, निश्चित रूप से उनके काल तक कोई भी गच्छ अस्तित्व में नहीं था। वे स्वयं अपने को चन्द्रकुल का कहते हैं। नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि भी चन्द्रकुल के ही सिद्ध होते हैं। इन वृत्तियों के निवृत्ति कुल के आचार्य द्रोण के द्वारा संशोधित होने का भी उल्लेख हुआ है। यह बात चाहे विवादास्पद भी हो कि खरतरगच्छ की उत्पत्ति कब हुई? किन्तु इतना निर्विवाद सिद्ध है कि वर्धमानसूरि ने चैत्यवाद का परित्याग करके संविग्नपक्ष की स्थापना की थी। अभयदेवसूरि के

द्वारा अपने को संविग्नविहारी कहना यही सूचित करता है कि वे चैत्यवास की विरोधी संविग्न शाखा में हुए थे। चूंकि उस समय तक तपागच्छ, अचलगच्छ और आगमिकगच्छ अस्तित्व में नहीं आए थे, अतः अभयदेवसूरि का इनसे सम्बन्धित होना तो स्वीकार्य नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि आचार्य वर्धमानसूरि से जो संविग्न-शाखा निकली थी, वही कालान्तर में खरतरगच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि-दोनों उस संविग्न-शाखा के आचार्य रहे हैं, जो आगे चलकर खरतरगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। चाहे हम उन्हें स्पष्ट रूप से खरतरगच्छ का स्वीकार न भी करें, तो भी इतना तो मानना ही होगा कि वे उसी संविग्न-शाखा के आचार्य थे, जिसे खरतरगच्छ की पूर्व-परम्परा कहा जा सकता है। अतः, इतना तो निर्विवाद सत्य है कि वे खरतरगच्छ के पूर्वपुरुष तो अवश्य ही रहे हैं, यद्यपि महोपाध्याय चन्द्रप्रभासागरजी ने अपने ग्रन्थ खरतरगच्छ का आदिकाल का इतिहास में अभयदेवसूरि को अनेक प्रमाणों के आधार पर खरतरगच्छ का आचार्य सिद्ध किया है।¹

पुनः, यदि अभयदेव खरतरगच्छ के सिद्ध होते हैं, तो उनके गुरुभ्राता जिनचन्द्रसूरि को खरतरगच्छ से सम्बन्धित मानने में कोई भी बाधा नहीं होना चाहिए। खरतरगच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्यतया यह माना जाता है कि आचार्य वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि जब अणहिलपुर-पत्तन पहुँचे, तो चैत्यवासियों के प्रभाव के कारण उन्हें नगर में रहने को स्थान भी नहीं मिला। अन्त में राजपुरोहित ने उन्हें अपनी अश्वशाला में ठहरने की अनुमति दी। राजपुरोहित की प्रेरणा से दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वरसूरि और चैत्यवासियों के बीच हुए शास्त्रार्थ में वे विजेता रहे, तभी जिनेश्वरसूरि को “खरतर विरुद्ध” से सम्मानित किया। इसी विरुद्ध के कारण आगे चलकर जिनेश्वरसूरि की शिष्य परम्परा खरतरगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिनेश्वरसूरि के चैत्यवासियों के साथ हुए वाद-विवाद की सूचना हमें अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इससे इस घटना की ऐतिहासिकता सुनिश्चित होती है। साथ ही हम देखते हैं कि इतिहास की दृष्टि से भी जिनेश्वरसूरि का काल वही है, जो दुर्लभराज का काल है। घटना के विवरण में चाहे परवर्ती ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत अन्तर हो, किन्तु इस घटना की सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। विविध ग्रन्थों में इस घटना का काल विक्रम संवत् १०८० बताया गया है। इतिहास के ग्रन्थों के आधार पर दुर्लभराज के पिता चामुण्डराज ने विक्रम संवत् १०५३ से

¹ खरतरगच्छ के आदिकालीन इतिहास, पृ.-११६

१०६६ तक राज्य किया। इसके बाद उसके पुत्र वल्लभराज और तत्पश्चात् दुर्लभराज ने राज्य किया। वल्लभराज का राज्यकाल अधिक लम्बा नहीं रहा। ऐसा माना जाता है कि शीतला के प्रकोप से उसकी मृत्यु चामुण्डराय के वानप्रस्थीय जीवन काल में ही हो गई थी। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस राजवंश में अधिकांश राजाओं ने अपने जीवनकाल में ही पुत्रों को राज्य देकर अपने को धर्मसाधना से जोड़ लिया था। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल इतना बताना ही है कि दुर्लभराज और जिनेश्वरसूरि समकालीन थे; अतः दुर्लभराज के द्वारा जिनेश्वरसूरि को दिया गया “खरतर विरुद्ध” जिनचन्द्रसूरि की प्रस्तुत कृति की रचना के पूर्व ही दिया गया था। जिनेश्वरसूरि और जिनचन्द्रसूरि की यही परम्परा आगे खरतरगच्छ के नाम से अभिहित हुई। वर्धमानसूरि की इस परम्परा में जिनचन्द्रसूरि चतुर्थ पट्टधर हुए, इसी कारण आगे चलकर खरतरगच्छ परम्परा में यह नियम बना कि चौथा आचार्य जिनचन्द्रसूरि के नाम से जाना जाएगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि खरतरगच्छ परम्परा के ही आद्य आचार्यों में से एक थे। खरतरगच्छ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम अभिलेखीय साक्ष्य जेसलमेर दुर्ग के पार्श्वनाथ मन्दिर के वि.सं. ११४७ के शिलालेख में मिलता है। उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि खरतरगच्छ जिनशेखरसूरिभिः; इनके पश्चात् क्रमशः विक्रम संवत् ११६६, ११७१, ११७४, ११८१ के अभिलेखों में भी खरतरगच्छ का उल्लेख पाया जाता है। वि.सं. ११६६ वि.सं. ११७४ और वि.सं. ११८१ के अभिलेखों में क्रमशः खरतरगच्छे सुविहिता, गणाधीश्वर जिनदत्तसूरि और खरतरगणाधीश्वर श्री जिनदत्तसूरिभिः उल्लेख है, अतः यह स्पष्ट है कि खरतरगच्छ विक्रम संवत् ११४७ में अस्तित्व में था। प्रस्तुत कृति इस अभिलेख के लगभग २२, अथवा मतान्तर से ८ वर्ष पूर्व लिखी गई, अतः प्रस्तुत कृति के रचनाकार जिनचन्द्रसूरि का खरतरगच्छ-परम्परा से सम्बन्ध मानने से कोई बाधा नहीं आती है।⁴

आचार्य जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) का कृतित्व :

प्रस्तुत कृति के कर्ता जिनचन्द्रसूरि के कृतित्व के विषय में हमें विशेष जानकारी तो उपलब्ध नहीं होती है, मात्र उनके द्वारा की गई साहित्य-सेवा के सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ निर्देश अवश्य मिलते हैं। युगप्रधान आचार्य गुर्वावलि में यह उल्लेख है कि उन्हें अष्टादशनाममाला आदि अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ थे।⁵ जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित ग्रन्थों के सन्दर्भ में निम्न सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं - ऐसा कहा जाता है कि जवालीपुर (जालौर) में उन्होंने चैत्यवन्दनभावस्तव की जो

⁴ खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, पृ. ७४-७५.

⁵ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृ. ६.

व्याख्या प्रस्तुत की थी, उसी के आधार पर उनके शिष्य ने ३०० श्लोक-परिमाण 'श्रावकदिनचर्या' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वर्तमान में यह कृति अनुपलब्ध है, केवल खरतरगच्छ-पट्टावली से इसकी सूचना प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पंचपरमेष्ठिनमस्कारकुलक, क्षपकशिक्षाप्रकरण, जीवविभक्ति, आराधना, पार्श्वस्तोत्र, आदि कृतियाँ भी उनके द्वारा रचित मानी जाती हैं।

जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित पंचनमस्कारफलकुलक नामक कृति ११८ गाथाओं में रचित है। हमारी जानकारी में यह कृति अभी तक अप्रकाशित है। जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस पायथुनि मुम्बई द्वारा जो जैनग्रन्थावली प्रकाशित हुई है, उसमें इस कृति का उल्लेख है। जिनरत्नकोश की सूचना के अनुसार यह कृति लिमड़ी के शास्त्र-भण्डार में उपलब्ध है और उसका क्रमांक १२८८ दिया गया है। जिनचन्द्रसूरि की दूसरी कृति 'क्षपकशिक्षाप्रकरण' का उल्लेख भी हमें जैन-ग्रन्थावली में मिलता है। इसके अतिरिक्त इस कृति का उल्लेख जिनरत्नकोश में भी हुआ है, जिनरत्नकोश के अनुसार यह कृति १२३ गाथाओं में निबद्ध है। जिनरत्नकोश की सूचना के अनुसार यह कृति डेला उपाश्रय शास्त्र-भण्डार अहमदाबाद में उपलब्ध है। इसका क्रमांक २०६ दिया गया है। इसी प्रकार पाटन केटलाग में भी पृष्ठ ३५ पर इसी कृति का उल्लेख हुआ है। हमारी जानकारी में यह कृति अभी तक अप्रकाशित ही है।

जीवविभक्तिप्रकरण भी आचार्य जिनचन्द्रगणि की एक लघु कृति है। जिनरत्नकोश में इसकी गाथा संख्या २५ उल्लेखित है तथा इसका रचनाकाल ११८६ उल्लेखित है। इसका उल्लेख पिटरसन की रिपोर्ट में भी मिलता है। जिनरत्नकोश में भी इसका उल्लेख है। जिनरत्नकोश के अनुसार पाटन केटलाग में पृष्ठ ३६२ पर इस कृति को वि.स. ११८६ की बताया गया है, किन्तु यह संवत् कृति की रचना का है, अथवा उसके लेखन-काल का है, यह निर्णय कर पाना कठिन है; क्योंकि पिटरसन की रिपोर्ट में इसका लेखन संवत् १२१५ दिया है। यदि हम संवेगरंगशाला का रचनाकाल ११२५ मानते हैं, तब दो बातें हमें मानना होंगी। प्रथम यह कि संवेगरंगशाला को आचार्य जिनचन्द्रसूरि की युवावस्था की कृति मानना होगा, किन्तु कृति के विषय की गम्भीरता को देखकर ऐसा लगता है कि यह कृति उनके यौवन की नहीं हो सकती। यदि जीवविभक्तिप्रकरण का रचनाकाल ११८६ या १२१३ मानते हैं तो या तो यह मानना होगा कि यह कृति प्रथम जिनचन्द्रसूरि की न होकर दूसरे जिनचन्द्रसूरि की कृति है; या फिर जिनरत्नकोश में इसके जो संवत् उल्लेखित हैं; वे इसके रचना-संवत् न होकर कृति के प्रतिलिपि के ही संवत् होना चाहिए। जिनरत्नकोश में जिनचन्द्रसूरिरचित

आराधना का उल्लेख नहीं है, यद्यपि जिनेश्वरसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि की आराधनाकुलक नामक ८५ गाथाओं की एक कृति का उल्लेख मिलता है। हमें ऐसा लगता है कि गुरुभ्राता होने के कारण भ्रान्तिवश यह कृति जिनचन्द्रसूरि की मान ली गई है। यह भी सम्भव है कि संवेगरंगशाला की विषयवस्तु आराधना से सम्बन्धित होने के कारण उसे ही 'आराधना' कहा गया हो या उनकी आराधना नामक कृति ही संवेगरंगशाला का कोई संक्षिप्त रूप हो। जहाँ तक पार्श्वनाथस्तोत्र का प्रश्न है, जिनरत्नकोश में जिनचन्द्रसूरिकृत पार्श्वनाथस्तोत्र का कोई उल्लेख नहीं मिला है। जिनरत्नकोश में हमें जिनदत्त के पार्श्वनाथस्तोत्र और जिनभद्र के पार्श्वनाथस्तोत्र का उल्लेख मिलता है। सम्भावना यह है कि जिनदत्तसूरि जिनचन्द्रसूरि की परम्परा के हैं, अतः उनके द्वारा रचित पार्श्वनाथस्तोत्र को कहीं जिनचन्द्रसूरिकृत नहीं मान लिया गया हो। इसी प्रकार अभयदेवसूरिकृत पार्श्वनाथस्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु जिनचन्द्रसूरिकृत पार्श्वनाथस्तोत्र का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सम्भावना यही लगती है कि जिनदत्तसूरि के पार्श्वनाथस्तोत्र को ही जिनचन्द्रसूरि की कृति मान लिया गया है, फिर भी जब तक कृति उपलब्ध नहीं होती है और उसका विश्लेषण नहीं किया जाता है, तब तक यह निर्णय करना कठिन है कि जिनचन्द्रसूरिकृत पार्श्वनाथस्तोत्र कौन-सा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनचन्द्रसूरि प्रथम के सम्बन्ध में हमें कुछ छुटपुट उल्लेखों के अतिरिक्त प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। वस्तुतः, प्राचीन आचार्यों में यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताते हैं, अतः जिनचन्द्रसूरि के जीवनवृत्त के सन्दर्भ में अधिक कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। मात्र संवेगरंगशाला के अध्ययन से ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जिनचन्द्रसूरि प्रथम अपने युग के एक महान् आचार्य थे तथा उन्होंने इस महत्वपूर्ण कृति का प्रणयन कर इसे जैन साहित्य के भण्डार को समर्पित किया है।

जिनचन्द्रसूरि का सत्ताकाल :

जहाँ तक जिनचन्द्रसूरि के काल का प्रश्न है, उनकी संवेगरंगशाला नाम की कृति के आधार पर ही उनके काल का निर्धारण किया जा सकता है। संवेगरंगशाला एक वृहत् और वैराग्यरस से परिपूर्ण कृति है। ऐसा लगता है कि यह कृति उनकी प्रौढ़-अवस्था की रचना होगी। यही कारण है कि अपनी वृद्धावस्था के कारण वे इस कृति का संशोधन और परिमार्जन नहीं कर सके। उनके गुरुभ्राता एवं शिष्यों ने इसका संशोधन किया। यदि संवेगरंगशाला की कृति के समय उनकी आयु ६० वर्ष के लगभग भी मानें, तो उनका जन्म विक्रम संवत्

की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा, अतः उनका जीवनकाल विक्रम की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जा सकता है।

संवेगरंगशाला का सामान्य परिचय :

आचार्य जिनचन्द्रसूरि की कृतियों में संवेगरंगशाला का उल्लेख उपलब्ध है। प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा में पद्यरूप में निबद्ध है। इस कृति में १००५४ गाथाएँ हैं। इसका ग्रन्थ परिमाण जैन धर्म का मौलिक इतिहास में १८००० श्लोक परिमाण बताया गया है।^६ वह ३२ अक्षरों के एक श्लोक के आधार पर समझना चाहिए। इस ग्रन्थ का अपर नाम आराधना-रत्न भी उल्लेखित है। जैन-साहित्य के वृहत् इतिहास में इसके कर्त्ता सुमतिवाचक और प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि को बताया गया है। उनके इस उल्लेख का आधार देवभद्रसूरि का पार्श्वनाथ चरित्र तथा विक्रम सं. ११५८ में रचित कथारत्नकोश है, किन्तु जैन-साहित्य के वृहत् इतिहास में उल्लेखित यह कथ्य भ्रान्त है। वस्तुतः, जब तक जैन-साहित्य के वृहत् इतिहास की रचना हुई तब तक यह ग्रन्थ प्रकाशित भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि जैन-साहित्य का वृहत् इतिहास में यह उल्लेख भी है कि इसकी एक भी प्रति अभी तक उपलब्ध भी नहीं हुई है। वस्तुतः, इस भ्रान्ति का कारण देवभद्रसूरि के पार्श्वनाथचारित्र और कथारत्नकोश के उल्लेख ही हैं, अब यह स्पष्ट हो गया है कि जिनचन्द्रसूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्रसूरि की अभ्यर्थना पर सुमतिवाचक के शिष्य देवभद्रसूरि ने इसे संशोधित किया था, अतः देवभद्रसूरि को इस ग्रन्थ का संशोधक तो माना जा सकता है, किन्तु कर्त्ता नहीं।

प्रस्तुत कृति जिनचन्द्रसूरि की रचना है, यह बात स्वयं ग्रन्थ-प्रशस्ति से ही सिद्ध हो जाती है। इसका अपर नाम आराधनारत्न है, यह बात इस आधार पर स्वीकार की जा सकती है कि संवेगरंगशाला की विषयवस्तु मुख्यतः आराधना और उसमें भी विशेष रूप से अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित है। प्रस्तुत कृति का नामकरण जो संवेगरंगशाला किया गया है, उसका मुख्य कारण यही है कि यह ग्रन्थ संवेग या वैराग्यप्रधान है। वस्तुतः, संवेग को प्राप्त व्यक्ति जब अपने जीवन में अन्तिम आराधना, अर्थात् समाधिमरण की साधना के लिए तत्पर होता है, तो उसे किस प्रकार से यह साधना करना चाहिए और निर्यापक आचार्य को उसे किस प्रकार से उपदेश देना चाहिए, इसका विवरण इसमें होने से इसे रंगशाला कहा गया है। रंगशाला वस्तुतः नाटकशाला को कहते हैं। जीवन के इस नाटक का उपसंहार कैसे हो, यही बताना प्रस्तुत कृति का लक्ष्य

^६ जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग-४, पृ. १४६.

है; इसीलिए इसे संवेगरंगशाला नाम दिया गया है। प्रस्तुत कृति में जहाँ एक ओर वैराग्यपूर्ण उपदेशों का और समाधिमरण की साधना-विधि का उल्लेख है, वहीं वैराग्य के भावों को सम्पुष्ट करने के लिए इस कृति में प्रत्येक प्रसंग को लेकर विस्तृत कथाएँ भी दी गई हैं।

इसमें लगभग १०० कथाएँ वर्णित हैं। वस्तुतः, इसकी सभी कथाओं का उद्देश्य व्यक्ति में वैराग्य के भावों को सम्पुष्ट करना ही है। इस प्रकार जहाँ एक ओर यह ग्रन्थ समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित है, वहीं यह जैन-कथाओं का एक आकर ग्रन्थ भी है। समाधिमरण की साधना के समय समाधिमरण के साधक को वैराग्यवर्द्धक कथाएँ सुनाने की प्राचीन परम्परा रही है, इसी को लक्ष्य करके प्रस्तुत कृति में विभिन्न प्रसंगों को लेकर कथाएँ प्रस्तुत की गई हैं। समाधिमरण से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों में, यथा-मरणसमाधि, मरणविभक्ति, भगवती-आराधना, और आराधनापताका, आदि में इस प्रकार की वैराग्यप्रधान कथाएँ दृष्टान्तों के रूप में उल्लेखित हैं। उसी का अनुसरण प्रस्तुत कृति में भी किया गया है। यही नहीं, संवेगरंगशाला में उल्लेखित अधिकांश कथाएँ प्राचीन जैन-आगामों, आगमिक-व्याख्याओं एवं आराधना सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलती हैं। यद्यपि जैन-परम्परा में आराधना से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु जिनचन्द्रसूरिकृत संवेगरंगशाला उन सब की अपेक्षा एक वृहत्काय ग्रन्थ है। इसकी प्राकृत भाषा सरल, किन्तु प्रांजल है। समास-बहुल जटिल शब्दों का इसमें विशेष प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी भाषा प्रवाहयुक्त है। यहाँ हमने ग्रन्थ का एक सामान्य संक्षिप्त परिचय ही दिया है। ग्रन्थ का विशेष परिचय इसकी विषयवस्तु की चर्चा के प्रसंग में ही दिया जाएगा।

संवेगरंगशाला का रचनाकाल एवं संशोधनकाल :

संवेगरंगशाला के लेखक को लेकर तीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। संवेगरंगशाला के मुम्बई से प्रकाशित संस्करण की अन्तिम ग्रन्थ-प्रशस्ति में इसके दो लेखनकालों का उल्लेख है। प्रथम उल्लेख मूल प्राकृत गाथा में है। उसमें यह बताया गया है कि जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित यह ग्रन्थ उनके विनयगुण आदि से सम्पन्न शिष्य जिनदत्तगणि द्वारा ११२५ में पुस्तकारुद्ध किया गया है। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि जिनचन्द्रसूरि द्वारा लिखित इस ग्रन्थ की उनके शिष्य जिनदत्तगणि द्वारा ११२५ में प्रतिलिपि तैयार की गई। चूँकि जिनदत्तगणि जिनचन्द्रसूरि के साक्षात् शिष्य थे, अतः ग्रन्थ के लेखनकाल और उसकी प्रथम प्रतिलिपि के काल में विशेष अन्तर नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार वि. स. ११२५ को संवेगरंगशाला की रचनाकाल और प्रथम लेखनकाल माना जा सकता

है। यह उल्लेख संवेगरंगशाला ग्रन्थ की प्रशस्ति गाथा क्रमांक १००५२ और १००५३ में मिलता है। उसके पश्चात् कथारत्नकोश की प्रशस्ति में यह उल्लेख मिलता है कि वज्रीशाखा के आचार्य बुद्धिसागरसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि एवं नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि हुए। जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला नामक आराधना-ग्रन्थ की रचना की थी, उसे प्रसन्नचन्द्रसूरि के सेवक एवं सुमतिवाचकसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि ने ११३६ में संस्कारित कर भव्य जीवो के योग्य बनाया। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि सुमतिवाचक के शिष्य देवभद्रसूरि ने इसे संशोधित कर पुनः वि. सं. ११३६ में इसकी प्रतिलिपि तैयार की। ज्ञातव्य है कि यह उल्लेख संवेगरंगशाला की ग्रन्थ प्रशस्ति में न होकर कथारत्नकोश की प्रशस्ति में मिलता है। मुम्बई से जवेरी कान्तिलाल मणिलाल द्वारा प्रकाशित संवेगरंगशाला की ग्रन्थप्रशस्ति में प्राकृतगाथा १००५४ के पश्चात् दी गई संस्कृतप्रशस्ति में यह लिखा गया है कि श्री जिनचन्द्रसूरिकृत इस संवेगरंगशाला को उनके शिष्य प्रसन्नचन्द्र आचार्य की अभ्यर्थना पर गुणचन्द्रगणि और जिनवल्लभगणि ने इसे संस्कारित और संशोधित कर विक्रम सं. १२०३ की ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी गुरुवार को वटप्रद नगर में इसकी प्रतिलिपि तैयार की। इसके पश्चात् संवेगरंगशाला के इस संस्करण में जेसलमेर ग्रन्थ भण्डार की ताड़पत्रीय प्रति पर इसकी प्रतिलिपि करने वाले परिवार की २७ श्लोकों में प्रशस्ति दी गई है; वह प्रकाशित है, किन्तु इस प्रशस्ति का सम्बन्ध प्रतिलिपि कराने वाले परिवार के साथ रहा हुआ है, अतः इसका इस प्रति के लेखन और संशोधन से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है ।

ग्रन्थ-प्रशस्तियों के उपर्युक्त विवरण को दृष्टिगत रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि सर्वप्रथम सं. ११२५ में जिनचन्द्रसूरि द्वारा लिखित संवेगरंगशाला की यथावत् आदर्श प्रतिलिपि उनके शिष्य जिनदत्तसूरि द्वारा की गई होगी। उसके पश्चात् ११३६ में सुमतिवाचक के शिष्य देवभद्र द्वारा इसे संशोधित कर इसकी प्रतिलिपि तैयार की गई होगी। खरतरगच्छ-पट्टावली में प्रसन्नचन्द्रसूरि और सुमतिवाचक (सूरि) को जिनेश्वरसूरि का शिष्य बताया गया है, किन्तु मणिधारी जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृतिग्रन्थ⁷ में प्रसन्नचन्द्र और देवभद्र को उपाध्याय सुमति का शिष्य बताया गया है। वास्तविक स्थिति क्या है, यह कहना कठिन है; फिर भी इतना तो निश्चित है कि प्रसन्नचन्द्र चाहे जिनेश्वरसूरि के साक्षात् शिष्य हों या सुमतिवाचक के शिष्य हों, वे आचार्य जिनचन्द्रसूरि के समकालीन ही थे, अतः देवभद्र के द्वारा संवेगरंगशाला संशोधनकाल वि. सं. ११३६ में लिखा गया

⁷ मणिधारी जिनचन्द्रसूरि अष्टमशताब्दी, पृ. ४

है, वह उचित ही प्रतीत होता है। पुनः, यदि प्रसन्नचन्द्रसूरि सुमतिवाचक के शिष्य हों, तो वे जिनचन्द्र से किंचित् ही परिवर्तित सिद्ध होते हैं। प्रसन्नचन्द्र की अभ्यर्थना पर गुणचन्द्रगणि और जिनवल्लभगणि के द्वारा इसे पुनः संशोधित करवाकर वि. सं. १२०३ में पुनः इसकी प्रतिलिपि तैयार की गई होगी, अतः यह काल भी समुचित ही प्रतीत होता है। जिनवल्लभसूरि आचार्य अभयदेवसूरि के पट्टधर माने गए हैं। इस प्रकार वे जिनचन्द्रसूरि के लघु गुरुभ्राता अभयदेवसूरि के शिष्य सिद्ध होते हैं। जिनवल्लभगणि के काल के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि उन्होंने शक् संवत् १०२८, अर्थात् विक्रम संवत् ११६३ में विधि-चैत्य की प्रतिष्ठा की थी। उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने का काल विक्रम सं. ११६६ बताया जाता है और विक्रम सं. ११६६ के ही कार्तिक कृष्ण द्वादशी की रात्रि में स्वर्गवास भी बताया गया है, ऐसी स्थिति में यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल ग्रन्थ की प्रशस्ति में वि. सं. १२०३ को जो संशोधित प्रतिलिपिकाल का बताया गया है, वह वस्तुतः जेसलमेर भण्डार की ताड़पत्रीय-प्रति का लेखनकाल होगा। चूँकि जिनवल्लभगणि का स्वर्गवास तो उसके छत्तीस वर्ष पूर्व ही हो चुका था, अतः उसका संशोधन तो वि. सं. ११६७ के पूर्व ही हुआ होगा। फिर भी इतना निश्चित है कि संवेगरंगशाला का संशोधन दो बार हुआ है। प्रथम संशोधन सुमतिवाचक के शिष्य देवभद्र के द्वारा और द्वितीय संशोधन अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभगणि के द्वारा, यद्यपि दोनों ही संशोधन प्रसन्नचन्द्रसूरि की अभ्यर्थना पर ही हुए हैं। वि.सं. १२०३ संवेगरंगशाला की जो प्रतिलिपि तैयार की गई थी, वह अन्तिम रूप से जिनवल्लभगणि द्वारा संशोधित प्रति के आधार पर थी।

संवेगरंगशाला की विषयवस्तु :

संवेगरंगशाला में कुल गाथाओं की संख्या १००५४ है। इसमें गृहस्थ और मुनि विषयक आराधना का विवरण होने से इसका अपर नाम 'आराधनारत्न' भी है। इसमें जिनचन्द्रसूरि ने गृहस्थ एवं मुनि जीवन की सामान्य आराधना के साथ-साथ अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना विधि का सांगोपांग एवं विस्तृत विवेचन किया है।

संवेगरंगशाला के ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा मंगल और अभिधेय के पश्चात् संसाररूपी अटवी में धर्म की दुर्लभता का निर्देश करते हुए धर्म की आराधना का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका निरूपण किया गया है। इसमें आगे ग्रन्थकार ने संवेग की महिमा, ग्रन्थ रचना का हेतु और ग्रन्थ की महत्ता, ग्रन्थ के नामकरण का हेतु, आदि का निर्देश किया है। इसके पश्चात् गाथा संख्या

७७ से गाथा संख्या ५७६ तक विस्तृत रूप से महासेन राजा के वैराग्यवर्द्धक चरित्र का चित्रण किया गया है। किसी मुनि के द्वारा अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त श्रवण कर महासेनराजा को वैराग्य उत्पन्न होना, उनका जिनेश्वरदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, संयम की तीव्र भावना लेकर महावीर स्वामी के समवसरण में जाना और वहाँ दीक्षा ग्रहण करने का निर्णय लेने का उल्लेख है।

साथ ही महासेनराजा की दीक्षा लेने से पूर्व राज्य की व्यवस्था हेतु अपने पुत्र को जो हितशिक्षाएँ दीं, उनका उल्लेख है। इस प्रसंग में विनय की महिमा एवं विष की परीक्षा के उपाय (लक्षण) भी बताए गए हैं। फिर रानी को उपदेश देकर उसमें वैराग्य जाग्रत कर, महासेनराजा एवं रानी-दोनों को प्रभु के द्वारा दीक्षा प्रदान करने एवं हितशिक्षा देने का उल्लेख है। फिर महावीर भगवान् का निर्वाण, इसके पश्चात् विशिष्ट आराधना के लिए राजर्षि द्वारा गौतमस्वामी के पास प्रार्थना करने का निर्देश है। इस तरह महासेनराजा के चरित्र का चित्रण करके गौतमस्वामी द्वारा जो आराधना का स्वरूप बताया गया, उसी का संवेगरंगशाला में विस्तार से निरूपण है।

सर्वप्रथम गौतमस्वामी द्वारा आराधना के स्वरूप का उल्लेख करते हुए उसके (१) सामान्य आराधना और (२) विशेष आराधना-इस तरह दो भेद किए गए हैं; पश्चात्, सामान्य आराधना के चार प्रकार - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का एवं विशेष आराधना, अर्थात् समाधिमरण की साधना के स्वरूप का उल्लेख है। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में संक्षिप्त विशेष आराधना एवं विस्तृत विशेष आराधना-इस तरह विशेष आराधना के भी दो भेदों का निर्देश किया गया है। इसमें संक्षिप्त विशेष आराधना का स्वरूप एवं उसके सम्बन्ध में मधुराजा एवं सुकोशल मुनि का प्रबन्ध भी उल्लेखित है। यहाँ संक्षिप्त का अर्थ अल्पकालिक और विस्तृत का अर्थ दीर्घकालिक है। इस ग्रन्थ की पूर्वपीठिका के अन्त में विस्तृत, अर्थात् दीर्घकालिक अन्तिम आराधना के स्वरूप के विवेचन के पूर्व उसके चार मूल द्वारों का उल्लेख है- (१) परिकर्मविधि-द्वार (२) परगणसंक्रमण-द्वार (३) ममत्व-उच्छेद-द्वार और (४) समाधिलाभ-द्वार।

इस तरह विषय-विवेचन को चार भागों में विभक्त कर पुनः इन द्वारों को प्रतिद्वारों में विभक्त किया गया है। इन चार द्वारों के क्रमशः पन्द्रह, दस, नौ एवं नौ प्रतिद्वार या उपद्वार हैं। आगे संक्षिप्त विशेष अन्तिम आराधना, अर्थात् अल्पकालिक समाधिमरण की साधना के सम्बन्ध में मरुदेवीमाता का प्रबन्ध, आराधना की विराधना के विषय पर क्षुल्लकमुनि का प्रबन्ध एवं आराधना के फल

का उल्लेख किया गया है तथा मरुदेवी आदि के दृष्टान्त को जानकर जीवों को प्रमाद नहीं करने की शिक्षा दी गई है।

इसके आगे गृहस्थ एवं मुनि जीवन में विशेष आराधना करने हेतु परिकर्मविधि नामक प्रथम मूल द्वार के पन्द्रह प्रतिद्वारों के नामों का निर्देश है। वे क्रमशः इस प्रकार कहे गए हैं -

(१) अर्हताद्वार	(२) लिंगद्वार	(३) शिक्षाद्वार	(४) विनयद्वार
(५) समाधिद्वार	(६) मनोनुशास्तिद्वार	(७) अनियतविहारद्वार	
(८) राजा का अनियत विहारद्वार	(९) परिणामद्वार		
(१०) त्यागद्वार	(११) मरणविभक्तिद्वार	(१२) अधिगत (पण्डित) मरणद्वार	
(१३) श्रेणीद्वार	(१४) भावनाद्वार	(१५) संलेखनाद्वार।	

(१) सवेगरंगशाला के प्रथम परिकर्म-द्वार के प्रथम अर्हता प्रतिद्वार में आराधक की योग्यता का वर्णन करते हुए आराधक (धर्म) की योग्यता के सन्दर्भ में वंकचूल एवं चिलातीपुत्र के कथानक उल्लेखित हैं, साथ ही आराधक की योग्यता एवं अयोग्यता का वर्णन किया गया है।

(२) दूसरे लिंग-द्वार के अन्तर्गत आराधक गृहस्थ एवं मुनि के बाह्यलिंग का निर्देश है तथा मुनि को मुंहपत्ति आदि बाह्यलिंग रखने का प्रयोजन एवं लाभ क्या है, यह प्रदर्शित किया गया है तथा दोनों के सामान्य लिंगों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस सन्दर्भ में कुलवालक मुनि का दृष्टान्त भी उल्लेखित है।

(३) तीसरे शिक्षा-द्वार में शिक्षा के तीन भेद - ग्रहण-शिक्षा, आसेवन-शिक्षा, और तदुभय-शिक्षा के स्वरूप का विवेचन करते हुए श्रुतज्ञान से होने वाले लाभ पर सुरेन्द्रदत्त की कथा दी गई है। इसके पश्चात् ज्ञान एवं क्रिया की परस्पर सापेक्षता का उल्लेख कर क्रियारहित ज्ञान के सन्दर्भ में मथुरा के मंगु आचार्य की कथा एवं ज्ञानरहित क्रिया के सन्दर्भ में अंगारमर्दकाचार्य की कथा का निरूपण किया गया है। साथ ही आसेवन-शिक्षा के प्रकारों में गृहस्थ तथा मुनि के सामान्य आचारधर्म के साथ-साथ गृहस्थ के विशेष आचारधर्म एवं मुनि के विशेष आचारधर्म का भी विवेचन किया गया है।

(४) चौथे विनय-द्वार के अन्तर्गत यह बताया गया है कि विनय धर्म का मूल है, विनय से ही ज्ञान प्राप्त होता है तथा इसमें विनय की महिमा, विनय का

स्वरूप, विनय की अनिवार्यता एवं विनय के प्रकारों का उल्लेख करते हुए विनय के सम्बन्ध में श्रेणिकराजा की कथा का निर्देश है।

(५) पाँचवें द्वार में समाधि की चर्चा के प्रसंग में द्रव्य एवं भाव-समाधि के स्वरूप का निरूपण करते हुए इसमें भाव-समाधि की उपादेयता एवं समाधि की महिमा, उसके उपाय, उसके फल, आदि का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्ध में नमिराजर्षि का चरित्र उल्लेखित है।

(६) छठवें मनोनुशास्ति-द्वार में जीव को समाधिमरण के लिए मन को अनुशासित करने का उपदेश दिया गया है। चूंकि संसार और मुक्ति का माध्यम मन है, इसलिए इसमें विषय एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए मन को दी गई विविध प्रकार की शिक्षाओं का विस्तृत विवरण है। इस विषय पर वसुदत्त का प्रबन्ध उपलब्ध है। यह मनोनुशास्ति प्रत्येक आत्मार्थी को बार-बार चिन्तनीय है।

(७) सातवाँ अनियतविहार-द्वार हमें यह सूचना देता है कि गृहस्थ तथा मुनि को (विहार) करना अनिवार्य है। राग-यात्रा के प्रहण हेतु साधु को नौकल्पी-विहार एवं गृहस्थ को भी तीर्थयात्रा आदि-रूप विहार करना चाहिए। इसमें विहार-यात्रा करते समय सद्गुरु की खोज करके उनसे आत्मशुद्धि हेतु प्रायश्चित्त आदि का लाभ लेना चाहिए। इस द्वार में तीर्थयात्रा में पूजा करने से होने वाले लाभों के सन्दर्भ में दुर्गतानारी की कथा दी गई है, साथ ही स्थिरवास से किन दोषों की उत्पत्ति होने की सम्भावना हो सकती है, इस विषय में सेलकाचार्य के दृष्टान्त द्वारा प्राचीन मुनि-सामाचारी आदि का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(८) आठवें राजा के अनियतविहार-द्वार में राजा को भी तीर्थयात्रा के लिए ग्राम, नगर, आदि में विचरण करने का उल्लेख है। इस यात्रा में मिले हुए साधुओं की भक्ति करते हुए उन्हें स्वनगर में पधारने हेतु विनती करना चाहिए तथा स्वयं के आवास में मुनि को ठहराकर आराधना करना चाहिए, इससे वसतिदान का विशिष्ट फल प्राप्त होता है, ऐसा निरूपण भी है। इस विषय पर कुरुचन्द्र का दृष्टान्त और सम्प्रेतशिखर तीर्थ की अद्भुत महिमा का वर्णन किया गया है।

(९) नौवें परिणाम-उपद्वार के पुनः आठ प्रतिद्वार कहे गए हैं। प्रथम परिणाम प्रतिद्वार में भावश्रावक की भावना या मनोरथ का वर्णन है।

द्वितीय पुत्र-अनुशास्ति-प्रतिद्वार में पुत्र को लोक-व्यवहार आदि की शिक्षा देने का निर्देश करने के साथ इसमें योग्य शिष्य को उसका अधिकार नहीं देने के सन्दर्भ में वज्रकेशरी का उदाहरण उपलब्ध है।

तृतीय कालक्षेप-प्रतिद्वार में पौषधशाला का स्वरूप एवं धर्म करने के लिए पौषधशाला कहाँ बनाए? कैसी बनाए? इसका सुन्दर प्रतिपादन है। फिर उपासक गृहस्थ की बारह प्रतिमाओं के स्वरूप का निर्देश करके इसमें पहले दर्शन-प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए मिथ्यात्व के विषय पर अन्धों की कथा का वर्णन है, प्रतिमाधारी श्रावक यदि अन्त में प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकता हो, तो स्वधन से, अथवा शक्ति नहीं होने पर साधारण द्रव्य से भी जिनमन्दिर, जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा), आदि का जीर्णोद्धार कराए, इसका उल्लेख है। इस ग्रन्थ में प्रसंगानुसार, साधारण द्रव्य खर्च करने के दस स्थान बताए गए हैं। (१) जिन बिम्ब (२) जिन मूर्ति यदि जीर्ण-शीर्ण हो; तो कहाँ, किस तरह से उसका उद्धार करना एवं स्थानान्तर करने की स्थिति में उसकी तुल्यप्रायः विधि का वर्णन है, साथ ही जीर्णोद्धार में होती हुई अतिप्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में हितकारी जानकारी का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् (३) जिनपूजा (४) आगम-ग्रन्थ (५) साधु (६) साध्वी (७) श्रावक (८) श्राविका (९) पौषधशाला और (१०) जिनशासन के कार्य - इन दस स्थानों में साधारण द्रव्य का उपयोग करने के लिए उपयोगी एवं प्रशस्त विधि बताई गई है।

चतुर्थ पुत्र-प्रतिबोध-प्रतिद्वार में दीक्षा की अनुमति लेने के लिए पुत्र को मोह से मुक्त करने हेतु कैसा बोधप्रद उपदेश देना चाहिए, इसका तथा दीक्षार्थी की कुटुम्ब के प्रति क्या जवाबदारी होती है, दीक्षा का क्या महत्व है, दीक्षार्थी की क्या योग्यता होती है, आदि का वर्णन है। आगे पाचवें सुस्थितघटना-प्रतिद्वार में सद्गुरु की प्राप्ति एवं संयम ग्रहण करने के लिए उनसे की गई प्रार्थना का प्रतिपादन है। छठवें आलोचना प्रतिद्वार में आलोचना के स्वरूप का निर्देश है।

सातवें कालज्ञान-प्रतिद्वार के अन्तर्गत अनशन करने वाले सशक्त या असशक्त तथा रोगी या निरोगी साधक का छद्मस्थ के द्वारा आयुष्य को जानने की विविध विधियों का उल्लेख है। इस प्रसंग में (१) देवता (२) शकुन (३) शब्दश्रवण (४) छाया (५) नाड़ी (६) निमित्त (७) ज्योतिष (८) स्वप्न (९) रिष्ट (मंगल) (१०) मंत्रप्रयोग एवं (११) विद्या - ऐसे ग्यारह उपायों का सुन्दर वर्णन किया गया है। आठवें अणसनस्वीकार-प्रतिद्वार में अनशन स्वीकार करने वाले गृहस्थ अथवा साधु के परिणाम कैसे होना चाहिए, इसका सुन्दर वर्णन है। इस तरह संवेगरंगशाला में नौवें प्रतिद्वार के आठ उपद्वारों का गाथा क्रमांक २४८४ से ३३७६ तक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

(१०) दसवें त्यागद्वार के अन्तर्गत गृहस्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव सम्बन्धी ममत्व के त्याग करने का निर्देश है एवं इसमें साधु को आलोचना आदि

पाँच प्रकार की शुद्धि एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, विनय तथा आवश्यक - ऐसी पाँच प्रकारों की शुद्धि का निर्देश करते हुए रसनेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियों के विषयों का तथा शरीर, शय्या, सर्वउपधि, आहार, पानी और वैयावृत्यकारक - इन पाँचों के प्रति राग को त्यागने का उल्लेख है। इसके पश्चात् सर्वत्याग के विषय पर सहस्रमल्ल की कथा का उल्लेख उपलब्ध होता है।

(११) ग्यारहवें मरणविभक्ति-द्वार में अविचि आदि सत्तरह प्रकार के मरण की चर्चा की गई है। इसमें वैखानस (वेहायस) और गृह्यपृष्ठमरणों की कथंचित् उपादेयता का निर्देश करने के साथ इस विषय पर जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा एवं उदायीनृप का दृष्टान्त उपलब्ध है। इसमें भक्तपरिज्ञामरण, इंगिनीमरण एवं पादपोषगमनमरण स्वीकार करने वाले की योग्यता आदि का भी विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है।

(१२) बारहवें पण्डितमरण-द्वार में पण्डित-पण्डित-मरण आदि पाँच प्रकार के मरणों का विवेचन है, साथ ही मरण के स्वरूप एवं मरण का अधिकारी कौन है? तथा बालमरण एवं बाल-बाल-मरण से भवों की वृद्धि होती है, इसका समीचीन निरूपण किया गया है। इसमें सुन्दरी-नन्द के उदाहरण द्वारा पण्डित-मरण की महिमा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(१३) तेरहवें श्रेणी-द्वार में हमें यह बताया गया है कि श्रेणी-आरोहण क्रमिक आत्मविकास का सूचक है एवं श्रेणी से पतित होने के विषय पर स्वयंभूदत्त का प्रबन्ध तथा सर्पदश की दुष्टता एवं अदुष्टता का उल्लेख है।

(१४) चौदहवें भावना-द्वार में मुख्यतः प्रशस्त एवं अप्रशस्त-भावना के पाँच-पाँच प्रकारों की चर्चा की गई है। सर्वप्रथम भावना के दो भेद - प्रशस्त-भावना एवं अप्रशस्त-भावना की चर्चा करके, अप्रशस्त भावना के अन्तर्गत कन्दर्प आदि पाँच भावनाओं का और उनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों का उल्लेख है; साथ ही भावना के स्वरूप एवं उसके फल का रोचक निरूपण किया है। तत्पश्चात् तप, श्रुत, एकत्व, सत्त्व और धैर्यबल-इन पाँच प्रशस्त-भावनाओं की चर्चा है। इसमें एकत्व-भावना पर जिनकल्पिक मुनि के धैर्यबल पर आर्य महागिरि की कथा दी गई है। जिनशासन के गौरवस्वरूप गजाग्रपदतीर्थ का रोचक इतिहास प्रस्तुत है।

(१५) सवेगसंगशाला के प्रथम परिकर्मद्वार के अन्तिम पन्द्रहवें संलेखना-प्रतिद्वार में अनशन आदि छः बाह्य तपों के स्वरूप का उल्लेख है। संलेखनाविधि के जघन्य एवं उत्कृष्ट कालमान का निर्देश करते हुए संलेखना की विराधना के सन्दर्भ

में गंगदत्त का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस कृति के मूल परिकर्मविधिद्वार के पन्द्रह उपद्वारों का विवेचन समाप्त होता है।

द्वितीय परगणसंक्रमण द्वार के दस प्रतिद्वारों का निरूपण इस प्रकार है -

(१) प्रथम दिशा-द्वार में दिशा का अर्थ गच्छ बताया गया है, फिर स्वगच्छ की अनुज्ञापूर्वक अन्य गच्छ में प्रवेश करने की विधि का निर्देश है तथा नवीन गच्छाधिपति की योग्यता का स्वरूप, स्व-परगच्छ में योग्य निर्यापक पुरुषरत्न की खोज, संघ की सम्मति एवं साक्षीपूर्वक योग्य शिष्य को सूरिपद (आचार्यपद) प्रदान करने आदि का निर्देश किया गया है। साथ ही इसमें गच्छ की अनुज्ञा की विधि, उसमें जिनशासन की स्व-परहित व्यवस्था, संघरक्षा हेतु आचार्य की जिम्मेदारी एवं विधि-भंग के अनिष्ट परिणामों को समझाते हुए इसमें शिवभद्राचार्य का दृष्टान्त प्रतिपादित किया गया है।

(२) दूसरे क्षामणा-द्वार में यह बताया गया है कि गणसंक्रमण करने वाले आचार्य प्रथम श्रमणसंघ से क्षमायाचना करें, पश्चात् श्रमणसंघ भी कृतज्ञभाव से आचार्यश्री से क्षमायाचना करे। इसमें क्षमापना पर अति वैराग्यजनक उद्बोधन प्रस्तुत है तथा सम्यक् क्षमापना नहीं करने पर होने वाले अनिष्टों के विषय पर नयशीलसूरि का दृष्टान्त भी उपलब्ध होता है।

(३) तीसरे अनुशास्ति-द्वार में पूर्व आचार्य के द्वारा नूतनाचार्य एवं मुनि-मण्डल को दी गई हितशिक्षाओं का उल्लेख है। इसमें साधु को साध्वी एवं स्त्री के सम्पर्क से सम्भावित विविध दोषों का निर्देश किया गया है, साथ ही इस विषय पर सुकुमारिका का दृष्टान्त भी उपलब्ध होता है। इसी के साथ इसमें स्त्री के स्वरूप का एवं सिंहगुफावासी मुनि एवं कोशावेश्या की कथा का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् प्रवर्तिनी एवं साध्वीवर्ग को दी गई हितशिक्षा, वैयावच्च की महिमा, पार्श्वस्थादि के संसर्ग को त्यागने का उपदेश, कुसंसर्ग से होने वाले विविध दोष एवं शिष्यों द्वारा कृतज्ञभावपूर्वक हितशिक्षाओं को स्वीकार करने का विशिष्ट एवं विस्तृत वर्णन किया गया है।

(४) चौथे परगणगवेषणा-द्वार के अन्तर्गत अन्य गच्छ में गमन के लिए आचार्य को भी स्वगच्छ से अनुमति माँगने का निरूपण है, साथ ही गच्छ के साधुओं द्वारा स्वगच्छ में रुकने की विनती एवं आचार्य के द्वारा उसका वात्सल्यपूर्ण उत्तर आदि का प्रदिपादन किया गया है। इसके पश्चात् यह निरूपित किया गया है कि यदि गच्छ की प्रार्थना से कोई आचार्य स्वगच्छ में अनशन (समाधिभरण) स्वीकार करता है, तो स्वगच्छ में रहने से 'आज्ञाकोप' आदि विघ्नों

के उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है और इससे आचार्य को अनशन में असमाधि उत्पन्न होती है- ऐसा उल्लेख है।

(५) पाँचवें सुस्थित-गवेषणाद्वार में क्षपक को निर्यापक आचार्य की खोज-क्षेत्र से उत्कृष्ट सात सौ योजन एवं काल से उत्कृष्ट १२ वर्ष तक का वर्णन किया गया है तथा निर्यापक आचार्य के आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अप्रवीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी-इन आठ गुणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

(६) छठवें उपसम्पदा-द्वार में क्षपक द्वारा निर्यापक आचार्य से अपनी निश्चा में अनशन विधि स्वीकार करवाने के लिए विनती करने का निरूपण किया गया है तथा निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक को प्रोत्साहित करना एवं अपने साधुओं से क्षपक को स्वीकार करना, अथवा नहीं करना आदि का रोचक विवेचन उपलब्ध है।

(७) सातवें परीक्षा-द्वार में क्षपक को निर्यापक आचार्य की एवं निर्यापक आचार्य को क्षपक की योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा किस प्रकार करना चाहिए? आदि का उल्लेख है।

(८) आठवें प्रतिलेखन-द्वार में अनशन स्वीकार करने वालों की कार्यसिद्धि निर्विघ्न होगी या नहीं? इसे जानने के लिए आचार्य या गुरुपरम्परा से मिले हुए अनुभवों आदि के द्वारा निर्णय करके ही क्षपक को अनशन स्वीकार कराने का उल्लेख है, अन्यथा दोषों की उत्पत्ति की सम्भावना का निर्देश करते हुए इस पर हरिदत्तमुनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

(९) नौवें पृच्छा-द्वार में निर्यापक आचार्य स्वगच्छ के साधुओं से यह प्रश्न करते हैं कि शरण में आए हुए क्षपक पर अनुग्रह करें, अथवा नहीं? इस तरह पूछकर उनकी स्वीकृति के आधार पर ही क्षपक को शरण देने का उल्लेख है।

(१०) दसवें प्रतीच्छा-द्वार में यह कहा गया है कि एक निर्यापक आचार्य एक साथ कितने आराधकों को शरण दे सकता है? एवं एक को शरण में रखने के पश्चात् यदि दूसरे या तीसरे क्षपक (आराधक) आते हैं, तो उन्हें क्या करना चाहिए? इसका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है।

तृतीय ममत्व-विमोचन-मूलद्वार के नौ प्रतिद्वारों का विवेचन :

(१) इसके प्रथम आलोचनाविधि-प्रतिद्वार में आलोचना के दस उपद्वारों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार से कहे गए हैं -

१. आलोचना कब और किसके समक्ष की जाए, जिसके समक्ष आलोचना की जाए, वह कैसा हो २. आलोचना करने वाला कैसा हो ३. आलोचना के दस दोष क्या हैं ४. आलोचना नहीं करने से होने वाले दोष ५. आलोचना के गुण ६. आलोचना दूसरे की साक्षी में क्यों करें ७. आलोचना की विधि में आलोचना की सात मर्यादाएँ ८. आलोचनीय दोषों का निर्देश ९. प्रायश्चित्त के प्रकार एवं स्वरूप १०. आलोचना का फल क्या है, आदि। इसमें भी जो छोटे दोषों की आलोचना नहीं करता है, तो उससे जो विराधना होती है; उस विषय पर ब्राह्मणपुत्र एवं सुरतेजराजा का उदाहरण भी दिया गया है।

(२) दूसरे शय्या-द्वार में यह प्रतिपादित किया गया है कि अनशन की आराधना के लिए आराधक की वसति कैसी होनी चाहिए, कहाँ एवं किसके पड़ोस में होनी चाहिए? साथ ही इसमें सज्जन एवं असज्जन के संसर्ग से उत्पन्न हुए गुण-दोषों के विषय पर दो तोतों की कथा का निरूपण है। साथ ही जहाँ क्षपक की आराधना का स्थान हो, वहाँ छोटे (बाल) मुनियों एवं राग पैदा करने वाली वस्तुओं को नहीं रखना चाहिए, इत्यादि बातों का युक्तिसंगत वर्णन उपलब्ध होता है।

(३) तीसरे संस्तारक-द्वार में संधारे (शय्या) के प्रकारों का उल्लेख करते हुए क्षपक को सम्यक् स्थान में भी कैसा संधारा योग्य होता है ? इसके उत्सर्ग और अपवाद - दोनों प्रकारों का निरूपण किया गया है, साथ ही इसमें भावसंधारा के स्वरूप की चर्चा भी है। अग्निसंधारे के सन्दर्भ में गजसुकुमाल का चारित्र एवं जलसंधारे के विषय में अर्णिकापुत्र की कथा तथा सचित्त-संधारे के सम्बन्ध में चिलातीपुत्र के दृष्टान्त प्रस्तुत किए गए हैं।

(४) चौथे निर्यामक-द्वार में निर्यापक आचार्य की योग्यता की चर्चा करते हुए इसमें क्षपक की बारह प्रकार की वैयावृत्य का वर्णन है। प्रत्येक प्रकार के वैयावृत्य में चार-चार मुनि की तथा उत्सर्ग से दो मुनि की अनिवार्यता का भी निर्देश है, साथ ही आराधना कैसे करनी एवं कैसे करवानी चाहिए, इसका भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(५) पाँचवें दर्शन-द्वार में यह प्रतिपादित किया गया है कि क्षपक को अनशन, अर्थात् आहार का त्याग कराने से पूर्व उसके भावों को (परिणामों को) जानने के लिए उत्तम आहार, पानी, आदि द्रव्य किस तरह से दिखाना, अथवा देना चाहिए।

(६) छठवें हानि-द्वार में क्षपक को आहारादि के प्रति राग नहीं छूटा हो, तो उसको दुर्ध्यान से बचाने के लिये गीतार्थ आचार्य के द्वारा अपवादादिक कर्तव्यों का

वर्णन प्रस्तुत किया गया है। क्रमशः, इसमें आहार को कम करते हुए अन्त में सम्पूर्ण आहार का त्याग कैसे कराने का एवं निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक को सम्यक् उपदेश देने का निर्देश है तथा सम्यक् प्रकार से विधि का प्रयोग नहीं करने से किस प्रकार शासन की निन्दा हो सकती है, इसका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।

(७) सातवें प्रत्याख्यान-द्वार में अनशन में छः प्रकार के कल्प्य पानी का निर्देश करते हुए इसमें पानी के विविध प्रकार गुणादि बताकर, वातपित्त, कफ, आदि के प्रकोप में कैसा पानी देना चाहिए ? इसका विवेचन किया गया है। साथ ही श्रीसंघ के समक्ष चारों प्रकार के आहार-त्याग करवाने की विधि के निर्देश के साथ आहार-त्याग के प्रत्याख्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसका वर्णन है।

(८) आठवें क्षमापना-द्वार के अन्तर्गत श्रीसंघ को माता-पिता तुल्य मानकर कृतज्ञभावों से क्षमायाचना करने का उल्लेख है।

(९) नौवें स्वयंक्षामणा-द्वार में व्यवहार से सर्व जीवों से क्षमायाचना करने का निर्देश है। इसके पश्चात् निश्चय से सर्व जीवों के प्रति रहे हुए कषाय आदि के त्यागपूर्वक क्षमायाचना करने का निर्देश है तथा कहा गया है कि क्षमापना तभी सफल हो सकती है जब स्व-पर क्षमापना हो; यदि उभयपक्षीय क्षमापना न हो, तो एक पक्षीय (स्वयं) क्षमापना करने का विधान बताया गया है। इस प्रसंग में चन्द्ररुद्राचार्य का दृष्टान्त दिया गया है।

चतुर्थ समाधिलाभ-द्वार के नौ प्रतिद्वारों का प्रतिपादन :

१. प्रथम अनुशास्ति-द्वार में पाँच हेय एवं तेरह उपादेय - ऐसे अठारह प्रतिद्वारों का विवेचन किया गया है। इसमें प्रथम प्रतिद्वार में अठारह पापस्थानकों का स्वरूप बताया गया है, तथा इनके सेवन से दोषों की उत्पत्ति एवं इनके त्याग से गुणों की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें अठारह पापस्थानकों की अठारह कथाएँ उपलब्ध होती हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं :- १. प्राणातिपात (अहिंसा) के विषय पर सास-बहू की कथा २. मृषावाद पर वसु और नारद का प्रबन्ध ३. अदत्तादान पर श्रावकपुत्र और मण्डली की कथा ४. मैथुनविरमण-व्रत के सन्दर्भ में तीन सखियों की कथा ५. परिग्रह से दोषों की उत्पत्ति के प्रसंग में लोभानंदी जिनदास का उदाहरण ६. क्रोध के सन्दर्भ में प्रसन्नचन्द्र का प्रबन्ध ७. मान के सन्दर्भ में बाहुबली का दृष्टान्त ८. माया के विषय पर पंडरआर्या का उदाहरण ९. लोभ के सम्बन्ध में कपिल ब्राह्मण का चरित्र १०. राग के विषय पर अर्हन्तक की पत्नी और अर्हमित्र का दृष्टान्त

११. द्वेष के सम्बन्ध में धर्मरुचि अणगार की कथा १२. कलह के विषय में हरिवेण का चरित्र १३. अभ्याख्यान के सन्दर्भ में रुद्र और अंगर्षि की कथा १४. अरति-रति के सन्दर्भ में कुल्लुककुमार की कथा १५. पैशून्य के विषय में सुबन्धु एवं चाणक्य का दृष्टान्त १६. पर-परिवाद के सम्बन्ध में सती सुभद्रा का चरित्र १७. मायामृषावाद के प्रसंग पर कूटापस का उदाहरण एवं १८. मिथ्यात्वशक्त्य के सन्दर्भ में जमाली का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे मदत्याग प्रतिद्वार में आठ मदों के स्वरूप का निरूपण है तथा इनके सेवन से हानि एवं इनके त्याग से लाभ का उल्लेख किया गया है। वे मद निम्न हैं:- १. जातिमद के विवेचन पर ब्राह्मणपुत्र की कथा है २. कुलमद के उल्लेख पर मरीची का चरित्र है ३. रूपमद के विषय पर दो भाइयों का दृष्टान्त है ४. बलमद के प्रसंग पर मल्लदेव राजा का उदाहरण है ५. श्रुतमद के सन्दर्भ पर आर्य स्थूलभद्र का दृष्टान्त है ६. तपमद के विषय पर दृढप्रहारी की कथा है ७. लाभ मद के सन्दर्भ पर ढंढणमुनि की कथा है और ८. ऐश्वर्यमद के प्रसंग पर दो व्यापारियों का उदाहरण उपलब्ध होता है।

तीसरे कषायत्याग-प्रतिद्वार में कषायों के त्याग का निर्देश है। यद्यपि अठारह पापस्थानकों में कषायों के त्याग का निर्देश था, फिर भी कषायत्याग-प्रतिद्वार में इसका पुनः निर्देश किया गया है, क्योंकि कषायों का त्याग करना अति दुष्कर होता है। पुनः, अल्प भी कषाय रहने पर वे पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। महापुरुषों ने कषाय को विविध उपमाओं से उपमित किया है, इसका भी सुन्दर विवरण प्रस्तुत द्वार में है।

चौथा प्रमादत्याग-प्रतिद्वार में प्रमाद के पाँच प्रकारों का स्वरूप बताया गया है। १. मद्यपान-प्रमाद पर लौकिक ऋषि का दृष्टान्त है। मांसाहार के सेवन से विविध दोषों की उत्पत्ति का निर्देश है तथा मांस की मूल्यवत्ता के निर्णय पर अभयकुमार की बुद्धि का प्रसंग है। २. विषय-वासना के सन्दर्भ में कंडरिक मुनि का प्रबन्ध है। ३. कषायप्रमादद्वार के सन्दर्भ में कषायों की दुष्टता का बोधप्रद वर्णन है। ४. निद्राप्रमादद्वार में निद्रा के स्वरूप का एवं अंगदत्त का प्रबन्ध उपलब्ध है। ५. विकथाद्वार में विकथा के भेद, उसके स्वरूप एवं उसके सेवन से होने वाले दुष्ट विपाकों का सुन्दर निर्देश है। ६. प्रमादजुगारद्वार में जुगार (जुआ) का स्वरूप बताया गया है, साथ ही अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य अन्य आठ प्रकार के प्रमाद के स्वरूप निर्देश है। वे आठ प्रमाद निम्न हैं :-अज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय, राग, द्वेष, स्मृतिध्वंस, धर्म में अनादर और योग के दुष्प्रणिधान। इनके भी सेवन से दोष एवं असेवन से गुण की प्राप्ति का निर्देश है।

पाँचवें सर्वसंगत्याग प्रतिद्वार में द्रव्य क्षेत्र-काल और भाव से सर्वसंग का त्याग करने का उल्लेख है। साथ ही उसके प्रकारों को बताते हुए सर्वत्याग का उपदेश दिया गया है।

छठवें सम्यक्त्व प्रतिद्वार में सम्यक्त्व की उपादेयता, अनिवार्यता एवं महत्व आदि का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सातवें प्रतिद्वार में अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, आचार्य, उपाध्याय और साधु-इन छः को मुक्ति-मार्ग के सार्थवाह तुल्य कहा गया है। इसमें उनकी भक्ति की महिमा का वर्णन है। इस सन्दर्भ में कनकरथ राजा का प्रबन्ध उपलब्ध होता है।

आठवें पंचपरमेष्ठी-नमस्कार-प्रतिद्वार में महामंत्र की अचिंत्य महिमा का अनुपम वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें यह बताया गया है कि तीनों काल में और तीनों लोक में प्राप्त होने वाले सुख का कारण नमस्कार-मन्त्र ही है, इस पर श्रावकपुत्र का एवं श्रीमती श्राविका का प्रबन्ध है तथा पारलौकिक सुख प्रदान करने के सम्बन्ध में हुडिका यक्ष का दृष्टान्त उपलब्ध है। नौवें सम्यग्ज्ञानोपयोग प्रतिद्वार में सम्यग्ज्ञान के स्वरूप एवं उसकी महिमा की चर्चा हुई है। इस पर यवराजर्षि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

दसवें पंचमहाव्रत-प्रतिद्वार में साधु को महाव्रतों की रक्षा करने हेतु उपदेश का निरूपण है तथा प्रत्येक व्रत की आराधना एवं विराधना से उत्पन्न होने वाले गुण-दोषों का वर्णन किया गया है।

ग्यारहवें प्रतिद्वार में अरिहंत आदि के चार शरणों का विस्तृत वर्णन एवं उन शरणों को स्वीकार करने का सुन्दर उपदेश प्राप्त होता है।

बारहवें दुष्कृतगर्हा प्रतिद्वार में अरिहंत आदि महापुरुषों की अवज्ञा की गर्हा का निर्देश है, इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से सर्व पापों की गर्हा का उल्लेख भी मिलता है। अठारह पाप-स्थानकों की एवं अन्य पापों की गर्हा, पंच-आचार की विराधना की गर्हा, पृथ्वीकायादि जीवों की भिन्न-भिन्न रूप से हुई विराधना की गर्हा का वर्णन करते हुए इसमें अनादि भवभ्रमण में अनेक जीवों की विराधना का विस्तृत वर्णन करके उसकी गर्हा करने का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तेरहवें सुकृतानुमोदना-प्रतिद्वार में पंचपरमेष्ठी, श्रावक एवं आसन्न भव्य जीवों के गुण तथा उपकार एवं उसकी अनुमोदना का सुन्दर विवेचन किया गया है।

चौदहवें प्रतिद्वार में भावों की महिमा बताई गई है एवं भावपूर्वक दिए गए दानादिक की सफलता का निर्देश करते हुए इसमें जीर्णसेठ, बलदेव के हिरण के भव की कथा दी गई है। भावशून्यदानादि की निष्फलता का निर्देश करते हुए अभिनव सेठ का प्रबन्ध तथा शील एवं तप के विषय पर करकंडु मुनि का एवं मरुदेवा माता का प्रबन्ध दिए गए हैं। इसके पश्चात् बारह भावनाओं का वर्णन है, उसमें अनित्य भावना पर नृगति राजा का प्रबन्ध, अशरणभावना पर श्रेष्ठिपुत्र की कथा, संसारभावना पर तापससेठ का उदाहरण, एकत्वभावना पर श्री वीरप्रभु का चरित्र, अन्यत्वभावना पर शिवराजर्षि का दृष्टान्त, एवं बोधिदुर्लभ-भावना पर वणिकपुत्र का दृष्टान्त है। अन्त में सुगुरु की दुर्लभता एवं सुगुरु के गुणों का विशद वर्णन प्रस्तुत है।

पन्द्रहवें शीलपालन-प्रतिद्वार में निश्चय शील का अर्थ आत्मरमण एवं व्यवहार से शील का अर्थ संवर और चारित्र, अथवा समाधि बताया गया है, इसमें शील के स्वरूप एवं उसके लाभों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

सोलहवें इन्द्रियदमन प्रतिद्वार में इन्द्रियों की उच्छृंखलता का निरूपण है तथा इन्द्रियजय से होने वाले लाभों का निर्देश है। पौँचों इन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के सन्दर्भ में अनुक्रम से भद्रासार्थवाह, सार्थवाह की पुत्री, राजपुत्र, सोदास राजा, एवं सोमदेव ब्राह्मण का प्रबन्ध प्रतिपादित है।

सत्तरहवें तपविधान प्रतिद्वार में बाह्य-आभ्यन्तर-तप में उद्यम करने का निरूपण है। साथ ही तप-शक्ति को छिपाने से वीर्यान्तराय एवं माया करने से मोहनीय-कर्म का बन्ध एवं सुखशीलता से अशातावेदनीय का और प्रमाद करने से चारित्रमोहनीय का, इत्यादि कर्मों के बन्ध होने का निरूपण है; इसमें तप करने से विशिष्ट लाभ का निर्देश है, तथा जीवन में तप की अनिवार्यता का निरूपण किया गया है।

अन्तिम अठारहवें निःशल्यता-प्रतिद्वार में शल्य के तीन प्रकार की चर्चा करते हुए निदान शल्य के तीन प्रकारों का उल्लेख है- १. रागद्वेष और मोहकृत २. अप्रशस्त-प्रशस्तभावकृत और ३. भोगकृत । शल्य के प्रकारों का निर्देश करने के पश्चात् इसमें संयम के लिए निदानशल्य प्रशस्त होने पर भी मुनि के लिए इस शल्य की हेयता का निर्देश किया गया है। इसमें मोहशल्य पर ब्रह्मदत्त की कथा, मायाशल्य पर महापीठ का प्रबन्ध एवं मिथ्यात्वशल्य पर नन्दमणियार का प्रबन्ध है। अन्त में शल्य रखने से होने वाले दोषों का विशद विवेचन किया गया है।

२. दूसरे प्रतिपत्ति-द्वार में प्रतिपत्ति का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि निर्यापक आचार्य की स्तुतिपूर्वक कृतज्ञभाव से पूर्व अनुशास्ति को स्वीकार करने के पश्चात् क्षपक को तिविहार, अथवा अन्त में चोविहार अनशन को स्वीकार करना चाहिए। इसके साथ ही इस द्वार में अनशन स्वीकार करने की विधि का भी निर्देश है। यदि कोई गृहस्थ अनशन स्वीकार करता है, तो पंचाचार की आलोचना का, दीर्य के गोपान का, मिथ्यात्व के सेवन का एवं जड़-चेतन के प्रति राग का तथा कषायपूर्वक किए हुए पापों का प्रतिक्रमण करने का निरूपण किया गया है। इस द्वार में धर्म को, अथवा अरिहंतदेव की वाणी को, अमृतपान की तरह श्रवण करने का सुन्दर एवं व्यवस्थित विवेचन किया गया है।

३. तीसरे सारणाद्वार में निर्यापक आचार्य के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यदि क्षपक को वात-पित्त के प्रकोप से, अथवा मोह आदि वासनाओं से विघ्न उत्पन्न हो, तो निर्यापक आचार्य द्वारा उनका उचित उपचार किया जाना चाहिए।

४. चौथे कवचद्वार में यह बताया गया है कि समाधिमरण ग्रहण करने वाले क्षपक को चारित्र्यमोहनीय-कर्म के उदय से विवाह आदि करने के परिणाम (भाव) पैदा हों, तो उसके भावों को स्थिर करने के लिए अनशन धारण करने वाले अनेक मुनियों, गृहस्थों अथवा तिर्यचों के विविध दृष्टान्तों का उसके समक्ष निरूपण किया जाना चाहिए। उसे यह बताना चाहिए कि अनशन से अनन्तगुना सुख की प्राप्ति होती है।

५. पाँचवें समताद्वार में क्षपक द्वारा बाह्य-आभ्यन्तर परिषहों को पराजित करते हुए सर्व विषयों के राग-द्वेष को त्यागकर समभाव में रमण करने का निरूपण है।

६. छठवें ध्यानद्वार में साधक क्षपक आर्तध्यान-रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान-शुक्लध्यान में रमण करे, ऐसा निरूपण है। साथ ही ध्यान के चार भेद, ध्यान का स्वरूप तथा अन्त में शरीर बल के क्षीण हो जाने पर निर्यापक के कर्तव्यों का व्यवस्थित विवेचन किया गया है।

७. सातवें लेश्याद्वार के अन्तर्गत छः लेश्याओं की चर्चा के साथ उन लेश्याओं के स्वरूप पर जम्बूभक्षक तथा घोड़ों के दृष्टान्त का निरूपण उपलब्ध है। इसके पश्चात् इसमें लेश्या के लिए परिणामशुद्धि करने का एवं परिणामशुद्धि के लिए कषाय मन्द करने का, तथा कषाय मन्दता के लिए रागादि के त्याग करने का

निर्देश करते हुए कौन सी लेश्यावाला कहाँ उत्पन्न होता है, इसका सम्यक् विवेचन किया गया है।

८. आठवें फलद्वार में उत्तम, मध्यम और जघन्य-ऐसे तीन प्रकार के क्षपकों का उल्लेख करते हुए इसमें कौनसी लेश्यावाला क्षपक उत्तम, मध्यम अथवा जघन्य कहलाता है? इसका निरूपण है। मिथ्यात्वी में तेजोलेश्या नहीं होती है, सम्यक्त्व आदि गुणवाला ही आराधक कहलाता है, इसका भी निर्देश है। इसके पश्चात् सिद्ध के जीवों के शाश्वत सुखों के स्वरूप, एवं भक्तपरिज्ञामरण, इगिनीमरण एवं पादपोषगमनमरण के श्रेष्ठ फल और गुणश्रेणी के स्वरूप का विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में भव्य जीवों के लिए बोधप्रद तत्त्व का निरूपण है।

९. नौवें विजहणाद्वार में कहा गया है कि अनशन करने वाले क्षपक की मृत्यु पर शोक नहीं करते हैं। आगे मुनियों के लिए करने योग्य भवस्थिति के चिन्तन का विवरण है, साथ ही क्षपक की अनुमोदना, क्षपक की मृत देह की विजहणा, अर्थात् आगमोक्त महापरिष्ठापनिका की प्राचीन विधि का एवं निमित्तों के फल का रोचक प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार एवं महासेन मुनि की शेष आराधना :

इस प्रकार चार मूलद्वारों में कहे गए उपदेश को सुनकर महासेन मुनि द्वारा की गई संलेखना का विवेचन किया गया है। इसी सन्दर्भ में अनशन हेतु की गई प्रार्थना, गौतमस्वामी द्वारा निर्यापक को सौंपने के लिए दी गई सम्मति एवं आशीर्वाद का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् महासेन मुनि के द्वारा अनशन स्वीकार करके की गई सुन्दर आराधना हेतु इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा, देवता द्वारा दिए गए अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग, महासेनमुनि का मेरुतुल्य अनुपम धैर्य, आदि का निरूपण किया गया है; साथ ही इसमें महासेन राजा को अनशन द्वारा सर्वार्थसिद्ध विमान में देव-भव प्राप्त करने का निर्देश है। इसके पश्चात् निर्यापक आचार्य आदि के द्वारा की गई मृतक की विधि एवं गौतमस्वामी से महासेन राजा के भावी भव की पृच्छा, तथा गौतमस्वामी द्वारा बताया गया भविष्यफल, सर्वार्थसिद्ध विमान से महाविदेह में राजपुत्र के रूप में जन्म, यहाँ की गई सम्यक् आराधना के प्रभाव से वहाँ भी उत्कृष्ट वैराग्य का उत्पन्न होना, फिर संयम स्वीकार करना, अखण्ड आराधना करते हुए अन्त में पादपोषगमनमरण द्वारा निर्वाण की प्राप्ति का अति सुन्दर एवं विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में महासेन मुनि के कथानक का श्रवण कर मुनियों द्वारा की गई अनुमोदना, कृतज्ञभाव से गौतमस्वामी की स्तुति एवं चारित्र में विशेष उद्यम करने

का व्यवस्थित सन्देश प्रस्तुत किया गया है। अन्त में प्रशस्ति निरूपण में ग्रन्थकार की प्रशस्ति एवं मूल प्रति के लेखक का परिचय, इत्यादि विषयों का सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

आराधना सम्बन्धी जैन-साहित्य और उसमें संवेगरंगशाला का स्थान :

आराधना से सम्बन्धित जैन साहित्य विशाल है। आगमकाल से लेकर वर्तमान युग तक आराधना सम्बन्धी साहित्य का सृजन होता रहा है। जैन-धर्म में आराधना के दो रूप उपलब्ध होते हैं। एक गृहस्थ और श्रमण-जीवन की सामान्य साधना व दूसरा जीवन के अन्तिम चरण में की जाने वाली अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना। जहाँ तक सामान्य आराधना का प्रश्न है, हमको आगमों, आगमिक-व्याख्याओं और प्रकरण-ग्रन्थों में उसका विस्तार से उल्लेख मिलता है, यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ तक गृहस्थ और मुनि-जीवन की साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें आगमों की अपेक्षा चरणानुयोग सम्बन्धी सभी ग्रन्थ समाहित होते हैं। यहाँ विशेष रूप से हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आगमों में उपासकदशांग को छोड़कर सामान्यतया जो भी चरणानुयोग सम्बन्धी ग्रन्थ है, वे मुख्य रूप से मुनि-आचार का विवेचन करते हैं। आगम-साहित्य में उपासकदशांग ही ऐसा ग्रन्थ है, जो श्रावक-जीवन की सामान्य साधना और अन्तिम आराधना का विवेचन प्रस्तुत करता है। आगमिक-ग्रन्थों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, जीतकल्प, व्यवहार, निशीथ, आदि ग्रन्थों का सम्बन्ध मुनि-आचार से है। इन आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, आदि में भी मुनि-आचार का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। सामान्यतया, इन ग्रन्थों में प्रसंगानुसार समाधिमरण की साधना का भी उल्लेख हुआ है। विशेष रूप से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में और उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्ययन में समाधिमरण की विस्तृत चर्चा है। इनकी अपेक्षा भी प्रकीर्णक ग्रन्थों में समाधिमरण या अन्तिम आराधना के सम्बन्ध में हमें विस्तृत विवेचन मिलता है।

मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित और महावीर जैन विद्यालय मुम्बई के द्वारा प्रकाशित पङ्णयसुताई के तीन भागों में संगृहीत ३३ प्रकीर्णकों से निम्न २२ प्रकीर्णक समाधिमरण या अन्तिम आराधना से सम्बन्धित हैं, वे निम्न हैं :-

१. चन्द्रावेध्यक २. मरणसमाधि ३. आतुरप्रत्याख्यान ४. महाप्रत्याख्यान ५. संस्तारक ६. चतुःशरण ७. आतुरप्रत्याख्यान ८. भक्तपरिज्ञा ९. वीरभद्राचार्यकृत आतुरप्रत्याख्यान १०. प्राचीनाचार्यविरचित् आराधनापताका ११.

वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका १२. पर्यन्ताराधना १३. आराधनापंचकम् १४. आतुरप्रत्याख्यान १५. आराधनाप्रकरणम् १६. जिनशेखरश्रावक प्रति सुलस श्रावक आराधित आराधना १७. नन्दनमुनि आराधित आराधना १८. आराधनाकुलकम् १९. मिथ्यादुःकृतकुलकम् २०. मिथ्यादुःकृतकुलकम् २१. आलोचनाकुलकम् और २२. आत्मविशोधिकुलकम् ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस प्रकीर्णक साहित्य में आतुर प्रत्याख्यान नामक तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार आराधनापताका नाम से भी दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन अन्तिम आराधना या समाधिमरण से सम्बन्धित ग्रन्थों में अधिकांश का सम्बन्ध मुनि जीवन में की गई अन्तिम आराधना से है, किन्तु इन ग्रन्थों में सुलस श्रावक द्वारा जिनशेखर श्रावक को कराई गई आराधना का भी उल्लेख है। इसी प्रकार उपासकदशांगसूत्र में भी श्रावकों द्वारा की गई अन्तिम आराधना का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रकीर्णक-साहित्य के ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है। अचेल-परम्परा या दिगम्बर-परम्परा में भी भगवतीआराधना या मूलआराधना नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जिसका विषय भी गृहस्थ और मुनि-जीवन की अन्तिम आराधना है। इन आगमिक-ग्रन्थों के अतिरिक्त आगमिक-व्याख्या-साहित्य में निशीथचूर्ण में भी अन्तिम आराधना से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त होती है। दिगम्बर परम्परा में श्रावक आचार से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन सभी ग्रन्थों में भी समाधिमरण की साधना का उल्लेख है। विस्तारभय से यहाँ उन सभी ग्रन्थों में समाधिमरण से सम्बन्धित जिन सूचनाओं का उल्लेख है, उनका निर्देश कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु इसी प्रकार न केवल जैन-साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में, अपितु जैन-कथा-साहित्य के ग्रन्थों में जहाँ सामान्य श्रावक-आचार और मुनि-आचार सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं, वहाँ इन ग्रन्थों में भी समाधिमरण से सम्बन्धित उल्लेख उपलब्ध होते हैं। समाधिमरण या अन्तिम आराधना से सम्बन्धित ग्रन्थों के प्रणयन में भी जैन आचार्यों ने इन कथा-ग्रन्थों की सामग्री के सम्बन्धित अंशों का ग्रहण किया है। विशेष रूप से यदि हम अपनी गवेषणा के मुख्य ग्रन्थ संवेगरंगशाला को देखें, तो हमें ऐसा लगता है कि उसकी कुल गाथाओं में लगभग दो तिहाई गाथाएँ तो कथाओं से ही सम्बन्धित है, क्योंकि जैन-परम्परा में कथा का भी प्रमुख उद्देश्य, व्यक्ति के वैराग्यभाव को जगाकर, उसे जीवन के अन्तिम चरण में समाधिमरण की साधना के लिए तत्पर बनाना है। यहाँ हम इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन न करते हुए केवल इतना ही निर्देशित करना चाहेंगे कि हमारा विवेच्य ग्रन्थ संवेगरंगशाला समाधिमरण सम्बन्धी प्रकीर्णक-साहित्य से किस प्रकार

प्रभावित है और जैन-धर्म के अन्तिम आराधना, अर्थात् समाधिमरण की साधना सम्बन्धी साहित्य में उसका क्या स्थान है? इस क्रम में सर्वप्रथम हम अन्तिम आराधना से सम्बन्धित कुछ प्रकीर्णकों की विषयवस्तु का उल्लेख करेंगे और फिर संवेगरंगशाला और वीरभद्र आचार्यकृत आराधनापताका की विषयवस्तु का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आराधना सम्बन्धी साहित्य में संवेगरंगशाला यदि किसी ग्रन्थ से बहुत प्रभावित है, तो वह वीरभद्रकृत आराधनापताका ही है। दूसरे शब्दों में कहें, तो संवेगरंगशाला वीरभद्रकृत आराधना का एक विस्तृत रूप है। जिन विषयों का विवेचन वीरभद्रकृत आराधनापताका में मात्र १००० गाथाओं में हुआ है, उसी को आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने १०,००० गाथाओं में विस्तृत और व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। जिनचन्द्रसूरिकृत संवेगरंगशाला अन्तिम आराधना या समाधिमरण सम्बन्धी प्रकीर्णक ग्रन्थों से भी प्रभावित है, अतः सर्वप्रथम संक्षिप्त रूप में यहाँ उनका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थों में समाधिमरण की अवधारणा :

पङ्णयसुत्ताइ के तीन भागों में तैंतीस प्रकीर्णक संगृहीत हैं, किन्तु यहाँ हम समाधिमरण विषयक प्रकीर्णकों की विषयवस्तु की ही चर्चा करेंगे। उल्लेखनीय है कि इन प्रकीर्णक ग्रन्थों में नन्दनमुनि आराधित आराधना-प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्तिम आराधना या समाधिमरण से सम्बन्धित शेष समस्त प्रकीर्णक प्राकृत-भाषा में रचे गए हैं। आकार की दृष्टि से इन ग्रन्थों में जहाँ आराधना-कुलक में मात्र ८ गाथाएँ हैं, वहीं वीरभद्रकृत आराधनापताका लगभग १००० गाथाओं में निबद्ध है।

(१) आराधना-कुलक :-

यह प्रकीर्णकों में सबसे लघु प्रकीर्णक है। इसमें कुल ८ गाथाएँ हैं। इसमें केवल द्वारों के नाम मात्र निर्देश किए गए हैं, वे निम्न हैं :-

१. आराधक द्वारा आराधना व्रत ग्रहण की इच्छा २. क्षमापना ३. पाप-स्थानकों का त्याग ४. दुष्कृत-निन्दा ५. सुकृत का अनुमोदन ६. चतुःशरण-ग्रहण और ७. एकत्व-भावना.^८

^८ आराधनाकुलक पङ्णयसुत्ताइ, भाग २, पृ. २४४, गाथा १-८

(२) आलोचना-कुलक:-

इस प्रकीर्णक में भी मात्र १२ गाथाएँ हैं। इसमें विविध दुष्कृतों की आलोचना का उल्लेख है एवं अन्तिम गाथा में आलोचना का माहात्म्य बताया गया है।^९

(३) मिथ्यादुष्कृत-कुलक (प्रथम) :-

‘मिथ्यादुष्कृत-कुलक’ में आराधक द्वारा नरकादि चार गतियों के सभी प्राणियों से क्षमापना करने और मिथ्यादुष्कृतों की निन्दा करने का निरूपण है।^{१०}

(४) मिथ्यादुष्कृत-कुलक (द्वितीय):-

इस प्रकीर्णक में १७ गाथाएँ हैं। कुलक के आरम्भ में आराधक द्वारा चौरासी लाख जीवयोनियों में भ्रमण करते हुए जिन-जिन प्राणियों को दुःख दिया है, उसका मिथ्याकृत करने, अर्थात् आलोचना करने का निरूपण है।^{११}

(५) आत्मविशोधि-कुलक :-

इस प्रकीर्णक में कुल २४ गाथाएँ हैं। इसमें आराधक के द्वारा आत्मविशुद्धि के लिए विविध दुष्कृतों की निन्दा करने का उल्लेख है। इसके पश्चात् आराधक द्वारा आहार और समस्त शारीरिक-गतिविधियों के त्याग का निर्देश है। अन्त में आलोचना से होने वाली आत्मविशुद्धि का माहात्म्य बताया गया है।^{१२}

(६) चतुःशरण-प्रकीर्णक :-

इसमें कुल २७ गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक में आराधक की कुशलता हेतु चतुःशरण ग्रहण, दुष्कृत-गर्हा और सुकृत का अनुमोदन- इन तीन अधिकारों का निर्देश है।^{१३}

(७) आतुर-प्रत्याख्यान (प्रथम):-

इस नाम के तीन प्रकीर्णक उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथम में गद्य-पद्य मिश्रित ३० गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक में पाप-त्याग एवं ममत्व-त्याग की प्रतिज्ञा और क्षामणा आदि का निरूपण किया गया है। इसमें आत्मा को एकत्वभाव की

^९ आलोचनाकुलक पङ्णयसुताई, भाग २, पृ. २४६-२४७, गाथा १-१२.

^{१०} मिथ्यादुष्कृत पङ्णयसुताई, भाग २, पृ. २४५-२४६, गाथा १-१२.

^{११} मिथ्यादुष्कृतकुलक (द्वितीय) - पङ्णयसुताई, भाग २, पृ. २४७-२४८, गाथा १-१६.

^{१२} आत्मविशोधिकुलक - पङ्णयसुताई, पृ. २६१-२६३, गाथा १-२४.

^{१३} चतुःशरण प्रकीर्णक - पङ्णयसुताई, भाग १, पृ. ३०६-३११, गाथा १-२७.

अनुशासित करने का निर्देश है, इसीलिए सभी बहिर्भावों के त्याग का उपदेश दिया गया है।¹⁴

(८) आतुरप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (द्वितीय) :-

इसमें कुल ३४ गाथाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकीर्णक में निम्न आठ द्वारों में समाधिमरण का निरूपण किया गया है- १. उपोद्घात २. अविरति प्रत्याख्यान ३. मिथ्यादुष्कृत ४. ममत्व-त्याग ५. शरीर के ममत्व के लिए उपालम्भ ६. शुभभावना ७. अरिहंतादि का स्मरण एवं ८. पापस्थानों का त्याग और अन्त में मिथ्यादुष्कृत का उल्लेख है।¹⁵

(९) आतुरप्रत्याख्यान (तृतीय):-

यह प्रकीर्णक आचार्य वीरभद्र द्वारा रचित है। इसमें कुल ७१ गाथाएँ ही समाधिमरण से सम्बन्धित होने के कारण इसे 'अन्तकाल प्रकीर्णक' भी कहा जाता है और इसे 'बृहदातुर-प्रत्याख्यान' भी कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम मरण के तीन भेद:- १. बालमरण २. बालपण्डितमरण और ३. पण्डितमरण का विवेचन है। उसके बाद सामायिक, सर्वबाह्याभ्यान्तर-उपधि के प्रति ममत्व का त्याग, अठारह पापस्थानों का त्याग, एकमात्र आत्मा का आवलम्बन, एकत्वभावना, प्रतिक्रमण, आलोचना और क्षमापना का निरूपण है।¹⁶

(१०) नन्दनमुनिकृत आराधना :-

यह प्रकीर्णक संस्कृत में है। इस प्रकीर्णक के ४० श्लोकों में नन्दनमुनिकृत दुष्कृत-गर्हा, समस्त जीवों से क्षमापना, शुभभावना, चतुःशरणग्रहण, पंचपरमेष्ठि-नमस्कार और अनशन करने के छः प्रकारों का विवेचन है।¹⁷

(११) कुशलानुबन्धी अध्ययन :-

इस कुशलानुबन्धी अध्ययन का दूसरा नाम चतुःशरण-प्रकीर्णक भी है। इसकी कुल गाथाएँ ६३ हैं। प्रथम गाथा में इस प्रकीर्णक की विषय-वस्तु के नाम वर्णित हैं, पुनः छः अधिकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण है। इसके बाद जिनेश्वर के

¹⁴ आतुर प्रत्याख्यान - पड़ण्यसुताई, भाग १, पृ. १६०-१६३, गाथा १-३०.

¹⁵ आतुर प्रत्याख्यान - पड़ण्यसुताई, भाग १, पृ. ३०५-३०८, गाथा १-३४

¹⁶ आतुर प्रत्याख्यान^१ पड़ण्यसुताई, भाग २, पृ. ३२६-३३६, गाथा १-४८.

¹⁷ नन्दन मुनि आराधित 'आराधना' पड़ण्यसुताई, भाग २, पृ. २४०-२४३, गाथा १-४०.

जन्म के पूर्व उनकी माता द्वारा देखे गए चौदह स्वप्नों के नाम और चतुःशरण-ग्रहण, दुष्कृत की निन्दा और सुकृत के अनुमोदन का फल वर्णित है।¹⁸

(१२) जिनशेखर श्रावक प्रति सुलस श्रावक प्रेरित आराधना :-

इस प्रकीर्णक में भी ७४ गाथाएँ हैं। इसमें अनशन की प्रेरणा आदि आठ द्वारों का उल्लेख है। अन्त में वेदना सहन करने और अनशन में समभाव रखने का उपदेश दिया गया है।¹⁹

(१३) अभयदेवसूरिप्रणीत 'आराधना प्रकरण' :-

इस प्रकीर्णक में ७५ गाथाएँ हैं। अन्तिम गाथा में 'अभयदेवसूरिरयं' इस उल्लेख से इसके कर्ता अभयदेवसूरि निश्चित होते हैं। इसमें १. आलोचनाद्वार २. व्रतोच्चारद्वार ३. क्षामणाद्वार ४. अनशनद्वार ५. शुभभावनाद्वार और ६. नमस्कारद्वार - इस प्रकार छः द्वारों का विवेचन करके अन्त में नमस्कारद्वार में पंचपरमेष्ठि की वन्दना करते हुए नमोकार मन्त्र का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है।²⁰

(१४) संस्तारकप्रकीर्णक :-

संस्तारक शब्द का तात्पर्य है- अन्तिम आराधना के प्रसंग में ग्रहण किया जाने वाला दर्भादि की शय्या। इस प्रकीर्णक में १२२ गाथाएँ हैं। प्रकीर्णक के प्रारम्भ में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार करके संस्तारक प्रकीर्णक में निबद्ध विषयों को सुनने का निर्देश है।

इस प्रकीर्णक में समाधिमरण से सम्बन्धित विवेचन ही प्रस्तुत किया गया है। गाथा क्रमांक छप्पन से दृष्टान्त के रूप में समाधिमरण ग्रहण करने वाली पुण्यात्माओं के नाम प्रस्तुत हैं, यथा -अर्णिकपुत्र, खन्दकमुनि के ५०० शिष्य, सुकौशलमुनि, अवन्तीसुकुमाल, चाणक्य, अभयघोष, गजसुकुमाल, आदि। ज्ञातव्य है कि ये सभी कथाएँ संवेगरंगशाला में भी वर्णित हैं। अन्त में क्षमापना का और भावनाओं का निरूपण है।²¹

¹⁸ कुशलानुबन्धि अध्ययन, भाग १, पृ. २६८-३०४, गाथा १-५४.

¹⁹ जिनेश्वर श्रावक प्रति सुलस श्रावक प्रेरित आराधना, भाग २, पृ. २३२-२३६, गाथा १-६३

²⁰ श्री अभयदेवसूरिप्रणीत आराधना प्रकरण, भाग २, पृ. २२४-२३१, गाथा १-८५.

²¹ संस्तारक प्रकीर्णक चङ्गण्यसुताई, भाग १, पृ. २८०-२६१, गाथा १-१२२

(१५) महाप्रत्याख्यान :-

आराधक द्वारा अन्त समय में अनशन व्रत (समाधिमरण) स्वीकार करके सभी प्रकार के पापों एवं भोगोपभोग का यावज्जीवन हेतु त्याग किया जाता है। इसका जिसमें विवेचन हो, उसे महाप्रत्याख्यान कहते हैं। महाप्रत्याख्यान का शाब्दिक-अर्थ है- महा, अर्थात् सबसे बड़ा और प्रत्याख्यान, अर्थात् त्याग, अर्थात् शरीरादि सभी का त्याग।

महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक में कुल १४२ गाथाएँ हैं। इसमें समाधिमरण स्वीकार करने के पश्चात् आराधक को बाह्य और आभ्यन्तर-उपधियों (परिग्रह) के त्याग का कथन है। साथ ही यह बताया गया है कि मायारहित एवं शल्यरहित आलोचना करने वाला ही आराधक होता है। दूसरे शब्दों में, अल्पतम भावशल्य से युक्त व्यक्ति भी आराधक नहीं होता है।

इसमें महाव्रतों की रक्षा के लिए विधेयात्मक एवं निषेधात्मक- दोनों उपायों का प्रतिपादन किया गया है। ध्यान और शुभ भावना ही समाधिमरण का आलम्बन है। समाधिमरण में मन की विशुद्धता का प्राधान्य है। इसमें समाधिमरण में साधक को असंयम का त्याग करके क्षमाभाव और वैराग्य भाव रखने का निर्देश किया गया है।²²

(१६) भक्तपरिज्ञा:-

भक्तपरिज्ञा में १७३ गाथाएँ हैं। इसमें भक्तपरिज्ञा नामक समाधिमरण का विवेचन है। भक्त, अर्थात् आहार और परिज्ञा, अर्थात् विवेक या प्रत्याख्यान। इस प्रकीर्णक में आजीवन आहार का त्याग करने वाले, अर्थात् समाधिमरण को स्वीकार करने वाले साधकों के सम्बन्ध में निरूपण है। यह प्रकीर्णक वीरभद्राचार्य रचित है। इस प्रकीर्णक में मरण के साधकों के सम्बन्ध में निरूपण है। वीरभद्राचार्यरचित इस प्रकीर्णक के प्रारम्भ में मंगल और अभिधेय का उल्लेख है। फिर अभ्युद्यतमरण, अर्थात् समाधिमरण के १. भक्तपरिज्ञा २. इंगिनीमरण और ३. पादपोषगमनमरण-ऐसे तीन भेदों का विवेचन है। फिर भक्तपरिज्ञामरण के दो भेद-सविचारभक्तपरिज्ञामरण और अविचारभक्तपरिज्ञामरण का निरूपण है। तत्पश्चात् शिष्य द्वारा भक्तपरिज्ञामरण ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त करने का और गुरु द्वारा आलोचना एवं व्रतग्रहणपूर्वक क्षमापना से पुरस्सर भक्तपरिज्ञाव्रत ग्रहण करने की स्वीकृति का उल्लेख है। आराधक कहता है- "मैं सभी से अपने

²² महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक पङ्णयसुत्ताई, भाग १, पृ. १६४-१७८, गाथा १-१४२

अपराधों की क्षमा चाहता हूँ और सभी मुझे क्षमा करें।“ इस प्रकार क्षमापना और गर्हा करते हुए साधक मृगावती की भांति अनन्त भवों में अर्जित कर्मों का क्षण-भर में क्षय कर देता है, जबकि मिथ्यात्व से मोहित चित्तवाला तुरुमिणीदत्त के समान दारुण दुःख को प्राप्त करता है। इसका उल्लेख करने के पश्चात् यह कहा गया है कि सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट हैं, दर्शनभ्रष्ट का निर्वाण नहीं होता है। जो सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेता है, उसका संसार में परिभ्रमण सीमित हो जाता है। सम्यक्दर्शन से युक्त व्यक्ति ही मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इसके पश्चात् जिनोक्तसूत्र की महत्ता बताते हुए यवराजर्षि की कथा दी गई है। फिर उपशम, विवेक और संवर से चिलातीपुत्र ने केवलज्ञान तथा अमरत्व को प्राप्त किया, इसका उल्लेख है।²³

इसके अतिरिक्त भी इस प्रकीर्णक में क्रोध के सन्दर्भ में नन्द, मान के सम्बन्ध में परशुराम, माया के सम्बन्ध में पाण्डुआर्या तथा लोभ के सम्बन्ध में लोभानन्दी की कथाएं दी गई हैं, जो संदेगरंगशाला में भी उपलब्ध हैं। फिर इन्द्रिय-विषयों से विमुख रहने का तथा वेदना एवं परीषह से विचलित न होने का उपदेश दिया गया है।²⁴

संदेगरंगशाला के समान उत्तम समाधिमरण को प्राप्त हुए ऐसे सुकौशलमुनि, अवन्तीसुकुमार एवं चाणक्य आदि पुण्यात्माओं का भी उल्लेख इसमें मिलता है। तदनन्तर जघन्य भक्तपरिज्ञा से साधक निम्न देवलोक को प्राप्त होते हैं, मध्यम भक्तपरिज्ञा वाले आराधक अच्युत देवलोक को प्राप्त होते हैं और उत्कृष्ट भक्तपरिज्ञा करने वाले आराधक निर्वाणरूप सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त करते हैं, यह उल्लेख है। इस भक्तपरिज्ञा-प्रकीर्णक के अन्त में इस प्रकीर्णक के माहात्म्य का निरूपण किया गया है।²⁵

(१७) आराधना-सार, अथवा पर्यन्ताराधना :-

इस प्रकीर्णक में २६३ गाथाएं और २४ द्वार हैं। प्रथम संलेखनाद्वार में उसके दो तथा तीन प्रकारों का उल्लेख है। काल की दृष्टि से संलेखना, बारह दिन, बारह पक्ष, बारह मास, और बारह वर्ष की होती है। दूसरे स्थानद्वार में ध्यान में बाधक स्थानादि को आराधक के लिए वर्जित बताया गया है। तीसरे विकटनाद्वार में गीतार्थ गुरु के समीप भावपूर्वक आलोचना करने का निर्देश है।

²³ भक्तपरिज्ञा पङ्णयसुत्ताई, भाग १, पृ. ३१२-३२८, गाथा १-७४

²⁴ भक्तपरिज्ञा पङ्णयसुत्ताई, भाग १, पृ. १४८-१५५, गाथा १-७४

²⁵ भक्तपरिज्ञा पङ्णयसुत्ताई, भाग १, पृ. १५६-१७२, गाथा १-७४

चौथे सम्यक्द्वार में शंका, कांक्षादि दोषों से रहित सम्यक्त्व प्राप्त करने की कामना की गई है। पांचवें अणुव्रतद्वार एवं छठवें गुणव्रतद्वार में पाँच अणुव्रत एवं तीन गुणव्रतों का पालन करने का निर्देश है। सातवें पापस्थानद्वार में १८ पापस्थानों के नामों का निर्देश है। आठवें सागरद्वार में इष्ट आदि के त्याग का एवं नौवें द्वार में चतुःशरण ग्रहण करने का निर्देश है।²⁶

दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, और चौदहवें द्वारों में क्रमशः दुष्कृत गर्हा, सुकृत-अनुमोदना, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के विषयों के त्याग, संधादि से क्षमापना और चतुर्गति के जीवों से क्षमापना का निरूपण है। पन्द्रहवें द्वार में चैत्यवन्दनपूर्वक कार्यात्सर्ग करने का और फिर सोलहवें द्वार में गुरुवन्दनपूर्वक अनशन की प्रतिपत्ति का, सत्रहवें द्वार में वेदना पीड़ित क्षपक के प्रति उपदेश का निर्देश है। अठारहवें भावनाद्वार तथा उन्नीसवें कवचद्वार में वेदनावश चंचलचित्त वाले आराधक के लिए गुरु द्वारा स्थिरीकरण का उपदेश है। बीसवें द्वार में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार का, इक्कीसवें द्वार में ध्यान का, बाईसवें द्वार में निदान नहीं करने का, तेईसवें द्वार में अतिचारों का और अन्तिम चौबीसवें द्वार में आराधना के फल का उल्लेख है।²⁷

(१८) आराधना-पंचक :- यह समाधिमरण का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, अपितु उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला का ही समाधिमरण से सम्बन्धित अंश है। इसमें भी समाधिमरण का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

(१९) मरणविभक्ति या मरणसमाधि :-

परम्परागत दस प्रकीर्णकों में यह सबसे बड़ा है। इसमें ६६१ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकार के अनुसार १. मरणविभक्ति २. मरणविशोधि ३. मरणसमाधि ४. संलेखनाश्रुत ५. भक्तपरिज्ञा ६. आतुरप्रत्याख्यान ७. महाप्रत्याख्यान और ८. आराधना- इन आठ प्राचीन श्रुत ग्रन्थों की गाथाएँ प्रस्तुत प्रकीर्णक में उपलब्ध हैं। अन्य लघु प्रकीर्णकों में निर्देशित तथ्यों का इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है।²⁸

इसमें समाधिमरण के आधारभूत चौदह द्वार बताए गए हैं- १. आलोचनाद्वार २. संलेखनाद्वार ३. क्षमापनाद्वार ५. उत्सर्गद्वार ६. उद्ग्रासद्वार ७. संधाराद्वार ८. निसर्गद्वार ९. वैराग्यद्वार १०. मोक्षद्वार ११. ध्यानविशेषद्वार १२. लेश्याद्वार १३. सम्यक्त्वद्वार और १४. पादपोषगमनद्वार।

²⁶ आराधना सार/पर्यन्ताराधना-पइण्यसुत्ताई, भाग २, पृ. १६६-१६२, गाथा १-२६

²⁷ आराधना सार/पर्यन्ताराधना-पइण्यसुत्ताई, भाग २, गाथा ३०-२६३

²⁸ मरणविभक्ति पइण्यसुत्ताई, भाग १, पृ. ६६-१५६, गाथा १-६६१

इस प्रकीर्णक में शल्यरहित होकर आलोचना करने का निर्देश है। साथ ही इसमें तप के बारह भेदों का तथा संलेखना के बाह्य और आभ्यन्तर-भेदों का निरूपण है। इसमें सर्वसंध से क्षमायाचना करने का तथा वेदना को सहन करने का भी उपदेश है, साथ ही शरीर के प्रति ममत्व त्याग, उपसर्ग और परीषह सहन करना तथा अशुभध्यान के त्याग करने का इसमें वर्णन है। इसमें सोलह प्रकार के रोगान्तकों को सहन करने के सम्बन्ध में सनत्कुमार चक्रवर्ती का दृष्टान्त दिया गया है। इसके अतिरिक्त मुनिचन्द्र, सुमनभद्र और आर्यरक्षित आदि के भी दृष्टान्त उपलब्ध हैं। ये कथाएं संवेगरंगशाला में भी दी गई हैं। सांसारिक दुःखों को मनुष्य वैसे ही सुख मानता है, जैसे नीम के वृक्ष पर उत्पन्न कीड़ा मधुरता से अनभिज्ञ नीम की कटुता को ही मधुर मानता है। अन्त में लोकसंज्ञा को जानकर पण्डितमरण मरना चाहिए, ऐसा उल्लेख है।²⁹

२०. प्राचीन आचार्यविरचित आराधनापताका :-

मंगल और अभिधेय के पश्चात् इसमें ३२ द्वारों में समाधिमरण या आराधना का उल्लेख है। इसमें ४३२ गाथाएं हैं। इसके संलेखनाद्वार में कषाय-संलेखनास्व आभ्यन्तर-संलेखना और शरीरसंलेखनास्व बाह्य-संलेखना-ऐसे संलेखना के दो भेद बताए गए हैं। अग्रिम द्वारों में संलेखनाधारक क्षपकमुनि का गुरु द्वारा परीक्षण, साधुओं के कर्तव्यों का निरूपण, भक्तपरिज्ञा करने वाले की योग्यता का कथन, अगीतार्थ के समीप अनशन का निषेध, धर्मध्यान में बाधक स्थानों का निषेध, क्षपकयोग्य वसति का निरूपण, योग्य संस्तारक का वर्णन और आहार दान के विषय में निरूपण मिलता है। अग्रिम द्वारों में गणनिसर्गद्वार, आलोचनाद्वार, व्रतोच्चारद्वार, अनुमोदनद्वार, पापस्थानव्युत्सर्जनद्वार मुख्य हैं। अठारह पापस्थानव्युत्सर्जनद्वारों में प्रत्येक पाप के सन्दर्भ में एक-एक कथा दी गई है। अनशनद्वार में साकार और निराकार के त्यागपूर्वक क्षपक द्वारा अनशन-ग्रहण का विस्तार से निरूपण है। उन्नीसवें अनुशिष्टिद्वार में अनुशिष्टि के १७ प्रतिद्वारों का वर्णन है। इसके पश्चात् कवचद्वार, आराधनाफलद्वार और अन्त में मोक्षप्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक आराधना का माहात्म्य बताया गया है।³⁰

समाधिमरण से सम्बन्धित प्रकीर्णक-साहित्य में संवेगरंगशाला वर्णित चार मूलद्वारों के प्रतिद्वारों का उल्लेख मात्र 'आराधनापताका' में ही मिलता है, अन्य प्रकीर्णकों में नहीं। अन्य प्रकीर्णकों में केवल मूलद्वारों का ही उल्लेख किया गया है। संवेगरंगशाला में केवल समाधिमरण सम्बन्धी विवेचन न होकर, आराधना

²⁹ मरणसम्प्राप्ति, गाथा १७६-६६१

³⁰ आराधनापताका(प्राचीन आचार्य विरचित) -पड़ण्यसुताई, भाग २, गाथा १-६३२

विषयक प्रत्येक पक्ष पर विस्तार से विवरण उपलब्ध है, जबकि इन प्रकीर्णकों में समाधिमरण सम्बन्धी विवेचन ही मुख्यतः परिलक्षित होता है। संवेगरंगशाला एवं अन्य प्रकीर्णकों की विषय-वस्तु के तुलनात्मक अध्ययन हेतु प्रकीर्णकों को आकार, अर्थात् गाथा संख्या की अपेक्षा से तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। अतिलघु आकार के ग्रन्थ, मध्यम आकार के ग्रन्थ और वृहत्काय ग्रन्थ।

१. लघुआकार के ग्रन्थों में वे प्रकीर्णक आते हैं, जिनमें ५० से कम गाथाएं उपलब्ध हैं तथा जिनमें द्वारों के मात्र नाम एवं समाधिमरण सम्बन्धी संक्षिप्त उल्लेख हैं। वे निम्न हैं :-

१. आराधना-कुलक २. आलोचना-कुलक ३. मिथ्यादुष्कृत-कुलक ४. आत्मबोधि-कुलक ५. आत्मविशोधि-कुलक ६. चतुःशरण-प्रकीर्णक ७. प्राचीन आतुर-प्रत्याख्यान और ८. वीरभद्रकृत आतुरप्रत्याख्यान।

ये प्रकीर्णक अत्यन्त लघु आकार वाले हैं। इन प्रकीर्णकों में वर्णित समाधिमरण से सम्बन्धित विषयवस्तु मूलतः सभी प्रकीर्णकों में समान रूप से उपलब्ध है, जो इस प्रकार है :-

१. क्षमापनाद्वार २. आलोचनाद्वार ३. अनुशास्तिद्वार ४. पापस्थानकों का त्यागद्वार ५. शुभभावनाद्वार और ६. अनशनद्वार ।

संवेगरंगशाला में और इन प्रकीर्णकों में वर्णित विषयवस्तु या द्वारों के नामों में प्रायः समानता है।

२. मध्यम आकार के ग्रन्थों में उन प्रकीर्णकों का उल्लेख किया गया है, जिनमें ५० से अधिक, किन्तु २०० से कम गाथाएं उपलब्ध हैं। इनमें द्वारों का प्रदिपादन नहीं होने पर भी समाधिमरण विषयक विषयवस्तु का प्रतिपादन समीचीन रूप से मिलता है। इनमें संक्षेप में या विस्तार से कुछ कथानक वर्णित हैं। ये ग्रन्थ निम्न हैं :

१. नन्दनमुनि आराधित आराधना २. कुशलानुबन्धीअध्ययन (चतुःशरण) ३. आतुरप्रत्याख्यान ४. जिनशेखर श्रावक प्रति सुलस श्रावक आराधित आराधना ५. अभयदेवसूरि प्रणीत आराधना-प्रकरण ६. संस्तारक-प्रकीर्णक ७. महाप्रत्याख्यान और ८. भक्तपरिज्ञा।

इन प्रकीर्णकों में प्रायः द्वारों के नामों का उल्लेख नहीं है, फिर भी संवेगरंगशाला में वर्णित विषयवस्तु एवं कथानकों की प्रकीर्णकों में वर्णित विषयवस्तु एवं कथानकों से समरूपता परिलक्षित होती है। संस्तारक एवं भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक

में वर्णित यवराजर्षि, लोभानन्दी, अर्णिकापुत्र, सुकौशलमुनि, अवन्तिसुकुमाल, चाणक्य, चिलातिपुत्र एवं गजसुकुमाल आदि के कथानकों की संवेगरंगशाला में वर्णित कथानकों से समानता है।

३. वृहत्कायग्रन्थों में प्रकीर्णकों के नाम सम्मिलित हैं, जिनमें २०० से लेकर १००० तक या उससे भी अधिक गाथाएं उपलब्ध हैं। वे प्रकीर्णक निम्न हैं:-

१. आराधनासार अथवा पर्यन्ताराधना २. आराधनापंचक ३. मरणविभक्ति या मरणसमाधि ४. प्राचीन आचार्यविरचित आराधनापताका एवं ५. श्री वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका।

इन प्रकीर्णकों में द्वारों की संख्या भी अधिक है एवं उनका विवेचन भी विस्तृत है। कहीं-कहीं उपद्वारों का भी उल्लेख है, फिर भी संवेगरंगशाला की अपेक्षा इन प्रकीर्णकों का आकार छोटा ही है। इनमें अन्य लघु प्रकीर्णकों में प्रतिपादित विषयवस्तु का विस्तार से वर्णन है तथा समाधिमरण सम्बन्धी आराधना का भी सांगोपांग विवरण उपलब्ध है। इनमें वर्णित संलेखनाद्वार, पापस्थानकद्वार, सागारद्वार, अनशनद्वार, अनुशास्तिद्वार, भावनाद्वार, कवचद्वार, शुभध्यानद्वार, आलोचनाद्वार, क्षमापनाद्वार, क्षमाद्वार, लेश्याद्वार, परीक्षाद्वार, निर्यामकद्वार, योग्यताद्वार, वसतिद्वार, क्षमणाद्वार और आराधनाफलद्वार का विवरण संवेगरंगशाला के विवरण से बहुत कुछ समानता रखता है।

संवेगरंगशाला और आराधनापताका की विषयवस्तु का तुलनात्मक विवेचन :

संवेगरंगशाला नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम आराधना के दो भेद किए गए हैं। प्रथम- सामान्य आराधना एवं द्वितीय- विशेष आराधना। आगे सामान्य आराधना के चार भेद करने के पश्चात् विशेष आराधना के भी दो भेद किए गए हैं - संक्षिप्त विशेष आराधना और विस्तृत विशेष आराधना। विस्तृत आराधना के चार मूल द्वार हैं। १. परिकर्मविधिद्वार २. परगणसंक्रमणद्वार ३. ममत्व का उच्छेदद्वार और ४. समाधिद्वार। इन चार द्वारों में अनुक्रम से पन्द्रह, दस, नौ और नौ प्रतिद्वार हैं।³¹

परिकर्मविधिद्वार के पन्द्रह उपद्वार और उनके प्रतिद्वार क्रमशः इस प्रकार हैं:- १. अर्हद्वार २. लिंगद्वार ३. शिक्षाद्वार ४. विनयद्वार ५. समाधिद्वार ६. मनोनुशास्तिद्वार ७. अनियतद्वार ८. राजद्वार ९. परिणामद्वार १०. त्यागद्वार

³¹ संवेगरंगशाला, गाथा १-१००५४

११. मरणविभक्तिद्वार, १२. अधिगत (पण्डित) मरणद्वार १३. श्रेणिद्वार १४. भावनाद्वार और १५. संलेखनाद्वार।^{३२}

दूसरे परगणसंक्रमणद्वार के दस प्रतिद्वार इस प्रकार हैं :- १. दिशाद्वार २. क्षामणाद्वार ३. अनुशास्तिद्वार ४. परगणसंक्रमणद्वार ५. सुस्थितगवेषणाद्वार ६. उपसम्पदाद्वार ७. परीक्षाद्वार ८. प्रतिलेखनाद्वार ९. पृच्छाद्वार और १०. प्रतिपृच्छाद्वार।

तीसरे ममत्वविच्छेदनद्वार के नौ अन्तरद्वार हैं, वे इस प्रकार हैं :-

१. आलोचनाद्वार २. शय्याद्वार ३. संधाराद्वार ४. निर्यापकद्वार ५. दर्शनद्वार ६. हानिद्वार ७. प्रत्याख्यानद्वार ८. क्षमापनाद्वार ९. क्षामणाद्वार।

चौथे समाधिलाभद्वार में भी निम्न नौ अन्तरद्वार हैं :- १. अनुशास्तिद्वार २. प्रतिपत्तिद्वार ३. सारणाद्वार ४. कवचद्वार ५. समताद्वार ६. ध्यानद्वार ७. लेश्याद्वार ८. आराधनाफलद्वार और ९. मृत शरीर विसर्जनद्वार (विजहनाद्वार)। वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका भी मुख्यतः अन्तिम आराधना, अर्थात् समाधिमरण से सम्बन्धित है। इस प्रकीर्णक में कुल ६८६ गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक में समाधिमरण का सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम इसमें मरण के भेदप्रभेदों का वर्णन किया गया है। समाधिमरण के दो भेदों में अविचार-भक्तपरिज्ञा और सविचार-भक्तपरिज्ञामरण का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें भी सर्वप्रथम चार द्वारों का उल्लेख है- १. परिकर्म विधिद्वार २. गणसंक्रमणद्वार ३. ममत्वछेदद्वार और ४. समाधि लाभद्वार। इसमें भी इस तरह समाधिमरण सम्बन्धी आराधना को चार द्वारों में वर्गीकृत कर पुनः इन्हें प्रतिद्वारों में विभक्त किया गया है।

इन चारों द्वारों के क्रमशः ग्यारह, दस, दस और आठ प्रतिद्वार हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भगवान् महावीर की वन्दना करके गौतमादि पूर्वाचार्यों द्वारा अनुभूत और कथित आराधना के स्वरूप के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। इसके पश्चात् लेखक ने चार उपायों का तथा पाँच प्रकार के मरण का उल्लेख किया है। फिर श्रुतदेवता की वन्दना करने के पश्चात् सविचारभक्तपरिज्ञामरण के चार द्वारों का निर्देश है। प्रथम परिकर्मविधिद्वार के अन्तर्गत १. अर्हताद्वार, अर्थात् भक्तपरिज्ञा करने वाले की योग्यताद्वार २. लिंगद्वार ३. शिक्षाद्वार ४. विनयद्वार ५. समाधिद्वार ६. अनियतद्वार ७. परिणामद्वार ८. त्यागद्वार ९. निःश्रेणिद्वार १०.

^{३२} श्रीवीरभद्राचार्य विरचित 'आराधनापताका' पदपुण्यसुत्ताङ्क, भाग-२, गाथा १-६८६

भावनाद्वार और ११. संलेखनाप्रतिद्वार- ऐसे ग्यारह द्वार बताए हैं। फिर संलेखना-प्रतिकृति में संलेखना के दो भेद-बाह्य और आभ्यन्तर का विस्तार से निरूपण किया गया है।

द्वितीय गणसंक्रमणद्वार के दस प्रतिद्वारों का उल्लेख इस प्रकार है :-

१. दिशाद्वार २. क्षमणाद्वार ३. अनुशिष्टिद्वार ४. परगणचर्याद्वार ५. सुस्थितगवेषणाद्वार ६. उपसम्पदाद्वार ७. परिज्ञाद्वार ८. प्रतिलेखनाद्वार ९. आपृच्छनाद्वार और १०. प्रतीच्छाद्वार ।

तृतीय ममत्वव्युच्छेदद्वार में भी दस प्रतिद्वार हैं - १. आलोचनाद्वार २. गुणदोषद्वार ३. शय्याद्वार ४. संस्तारकद्वार ५. निर्यामकद्वार ६. दर्शनद्वार ७. हानिद्वार ८. प्रत्याख्यानद्वार ९. क्षामणाद्वार और १०. क्षमणाद्वार।

इसी क्रम में चतुर्थ समाधिलाभद्वार के आठ प्रतिद्वार इस प्रकार बताए गए हैं- १. अनुशिष्टिद्वार २. सारणाद्वार ३. कवचद्वार ४. समताद्वार ५. ध्यानद्वार ६. लेश्याद्वार ७. आराधनाफलद्वार और ८. विजहनाद्वार ।

सवेगरंगशाला एवं आराधनापताका-दोनों ही ग्रन्थों में इन ग्रन्थों की विषयवस्तु को सर्वप्रथम चार द्वारों में विभाजित किया गया है:-१. परिकर्मविधिद्वार २. परगणसंक्रमणद्वार ३. ममत्वविच्छेदद्वार और ४. समाधिलाभद्वार। इस प्रकार दोनों में चार द्वारों के नाम समान ही दिए गए हैं।

प्रथम परिकर्मविधि नामक मूलद्वार में अर्हताद्वार, लिंगद्वार, शिक्षाद्वार, विनयद्वार, समाधिद्वार, अनियतद्वार, परिणामद्वार, त्यागद्वार, निःश्रेणिद्वार, भावनाद्वार और संलेखनाद्वार-इन ग्यारह उपद्वारों के नामों में भी दोनों में समानता पाई जाती है। द्वितीय परगणसंक्रमण नामक मूलद्वार में दिशाद्वार, क्षमणाद्वार, अनुशिष्टिद्वार, परगणचर्याद्वार, सुस्थितगवेषणाद्वार, उपसम्पदाद्वार, प्रतिलेखनाद्वार, आपृच्छनाद्वार और प्रतीच्छाद्वार-इन नौ द्वारों के नाम भी दोनों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार तृतीय ममत्व-उच्छेद नामक मूलद्वार में आलोचनाद्वार, शय्याद्वार, संस्तारकद्वार, निर्यामकद्वार, दर्शनद्वार, हानिद्वार, प्रत्याख्यानद्वार, क्षामणाद्वार - इन नौ द्वारों के नामों में भी दोनों में समरूपता प्राप्त होती है, मात्र एक द्वार का नाम भिन्न है। चतुर्थ समाधिलाभ नामक मूलद्वार में अनुशिष्टिद्वार, सारणाद्वार, कवचद्वार, समताद्वार, ध्यानद्वार, लेश्याद्वार, आराधनाफलद्वार - इन सातों द्वारों की दोनों में समानता है, शेष नामों में भिन्नता है।

संवेगरंगशाला एवं आराधनापताका में भिन्नता :

संवेगरंगशाला के रचयिता पूज्य आचार्य जिनचन्द्रसूरि हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् ११२५ में की थी। इस ग्रन्थ में कुल १००५४ प्राकृत गाथाएं हैं। वीरभद्राचार्यविरचित आराधनापताका की रचना इसके पूर्व विक्रम संवत् १००८ में हुई है। इस प्रकीर्णक में कुल ६८६ गाथाएं उपलब्ध हैं। इस प्रकार संवेगरंगशाला आराधनापताका से परवर्ती और विस्तृत है। फिर भी दोनों की रचना-शैली एक-दूसरे से प्रभावित है। संवेगरंगशाला में आराधना के दो भेद करके फिर विस्तृत आराधना के चार भेद किए गए हैं, जबकि आराधनापताका में समाधिमरण के विचार और सविचार-दो भेद करके, सविचार-भक्तपरिज्ञामरण के चार भेद करके उनका विस्तृत विवेचन किया गया है। संवेगरंगशाला में चार द्वारों के क्रमशः पन्द्रह, दस, नौ और नौ प्रतिद्वार हैं, परन्तु आराधनापताका में चार द्वारों के क्रमशः ग्यारह, दस, दस और आठ प्रतिद्वार हैं। इस प्रकार संवेगरंगशाला में आराधनापताका की अपेक्षा प्रतिद्वारों की संख्या ज्यादा है। प्रथम परिकर्मविधिद्वार में जहाँ आराधनापताका में ग्यारह द्वार हैं, वहीं संवेगरंगशाला में पन्द्रह द्वार हैं। यद्यपि दोनों में ग्यारह द्वारों के नाम और विषयवस्तु की समानता है, किन्तु संवेगरंगशाला में उपलब्ध मनोनुशास्तिद्वार, राजद्वार, मरणविभक्तिद्वार और अधिगतद्वार-इन चार द्वारों का उल्लेख आराधनापताका में नहीं है। इस प्रकार संवेगरंगशाला आराधनापताका की अपेक्षा इन चार द्वारों का विशेष रूप से उल्लेख करती है। इसी प्रकार द्वितीय परगणसंक्रमणद्वार के प्रतिद्वारों की संख्या को लेकर दोनों में समानता परिलक्षित होती है। आराधनापताका में परगणसंक्रमण के जिस प्रकार दस द्वार बताए गए हैं, उसी प्रकार संवेगरंगशाला में भी परगणसंक्रमण के दस प्रतिद्वारों का ही उल्लेख है। इस प्रकार परगणसंक्रमण नामक द्वितीय मूलद्वार के प्रतिद्वारों के नामों और संख्याओं को लेकर दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती है। तृतीय ममत्वविच्छेदन नामक मूलद्वार के अन्तरद्वारों की संख्या जहाँ आराधनापताका में दस है, वहीं संवेगरंगशाला में नौ है। इस प्रकार तृतीय ममत्वविच्छेदनद्वार में संवेगरंगशाला में आराधनापताका की अपेक्षा एक द्वार कम है। आराधनापताका में इस ममत्व-विच्छेदद्वार के दस प्रतिद्वारों में दूसरा गुणदोषद्वार है, किन्तु संवेगरंगशाला में इस नाम के किसी द्वार का उल्लेख नहीं है। शेष नौ द्वारों के नाम और विषयवस्तु, दोनों ग्रन्थों में समान ही है।

संवेगरंगशाला और आराधनापताका-इन दोनों ही ग्रन्थों में समाधिलाभ नामक चतुर्थ मूलद्वार में द्वारों की संख्या को लेकर अन्तर है। जहाँ वीरभद्र ने

आराधनापताका में इसके आठ प्रतिद्वारों का उल्लेख किया है, वहाँ संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरिजी ने इसके नौ द्वार बताए हैं। इस प्रकार आराधनापताका की अपेक्षा संवेगरंगशाला के चतुर्थ समाधिमरण लाभ नामक द्वार में प्रतिद्वारों की संख्या में एक का अन्तर है, क्योंकि जहाँ वीरभद्राचार्य ने इसके आठ द्वार कहे हैं, वहीं जिनचन्द्रसूरिजी ने इसके नौ द्वार बताए हैं। संवेगरंगशाला में आराधनापताका की अपेक्षा प्रतिपत्तिद्वार नामक एक द्वार अधिक है। आराधनापताका में प्रतिपत्ति नामक द्वार का कोई उल्लेख नहीं है। नामों की अपेक्षा से शेष नामों में समानता ही है; मात्र एक अन्तर यह है कि जहाँ आराधनापताका में आठवें प्रतिद्वार का नाम विजहना है, वहीं संवेगरंगशाला में उसका नाम शरीर-त्याग है; लेकिन विषय-वस्तु की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु दोनों ही इस द्वार में क्षपक के त्यक्त शरीर या मृतदेह के विसर्जन की विधि का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि आराधनापताका और संवेगरंगशाला में मूल द्वारों में और उनके प्रतिद्वारों के लेकर कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित नहीं होता है।

यद्यपि आराधनापताका की अपेक्षा संवेगरंगशाला के प्रथम परिकर्म-विधिद्वार में चार द्वार, तृतीय ममत्वविच्छेद में एक द्वार और चतुर्थ समाधिलाभद्वार में एक प्रतिद्वार— इस प्रकार छः प्रतिद्वार अधिक हैं। इसी प्रकार गाथाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। जहाँ आराधनापताका में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं, वहीं संवेगरंगशाला में दस हजार गाथाएँ हैं। गाथाओं की संख्या में एक अनुपात दस का अन्तर है। इस अन्तर का मुख्य कारण समाधिमरण सम्बन्धी विवेचना न होकर मुख्यतया संवेगरंगशाला में प्रत्येक विषय पर विस्तार से उदाहरण के रूप में कथानकों का प्रस्तुतिकरण है— संवेगरंगशाला में लगभग सभी कथाएँ विस्तार से उल्लेखित हैं, जबकि आराधनापताका में मात्र कथा का नाम-निर्देश ही उपलब्ध होता है। फिर भी यह बात हमें स्वीकार करना होगी कि जिनचन्द्रसूरि ने आराधनापताका को आधारभूत मानकर उसे विस्तार देते हुए संवेगरंगशाला की रचना की।

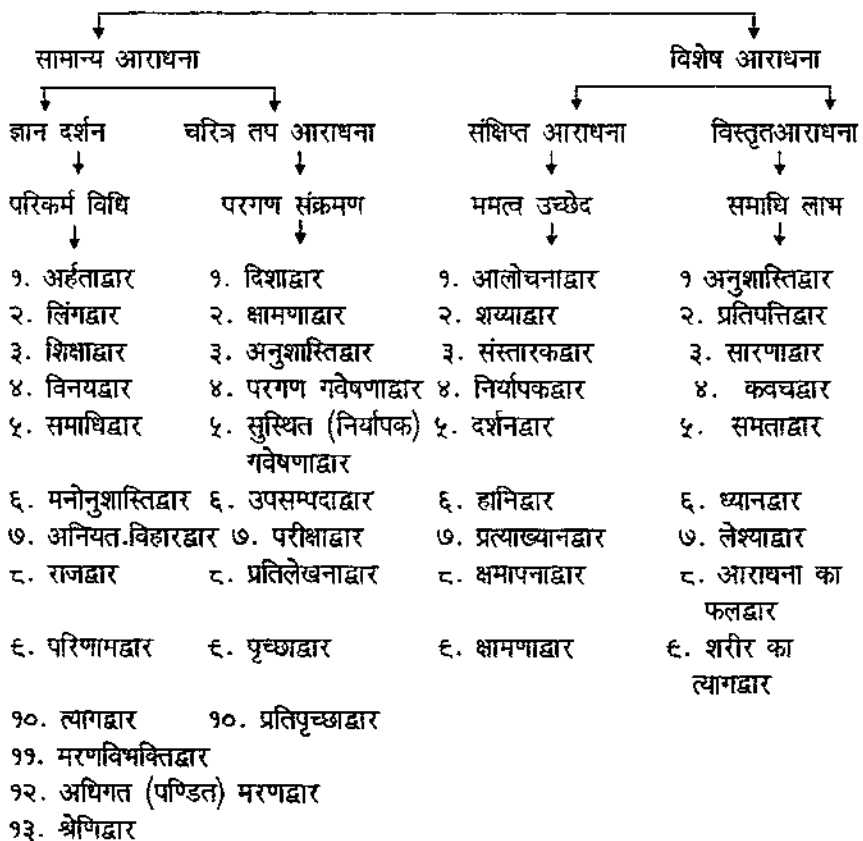
भगवतीआराधना और संवेगरंगशाला का तुलनात्मक अध्ययन :

संवेगरंगशाला में सर्वप्रथम मंगल और अभिधेय करने के पश्चात् आराधना का स्वरूप बताते हुए आराधना के दो भेदों का उल्लेख किया गया है। एक— सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपस्वरूप सामान्य आराधना एवं दूसरी— समाधिमरणरूप विशेष आराधना। पुनः, विशेष आराधना को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया गया है— १. संक्षिप्त विशेष आराधना, तत्काल मृत्यु का वरण एवं २. विस्तृत विशेष आराधना, अर्थात् विशेष तप आदि करते हुए मृत्यु का वरण

करना। जिस प्रकार नगर की चारों दिशाओं में चार द्वार हों, तो उसमें प्रवेश करना सबके लिए सरल होता है; उसी प्रकार आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला में आराधकों के लिए समाधिमरण या अन्तिम साधना में प्रवेश करने हेतु चार मूलद्वार बताए हैं। उनके अनुसार इन चार मूलद्वारों का आधार लेकर जो भी आराधक अन्तिम आराधना करता है, उन सबके लिए समाधिमरण की साधना अति सरल हो जाती है। संवेगरंगशाला के समान ही दिगम्बर-परम्परा में भगवतीआराधना नामक समाधिमरण पर एक सुन्दर ग्रन्थ है तथा संवेगरंगशाला से लगभग ५०० वर्ष पूर्व लिखा गया है। आगे हम इन दोनों ग्रन्थों की विषयवस्तु का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

संवेगरंगशाला की विषयवस्तु निम्नानुसार है:-

आराधना



१४. भावनाद्वार

१५. संलेखनाद्वार

भगवती-आराधना की विषयवस्तु :

भगवतीआराधना ग्रन्थ के प्रारम्भ में सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके आराधना के स्वरूप का ग्रन्थकार द्वारा कथन करने का संकल्प है। इसके पश्चात् पीठिका के रूप में संक्षेप से आराधना के दो एवं तीन प्रकार कहे गए हैं, श्रद्धा एवं चारित्र और दर्शन, ज्ञान, चारित्र का प्रतिपादन कर मरण के सत्तरह भेदों का उल्लेख है। उसके पश्चात् बालमरण का तथा पण्डित-मरण के तीन भेद पादपोषगमनमरण, भक्तपरिज्ञामरण और इगिनीमरण आदि का प्रतिपादन करते हुए भक्तपरिज्ञामरण के दो भेद किए हैं :- १. सविचारमरण एवं २. अविचारमरण ।

सविचार का अर्थ है- बिना किसी प्रकार की विवशता के स्वेच्छापूर्वक तप आदि करते हुए देहत्याग का निर्णय लेना तथा अविचारपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ है- तत्काल सागारिक-भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करना ।

भगवतीआराधना में सविचारभक्तप्रत्याख्यान का उल्लेख (कथन) चार गाथाओं से चालीस अधिकारसूत्रों की सहायता से किया जाता है। वे निम्न हैं - १. अर्हता, अर्थात् योग्यता २. लिंग ३. शिक्षा ४. विनय ५. समाधि ६. अनियत-विहार ७. परिणाम ८. परिग्रहत्याग ९. श्रेणी १०. भावना ११. संलेखना १२. दिशा १३. क्षमण १४. अनुशिष्टि १५. परगणचर्या १६. मार्गणा १७. सुस्थित १८. उपसम्पदा १९. परीक्षा २०. प्रतिलेखना २१. आपृच्छा २२. प्रतिक्षण २३. आलोचना २४. गुणदोष २५. शय्या २६. संस्तर २७. निर्यापक २८. प्रकाशन २९. हानि ३०. प्रत्याख्यान ३१. क्षमापना ३२. क्षमण ३३. अनुशिष्टि ३४. स्मरण ३५. कवच ३६. समता ३७. ध्यान ३८. लेश्या ३९. फल एवं ४०. परित्याग।

इसके पश्चात् अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण का स्वरूप बताते हुए उसके निम्न तीन भेदों का वर्णन है- निरुद्ध, निरुद्धस्तर और परम निरुद्ध ।

इस तरह संवेगरंगशाला एवं भगवतीआराधना- इन दोनों ग्रन्थों में प्रस्तुत समाधिमरण की विषयवस्तु का संक्षिप्त निर्देश करने के पश्चात् इन दोनों ग्रन्थों में स्थित असमानता का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

संवेगरंगशाला	भगवतीआराधना
संवेगरंगशाला में चार मूलद्वारों का निर्देश करने के पश्चात्	भगवतीआराधना में सविचारभक्तप्रत्याख्यान का विवेचन

उनके तैतालीस प्रतिद्वारों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

१. प्रथम अर्हताद्वार में वैराग्यभावों से युक्त राजा से लेकर जन-सामान्य तक को आराधना के योग्य कहा गया है।

२. दूसरे लिंगद्वार में गृहस्थ एवं साधु के सामान्य एवं विशेष लिंग का वर्णन करते हुए साधु के निम्न पांच लिंगों का वर्णन किया है—मुहपत्ति, रजोहरण, शारीरिक-शुश्रूषा नहीं करना, अचेलत्व एवं केश-लोच।

३. शिक्षाद्वार में शिक्षा के तीन भेदों का वर्णन करते हुए क्रिया सहित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

४. विनयद्वार में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप एवं उपचार—इस तरह पाँच प्रकार के विनय कहकर सबके आठ-आठ भेदों का उल्लेख किया गया है।

५. समाधिद्वार में द्रव्य समाधि एवं भावसमाधि—ऐसे दो वर्गों में विभक्त करके मन को जीतना ही भाव समाधि है।

६. मनोनुशास्तिद्वार में मन को एकाग्र करने के उपदेश उपलब्ध हैं।

७. अनियतविहारद्वार में

चालीस अधिकारसूत्रपदों की सहायता से किया गया है।

१. इसमें व्याधि, जरावस्था एवं मरणावस्था के उत्पन्न होने पर ही भक्त प्रत्याख्यान करने को कहा गया है।

२. इसमें भी मुहपत्ति के अतिरिक्त अन्य चारों लिंगों का उल्लेख है, साथ ही इसमें पुरुष को प्रारम्भ में ही एवं स्त्री को अन्त में औत्सर्गिक-लिंग (नगनावस्था) धारण करना होता है।

३. इसमें प्रतिदिन श्रुत का अध्ययन करने से व्यक्ति जीवादि पदार्थों का प्रमाण एवं नय के अनुसार निरूपण करने में कुशल होता है, ऐसा उल्लेख है।

४. भगवतीआराधना में आठ प्रकार के अशुभ कर्मों को विनय के द्वारा दूर करने का उल्लेख है। वे आठ द्वार - काल, विनय, उपधान आदि हैं।

५. समाधि अधिकार में मन को स्थिर रखने का उल्लेख है, इसमें अलग से मनोनुशास्ति का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

६. इसमें साधु को एक स्थान

अनियत विहार करने से दर्शनशुद्धि, संवेग-निर्वेद द्वारा धर्म में स्थिरीकरण आदि छः गुणों की प्राप्ति का निरूपण है।

८. राजा के अनियतविहार-विधिद्वार का उल्लेख है।

९. परिणामद्वार में आठ अन्तरद्वार हैं, इनमें गृहस्थ परिणामों का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

१०. त्यागद्वार में पाँच प्रकार की शुद्धि- ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, विनय एवं आवश्यक तथा पाँच प्रकार के विवेक इन्द्रिय, कषाय, उपधि, आहार पानी एवं शरीर का त्याग करने का उल्लेख है।

११. मरणविभक्तिद्वार में मरण के १७ प्रकारों का स्वरूप बताया गया है।

१२. अधिगतमरणद्वार में पण्डितमरण एवं बालमरण का स्वरूप बताते हुए ५ प्रकार के मरण का निर्देश है।

१३. श्रेणीद्वार में भावों की श्रेणी में चढ़ने को, अर्थात् ऊपर से ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त करने को कहा गया है।

१४. भावनाद्वार में दो प्रकार

पर नहीं रुकना तथा अनियत विहार करते रहने का उल्लेख है। इसमें भी छः गुणों की प्राप्ति का निरूपण समान है। भगवतीआराधना में "राजा के अनियत विहार"—इस द्वार का उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

७. इस परिणाम अधिकार में व्यक्ति अपने आत्महित की चिन्ता करता हुआ आत्मसाधना में जुड़ता है।

८. इसमें मुनि शेष परिग्रह का त्याग कर कमण्डल, पिच्छी आदि संयम के उपकरण को ही पास में रखते हैं। भगवतीआराधना में पूर्वपीठिका में ही मरण के १७ भेदों का उल्लेख सम्प्राप्त होता है। इसमें इन पांच मरणों का भी उल्लेख पूर्वपीठिका में किया गया है।

९. इसमें कहा गया है कि व्यक्ति को भावश्रुति पर आरोहण करके विहार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१०. भावना, अर्थात् अभ्यास

की भावना का उल्लेख कर उसका चिन्तन करने को ही भावना कहा है।

१५. संलेखनाद्वार में तप के द्वारा काय एवं कषाय को कृश करना कहा है।

करना। सतत अभ्यास से श्रुतज्ञान निर्मल और प्रबल हो जाता है।

संवेगरंगशाला के दूसरे मूलद्वार के दस प्रतिद्वारों के नाम एवं उनका विवेचन भगवतीआराधना में समान रूप से उपलब्ध होता है, इसमें मार्गणा नामक एक अधिकार का उल्लेख ज्यादा मिलता है, जबकि संवेगरंगशाला में मार्गणा नामक द्वार का उल्लेख नहीं होने पर भी उसकी व्याख्या परगणसंक्रमणद्वार में उपलब्ध होती है।

इसी तरह संवेगरंगशाला के तीसरे मूल द्वार के नौ प्रतिद्वारों के नामों में एवं भगवतीआराधना में स्थित अधिकारों के नामों में कुछ भिन्नता नजर आती है। भगवतीआराधना में गुणदोष नामक अधिकार का वर्णन किया गया है एवं दर्शन के स्थान पर प्रकाशन अधिकार का उल्लेख मिलता है, शेष सभी में समानता दृष्टिगत होती है। जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, इसमें आलोचनाद्वार के पश्चात् शय्याद्वार का वर्णन किया गया है। यहाँ गुणदोष नामक द्वार का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है तथा इसमें क्षपक को आहार का दर्शन कराने हेतु दर्शनद्वार का प्रतिपादन किया गया है। संवेगरंगशाला में चतुर्थ समाधिताम्रद्वार के नौ प्रतिद्वारों का विस्तार से निरूपण किया गया है, जबकि भगवतीआराधना के अन्त में आठ अधिकार मिलते हैं। इसमें अनुशिष्टि के पश्चात् प्रतिपत्ति नाम का उल्लेख नहीं मिलता है और सीधे स्मरण अधिकार का प्रतिपादन किया गया है एवं अन्य सभी नामों में समानता परिलक्षित होती है। अन्त में, इसमें भक्तप्रत्याख्यानमरण, पादपोषणमरण और इंगिणीमरण के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार भगवतीआराधना और संवेगरंगशाला में विषय वस्तुगत बहुत समानता है। यद्यपि संवेगरंगशाला श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ है फिर भी इसमें भगवतीआराधना के समान अचेल लिंग का प्रतिपादन है—यह बात भिन्न है कि यहाँ आचार्य जिनचन्द्रसूरि अचेलता का अर्थ अल्पचेल करते हैं। भगवतीआराधना की अपेक्षा संवेगरंगशाला की विशेषता यह है कि जहाँ भगवतीआराधना में समाधिमरण सम्बन्धी कथानक अति संक्षेप में वर्णित है, वहीं संवेगरंगशाला में इस कथानक का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है। संवेगरंगशाला और भगवतीआराधना में अनेक कथानक समान रूप से उल्लेखित हैं, इसकी चर्चा कथानक सम्बन्धी अध्ययन में की है।

अन्तिम आराधना सम्बन्धी जैन-साहित्य में संवेगरंगशाला का स्थान :

अन्तिम आराधना सम्बन्धी जैन-साहित्य में संवेगरंगशाला का क्या महत्व है, यह निर्धारित करने के लिए हमें उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती-साहित्य का विचार करना होगा। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेखित किया है कि प्राचीन जैन-आगमों में आचारांगसूत्र के आठवें अध्याय में समाधिमरण की साधना का संक्षिप्त उल्लेख उपलब्ध होता है, फिर भी आचारांग को समाधिमरण से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता है, इसी प्रकार अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा तथा विपाकदशा में भी कुछ मुनियों एवं साध्वियों द्वारा समाधिमरण ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी प्रकार उपासकदशा में श्रावकों द्वारा समाधिमरण ग्रहण करने के उल्लेख हैं, किन्तु इन सभी ग्रन्थों में समाधिमरण सम्बन्धी उल्लेख अति संक्षिप्त हैं; कहीं-कहीं तो ये ग्रन्थ मात्र समाधिमरण का निर्देश ही करते हैं, उसकी प्रक्रिया आदि की विस्तृत चर्चा नहीं करते हैं। यद्यपि अन्तकृतदशाओं में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब साधक का शरीर अत्यन्त कुश हो जाए, तब वह समाधिमरण को ग्रहण कर सकता है। आगमों में उत्तराध्ययनसूत्र अवश्य एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें समाधिमरण से सम्बन्धित एक पूरा अध्याय है; फिर भी ये सभी ग्रन्थ समाधिमरण से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थ की कोटि में नहीं आते हैं। प्रकीर्णक साहित्य में भी यद्यपि समाधिमरण से सम्बन्धित लगभग २२ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें भी आराधनाकुलक आदि कुछ ग्रन्थ तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं। आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, आदि कुछ ग्रन्थ समाधिमरण से सम्बन्धित तो अवश्य हैं, किन्तु ये ग्रन्थ मुख्यतया उपदेश या अनुशास्तिपरक हैं। प्रकीर्णक-साहित्य में उपलब्ध ग्रन्थों में मरणसमाधि ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो समाधिमरण का अतिविस्तार से विवेचन करता है। इन प्रकीर्णक ग्रन्थों में एक संस्तारक-प्रकीर्णक है, जो समाधिमरण का सम्पूर्ण रूप से विवेचन तो करता है, फिर भी मात्र १२२ गाथाओं में निबद्ध होने के कारण संक्षिप्त ही कहा जाएगा। इसी प्रकार वीरभद्रकृत भक्तपरिज्ञा भी समाधिमरण से सम्बन्धित एक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु आकार की अपेक्षा यह भी मात्र १७३ गाथाओं में निबद्ध है। समाधिमरण से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों में मरणसमाधि या मरणविभक्ति नामक ग्रन्थ एक विस्तृत ग्रन्थ माना जा सकता है। यह ग्रन्थ आठ ग्रन्थों से मिलकर बना है और समाधिमरण के सभी पक्षों का विवेचन प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ ६६१ गाथाओं में सम्पूर्ण हुआ। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो संवेगरंगशाला का आकार इससे चौदह गुना अधिक है। किंचित् परवर्ती में प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका भी अन्तिम आराधना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ६३२ गाथाएं हैं, अतः यह ग्रन्थ भी संवेगरंगशाला की अपेक्षा तो

उसका मात्र १०वाँ अंश ही है। इस ग्रन्थ में अन्तिम आराधना का विवेचन विभिन्न द्वारों के आधार पर किया गया है। इसमें कुल ३२ द्वार वर्णित हैं। शैली की अपेक्षा से इसकी कुछ समानता संवेगरंगशाला से देखी जा सकती है, फिर भी जितना व्यवस्थित विवेचन वीरभद्र की आराधनापताका में हुआ है, उतना विवेचन इन प्रकीर्णकों में नहीं हुआ है।

जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है, उसमें अन्तिम आराधना या समाधिमरण से सम्बन्धित एक ही ग्रन्थ हमारे ध्यान में है, यह ग्रन्थ भगवतीआराधना या मूलाराधना नाम से जाना जाता है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के पूर्व उल्लेखित समाधिमरण से सम्बन्धित ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ का आकार विस्तृत है। यह ग्रन्थ २१६४ गाथाओं में वर्णित है। यद्यपि श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों के समान यह ग्रन्थ भी अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित सभी पक्षों का वर्णन करता है, फिर भी इसका विषय-विभाजन संवेगरंगशाला से भिन्न ही है। इसमें द्वार-प्रतिद्वार जैसा विभाजन परिलक्षित नहीं होता है।

दूसरे, ये सभी ग्रन्थ मुख्यतया समाधिमरण के साधक को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, इस पर ही अधिक बल देते हैं। समाधिमरण ग्रहण करने की विधि के कुछ निर्देश तो हैं, फिर भी वे उतने विस्तृत और व्यापक नहीं हैं, जैसे संवेगरंगशाला में प्रस्तुत किए गए हैं। संवेगरंगशाला में जो द्वारों और प्रतिद्वारों का उल्लेख है, वह वीरभद्रकृत आराधनापताका से प्रभावित है। फिर भी जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, वीरभद्रकृत आराधनापताका की अपेक्षा संवेगरंगशाला में जो कथाओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यद्यपि मरणविभक्ति-संस्कारकप्रकीर्णक, प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका, भगवतीआराधना और वीरभद्राचार्यकृत आराधनापताका में कथाओं के निर्देश तो मिलते हैं, किन्तु वे कथा को समग्र रूप से प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस दृष्टि से यदि हम यह देखें, तो जिनचन्द्रसूरिकृत संवेगरंगशाला का अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना को लेकर लगभग १०००० गाथाओं में लिखा गया यह बृहत्काय ग्रन्थ समाधिमरण सम्बन्धी श्वेताम्बर और दिगम्बर-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।



अध्याय - २

संवेगरंगशाला में सामान्य आराधना का स्वरूप (गृहस्थधर्म और मुनिधर्म)

आराधना का स्वरूप एवं प्रकार :

संवेगरंगशाला मुख्यतः आराधना या साधनाप्रधान ग्रन्थ है। जैन-परम्परा में आराधना या साधना के दो प्रकार बताए गए हैं- १. सामान्य आराधना और २. विशेष आराधना। विशेष आराधना को अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना भी कहा जाता है। साधक जो अपने जीवनकाल में सामान्य रूप से व्रत, नियम, आदि की आराधना, अर्थात् उनका पालन करता है और अपनी जीवनचर्या को जिनाज्ञा के अनुरूप बनाता है, उसे सामान्य आराधना के नाम से जाना जाता है; किन्तु जीवन के अन्तिम चरण में जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो, तब विशेष रूप से जो आराधना या साधना की जाती है, उसे अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना कहते हैं। संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने दोनों ही प्रकार की आराधनाओं का वर्णन किया है। यद्यपि उनका बल मुख्य रूप से अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना पर रहा है, फिर भी उसे अन्तिम आराधना की पूर्व भूमिका के रूप में स्वीकार कर सामान्य आराधना का विवेचन भी उन्होंने किया है।

जहाँ तक सामान्य आराधना का प्रश्न है, जैन-परम्परा में उसे पुनः दो भागों में बाँटा गया है- १. गृहस्थ-साधक की आराधना और २. मुनि की आराधना; किन्तु इसके साथ ही एक ऐसी सामान्य आराधना या साधना भी है, जो गृहस्थ और मुनि- दोनों के लिए आवश्यक है। इसके अन्तर्गत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी आराधना आती है। गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी जो

पाँच अणुव्रतों और गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं की साधना की जाती है, वह गृहस्थ की विशेष आराधना के अन्तर्गत आती है। दीक्षित होकर व्यक्ति जिन पाँच महाव्रतों तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचनमाताओं आदि की जो आराधना करता है, वह मुनि-जीवन की विशेष आराधना मानी जाती है।

जैनधर्म की यह विशेषता है कि उसमें गृहस्थ और मुनि-दोनों के लिए जीवन के अन्तिम क्षणों में अन्तिम आराधना, अर्थात् समाधिमरण की साधना का निर्देश दिया गया है। अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना तो व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या मुनि- दोनों के लिए ही आवश्यक मानी गई है। संवेगरंगशाला में मुख्यता तो अन्तिम आराधना को ही प्रदान की गई है, किन्तु प्रसंगवश गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का भी उसमें उल्लेख हुआ है। उसके प्रथम परिकर्मविधिद्वार के अन्तर्गत दूसरे लिंग-उपद्वार में आराधक गृहस्थ के बाह्यलिंग का विचार किया गया है। इसी प्रकार इसी परिकर्मविधिद्वार के नौवें परिणाम उपद्वार में पुत्र की अनुशास्ति, अर्थात् पुत्र की शिक्षाओं का उल्लेख हुआ है। इसमें पुत्र को गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित अनेक शिक्षाएँ प्रदान की गई हैं। प्रसंगानुसार इसमें यह भी बताया गया है कि गृहस्थ-जीवन की प्रतिमाओं को स्वीकार करने के पश्चात् जब तक साधक मुनि-दीक्षा को ग्रहण नहीं करता है, तब तक उसे जिनमन्दिर आदि दस स्थानों पर अपनी अर्जित सम्पत्ति का सदुपयोग करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ के लिंग (वेशभूषा), उसके व्रत, उसकी प्रतिमाएँ, आदि का उल्लेख हमें इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप में मिल जाता है।

जहाँ तक मुनि-जीवन की आराधना का प्रश्न है, संवेगरंगशाला के प्रथम परिकर्मविधिद्वार में साधु के बाह्यवेश आदि की चर्चा के साथ-साथ उसके त्याग, विनय, अनियतविहार, आदि का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम परिकर्मद्वार के दूसरे लिंगद्वार और तीसरे शिक्षाद्वार में हमें मुनि-आचारधर्म का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही उपलब्ध होता है। संवेगरंगशाला का मुख्य विवेच्य विषय तो अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना ही है। संवेगरंगशाला के प्रथम परिकर्मद्वार के तीसरे शिक्षाद्वार में ग्रहण शिक्षा और आसेवन-शिक्षा ऐसी दो प्रकार की शिक्षाओं का उल्लेख हुआ है। उसी में आसेवन-शिक्षा के अन्तर्गत सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सामान्य चर्चा के पश्चात् गृहस्थ और मुनि-दोनों के आचारधर्म का उल्लेख हुआ है। उसमें पहले गृहस्थ के विशेष आचार-धर्म का और तदनन्तर मुनि के विशेष आचार-धर्म का उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में हम इसी आधार पर सर्वप्रथम गृहस्थ और मुनि की सामान्य आराधना की चर्चा करेंगे और उसके पश्चात् क्रमशः गृहस्थ और

मुनि के विशेष आचार की चर्चा करेंगे, यद्यपि यहाँ विशेष आचार से भी हमारा तात्पर्य गृहस्थ-वर्ग और मुनि-वर्ग की सामान्य आचार-विधि से ही है। इसके अनन्तर हम दोनों के लिए अन्तिम आराधना या समाधिमरण की साधना सम्बन्धी विधि का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे। समाधिमरण सम्बन्धी विशेष साधना का उल्लेख तो अग्रिम अध्यायों में किया जाएगा।

जैनधर्म का सामान्य साधना-मार्ग

सामान्य रूप से तत्त्वार्थसूत्र आदि में आराधना या साधना का त्रिविधमार्ग प्रतिपादित है, लेकिन प्राचीन जैन-आगमों में चतुर्विध मार्ग का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में उत्तराध्ययनसूत्र³³ में और दिगम्बर-परम्परा में कुन्दकुन्द के अष्टप्राभृत³⁴ में चतुर्विधमार्ग का उल्लेख है। संवेगरंगशाला में भी ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की आराधना किस रूप में करना चाहिए, इसका संक्षिप्त विवेचन करते हुए कहा गया है कि आराधक को इन सबकी आराधना निरतिचारपूर्वक करना चाहिए। प्रस्तुत कृति में आराधना के दो रूप बताए गए हैं। १. सामान्य आराधना और २. विशेष आराधना।³⁵ संवेगरंगशाला में सर्वप्रथम सामान्य आराधना का वर्णन निम्न चार वर्गों में किया गया है- १. ज्ञानाराधना २. दर्शनाराधना ३. चसरित्राराधना और ४. तपाराधना।

१. ज्ञानाराधना : जैन-दर्शन में आगम या श्रुत के अध्ययन को ज्ञानाराधना कहा गया है। उसमें आगमों को दो भागों में विभक्त किया गया है- १. कालिक आगम और २. अकालिक-आगम। शास्त्र के पढ़ने योग्य काल में ही जिन आगमों को पढ़ना चाहिए, वे कालिक-आगम हैं। जैसे- आचारांग, आदि। इनका अध्ययन, अध्ययन-हेतु निर्धारित काल में ही करना होता है। जो शास्त्र काल और अकाल-दोनों में पढ़े जा सकते हैं, वे उक्ताकालिक आगम हैं। जैसे - दशवैकालिक, आदि।

ज्ञानाराधना के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में यह कहा गया है - सूत्रों में पढ़ने का जो समय निर्धारित किया गया है, उसी समय उन सूत्रों को अत्यन्त विनयपूर्वक पढ़ना चाहिए। सूर्य एवं चन्द्र-ग्रहण, सन्ध्याकाल आदि में शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए। दूसरे, आगम-ग्रन्थों के शब्दों तथा स्वर, व्यंजन और मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करना चाहिए, साथ ही शास्त्र की आवृत्तिमात्र न करके उसका अर्थ समझकर पढ़ना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, आदि की शुद्धि के साथ विनयपूर्वक

³³ उत्तराध्ययनसूत्र - २८/२.

³⁴ दर्शनप्राभृत गाथा, ३२

³⁵ संवेगरंगशाला गाथा, ५८७-५८८.

शास्त्र अभ्यास करना- यही ज्ञानाराधना है। शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार-बार स्मरण करना, मात्र इतना ही नहीं, आराधक द्वारा उन्हें विस्मृत नहीं होने देने के लिए नियमपूर्वक उनका पठन-पाठन करना ज्ञानाराधना के लिए आवश्यक है। ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों का विनय करना चाहिए तथा जिस शास्त्र का जिस गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम नहीं छिपाना चाहिए, अपितु उनके प्रति आदर-भाव रखना चाहिए।³⁶

प्रस्तुत कृति में कहा गया है - ज्ञानाराधना हेतु आराधक को आठ अतिचारों या दोषों से बचना चाहिए तथा कालाचार, विनयाचार, बहुमानाचार, उपधानाचार, अनिह्नवाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, तदुभयाचार-इन आठ आचारों का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए।³⁷ इससे सम्यग्ज्ञान पुष्ट और परिष्कृत होता है।

संवेगरंगशाला में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि जो आराधक वाचना, पृच्छना, परावर्तना, प्ररूपणा और धर्मकथा- ऐसे पाँच प्रकार के स्वाध्याय को परम एकाग्रता से करता है, उसकी ज्ञानाराधना आगे बढ़कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। स्वाध्याय चाहे दिन में करें, अथवा रात्रि में करें, अकेले करें, अथवा सामूहिक रूप से करें, बैठे-बैठे करें, अथवा खड़े-खड़े करें, लेकिन उसे मन-इन्द्रिय और शरीर को संयमित करके करना चाहिए। आराधक जिस किसी अवस्था में हो, उसके चित्त में ज्ञानाराधना हेतु उत्साह में कमी नहीं आना चाहिए, अर्थात् यथावत् उत्साहपूर्वक ज्ञान का उपार्जन करना चाहिए। पुनः, ज्ञान को ग्रहण करने के पश्चात् आचरण में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए।³⁸

संवेगरंगशाला में कहा गया है- जो निरतिचारपूर्वक आठ ज्ञान-आचारों का पालन करता है, वह ज्ञानी पुरुष आराधना के लक्ष्य को प्राप्त करता है, जैसे सम्यग्ज्ञान गुण से युक्त ज्ञानी पुरुषों की हमेशा सेवा, भक्ति एवं आदर करना चाहिए। इस प्रकार आठ ज्ञानाचारों का पालन करते हुए, पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना एवं ज्ञान और ज्ञानीजनों के प्रति विनय करना- यही ज्ञानाराधना है।

२. दर्शनाराधना : जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल आधार माना गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो सम्यग्ज्ञान होता है और न सम्यक्-चारित्र्य ही। सम्यग्दर्शन को मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। यह

³⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५८६.

³⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ५८६

³⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ५६०-५६६

हमारी विचारशुद्धि का आधार है। आचारशुद्धि के लिए विचार की शुद्धि अनिवार्य है। जिस प्रकार मानव-शरीर में दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तक-ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अंगों के परिपूर्ण होने पर ही मनुष्य कोई काम करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी निःशंकित, आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगों से युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करने से ही संसार संतति का उन्मूलन होता है। संवेगरंगशाला में सम्यग्दर्शन के निम्न आठ अंगों का विवेचन उपलब्ध होता है।³⁶

१. निःशंकित :- वीतराग जिनोपदिष्ट तत्वों में विश्वास करना, उनके प्रति शंका रहित होना, अर्थात् वीतराग द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग में अविश्वास नहीं करना- यही निःशंकित अंग है।

२. निःकांक्षित :- लोक-परलोक सम्बन्धी विषय-भोगों की आकांक्षा नहीं करना आनन्दमय परमात्मस्वरूप में निष्ठावान् रहना - यह निःकांक्षित गुण है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की आकांक्षा नहीं करना- इसे सम्यग्दर्शन का गुण माना गया है।

३. निर्विचिकित्सा :- संवेगरंगशाला में निर्विचिकित्सा के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं- १. फल के प्रति संदेह नहीं करना और २. साधु के प्रति दुर्गन्ध नहीं करना, अर्थात् धार्मिकजनों के ग्लानिजनक रूप को देखकर घृणा नहीं करना, अपितु उनके गुणों के प्रति आदरभाव रखना - इसे निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है। पुनः, मैं जो धर्म या साधना कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं, मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जाएगी-ऐसी आशंका रखना भी विचिकित्सा है। इस प्रकार जैनाचार्यों के अनुसार तपस्वी एवं संयमपरायण मुनियों के दुर्बल एवं जर्जर शरीर, अथवा मलिन वेशभूषा आदि बाह्यरूप पर ध्यान न देकर मुनिगुण के साधनात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए, तथा धर्मक्रिया के फल के प्रति आश्वस्त रहना चाहिए - यही निर्विचिकित्सा है।

४. अमूढदृष्टि :- मूढ़ता, अर्थात् अज्ञान। हेय-ज्ञेय-उपादेय, योग्य-अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता नहीं होना ही मूढ़ता है। जैनसाहित्य में मूढ़ता के तीन प्रकार उपलब्ध होते हैं। - देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और समयमूढ़ता।

५. उपबृंहण :- उपबृंहण के दो अर्थ हैं - प्रकट नहीं करना, अथवा पोषण करना। दूसरों के दोषों को और अपने गुणों को छिपाकर रखना तथा

³⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ५६७-५६९.

आध्यात्मिक गुणों का पोषण करना ही उपबृंहण गुण है। सम्यक्-आचरण करने वाले गुणिजनों की प्रशंसा आदि करके उनके सम्यक् आचरण में सहयोग देना।

६. स्थिरीकरण :- किसी कारण धर्म-मार्ग से च्युत होते हुए, चंचल चित्त वाले व्यक्ति को सहयोग देकर उसे उन गुणों में, अथवा धर्ममार्ग में स्थिर करना, स्थिरीकरण गुण है।

७. वात्सल्य :- साधर्मिक के प्रति, अर्थात् धर्मात्माओं के प्रति स्नेह-भाव रखना तथा उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करना वात्सल्य-गुण है। वात्सल्य का प्रतीक गाय और गोवत्स का प्रेम है। वात्सल्य-गुण का संघ एवं समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

८. प्रभावना :- जनकल्याण की भावना से अपने आचरण और प्रतिभा से धर्म का प्रचार-प्रसार करना प्रभावना नामक गुण है।^{४०}

जिस प्रकार किसी विषहारी मन्त्र में एक अक्षर के भी न्यून हो जाने से वह विष दूर करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार इन आठों अंगों में से एक अंग से भी हीन सम्यग्दर्शन हमारी संसार-संतति को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है। संवेगरंगशाला में सम्यग्दर्शन को उसके उपयुक्त आठ अंगों से पालन करना ही दर्शनाचार कहा गया है।

३. चारित्र-आराधना : संवेगरंगशाला में सम्यक्-चारित्र को आराधना का तृतीय चरण कहा गया है। जैन-आचार-दर्शन में सम्यक्चारित्र का कार्य आत्मा के समत्व का संस्थापन माना गया है। प्रस्तुत कृति में सम्यक्चारित्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है- सर्वपापप्रवृत्तियों के त्यागपूर्वक सत्प्रवृत्ति करना ही सम्यक्चारित्र है। चारित्र के दो रूप माने गए हैं- 'निश्चयचारित्र' और 'व्यवहारचारित्र'। निश्चय-चारित्र को निवृत्तिमूलक एवं व्यवहारचारित्र को प्रवृत्तिपूरक कहा गया है। रागद्वेषादि वैभाविक भावों से रहित होकर परम-आत्मभाव में अवस्थित होना ही निश्चयचारित्र कहलाता है। यही आत्मरमण की स्थिति है।

व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध आचार नियमों के परिपालन से है। मन-वचन-क़्रिया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागकर व्रत, समिति आदि शुभ प्रवृत्तियों में लीन होना व्यवहारचारित्र है। इसे देशविरत और सर्वविरत-ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशविरतचारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ से एवं सर्वविरतचारित्र का सम्बन्ध मुनियों से है।⁴¹

श्रमण-आचार के अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्मों के पालन करने का निर्देश है। साथ ही पाँच इन्द्रियों का दमन करना, बारह भावनाओं का चिन्तन करना, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, बयालिस दोषों से रहित पिण्डविशुद्धि का पालन करना, इत्यादि विविध आचारों का उल्लेख किया गया है। संवेगरंगशाला में आगे यह भी प्रतिपादित किया गया है कि श्रमण को बारह भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यक् पालन करना चाहिए एवं सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र, सूक्ष्मसम्परायचारित्र और यथाख्यातचारित्र-इन पाँचों चारित्र का श्रमण को पालन करना चाहिए।⁴²

डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' में चारित्र के विविध वर्गीकरणों का उल्लेख किया है। उनमें प्रथम चारित्र का वर्गीकरण दो रूपों में किया गया है- १. निश्चय-चारित्र और २. व्यवहारिक-चारित्र। त्रिविध वर्गीकरण में क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक-इस तरह तीन प्रकार के चारित्र का वर्णन किया गया है। चतुर्विध वर्गीकरण में चारित्र को घट की उपमा देकर फूटे घड़े के समान, जर्जरित घट के समान, परिश्रावी घड़े के समान एवं अपरिश्रावी घड़े के समान-ऐसे चार प्रकार बताए गए हैं। पंचविध वर्गीकरण में सामायिक आदि पाँच चारित्रों का वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्यक्चारित्र का स्वरूप बताते हुए कहा है - चित्त अथवा आत्मा की वासनाओं की मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना ही सम्यक्चारित्र का अर्थ है। यह अस्थिरता या मलिनता स्वाभाविक नहीं, वरन् वैभाविक है, बाह्य भौतिक एवं तज्जनित आन्तरिक कारणों से है।⁴³

⁴¹ जैनतत्त्वविद्या (वरणानुयोग), पृ.- १३७.

⁴² संवेगरंगशाला, गाथा ६०५-६१२

⁴³ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ.-८४.

इस तरह सम्यक्चारित्र के भेदों का प्रतिपादन स्थानांग⁴⁴ सूत्र एवं तत्त्वार्थ⁴⁵ सूत्र में भी उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि सम्यक्चारित्र के आचरण से व्यक्ति बाह्य-संयोगों के ममत्व को त्यागकर समत्व की ओर अग्रसर होता है तथा भौतिकता से आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ता है। “आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि चारित्र ही वास्तव में धर्म है, जो धर्म है। वह समत्व है और मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करना ही समत्व है।”⁴⁶

इस तरह जैन आचार दर्शन में सम्यक्चारित्र का कार्य आत्मा के समत्व का संस्थापन माना गया है।

४. तपःआराधना : सामान्य रूप में जैन साहित्य में साधना का त्रिविधमार्ग प्रतिपादित है, लेकिन प्राचीन आगमों में एक चतुर्विधमार्ग का भी वर्णन मिलता है। “उत्तराध्ययन और दर्शनप्राप्त में चतुर्विधमार्ग का वर्णन है।”⁴⁷ संवेगरंगशाला में साधना के चतुर्विध मार्ग का उल्लेख है, जिसमें साधना का चौथा अंग सम्यक्तप कहा गया है। आगम के अनुसार संवेगरंगशाला में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के साथ-साथ सम्यक्तप का भी उल्लेख है। जैनदर्शन में इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है। तप की आराधना में जिनचन्द्रसूरि ने यह प्रतिपादित किया है—साधक का मन, इन्द्रिय और देह सदैव संयमित होना चाहिए, असंयमित दशा में नहीं होना चाहिए। वात, पित्त और कफ का प्रकोप भी नहीं होना चाहिए एवं आराधना में विघ्न उत्पन्न न हो, इस तरह उत्तरोत्तर गुणों में वृद्धि करते हुए बारह प्रकार के तप का आचरण करना चाहिए।⁴⁸ वे बारह प्रकार के तप निम्न हैं:-

१. अनशन २. उनोदरी ३. वृत्ति संक्षेप ४. रसपरित्याग
५. काय क्लेश और ६. प्रतिसंलिनता - ये छः बाह्य तप हैं

तथा

१. प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैयावच्य ४. स्वाध्याय
५. ध्यान और ६. कायोत्सर्ग-ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं।

⁴⁴ स्थानांगसूत्र, ४/५६५

⁴⁵ तत्त्वार्थसूत्र, ६/२

⁴⁶ प्रवचनसार, १/७

⁴⁷ उत्तराध्ययनसूत्र २८/२, ३/३५, दर्शनप्राप्त-३२

⁴⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६१३-६२२.

इन बारह प्रकार के तपों का विस्तृत विवेचन हमने इसी अध्याय में मुनिधर्म के अन्तर्गत किया है।

संवेगरंगशाला में तप की महिमा का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर के साधनाकाल का निरूपण किया गया है। जिनेश्वर द्वारा कथित तप इन्द्रियों का दमन करने वाला है, सर्वदोषों का निग्रह करनेवाला है, सर्वविघ्नों का हरण करनेवाला है, देवताओं को वश में करनेवाला है, निर्जरारूप फल प्रदान करनेवाला है एवं संसार-परिभ्रमण को नष्ट करने वाला है। यह आरोग्य प्रदान करनेवाला भी है, अतः तप उत्तम मंगलरूप है, इसलिए प्रत्येक साधक को शक्ति के अनुसार तप का आचरण करना चाहिए।⁴⁹

इसी सन्दर्भ में तप और संयम से युक्त अहिंसा-धर्म की मंगलमयता का उद्घोष करते हुए जैनाचार्य कहते हैं - धर्म मंगलमय है, परन्तु कौनसा धर्म? अहिंसा, संयम और तपमय धर्म ही सर्वोत्कृष्ट तथा मंगलमय है। जो इस धर्म के पालन में दत्तचित्त है, उसे मनुष्य तो क्या, देवता भी नमन करते हैं।⁵⁰

इस सम्यक् तप का विवेचन आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थ की सर्वार्थसिद्धिटीका⁵¹, मूलाचार⁵², तत्त्वार्थसूत्र⁵³, आदि में तप के स्वरूप एवं भेदों का सुन्दर चित्रण किया गया है। कर्मक्षय करने में तप अणुबम के सदृश है। तप में अनन्त शक्ति छिपी है, जिसके द्वारा साधक अपने अनादिकाल के बन्धे हुए कर्मपुद्गलों को नष्ट कर सकता है। इस तरह तप की आराधना से आराधक संसाररूपी अटवी को पार कर सकता है।

आराधक की योग्यता (अर्हता)

मुख्य प्रतिपाद्य विषय सम्यक् आराधना करने के लिए कौन व्यक्ति योग्य होता है- यह बताना है। जैन-धर्म में आराधना शब्द मुख्यतया दो अर्थों में प्रयुक्त होता है- प्रथम अर्थ में आराधना का तात्पर्य संसार के भोगों से विरक्त होकर श्रावक या श्रमण जीवन को स्वीकार करना है, जबकि दूसरे अर्थ में आराधना का तात्पर्य समाधिमरण को स्वीकार करना है। प्रस्तुत कृति में आराधना शब्द का प्रयोग उसके सामान्य अर्थ में ही हुआ है।

⁴⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ६१८-६२२

⁵⁰ दशवैकलिक, १/१.

⁵¹ सर्वार्थसिद्धि, ६/११.

⁵² मूलाचार, ५/५३

⁵³ तत्त्वार्थसूत्र, ६/२२.

आराधना का सामान्य अर्थ वीतराग परमात्मा के आदेशों के अनुसार जीवन जीने का प्रयत्न करना है। प्रस्तुत द्वार में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि आराधक होने के लिए जाति, कुल, पद, वर्ण, आदि का कोई बन्धन नहीं है। वस्तुतः, आराधक तो वही हो सकता है, जो जाति, कुल, वर्ण, पद, आदि के अहंकार से ऊपर उठ चुका है। जैन धर्म में आराधक बनने के लिए वर्ण, जाति और कुल आदि का कोई बन्धन नहीं है। इस सम्बन्ध में सवेगरंगशाला में यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति में गुणों और गुणिजनों के प्रति आदर का भाव हो, जो विनम्र हो तथा जिसके हृदय में आराधक जीवों के प्रति वात्सल्य का भाव हो, वह व्यक्ति आराधना करने, अर्थात् जिन-धर्म के परिपालन के योग्य है।⁵⁴

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि जिसमें अनन्त गुणों से अलंकृत अरिहन्त परमात्मा के प्रति पूजा और सत्कार के भाव हों; देव, गुरु और धर्म के प्रति जिसकी अटूट श्रद्धा हो, वह व्यक्ति आराधना करने के योग्य होता है।

इसी तथ्य को एक अन्य रूप में प्रस्तुत करते हुए यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के गुणों को देखता है, जिसमें दूसरों के दोषदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा व्यक्ति आराधना करने के, अर्थात् संयम ग्रहण करने के योग्य है।

आगे पुनः, आराधक की योग्यता को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत कृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति बन्दर की तरह चंचल एवं दुष्ट प्रकृति वाले मन का निग्रह करने में समर्थ हो और जो सिंह के समान अति कठिनता से विजित होने वाली इन्द्रियों का नियन्त्रण करने में समर्थ होता है, वही व्यक्ति आराधक बन सकता है।⁵⁵

आराधक की तीसरी योग्यता उसका ज्ञानयुक्त होना है। यहाँ आचार्य ने ज्ञान को दीपक के समान कहा है। ज्ञान के माध्यम से ही जीव लोक-अलोक, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, आदि का विवेक कर सकता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य जीवन पशुवत् होता है, अतः यह कहा गया है कि जो व्यक्ति ज्ञानी हो तथा ज्ञानी पुरुषों के प्रति आदर और सत्कार का भाव रखता हो, वही आराधक बन सकता है, अर्थात् मुनि-जीवन को स्वीकार कर सकता है।⁵⁶

⁵⁴ सवेगरंगशाला, गाथा ८१०-८१६.

⁵⁵ सवेगरंगशाला, गाथा ८१७-८१८.

⁵⁶ सवेगरंगशाला, गाथा ८२०-८२१

जैन-धर्म में राग-द्वेषजन्य कषायों को कुमार्ग की दिशा में ले जाने वाला कहा गया है। आराधना तो सन्मार्ग पर चलना है, जब तक व्यक्ति के मन में कषायरूपी शल्य भरे हुए हैं, तब तक वह आराधना के मार्ग पर गति नहीं कर सकता है, इसलिए प्रस्तुत कृति में यह बताया गया है कि आराधक को कषायों पर विजय प्राप्त करके अपने मन को शान्त और सौम्य बना लेना चाहिए। जिस व्यक्ति ने कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है और जो दूसरे जीवों के कषायों को भी उपशान्त करने का प्रयास करता है, वही आराधना या संयम-साधना के योग्य है।⁵⁷ इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में आराधना करने वाले व्यक्ति को सम्यक्श्रद्धा (सम्यक्दर्शन), सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त होना चाहिए। जिस व्यक्ति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का उदय होता है, वही व्यक्ति आराधना करने के योग्य होता है।

व्यवहारिक दृष्टि से आराधक बनने के लिए संवेगरंगशाला में कुछ निर्देश भी उपलब्ध होते हैं। उसमें कहा गया है कि आराधक बनने के लिए अर्थात् मुनि जीवन स्वीकार करने के लिए व्यक्ति को अपने परिवारजनों की आजीविका को सुस्थिर करके, फिर ही परिवार छोड़ने का निश्चय करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, परिजनों की आजीविका को सुनिश्चित करके ही व्यक्ति को संयम मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। यदि वह परिजनों की आजीविका का सुनिश्चित प्रबन्ध नहीं करता है, तो एक ओर परिजन अर्थाभाव में दुःखी होते हैं तथा दूसरी ओर वह लोकनिन्दा का पात्र भी बनता है, किन्तु यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस व्यक्ति के पास सम्यक् आजीविका के साधन न हों, अर्थात् अर्थाभाव से ग्रस्त हो, तो क्या उसे संयममार्ग ग्रहण करने का अधिकार नहीं है? इस सम्बन्ध में आचार्य एक मध्यममार्ग को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि जो व्यक्ति अर्थाभाव से ग्रस्त हो अथवा परिवारजनों की आजीविका की व्यवस्था कर पाने में सक्षम न हो, से भी संयममार्ग ग्रहण करने के पूर्व किसी विशिष्ट धार्मिक व्यक्ति को उनके परिपालन का दायित्व देकर ही संयममार्ग की साधना या आराधना का निर्णय लेना चाहिए।⁵⁸ इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि संवेगरंगशाला में आचार्यश्री ने धर्मापराधना के पूर्व सामाजिक-दायित्वों के परिपालन के लिए भी पर्याप्त बल दिया है। पारिवारिक और सामाजिक-दायित्वों की उपेक्षा करके वे धर्मापराधना, अर्थात् मुनि-जीवन स्वीकार करने की प्रेरणा नहीं देते हैं।

⁵⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ८२२-८२४

⁵⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ८२५-८३७

गृहस्थ और मुनि-जीवन के लिए सामान्य शिक्षा

संवेगरंगशाला के शिक्षा नामक तीसरे द्वार में आराधक-गृहस्थ एवं आराधक-साधु को दी जाने वाली शिक्षाओं का उल्लेख करके उनके सामान्य और विशेष आचार-धर्म का विवेचन किया गया है। इसमें १. ग्रहण शिक्षा २. आसेवन-शिक्षा और ३. तदुभय-शिक्षा- इस तरह शिक्षा के तीन भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है⁵⁹ -

१. ग्रहण-शिक्षा : ग्रहण-शिक्षा का तात्पर्य है - मुनि एवं गृहस्थ को जिन बातों का ज्ञान आवश्यक है, उन्हें जानना। संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में श्रुतज्ञान के अभ्यासरूप शिक्षा को ग्रहण-शिक्षा कहा गया है। आगे यह कहा गया है कि जघन्यतः साधु को अष्ट प्रवचनमाता, अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति का ज्ञान होना चाहिए तथा उत्कृष्टतः साधु को बिन्दुसार नामक चौदहवें पूर्व तक का ज्ञान होना चाहिए और गृहस्थ को भी जघन्यतः अष्ट प्रवचनमाता तथा उत्कृष्टतः दशवैकालिकसूत्र के छज्जीवनिकाय नामक चौथे अध्ययन और पिंडेषणा नामक पाँचवें अध्ययन के अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ अष्ट प्रवचनमाता के ज्ञान के बिना सामायिक नहीं कर सकता है तथा छज्जीवनिकाय नामक अध्ययन का ज्ञान नहीं होने से जीवों की रक्षा नहीं कर सकता है एवं पिंडेषणा नामक अध्ययन के अर्थ को जाने बिना वह साधु को प्रासुक आहार नहीं दे सकता है।⁶⁰

प्रस्तुत द्वार में ग्रहण-शिक्षा से जिन गुणों की प्राप्ति होती है, उनका वर्णन करते हुए बताया गया है कि ग्रहण-शिक्षा संसार को पार करने में नौका के सदृश है। इससे पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है और प्रशस्त गुणों की प्राप्ति होती है। इस तरह पहले जिनवचनरूपी सूत्रों का गहन अध्ययन करना चाहिए, उसके पश्चात् सद्गुरु के पास उन सूत्रों के अर्थ को सुनकर उनका जीवनपर्यन्त चिन्तन-मनन करना चाहिए।⁶¹

संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में श्रुतज्ञान से कौन-कौन से लाभ होते हैं, उनका दिग्दर्शन कराया गया है। श्रुतज्ञान के अध्ययन से आराधक जीव-अजीव आदि नव-तत्त्वों को जानने वाला बनता है, साथ ही आभ्यन्तररूप बारह प्रकार के तप का भी ज्ञान होने लगता है और बारह प्रकार की भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) को

⁵⁹ गृहणाऽऽसेवगतदुभय भेदं हि सा भवे तिहा तत्त्वा नागब्बाससत्त्वा, सिक्खावुच्चइ ग्रहणसिक्खा। संवेगरंगशाला, गाथा १३२५.

⁶⁰ संवेगरंगशाला, गाथा १३२५-१३३०

⁶¹ संवेगरंगशाला, गाथा १३३५-१३४३.

भी वह समझने लगता है। इस प्रकार वह इहलोक और परलोक सम्बन्धी आत्मा के हित और अहित को जानकर हितकार्यों में प्रवृत्ति करता है और अहितकर कार्यों से निवृत्त होता है। वह स्वाध्याय के द्वारा पाँच इन्द्रियों के विकारों का संवर करता है तथा तीनों गुप्तियों से गुप्त रहता है और राग-द्वेष आदि भावों का शमन करता है। वह अपने हिताहित को जानकर शुद्ध परिणामों से मन को स्थिर कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में रमण करता है।⁶²

प्रस्तुत कृति में यह भी कहा गया है कि जो आत्महित को नहीं जानता है, वह पापकर्म करता है और जो पापकर्म करता है, वह अनन्त संसार में बार-बार जन्म-मरण करता है। साथ ही इसमें यह भी निरूपण किया गया है कि बाह्य और आभ्यन्तर-तप में स्वाध्याय के जैसा दूसरा कोई तप नहीं है। एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय करने से साधक के परिणाम शुद्ध होने लगते हैं और इससे मृत्यु के समय में भी आराधक के अध्यवसाय शुद्ध रहते हैं, जिससे उसकी आराधना सफल होती है। श्रुतज्ञान की साधना के महत्व को बताते हुए इसमें कहा गया है कि श्रुतज्ञानी के उपदेश से स्व और पर का कल्याण होता है, ज्ञानी के प्रति श्रद्धा जाग्रत होती है, जिनशासन की प्रभावना होती है तथा श्रुतज्ञान की भक्ति होती है।

इसके पश्चात् जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है, इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि जीव अनादिकाल के अज्ञानजन्य संस्कारों के कारण संसार में भटक रहा है। आध्यात्मिक-शिक्षा के बिना भी व्यक्ति काम और अर्थ में तो निपुण हो सकता है, लेकिन धर्म का बोध तो ग्रहण-शिक्षा के बिना नहीं होता है, इसलिए जीवों को आध्यात्मिक ज्ञान या श्रुतज्ञान की प्राप्ति हेतु अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिए।⁶³

प्रस्तुत कृति में एक दृष्टान्त के द्वारा साधक को श्रुतज्ञान की महत्ता समझाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार चिकित्सा में और धन प्राप्ति में विधिपूर्वक, अर्थात् नियमानुसार कार्य नहीं किया जाए, तो व्यक्ति का प्रयत्न निष्फल होता है, उसी प्रकार अविधि से की गई धर्म-क्रियाएँ भी निष्फल होती हैं। ज्ञान की महत्ता के सम्बन्ध में आगे यह कहा गया है कि जगत् में ज्ञान चिन्तामणि-रत्न, अथवा श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के तुल्य है, धर्म साधना में ज्ञान चक्षु के

⁶² बारसविहस्मि वि तवे, सभ्यन्तरबाहिरे कुसलदिद्वे। नऽपि अत्थि नऽपि य होही, सञ्ज्ञायसमं तवोक्त्वा॥
सवेगरंगशाला, गाथा १३४४।

⁶³ सवेगरंगशाला गाथा, १३४५-१३४७।

समान है एवं ज्ञान के बिना की गई धर्म-क्रिया को जन्मान्ध व्यक्ति के द्वारा नाटक देखने की क्रिया के समान निरर्थक कहा गया है।⁶⁴

प्रस्तुत विषय में ज्ञान नय और क्रिया-नय का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि जो कार्य में रुचि रखता है, उसे ग्रहण-शिक्षा से हेय-उपादेय के अर्थ को सम्यक् रूप से जानकर उसके बाद ही कार्य में प्रवृत्ति करना चाहिए, अन्यथा कार्य के परिणाम में विपरीतता आ सकती है, चूँकि मिथ्याज्ञान से प्रवृत्ति करने वाले की विपरीत फल की प्राप्ति होती है, इसलिए सम्यग्ज्ञान को ही फल प्राप्ति का हेतु कहा गया है, क्रिया को नहीं। जिनेश्वर भगवान् ने कहा है कि “प्रथम ज्ञान, फिर दया (क्रिया),” क्योंकि संसार समुद्र से पार उतरने वाले अरिहंतदेव को भी तब तक मोक्ष नहीं होता, जब तक उन्हें केवलज्ञान प्रकट नहीं हो जाता,⁶⁵ इसीलिए ग्रहण शिक्षा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में इन्द्रदत्त के अज्ञपुत्रों एवं सुरेन्द्रदत्त की कथा वर्णित है।

२. आसेवन-शिक्षा : संवेगरंगशाला के तीसरे शिक्षाद्वार में आसेवन-शिक्षा का महत्व बताते हुए कहा गया है कि जैसे जंगल में उत्पन्न हुए मालती के पुष्प और विधवा के रूप आदि गुण समूह निष्फल होते हैं, वैसे ही आसेवन-शिक्षा के बिना ग्रहण-शिक्षा भी निष्फल होती है, क्योंकि आसेवन-शिक्षा, अर्थात् जिन-आज्ञा का सम्यक् रूप से आचरण करने वाले की ही ग्रहण-शिक्षा फलदायक होती है। साधक को शिक्षा की प्राप्ति विनयपूर्वक गुरु की सेवा करने से, मन से सभी व्याक्षेपों का त्याग करने से, प्रतिपृच्छा आदि बुद्धि के आठों गुणों के प्रयोग करने से तथा गृहीतज्ञान का आचरण करने से ही होती है और इससे ग्रहण शिक्षा उत्कृष्टता को प्राप्त होती है।⁶⁶

ग्रहण-शिक्षा में भी सर्वप्रथम विनय प्रतिपत्तिरूप आसेवन, अर्थात् आचरण-शिक्षा होती है। आसेवन-शिक्षा में ग्रहण-शिक्षा का मन-वचन-काया से आचरण किया जाता है, तभी ज्ञान में वृद्धि होती है और मन स्थिर रहता है। ग्रहण-शिक्षा भी आसेवन-शिक्षा के अभाव में प्रायः पूरी नहीं हो पाती है, इसलिए आसेवन-शिक्षा में उद्यम करना साधक के लिए जरूरी है।

इस विषय में क्रियानय का कहना है कि जिस कार्य में रुचि हो, उसमें सम्यक् उद्यम करना चाहिए तथा हेय और उपादेय अर्थ को जानकर अभीष्ट फल

⁶⁴ संवेगरंगशाला गाथा, १३४८-१३५१.

⁶⁵ संवेगरंगशाला, गाथा १३५१-१३६४.

⁶⁶ संवेगरंगशाला, गाथा १४२४-१३३१.

की प्राप्ति के लिए उपादेय में प्रयत्न करना चाहिए। बिना प्रवृत्ति किए अकेला ज्ञान फल प्रदान नहीं कर सकता है, इसलिए क्रियावादियों का कहना है “क्रिया ही फलदायी है, ज्ञान नहीं।” जैसे प्यासा व्यक्ति पानी को देखने के पश्चात् भी जब तक पीने आदि की क्रिया में प्रवृत्ति नहीं करेगा, तब तक उसे तृप्तिरूपी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है, व्यक्ति के सम्मुख इष्ट भोजन पड़ा हो और स्वयं क्षुधा से पीड़ित भी हो, परन्तु स्वयं के हाथ हिलाए बिना और मुंह को चलाए बिना उस पुरुष का पेट नहीं भर सकता है, बल्कि वह भूख से मर सकता है। यदि अति विद्वान् (पण्डित) भी प्रतिवादी को तुच्छ मानकर वाद के लिए राजसभा में गया हो, किन्तु सभा में कुछ भी नहीं बोले, तो वह भी धन एवं प्रशंसा को प्राप्त नहीं कर सकता है।⁶⁷

इस प्रकार इहलोक⁶⁸ एवं परलोक⁶⁹ के कल्याण हेतु आसेवन, अर्थात् आचरणरूप शिक्षा जरूरी है। विधिपूर्वक कार्य करने से ही फल की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि भगवान् को भी केवलज्ञान के बाद मोक्ष की प्राप्ति हेतु पहले शैलेशीकरण की क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार ज्ञान के साथ क्रिया आवश्यक होती है। आसेवन-शिक्षा के बिना ग्रहण-शिक्षा सार्थक नहीं होती है। जानने के साथ जीना आवश्यक है। ज्ञान (ग्रहण-शिक्षा) के बिना क्रिया (आसेवन-शिक्षा) अन्धी होती है और क्रिया (आसेवन-शिक्षा) के बिना ज्ञान पंगु है, अर्थात् उसकी उपयोगिता शून्यवत् है, अतः ग्रहण-शिक्षा, अर्थात् ज्ञान और आसेवन-शिक्षा, अर्थात् क्रिया के सहयोग से ही आत्मोपलब्धि सम्भव है।

३. ज्ञान एवं क्रिया के उभय पक्षों की परस्पर सापेक्षता :-

सवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में ग्रहण-शिक्षा (ज्ञान) और आसेवन-शिक्षा (क्रिया) के विवेचन के पश्चात् तदुभय-शिक्षा, अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय करते हुए यह बताया गया है कि ज्ञान-नय और क्रिया-नय के द्वारा उभय पक्षों की कही हुई युक्तियों को सुनकर तथा अपने-अपने स्थान पर उनकी युक्तियों के महत्त्व को जानकर व्यक्ति के मन में संशय उत्पन्न होने लगता है और उस संशय के कारण ज्ञान और क्रिया के विषय में सत्य क्या है? इसका पता लगाना उसके लिए कठिन हो जाता है, जैसे- एक और खिले हुए केतकी के पुष्प एवं दूसरी

⁶⁷ किरिय जिय फलजणणी नो नाणं संजमऽत्यविसयाणाविन्नाया वि सुनिउणं, न नाणमेत्ता सुही होइ॥ सवेगरंगशाला, गाथा १४३५

⁶⁸ अइण्डियों वि बाई, आहसिय परं गलो निवसभाए।वयणनवावारिन्तो, न सहइ अत्थं सलाहं च॥ सवेगरंगशाला, गाथा १४३८.

⁶⁹ सवेगरंगशाला, गाथा १४३६-१४४६.

और अर्द्ध विकसित मालती की कली को देखकर उसके गन्ध में आसक्त बना भौरा आकुल हो जाता है।⁷⁰

प्रस्तुत कृति में गुरु अपने शिष्य को ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा-दोनों को सापेक्षदृष्टि से समझाते हुए कहते हैं कि ये दोनों ही शिक्षा के मूल तत्व हैं, ज्ञान के बिना क्रिया सम्यक् नहीं होती और आसेवन-शिक्षा के बिना ग्रहण-शिक्षा भी सफल नहीं होती है। आगमों के ज्ञान के आधार पर की गई प्रवृत्ति ही सम्यक् प्रवृत्ति है तथा ज्ञानपूर्वक जो क्रिया की जाती है, वहीं मोक्ष को प्राप्त करा सकती है। दूसरी तरफ, जो तप, संयम तथा योग द्वारा क्रिया को वहन नहीं कर सकता है, वह श्रुतज्ञान में प्रवृत्तिवाला भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। संवेगरंगशाला में इस बात को निम्न दृष्टान्त से समझाया गया है⁷¹ -

जैसे दावानल को देखता हुआ भी पंगु व्यक्ति जलता है और दौड़ता हुआ भी अन्धा होने से जलता है, वैसे ही क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया को भी निष्फल कहा गया है।

ज्ञान और क्रिया- दोनों का संयोग होने से ही फल की प्राप्ति होती है। कहा भी जाता है कि जैसे- एक चक्र से रथ नहीं चलता है तथा अन्ध और पंगु दोनों का परस्पर संयोग होने से वन से निकलकर सुरक्षित रूप से नगर में पहुँच सकते हैं, क्योंकि ज्ञान को नेत्र के समान कहा गया है तथा क्रिया को चलने की प्रवृत्ति के समान। दोनों का समन्वय होने से ही शिवपुर की प्राप्ति सम्भव है।⁷² यही बात “विशेषावश्यकभाष्य”⁷³ में गाथा क्रमांक ११५६ में मिलती है। डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ “जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२”⁷⁴ में इसका विस्तार से उल्लेख किया है।

अन्त में यह कहा गया है कि साधक को प्रथम अपने लक्ष्य को जानकर, फिर लक्ष्य के अनुरूप क्रिया करनी चाहिए।

⁷⁰ संवेगरंगशाला, गाथा १४४७-१४५३.

⁷¹ संवेगरंगशाला, गाथा १४५४.

⁷² संयोगसिद्धि फल वर्णित, न हु एगचक्रेण रहो पयाइ.अंधो य पंगु य बणे समेच्चा, ते संपज्जता नगरं पविट्ठा।। संवेगरंगशाला, गाथा क्रं.-१४५५.

⁷³ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ११५६.

⁷⁴ जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ. ३१-३२

ग्रहण और आसेवन-शिक्षा के भेद :-

सवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में शिक्षा के उपर्युक्त तीन प्रकारों, अर्थात् ग्रहण-शिक्षा, आसेवन-शिक्षा और तदुभय-शिक्षा का वर्णन करने के पश्चात् इनके पुनः दो-दो भेद किए गए हैं। एक सामान्य आचरणरूप और दूसरा विशेष आचरणरूप तथा इसके भी पुनः साधु-जीवन सम्बन्धी और गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी। इस तरह दो-दो प्रकार बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं⁷⁵ :-

साधु एवं गृहस्थ के आचार-धर्म :-

सवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में साधु एवं गृहस्थ के आचार के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि उभयलोक के कल्याण हेतु इन शिक्षाओं का आसेवन, अर्थात् परिपालन करना जरूरी है, तभी साधक अपनी साधना में सफल हो सकता है। सवेगरंगशाला में यह भी कहा गया है कि साधक को विशेष आराधना करने के पहले सामान्य आराधना, अर्थात् सामान्य आचरण का पालन जरूरी है। जैसे :-

१. साधक हमेशा लोक-निन्दित व्यापार का त्याग करे।
२. मन के कलुषित भावों को दूर करे।
३. हर्ष और शोक से रहित रहे।
४. कषायों से मुक्त होकर निर्मल चित्तवाला बने।
५. शंख की कान्ति के समान निष्कलंक बने।
६. हिरणी के नेत्र के समान निर्विकार रहे।⁷⁶

साथ ही इसमें यह भी कहा गया है कि उत्तम श्रावक में ये सब गुण तो सहज रूप से प्राप्त होते ही हैं, फिर भी इन गुणों की विशेषता होने से साधक को इन्हें जान लेना जरूरी है।

इसमें आगे साधक के आचार-धर्म का स्वरूप बताते हुए, उसकी निम्न महत्ता बताई गई है। साधक का सर्वप्रथम यह कर्तव्य होता है कि वह ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध की सेवा करने में सदैव तत्पर हो, शास्त्र का अभ्यास करने वाला हो; देव, गुरु और अतिथि का सत्कार करनेवाला हो, स्नेहपूर्वक वार्तालाप

⁷⁵ सवेगरंगशाला, गाथा १५०६

⁷⁶ सवेगरंगशाला, गाथा १५०८-१५१०.

करनेवाला हो तथा विनीत स्वभाव वाला हो, साथ ही यह भी बताया गया है कि साधक सर्वतः क्रोध का त्यागी हो, मिथ्या आग्रह का त्यागी हो, उत्सुकता का त्यागी हो, आत्मप्रशंसा का त्यागी हो तथा सुन्दरता, धैर्यता, लज्जालुता, दीर्घदर्शिता, स्थिरता, एकाग्रता, सरलता, न्यायशीलता, इत्यादि गुणों से युक्त हो। साधक को आत्मा में स्थिर रहकर जो इहलोक-परलोक में कल्याणकारी हो, उन गुणों को सदैव प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।⁷⁷

संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार के अन्त में यह बताया गया है कि सामान्य आचार ही विशेष आचार में मुख्य हेतु होते हैं। जो निश्चय से सामान्य गुणों में प्रयत्न करता है, उसे ही विशेष गुणों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के सामान्य आचारों की आराधना गृहस्थ एवं साधु- दोनों के लिए कही गई है।

आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में मार्गानुसारी गुणों के रूप में इन्हीं बातों की चर्चा की है।⁷⁸

गृहस्थ धर्म :

संवेगरंगशाला में सामान्य आराधना के चारित्रगुण की अपेक्षा से दो भेद किए गए हैं - १. मुनिधर्म की साधना और २. गृहस्थधर्म की साधना। जैन-परम्परा में गृहस्थधर्म की साधना की अपेक्षा से निम्न आराधनाएँ आवश्यक मानी गई हैं - सर्वप्रथम श्रावक को सप्त दुर्व्यसनों से मुक्त होकर श्रावक के मार्गानुसारी गुणों का पालन करते हुए गृहस्थ के जो षडावश्यक कर्त्तव्य बताए गए हैं, उनका पालन करना चाहिए। उसके पश्चात् श्रावक के पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का निरतिचारपूर्वक पालन करना चाहिए, तत्पश्चात् क्रमशः श्रावक-जीवन की ग्यारह प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए अन्त में संलेखनापूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करना चाहिए।

सामान्यतया, जैन ग्रन्थों में गृहस्थधर्म की विवेचना में सप्त दुर्व्यसन त्याग, श्रावक के मार्गानुसारी गुणों, श्रावक के षडावश्यक कर्त्तव्यों, बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओं के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, किन्तु जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, उसमें प्रथम परिकर्मद्वार के नौवें परिणाम उपद्वार में श्रावक की मनोभावना के विवेचन के अन्तर्गत तथा पुत्र अनुशास्तिद्वार के अन्तर्गत श्रावक के कुछ कर्त्तव्यों का उल्लेख हुआ है। उसमें मुख्य रूप से यह बताया गया है कि

⁷⁷ संवेगरंगशाला, माथा १५११-१५१६.

⁷⁸ योगशास्त्र - १/४७-५६.

‘स्वोपार्जितं द्रव्यं कां दस क्षेत्रों में व्यय करते हुए श्रावक संलेखना ग्रहण करने की भावना से ग्यारह प्रतिमाओं का वहन करें और अन्त में संलेखना को धारण करें।’ इस कृति में हमें कहीं भी सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का तथा श्रावक के मार्गानुसारी गुणों और श्रावक के बारह व्रतों का सविस्तार विवेचन देखने को उपलब्ध नहीं होता है। मात्र ग्यारह प्रतिमाओं की चर्चा के दौरान द्वितीय व्रतप्रतिमा के प्रसंग में पाँच अणुव्रतों का उल्लेख प्राप्त होता है। उसके पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन व्रतों की अपेक्षा किञ्चित् विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें भी दर्शनप्रतिमा का स्वरूप अधिक विस्तार से वर्णित है। उसके पश्चात् व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, पौषधप्रतिमा का भी किञ्चित् विस्तार से उल्लेख किया गया है। शेष प्रतिमाओं का अति संक्षिप्त विवेचन ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार जहाँ तक प्रस्तुत कृति का प्रश्न है, इसमें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की चर्चा ही विस्तार से है, फिर भी यहाँ हम श्रावकधर्म की सामान्य विवेचना को दृष्टि में रखकर अति संक्षेप में सप्त दुर्व्यसनों के त्याग एवं प्रकारान्तर से अष्ट मूल गुणों के धारण का निर्देश करेंगे। उसके पश्चात् श्रावक के मार्गानुसारी गुणों तथा श्रावक के आवश्यक षट्कर्तव्यों की चर्चा करेंगे। उसके पश्चात् बारह व्रतों का उल्लेख करके अन्त में ग्यारह प्रतिमाओं का वहन करते हुए श्रावक को समाधिभरण की साधना किस प्रकार करना चाहिए, इसका प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर उल्लेख करेंगे।

सप्त दुर्व्यसन-त्याग और अष्ट मूलगुण धारण :

जैन-आचार्यों ने गृहस्थ-साधक के लिए अणुव्रत-साधना के पूर्व निम्न सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का विधान किया है।⁷⁹ वे इस प्रकार हैं :- १. जुआ खेलना २. मांसाहार ३. सुरापान या मद्यपान ४. वैश्यागमन ५. शिकार ६. चौर्यकर्म और ७. परस्त्रीगमन। जिस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में सम्यक्दर्शन की आराधना में सप्त दुर्व्यसनों का त्याग आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में अष्टमूलगुणों के धारण को आवश्यक माना गया है। ये अष्ट मूलगुण क्या हैं? इसको लेकर दिगम्बर-आचार्यों में भी मतभेद रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में मद्य, मांस और मधु के साथ-साथ पाँच अणुव्रतों के पालन को अष्ट मूलगुण कहा गया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने श्रावक-धर्म का परिपालन सहज रूप से हो सके, इसे दृष्टि में रखकर मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ-साथ वट, पीपल, गूलर, पिलखन और अंजीर- इन पाँच औदुम्बर फलों के त्याग को

अष्ट मूलगुण माना है, किन्तु जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, उसमें हमें इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता है।

श्रावक के मार्गानुसारी गुण

श्रावक के मार्गानुसारी गुणों की चर्चा हमें आचार्य हरिभद्र के काल से मिलने लगती है। हरिभद्र और हेमचन्द्र ने ३५ मार्गानुसारी गुणों का उल्लेख किया है।⁸⁰ अन्य कुछ आचार्यों ने ३५ मार्गानुसारी के स्थान पर श्रावक के २१ गुणों का उल्लेख किया है। दिगम्बर-परम्परा में पण्डित आशाधरजी ने इनमें से मात्र १४ गुणों का निर्देश किया है। यहाँ हम तीनों ही परम्पराओं में वर्णित श्रावक के गुणों का नामनिर्देश मात्र ही कर रहे हैं, क्योंकि प्रस्तुत कृति में इनके सम्बन्ध में भी यथावत् रूप से एक ही स्थल पर एक साथ हमें कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता, यद्यपि प्रकीर्ण रूप से इनमें से अधिकांश का उल्लेख मिल जाता है। वे मार्गानुसारी गुण निम्न हैं:-

१. न्याय और नीतिपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना। २. शिष्ट पुरुषों के श्रेष्ठ आचार की प्रशंसा करना। ३. समान कुल और आचार विचार वाले स्वधर्मी, किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्नजनों की कन्या के साथ विवाह करना। ४. पापों से भय रखना, अर्थात् पापाचार का त्याग करना। ५. अपने देश व राष्ट्र की संस्कृति व सभ्यता का समुचित पालन करना। ६. दूसरों की निन्दा न करना। ७. गृहस्थ का आवास न एकदम खुला हो और न एकदम गुप्त ही हो। आदर्श घर हो। ८. घर के अनेक द्वार न हो। ९. उत्तम आचारनिष्ठ एवं सद्विचारवान व्यक्तियों की संगति करना। १०. माता-पिता का सम्मान-सत्कार करना। ११. कलह से दूर रहना। १२. निन्दनीय आचरण न करना। १३. आय के अनुसार व्यय करना। १४. देश, काल व आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनना। १५. (१) जिज्ञासा (२) धर्म-श्रवण (३) ग्रहण (४) धारणा (५) विज्ञान (६) ऊह (७) अपोह और (८) तत्वाभिनिवेश- इन आठ प्रकार की बुद्धियों से युक्त होना। १६. अजीर्ण होने पर भोजन न करना। १७. नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करना। १८. अवरोधीभाव से त्रिवर्ग की साधना करना। १९. अतिथि की सेवा करना। २०. दुराग्रह के वशीभूत न होना। २१. गुणानुरागी बनना। २२. देश-कालोचित आचरण। २३. शक्ति के अनुसार कार्य करना। २४. आचारवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध जनों की यथोचित सेवा करना। २५. उत्तरदायित्व निभाना। २६. दीर्घदर्शी २७. विशेषज्ञ २८. कृतज्ञ २९. लोकप्रिय ३०. लज्जाशील ३१. दयावान् ३२.

⁸⁰ (क) धर्म्मचिन्दुप्रकरण - १/४ - ५८, (ख) योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश - ४७, ५६

सौम्य ३३. परोपकारी ३४. षड्रिपुओं को जीतनेवाला और ३५. इन्द्रियों को वश में करनेवाला।

आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के इन पैंतीस गुणों पर चिन्तन करते हुए अन्त में लिखा है कि 'गृहीधर्माय कल्पते', अर्थात् इन गुणों को जो धारण करता है, वह सद्गृहस्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है। एक सद्गृहस्थ में मानवता के गुण होना चाहिए, अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक में इन मानवीय गुणों का होना आवश्यक है। प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों में मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों के स्थान पर संक्षेप से निम्न इक्कीस गुण ही उल्लेखित हैं।⁸¹ वे इस प्रकार हैं :-

१. विशाल हृदयता २. स्वस्थता ३. सौम्यता ४. लोकप्रियता ५. अक्रूरता ६. पापभीरुता ७. अशठता ८. सुदक्षता (दानशील) ९. लज्जाशीलता १०. दयालुता ११. गुणानुराग १२. प्रियसम्भाषण १३. माध्यस्थवृत्ति १४. दीर्घदृष्टि १५. सत्कथन एवं सुपक्षयुक्त १६. नम्रता १७. विशेषज्ञता १८. वृद्धानुगामी १९. कृतज्ञ २०. परहितकारी (परोपकारी) २१. लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता)।

पण्डित आशाधरजी ने अपने ग्रन्थ सागार-धर्माभूत में निम्न गुणों का निर्देश किया है⁸² :- १. न्यायपूर्वक धन का अर्जन करनेवाला २. गुणीजनों को मानने वाला ३. सत्यभाषी ४. धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोध-रहित सेवन करनेवाला ५. योग्य स्त्री, योग्य स्थान (मोहल्ला) एवं योग्य मकान से युक्त ६. लज्जाशील ७. योग्य आहार ८. योग्य आचरण ९. श्रेष्ठ पुरुषों की संगति १०. बुद्धिमान् ११. कृतज्ञ १२. जितेन्द्रिय १३. धर्मोपदेश श्रवण करनेवाला १४. दयालु एवं पापों से डरनेवाला - ऐसा व्यक्ति सागारधर्म (गृहस्थधर्म) का आचरण करे। जिन गुणों का उल्लेख सागारधर्माभूत में प्राप्त होता है, उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है।

संवेगरंगशाला में श्रावक के पैंतीस मार्गानुसारी गुणों का, अथवा श्रावक के इक्कीस गुणों का स्पष्ट रूप से एक स्थान पर कोई उल्लेख तो नहीं है, किन्तु गाथा क्रमांक १५०७ से १५२३ तक पन्द्रह गाथाओं में गृहस्थ की सामान्य आचार रूप आसेवन शिक्षा का उल्लेख है। इसके अन्तर्गत निम्न गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है:-

⁸¹ प्रवचनसारोद्धार - २३६

⁸² संवेगरंगशाला, गाथा - १५२०/१५२१.

१. लोक-निन्दित व्यापार का त्याग २. कालुष्यरहित सद्धर्म-क्रिया का परिपालन ३. लोकप्रिय व्यवहार (मार्गानुसारिका) ४. ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध जनों की सेवा ५. शास्त्र का अभ्यास ६. परोपकार की वृत्ति ७. गुणीजनों की प्रशंसा ८. दाक्षिण्यपरायणता ९. गुणों के प्रति अनुराग १०. उत्सुकता या चंचलता का त्याग ११. अक्षुद्रपना, अर्थात् उदार दृष्टिकोण १२. परलोकभीरुता १३. क्रोध का परिहार १४. देव-गुरु और अतिथि की पूजा १५. पक्षपात बिना न्याय का पालन १६. दुराग्रह का त्याग १७. दूसरों के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार १८. संकट के समय में धैर्य १९. सम्पत्ति की उपलब्धि में भी निरभिमानता २०. स्वयं के गुण की प्रशंसा सुनने में लज्जा का अनुभव करना २१. न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से धनार्जन करना २२. लज्जाशीलता २३. दीर्घदर्शिता २४. उत्तम पुरुषों के मार्ग का अनुसरण २५. प्रतिज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन २६. सद्गुणों का सतत अभ्यास २७. लोकहित की भावना २८. विनम्रता २९. हितोपदेश का आदरपूर्वक स्वीकार करना ३०. देव-गुरु-धर्म का अवर्णवाद नहीं करना ३१. लोक एवं परलोक में कल्याणकारी गुणों को स्वीकार करना।

इन गुणों के निर्देश के पश्चात् संवेगरंगशाला में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति इन सामान्य गुणों के परिपालन में भी असमर्थता का अनुभव करता है, वह विशेष गुणों का परिपालन कैसे कर पाएगा? जो व्यक्ति सरसों के पौधे को उखाड़ने में भी कठिनाई का अनुभव करता है, वह पर्वत को कैसे उखाड़ पाएगा।⁸³ इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे संवेगरंगशाला में पैतृस मार्गानुसारी गुणों का, अथवा इक्कीस श्रावक के गुणों का स्पष्ट रूप से कोई वर्णन नहीं है, फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में ग्रन्थकार ने उन सभी योग्यताओं का निर्देश किया है, जो एक श्रावक के लिए परिपालनीय हैं, साथ ही हम यह भी देखते हैं कि जिनचन्द्र द्वारा वर्णित इन गुणों में पूर्वोक्त सभी गुण समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार श्रावक के मार्गानुसारी गुणों के सम्बन्ध में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कृति में अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

श्रावक के षटावश्यक कर्तव्य :-

जैन-ग्रन्थों में श्रावक के षटावश्यक-कर्तव्यों का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में हमें दो परम्पराएँ मिलती हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार निम्न षटावश्यक को ही श्रावक के षट् कर्तव्य माना गया है - १. सामायिक २.

⁸³ संवेगरंगशाला, गाथा - १५२०/१५२१.

चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान,⁸⁴ किन्तु परवर्ती जैन-आचार्यों ने श्रावक के षट् कर्तव्यों का उल्लेख किंचित् भिन्न प्रकार से किया है, उनके अनुसार षट् कर्तव्य निम्न हैं - १. देवपूजा २. गुरु सेवा ३. स्वाध्याय ४. संयम ५. तप और ६. दान।⁸⁵ जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, इसमें इस प्रकार से श्रावक के षटावश्यकों या षट्कर्तव्यों का उल्लेख तो हमें नहीं मिलता है, किन्तु श्रावक को अपने स्वोपार्जित धन का उपयोग किन क्षेत्रों में करना चाहिए, इसकी चर्चा के प्रसंग में निम्न दस स्थानों का वर्णन किया गया है - १. जिनभवन का निर्माण २. जिनबिम्ब का निर्माण ३. जिनपूजा ४. जिनागम संरक्षण ५. साधुवर्ग की सेवा ६. साध्वीवर्ग की सेवा ७. श्रावकवर्ग की सेवा ८. श्राविकावर्ग की सेवा ९. पौषधशाला निर्माण एवं १०. जिनदर्शन की प्रभावना।

चाहे श्रावक के षट्कर्तव्यों का निर्देश संवेगरंगशाला में एक स्थान पर उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु विभिन्न प्रसंगों में जिनपूजा, गुरुजनों की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान के उल्लेख हमें प्रकीर्ण रूप से मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ- श्रावक को स्वद्रव्य के व्यय करने के लिए जो दस स्थान बताए गए हैं, उनमें जिनपूजा और गुरुजनों की सेवा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार जिन-आगम-संरक्षण की चर्चा के प्रसंग में स्वाध्याय करने और करवाने का निर्देश भी उपलब्ध होता है। संयम और तप के उल्लेख तो समाधिमरण ग्रहण करने की पूर्व भूमिका के रूप में प्राप्त होते ही हैं, जहाँ तक दान का प्रश्न है, दान के दस क्षेत्रों के उल्लेख में इसका निर्देश हुआ ही है। मात्र यही नहीं, श्रावक की दिनचर्या के उल्लेख में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि वह किस प्रकार प्रार्थना करके मुनिजनों को आहार दान करे। इसी प्रकार प्रथम परिकर्मद्वार के अनियतविहार नामक उपद्वार में मुनिजनों को किस प्रकार वसति प्रदान करना चाहिए, इसका भी उल्लेख है, साथ ही मुनिजनों को वसति, अर्थात् रहने का स्थान प्रदान करने के क्या लाभ हैं, इसकी चर्चा भी गाथा क्रमांक २२३० से लेकर २३१० तक की गई है और फिर वसति-दान के सम्बन्ध में कुत्सचन्द्र की कथा भी प्रस्तुत की गई है।

पुनः, समाधि की आराधना के प्रसंग में संयम और तप की साधना का स्पष्ट निर्देश भी मिलता है। इस प्रकार संवेगरंगशाला में प्रकारान्तर से षट् कर्तव्यों का उल्लेख मिल जाता है।

⁸⁴ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ.-३१६

⁸⁵ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ.-३६२

संवेगरंगशाला में दान के प्रसंग में दान के जिन दस क्षेत्रों का उल्लेख हमें मिलता है, आगे हम उन पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

श्रावक के दान के दस क्षेत्र⁸⁶ :-

१. जिनमन्दिर :- संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में कहा गया है कि विहार करते हुए, अथवा तीर्थयात्रा हेतु परिभ्रमण करते हुए जब मुनि, अथवा गृहस्थ श्रावक गाँव या नगर में प्रवेश करते हैं, तब स्थिरता से पहले चैत्यवन्दन-विधि आदि करें, फिर जिनमन्दिर में कोई टूट-फूट तो नहीं है, उसका निरीक्षण करें, अथवा स्थिरता के अभाव में संक्षिप्त विधि से दर्शन करके, मन्दिर के उस टूटे हिस्से को देखें, यदि विशेष टूटा-फूटा हो, तो उसके सम्बन्ध में मुनीम आदि से कहें। मुनि भी मन्दिर सम्बन्धी उपदेश देकर उसके सुधार के लिए यथायोग्य चिन्ता रखें। इसमें आगे ग्रन्थकार का कहना है कि स्वदेश अथवा किसी देश में श्रावकों का अभाव हो, अथवा उनकी परिस्थिति कमजोर हो, ऐसे गाँव या नगर में जिनमन्दिर जीर्णशीर्ण हो गया हो, दीवार या सन्धिस्थान टूट गया हो या दरवाजे, देहली आदि क्षीण हो गए हों, ऐसा कहीं पर भी देखकर, अथवा अन्य के मुख से सुनकर श्रावक यह विचार करता है कि अवश्य किसी पुण्यशाली गृहस्थ ने इस जिनमन्दिर का निर्माण कराया है, किन्तु खेदजनक बात यह है कि कालक्रम में यह जीर्णशीर्ण हो गया है, अतः इसका जीर्णोद्धार करूँ, क्योंकि संसार की सर्व वस्तु नाशवान् है, अतः इसे पूरा तोड़कर पुनः नए रूप में तैयार कराऊँ। ऐसा करने से यह मन्दिर संसाररूपी गर्त में गिरने वालों के लिए हस्तावलम्बन जैसा बनेगा। ऐसा विचार कर, शक्ति हो, तो स्वयं तैयार करें, अन्यथा अन्य श्रावकों को कहें, इस तरह के श्रावक भी खर्च करने में असमर्थ हों, तो ऐसे समय में मन्दिर के साधारण खाते के द्रव्य का उपयोग करके भी मन्दिर का जीर्णोद्धार करें। इस ग्रन्थ में श्रावक साधारण द्रव्य को अन्य स्थान पर खर्च न करके, उस द्रव्य के खर्च से मात्र जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार करें, ऐसा उल्लेख है, क्योंकि साधारण द्रव्य से भी किए गए जीर्णोद्धार के पश्चात् जिनमन्दिर के दर्शन, वन्दन से सम्यक्त्वी जीव को बोधिलाभ होता है। साथ ही संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि यद्यपि जिनमन्दिर के निर्माण में निश्चय ही पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा होती है, तो भी सम्यग्दृष्टि जीवों को नियम से उस विषय में हिंसा का परिणाम नहीं होता है, परन्तु अनुकम्पा (भक्ति) का परिणाम होता है। जिनमन्दिर के निर्माण, अथवा जीर्णोद्धार करवाने से उसके दर्शन, वन्दन करनेवाले जीव बोध को प्राप्त करते हैं तथा सर्वविरतिचारित्र ग्रहण कर पृथ्वीकाय आदि

⁸⁶ संवेगरंगशाला, भाषा - २८०७-२६३०.

जीवों की रक्षा करते हैं और अन्त में सम्यक् चरित्र के पालन से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस तरह अनन्तकाल तक संसारी जीवों को दुःख या कष्ट नहीं देते हैं। इस प्रकार जिनमन्दिर के निर्माण से अहिंसा की सिद्धि होती है।⁸⁷

२. जिनबिम्ब :- पूर्वोक्त विधि के अनुसार गृहस्थ किसी गाँव में प्रवेश करता है, तो वह वहाँ के भव्य जिनालयों को देखकर जिनदर्शन हेतु मन्दिर के अन्दर प्रवेश करता है, किन्तु जब भीतर जाने पर जिनबिम्ब अथवा जिनप्रतिमा नहीं हो या किसी ने उस प्रतिमा का हरण कर लिया हो, अथवा वह प्रतिमा खण्डित हो गई हो, तो श्रावक स्वद्रव्य से जिनप्रतिमा भराए, अर्थात् तैयार करवाए। पूर्व में बताई विधि अनुसार स्वयं अथवा अन्य की शक्ति के अभाव में साधारण द्रव्य से भी जिनबिम्ब तैयार करवाए एवं जिनमन्दिर में उन्हें उचित विधि से प्रतिष्ठित करे, क्योंकि भव्य जीव उन जिन प्रतिमाओं के दर्शन से बोधि को प्राप्त करते हैं एवं दीक्षा स्वीकार कर अन्य जीवों पर करुणा व वात्सल्य भाव रखते हुए उनकी रक्षा करते हैं। संवेगरंगशाला में साथ ही यह भी कहा गया है कि किसी गाँव में जिनमन्दिर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, किन्तु जिनप्रतिमा सर्वांग सुन्दरदर्शनीय हो, तो उस गाँव के जिनमन्दिर में से जिनबिम्ब का उत्थापन करके, से अन्य गाँव के मन्दिर में लाकर प्रतिष्ठित करें। इस तरह स्थानान्तर करने में जिन सामग्रियों की आवश्यकता पड़ती है, उन सामग्रियों के लिए स्वद्रव्य का व्यय करें। स्वद्रव्य के अभाव में अन्य के पास प्रार्थना करें। इस तरह दूसरे के पास भी धन का अभाव होने पर ही साधारण द्रव्य का उपयोग करें। ऐसा करने से बोधिलाभ होता है।

३. जिनपूजा-द्वार :- जिस क्षेत्र में शिष्टाचार आदि गुणों से युक्त पुरुष रहते हों एवं वहाँ के दिव्य जिनालय में भव्य जिनप्रतिमाएँ दोष से रहित हों, किन्तु जिन-पूजा करने वाले एवं जिनपूजा की सामग्री का अभाव हो, तो पूर्व में कही विधि अनुसार श्रावक स्वद्रव्य से पूजा की सामग्री की व्यवस्था करे अथवा स्वद्रव्य की अल्पता में अन्य श्रावकगण से उचित सामग्री की व्यवस्था के लिए कहे।

प्रस्तुत कृति में यह उल्लेख किया गया है कि श्रावक स्वयं जिनमन्दिर को अव्यवस्थित देखता है, अथवा अन्य के द्वारा सुनता है, तो गाँव के लोगों को एकत्रित करके मधुर वचनों से उन्हें समझाए कि आप लोग महान् भाग्यशाली व पुण्यशाली हो, जिससे आपके गाँव में इन्द्रभवन के सदृश भव्य जिनालय है, जिसमें दिव्य जिनप्रतिमाओं के दुर्लभ दर्शन प्राप्त होते हैं। ये जिनदेव वन्दनीय एवं पूजनीय हैं, तो फिर यहाँ जिनपूजा क्यों नहीं होती है। तुम सबको जिनपूजा अवश्य करना

चाहिए, इत्यादि मीठे वचनों से (अच्छे से) समझाने पर भी वे नहीं मानते हैं, तो श्रावक को अपने धन से पूजा, धूप, दीप, आदि करने के लिए किसी माली आदि की व्यवस्था करना चाहिए। स्वद्रव्य के अभाव में अन्य से एवं अन्य भी ये काम करने में असमर्थ हों, तो साधारण द्रव्य लेकर भी जिनमन्दिर में पूजा, प्रक्षाल आदि करने वाले की व्यवस्था करे। ऐसा करने से श्रावक स्वदेश में सबका अनुरागी होता है तथा जिनशासन की व जिनेश्वरदेव की पूजा-प्रभावना में अतिशय वृद्धि होती है एवं जीव सुलभबोधि को प्राप्त करता है।

४. जिनागम-संरक्षण :- इसमें कहा गया है कि जब श्रावक अपने जैन-शास्त्रों को नाश होते देखता है, तब उनमें से जो आगम गूढ़ अर्थ वाले हों, अनुयोग के हेतु उपयोगी हों, निमित्तशास्त्र एवं ज्योतिषशास्त्र आदि से सम्बन्धित हों, उन ग्रन्थों व आगमों को उसे स्वयं लिखना चाहिए, यदि उन ग्रन्थों को स्वयं लिखने में असमर्थ हो एवं दूसरे भी लिखने में असमर्थता व्यक्त करते हों, तो ज्ञान की वृद्धि के लिए साधारण द्रव्य देकर भी दूसरों से लिखवाना चाहिए। उन ग्रन्थों को ताड़पत्र पर व्यवस्थित रूप से तीन, चार या अधिक पंक्तियों में लिखवाकर, ज्ञानवृद्ध पुरुषों को समर्पित करे, अथवा किसी योग्य क्षेत्र को जानकर उस संघ को समर्पण करे अथवा कुशल प्रतिभाशाली मुनिराज को देकर उनके पास से शास्त्रों का श्रवण करे अथवा स्वयं पढ़े।

इस तरह आगमों को नष्ट होते हुए बचाने से मिथ्यात्वदर्शनवालों द्वारा शासन का पराभव होने से रोक सकते हैं। प्राचीन ग्रन्थों का संशोधन करने से जैन शासन की रक्षा होती है, भव्य जीवों पर अनुकम्पा (भक्ति) होती है एवं जीवों को अभयदान मिलता है। संसारी जीवों द्वारा जो भी उपकार या पुण्यकार्य किया जाता है, वह सब शास्त्रों के अध्ययन व श्रवण का ही परिणाम है, अतः गृहस्थ श्रावक को जिनागम संशोधन के लिए यथाशक्ति प्रवृत्ति करना चाहिए।

५. मुनिजनों की सेवा :- प्रस्तुत कृति में यह उल्लेख किया गया है कि संयम निर्वाह के लिए मुनि श्रावक से आहार, वस्त्र, आसन, पात्र, औषध, आदि वस्तुएँ नौ कोटि से विशुद्ध होने पर ही ग्रहण करता है, अर्थात् स्वयं सचित्त वस्तु को अचित्त नहीं करना, किसी वस्तु को नहीं खरीदना एवं नहीं पकाना, ऐसे न स्वयं करना न दूसरों से करवाना एवं न करते हुए का अनुमोदन करना। श्रावक को भी नौ कोटि से शुद्ध वस्तुएँ देना चाहिए। प्रस्तुत कृति में यह प्रश्न किया गया है कि संयम की पुष्टि के लिए ही जो साधु को दान देता है, तो उनके लिए पृथ्वीकाय आदि की हिंसा करना, यह कैसे योग्य गिना जाता है? इसके लिए दिनचर्या श्राद्धविधि में कहा गया है कि संयम निर्वाह में यदि रुकावट व बाधा

उत्पन्न नहीं होती है, फिर भी मुनि दूषित वस्तु का सेवन करता है, तो वह लेनेवाले एवं देनेवाले- दोनों के लिए अहितकर है, किन्तु संयमी-जीवन का निर्वाह करना दुष्कर हो गया हो, तब ऐसी वस्तु लेनेवाले एवं देनेवाले- दोनों के लिए हितकारी सिद्ध होती है।

इन अपवाद की स्थितियों का उल्लेख करते हुए संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जब दुष्काल पड़ गया हो, वस्त्र आदि को लुटेरे लूट कर ले गए हों तथा अन्य अपवादमार्ग में सर्वप्रयत्न करने पर भी निर्दोष वस्त्र, आसन, औषध, आदि की प्राप्ति न होती हो, तो श्रावक को स्वधन का सद्व्यय करते हुए साधु को वस्तु आदि खरीद कर देना चाहिए तथा आहार भी तैयार करके दान करना चाहिए। श्रावक भी स्वधन के अभाव में ही दूसरों को कहे तथा दूसरे भी शक्ति सम्पन्न न हों, तो ऐसे समय में साधारण द्रव्य का उपयोग लेकर भी साधु की सेवा करें। इसी तरह साधु को भी चाहिए कि वह इन दूषित आहार, वस्त्र, आदि को अनादरपूर्वक (उदासीनता से) स्वीकार करें।

इस तरह जिनेश्वर भगवान् ने एकान्तः कोई आज्ञा प्रदान नहीं की है और एकान्तः कोई निषेध भी नहीं किया है। उनकी आज्ञा के अनुसार प्रत्येक कार्य में सत्यता का पालन करना एवं माया नहीं करना है। इस ग्रन्थ में उत्सर्ग-मार्ग को राजमार्ग कहा है एवं अपवाद को उसका ही प्रतिपक्षी कहा है, क्योंकि जितने उत्सर्ग-मार्ग हैं, उतने ही अपवाद-मार्ग हैं, जितने अपवाद-मार्ग हैं, उतने ही उत्सर्ग-मार्ग हैं।

६. साध्वीवर्ग की सेवा :- संवेगरंगशाला के साधुद्वार में जिन बातों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं बातों को साध्वी के विषय में भी समझना चाहिए, ऐसा ग्रन्थकार का उल्लेख है। इसमें साध्वियों को परिपक्व (पके हुए) एवं स्वादिष्ट फलों से भरे हुए बेर के वृक्ष के समान कहा है, क्योंकि वे नौ गुप्ति बाढ़ द्वारा सुरक्षा कवच से घेरी हुई होने पर भी स्वभाव से ही सर्वभोग्य होती हैं, इसलिए श्रावक को सदैव साध्वियों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए। किसी शत्रु के द्वारा, अथवा दुराचारी पुरुष के द्वारा उन पर दुराचार किया जाता हो, तो सर्वप्रथम अपने द्रव्य से, अन्यथा दूसरे के द्रव्य से तथा इनके अभाव में साधारण द्रव्य का खर्च करके भी संयम में विघ्न उत्पन्न करने वाले निमित्तों का नाश करना चाहिए एवं संयम की रक्षा करना चाहिए।

७. श्रावकों की सेवा :- आराधक को साधर्मिक बन्धुओं की सेवा करना चाहिए। जिन धर्मानुरागी श्रावकों के पास आजीविका के लिए सम्पत्ति का अभाव है, किन्तु वह व्यापार में कुशल हो, सप्तदुर्व्यसनों से दूर रहता हो, दाक्षिण्य आदि श्रेष्ठ गुण

वाला हो, विनयगुण से सम्पन्न हो तथा धन का सद्व्यय करनेवाला हो, तो श्रावक को ऐसे साधर्मिक भाई की सहायता करना चाहिए। श्रावक पहले अपने धन से उसकी आजीविका सम्बन्धी व्यवस्था करे, अथवा स्वधन के अभाव में साधारण द्रव्य से भी व्यापार के लिए उसे पूंजी दे। यदि वह व्यापार कला में अकुशल हो, तो उसे उसकी आवश्यकता से आधा या चौथा भाग आदि आजीविका के लिए दे। इनसे विपरीत गुणवाले साधर्मिक की सेवा करने से लोगों में स्वयं की तथा शासन की निन्दा होने की सम्भावना होती है।

८. श्राविकाओं की सेवा :- संवेगरंगशाला में श्रावकद्वार की तरह ही श्राविका-द्वार का भी निर्देश किया गया है। साध्वीद्वार में साध्वी की सुरक्षा हेतु श्रावक का जो कर्तव्य होता है, वही कर्तव्य यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसी प्रसंग पर यहाँ साधर्मिक के प्रति श्रावक का कैसा व्यवहार होना चाहिए, उसका वर्णन भी किया गया है - श्रावक को स्वजन-परजन, अथवा स्वजाति, कुल का भेदभाव छोड़कर अपने साथ में धर्मक्रिया करनेवालों को, ये मेरे धर्मबन्धु हैं - ऐसा मानना चाहिए तथा धार्मिक अनुष्ठानों, पुत्र-जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, आदि में उनको स्मरणपूर्वक आमन्त्रित करना चाहिए। उनके प्रति स्वामीवात्सल्य भाव रखे, उनको देखते ही मधुर वार्तालाप से सकुशल आदि पूछे, पश्चात् सुपारी आदि देकर सत्कार करे, इस प्रकार रोग आदि में औषध देकर सेवा करे, अंगमर्दन करे, विश्रान्ति दे, उनके सुख में अपने को सुखी माने तथा उनके दुःख में स्वयं को दुःखी माने। उनके गुणों की प्रशंसा करे, कमजोर परिस्थिति हो, तो व्यापार में जोड़े, धर्मकार्य में स्मरण करे, दोषों का सेवन करते हों, तो मधुर वचनों से समझाए, नहीं मानने पर कठोर वचनों से भी बारम्बार सत्कार्य करने की प्रेरणा दे एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य में सम्यक् रूप से स्थिर करे। इस तरह अनेक प्रकार से साधर्मिकवात्सल्य करने से श्रावक अवश्यमेव इस जगत् में जिनशासन की वृद्धि या प्रभावना करने वाला होता है, इसलिए श्रावक को यथाशक्ति साधर्मिकवात्सल्य करने के लिए प्रवृत्ति करना चाहिए।

९. पौषधशाला-निर्माण :- इसमें ग्रन्थकार का कहना है कि किसी समृद्धशाली गाँव, नगर, आदि में पौषधशाला जर्जरित हो गई हो एवं वहाँ के श्रावकवर्ग परम श्रद्धावन्त, पापभीरु एवं धर्मानुरागी हों, लाभान्तराय के कारण जीवन-गाड़ी मुश्किल से चलती हो, तब उन उत्तम सदाचारी पुरुषों की पौषधशाला के उद्धार करने की इच्छा होने पर भी असमर्थतावश उद्धार नहीं कर पाते हों, तो पहले श्रावक स्वयं समर्थ हो, तो स्वयं, अन्यथा उपदेश देकर अन्य के द्वारा उसका उद्धार कराए,

और दोनों ही उद्धार कराने में असमर्थ हों, तो साधारण द्रव्य लेकर भी उस पौषधशाला का उद्धार करवाए।

इस तरह जो पौषधशाला का उद्धार कराता है, वह धन्य पुरुष दूसरों की सत्प्रवृत्तियों का कारणभूत बनता है। पौषधशाला में श्रावकवर्ग सामायिक आदि क्रिया संवेगपूर्वक करते हैं तथा ध्यान, स्वाध्याय, आदि करते हुए बोधिबीज को प्राप्त करते हैं; इससे तीर्थ की प्रभावना, गुणानुरागी को गुण की प्राप्ति, धर्म की रक्षा, अभयदान की घोषणा, आदि का लाभ पौषधशाला का उद्धार करानेवाले को मिलता है, क्योंकि वहाँ जो प्रतिबोध प्राप्त करेंगे, वे अवश्य मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। इस कारण पौषधशाला उद्धार कराने में भी भविष्य में होने वाली हिंसा से अन्य जीवों का रक्षण होता है।

यद्यपि उपासकदशांग में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिंह, आनन्द, आदि प्रत्येक श्रावक के घर में पौषधशालाएँ होती थीं, किन्तु अनेक के बीच, अर्थात् एक संघ में एक पौषधशाला होने से दोष नहीं है, क्योंकि एक पौषधशाला में परस्पर मिलकर धर्मक्रिया करने से तथा विनयादि आचरण करने से विशेष लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे- परस्पर विनय करना, सारणा-वारणादि करना, धर्मकथा, वाचना, पृच्छना, आदिरूप स्वाध्याय करना, धर्मबन्धुजनों की सुख-साता पूछना, सूत्र-अर्थ एवं तदुभय का परस्पर पूछना, सुनना, नई-पुरानी सामाचारी को समझना, आदि अनेक लाभ पौषधशाला में धर्मानुष्ठान करने से होते हैं। व्यवहारसूत्र में राजपुत्रादि को भी पौषधशाला में धर्मप्रसंग आदि करने के उल्लेख हैं, अतः उत्तम श्रावकों को भी सद्धर्म करने के लिए निश्चय से सर्वसाधारण के लिए एक पौषधशाला बनाना योग्य है।

१०. जैनधर्म की प्रभावना :- श्रावक को अपने अर्जित द्रव्य का किन-किन कार्यों में व्यय करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए जिनचन्द्रसूरि ने जो दस स्थान बताए हैं, उनमें दसवाँ स्थान दर्शनकार्य का है। दर्शनकार्य का तात्पर्य जैनदर्शन की प्रभावना और उसके ऊपर आई विपत्तियों के निराकरण में अपने स्वद्रव्य का व्यय करने से है। उन्होंने सर्वप्रथम दर्शनकार्य को दो भागों में विभाजित किया - १. प्रशस्त और २. अप्रशस्त। जिनसे जैनदर्शन की कीर्ति धूमिल होती हो, वे सभी कार्य अप्रशस्त दर्शनकार्य हैं और जिनके माध्यम से जैनदर्शन की महत्ता संसार में वृद्धि को प्राप्त होती है, वे प्रशस्त दर्शनकार्य हैं। आचार्य जिनचन्द्रसूरि कहते हैं कि जिसके करने से इस लोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति की प्राप्ति हो, वही प्रशस्त दर्शनकार्य है। सामान्य रूप से जिनके द्वारा चैत्य (जिनमन्दिर) कुल, गण, चतुर्विधसंघ, आचार्य, प्रवचन और श्रुत

की प्रभावना होती हो, वे सभी कार्य श्रावक के लिये निज द्रव्य व्यय करके करणीय माने गए हैं। कहा गया है कि जो श्रावक अपनी क्षमता के अनुरूप जिनशासन की प्रभावना के लिए द्रव्य का व्यय नहीं करता है, वह जिनप्रवचन का वंचक, अर्थात् द्रोही माना जाता है, क्योंकि वह वस्तुतः जिनशासन के विच्छेद की इच्छा रखनेवाला है, अतः गृहस्थ आराधक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप जिनप्रवचन की प्रभावना के लिए द्रव्य का व्यय करे। इस प्रकार संवेगरंगशाला में गृहस्थ को अपने सद्द्रव्य का व्यय करने हेतु दस स्थानों का उल्लेख लगभग १३० गाथाओं में अति विस्तार से किया गया है।

श्रावक के व्रत :-

संवेगरंगशाला में दर्शनप्रतिमा के पश्चात् व्रतप्रतिमा का उल्लेख मिलता है। उसमें व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत प्राणीवध, असत्य भाषण, अदत्त-ग्रहण, अब्रह्म-सेवन और परिग्रह-इन पाँच व्रतों का उल्लेख हुआ है।⁸⁸ संवेगरंगशाला में तीन गुणव्रतों, अर्थात् दिशापरिमाण, उपभोग-परिभोगपरिमाण और अनर्थदण्ड-विरमण-इन तीन गुणव्रतों का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त चार शिक्षाव्रतों में, संवेगरंगशाला में तीसरी प्रतिमा के रूप में सामायिकप्रतिमा और चौथी प्रतिमा के रूप में पौषधप्रतिमा का उल्लेख हुआ है, किन्तु देशावकाशिक-व्रत का उल्लेख नहीं है। यद्यपि प्रतिमाओं की इस चर्चा के संदर्भ में अतिथिसंविभागव्रत का भी उल्लेख नहीं है, किन्तु श्रावक के दान-कर्त्तव्य के अन्तर्गत मुनि को आहार-दान, वसतिदान, आदि का उल्लेख होने से तथा सद्द्रव्य के व्यय करने के दस स्थानों में मुनि को वस्त्र, औषधि, आदि प्रदान करने के उल्लेख से हम यह मान सकते हैं कि चाहे जिनचन्द्रसूरि ने अलग से इन व्रतों का उल्लेख न किया हो, किन्तु उन्हें श्रावक के द्वारा इन व्रतों का पालन अभिप्रेत है। पुनः, यहाँ गाथा क्रमांक २७३७ में इन व्रतों के बन्ध आदि अतिचारों का संकेत हुआ है। यद्यपि यहाँ सभी अतिचारों का कोई उल्लेख नहीं है, फिर भी इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि जिनचन्द्रसूरि की दृष्टि में श्रावक व्रतों का निरतिचार पालन करे, यह अभिप्रेत रहा है। चाहे संवेगरंगशाला में श्रावक के बारह व्रतों का सुस्पष्ट विवेचन अनुपलब्ध है, किन्तु जिनचन्द्रसूरि ने यहाँ उनका संकेत तो अवश्य ही किया है, अतः अग्रिम पृष्ठों में हम श्रावक के पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का उनके अतिचारोंसहित मात्र संक्षेप में निर्देश करेंगे।

⁸⁸ संवेगरंगशाला, गाथा २७३६.

जैनधर्म में श्रावक एवं श्रमण-दोनों की साधना का विस्तार से निरूपण है। श्रावकधर्म को संयतासंयत, देशविरति और देशचारित्र कहा है। श्रावक गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करता हुआ अणुव्रतरूप एकदेशीय व्रतों का पालन करता है। साधक का एक ही लक्ष्य होता है- हिंसा आदि से बचने का। श्रमण और श्रावक- इसी प्रगति की दो कक्षाएँ हैं। साधु अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, किन्तु गृहस्थ साधक अपनी मर्यादा निश्चित करता है। उस मर्यादा को संकुचित करना उसकी इच्छा पर निर्भर है, पर मर्यादा से अतिक्रमण करने पर अथवा उसका उल्लंघन करने पर व्रतभंग हो जाता है। इस प्रकार जिन दोषों से व्रत टूटने की सम्भावना बनी रहती है, उनका ही यहाँ विवेचन किया गया है। श्रावक को इन्हें जानना चाहिए, परन्तु इनका आचरण नहीं करना चाहिए, इन सम्भावित दोषों को ही अतिचार कहा गया है। जैन आगम साहित्य में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बनाई गई हैं-

१. अतिक्रम - व्रत को उल्लंघन करने का मन में ज्ञात व अज्ञात रूप से विचार करना।

२. व्यतिक्रम - व्रत का उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति करना।

३. अतिचार - व्रत का आंशिक रूप से उल्लंघन करना।

४. अनाचार - व्रत को पूर्ण रूप से खण्डित करना।

अनजाने में लगे दोषों को अतिचार एवं जान-बूझकर व्रत भंग करने को अनाचार कहते हैं। श्रावक इन चार दोषों से अपने व्रतों की रक्षा करता है।

श्रावक के बारह व्रत :-

१. अहिंसा-अणुव्रत	२. सत्य-अणुव्रत	३. अचौर्य-अणुव्रत
४. स्वपत्नी-संतोषव्रत	५. परिग्रह-परिमाण-व्रत	६. दिक्-परिमाण-व्रत
७. उपभोग-परिमाण-व्रत	८. अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत	९. सामायिक-व्रत
१०. देशावकासिक-व्रत	११. पौषधोपवास-व्रत एवं	१२. अतिथि-संविभाग-व्रत।

१. अहिंसा-अणुव्रत :- जैनधर्म और दर्शन का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ है। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। आचार्य उमास्वाति ने हिंसा की परिभाषा

करते हुए लिखा है- “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा”, प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। मन-वचन और काया की प्रमादयुक्त प्रवृत्ति हिंसा है।⁸⁹

जैनशास्त्रों के अन्तर्गत दस प्रकार के प्राणों का उल्लेख हैं- पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण आघात और प्रतिबन्ध द्वारा दो प्रकार से होता है। दूसरों को ऐसी चोट पहुँचाना, जिससे दिखाई देना या सुनना बन्द हो जाए, ‘आघात’ है। दूसरों को देखने और सुनने से रोकना, उत्तकी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों में बाधा उपस्थित करना ‘प्रतिबन्ध’ है।

हिंसा दो प्रकार की है- स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म हिंसा है एवं त्रसजीवों की हिंसा स्थूल हिंसा है। श्रावक को सूक्ष्म हिंसा का व्रत (त्याग) नहीं होता है। वह केवल त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार श्रावक के अहिंसाव्रत में दो आगार (अपवाद) हैं- प्रथम अपराधी को दण्ड देने का एवं दूसरा जीवन निर्वाह के लिए सूक्ष्म हिंसा का। इन्हीं आगार के आधार से श्रावक को सागारी कहा जाता है एवं आगारों का अभाव होने से साधु को अणुगार कहा है।

उपासकदशासूत्र एवं स्थानांगसूत्र में गृहस्थ के प्रथम अहिंसा अणुव्रत को “स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत” कहा है। श्रावक तीन योग व दो करण से हिंसा का त्यागी होता है। विवेकपूर्ण सावधानी रखने पर भी यदि किसी प्राणी की हिंसा हो जाए, तो श्रावक का अहिंसा व्रत भंग नहीं होता।

जैन-आचार्यों ने हिंसा के संकल्पजा, आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी - ये चार भेद किए हैं। श्रावक इन चार हिंसाओं में से संकल्पजा-हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करता है, शेष तीन हिंसाओं को वह चाहते हुए भी त्याग नहीं सकता है, किन्तु उनकी मर्यादा कर सकता है। संवेगरंगशाला में भी छः काय जीवों की विराधना से व्रतभंग हुआ हो, तो आलोचना लेने का वर्णन है।⁹⁰

अहिंसा व्रत के मुख्य पाँच अतिचार :-

१. बन्धन :- प्राणियों को बन्धन में डालना। किसी को किसी प्रयोजन या हेतु से बाँधना अर्थबन्ध है, जैसे रुग्ण या पागल व्यक्ति को चिकित्सा आदि के लिए बाँधना। कलुषित भावना से बिना प्रयोजन बाँधना अनर्थबन्ध है, जो सर्वथा हिंसा है।

⁸⁹ तत्त्वार्थसूत्र ७/८. १.

⁹⁰ स्थानांगसूत्र ५/१/२.

२. वध :- अपने आश्रित व्यक्तियों को या अन्य प्राणियों को लकड़ी, चाबुक, पत्थर, आदि से मारना एवं किसी की लाचारी का अनावश्यक लाभ उठाना आदि वध है।

३. छविच्छेद :- किसी प्राणी के अंगों को काटना।

४. अतिभार :- बैल, ऊँट, घोड़ा, आदि पशुओं पर या अनुचर पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना, अथवा कार्य करवाना अतिभार है।⁹¹

५. भक्तपान-विच्छेद :- पशुओं या दासों को समय पर भोजन न देना, नौकर को समय पर वेतन न देना अन्नपान विच्छेद है। अहिंसा के उपासक को इन अतिचारों से सदा बचना चाहिए।

२. सत्याणुव्रत :- आचार्य उमास्वाती ने अनृत की व्याख्या करते हुए कहा है “असदभिधानं अनृतम्।”⁹² असदभिधान के तीन अर्थ हैं- १. असत्, अर्थात् जो बात नहीं है, उसको कहना। २. जैसी बात है, वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना। ३. असत्, बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। मानव अनेक कारणों से स्थूल असत्य का प्रयोग करता है। उपासकदशा एवं योगशास्त्र⁹³ में स्थूल असत्य के मुख्य पाँच भेदों का निर्देश है। वे निर्देश ये हैं- १. कन्या के सम्बन्ध में २. गाय (पशु) के सम्बन्ध में ३. भूमि के सम्बन्ध में ४. न्यास-धरोहर के सम्बन्ध में एवं ५. मिथ्या साक्ष्य देने के लिए असत्य का प्रयोग करना।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार या दोष :-

१. अविचारपूर्वक बोलना या मिथ्या दोषारोपण करना।

२. गोपनीयता भंग करना।

३. स्वपत्नी या मित्र के गुप्त रहस्यों को प्रकट करना।

४. मिथ्या उपदेश, अर्थात् लोगों को बहकाना।

५. कूटलेखकरण, अर्थात् झूठे दस्तावेज तैयार करना, नकली मुद्रा(मोहर) लगाना, या जाली हस्ताक्षर करना।

⁹¹ पुऽविदगाढग्रणिषवणे, वणे य पत्तेयऽणंतस्त्वम्पि, ब्रितिवउपचिदियगोय-र पि अद्यारम्भाऽऽलोए। सवेगरंगशाला, गाथा ३०३२.

⁹² तत्त्वार्थसूत्र ७/६,

⁹³ उपासकदशा १/१४, योगशास्त्र २५४/५५

३. अस्तेयानुव्रत :- इस व्रत में वस्तु के मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु आदि ग्रहण करने को वर्ज्य माना गया है। भोगों के प्रति आसक्ति के कारण मानव किसी दूसरे के घर में चोरी करता है, जेब काटता है, अतः गृहस्थ साधक को इस दूषित प्रवृत्ति से बचने के लिए अस्तेयव्रत की सुरक्षा के लिए अनावश्यक आवश्यकताओं को कम करने का निर्देश दिया गया है।

अस्तेयव्रत के पाँच अतिचार :-

१. चोरी की वस्तु खरीदना २. चौर्यकर्म में सहयोग देना

३. शासकीय नियमों का अतिक्रमण तथा कर-अपवंचन

४. माप-तौल की अप्रामाणिकता एवं ५. वस्तुओं में मिलावट करना।

४. स्वपत्नी-संतोष-व्रत :- ब्रह्मचर्य मानव जीवन के उत्थान का मेरुदण्ड है। मोक्षमार्ग की साधना के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक मानी गई है। गृहस्थोपासक की काम-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने हेतु इस व्रत का विधान किया गया है। इसमें गृहस्थ श्रावक परस्त्री के साथ सहवास का सर्वथा परित्याग करता है और स्वस्त्री के साथ भी काम-सेवन की मर्यादा निश्चित करता है। स्वदारा-संतोषव्रत में किसी भी प्रकार की स्वच्छन्दता नहीं होती है। साधक को अपने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विलासपूर्ण वस्त्र, आभूषण, मादक वस्तुओं, गरिष्ठ एवं तामसिक पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए।

स्वपत्नी-संतोषव्रत के पाँच अतिचार :-

१. अल्पवय की विवाहिता स्त्री से, अथवा समय-विशेष के लिए ग्रहण की गई स्त्री से, अर्थात् वेश्या आदि से सम्भोग करना।

२. अविवाहित स्त्री, जिसमें परस्त्री और वेश्या भी समाहित है, उससे यौन-सम्बन्ध स्थापित करना।

३. अप्राकृतिक साधनों से काम-वासना को सन्तुष्ट करना, जैसे-हस्त-मैथुन, गुदा-मैथुन, समलिंगी-मैथुन, आदि।

४. पर-विवाहकरण, अर्थात् स्वसंतान के अतिरिक्त दूसरों के विवाह-सम्बन्ध करवाना।

५. विषयभोग की तीव्र आसक्ति होना।

इन अतिचारों के सेवन से ब्रह्मचर्य दूषित होता है, अतः श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

५. परिग्रह-परिमाण-व्रत :- परिग्रह को पाप का मूल माना है, पर भ्रम से परिग्रह-पाप को पुण्य मान लिया जाता है। परिग्रह एक भयंकर पाप है, जो जीवन को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। एक परिग्रह के कारण अन्य अनेक पाप पनपते हैं। प्रश्नव्याकरण में स्पष्ट कहा है कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरियां करते हैं, मिलावट, धोखेबाजी करते हैं और दूसरों को अपमानित करते हैं। श्रावक पूर्ण रूप से परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। वह इन नौ प्रकार के परिग्रहों में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष समस्त वस्तुओं के ग्रहण व संग्रह का त्याग करता है। यही परिग्रह-परिमाण व्रत है।

परिग्रह-परिमाण-व्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं :-

१. क्षेत्रवास्तु-परिमाणातिक्रम	२. हिरण्य-सुवर्ण-परिमाणातिक्रम
३. द्विपद-चतुष्पद-परिमाणातिक्रम	४. धन-धान्य-परिमाणातिक्रम
५. कुप्य-परिमाणातिक्रम।	

मर्यादा से अधिक परिग्रह हो जाए, तो दानादि में उपयोग कर लेना चाहिए। इस व्रत को ग्रहण करने से जीवन में सादगी, मितव्ययिता और शान्ति अनुभव होती है।

गुणव्रतों का महत्व :- अणुव्रतों के विकास के लिए गुणव्रतों का विधान किया गया है।

१. दिशापरिमाण-व्रत २. उपभोग-परिभोगपरिमाण-व्रत एवं ३. अनर्धदण्ड-विरमण-व्रत। ये गुणव्रत मूल-गुणों की रक्षा करते हैं। अणुव्रत स्वर्ण के सदृश हैं, तो गुणव्रत स्वर्ण की चमक-दमक बढ़ाने के लिए पोलिश के सदृश हैं। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रत की सीमा में रही हुई मर्यादा को और अधिक संकुचित किया जाता है।

६. दिशापरिमाण व्रत :- पाँचवें गुणव्रत में सम्पत्ति आदि की मर्यादा की जाती है एवं प्रस्तुत व्रत में श्रावक सम्पत्ति प्राप्त करने की उन प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित करता है। वह यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है- “चारों दिशाओं में व ऊपर-नीचे निश्चित सीमा से आगे बढ़कर मैं किंचित् भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा।”

आचार्य हेमचन्द्र⁹⁴ ने कहा है कि जिस मानव ने दिग्ब्रत को धारण कर लिया है, उसने जगत् पर आक्रमण करने वाले लोभरूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया है।

दिशापरिमाण-व्रत के पाँच अतिचार :-

१. उर्ध्वदिशा-परिमाणातिक्रम	२. अधोदिशा-परिमाणातिक्रम
३. तिर्यक्दिशा-परिमाणातिक्रम	४. क्षेत्रवृद्धि एवं
५. स्मृतिभ्रंश।	

७. उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत :- जो वस्तु एक बार उपभोग में आती है, उसे उपभोग कहते हैं और पुनः-पुनः काम में आने वाली वस्तु परिभोग कहलाती है। उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा को निश्चित करना उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत है।

श्राद्धदिनचर्या⁹⁵ में इस व्रत के दो भेदों का उल्लेख है- १. भोजन-सम्बन्धी एवं २. कर्म-सम्बन्धी। भोजन के सम्बन्ध में गृहस्थ उपासक द्वारा बाईस अभक्ष्य, बत्तीस अनन्तकाय के त्याग का वर्णन है। इसमें यह कहा गया है कि जगत् में भोगोपभोग की वस्तुएँ अपरिमित हैं, अतः श्रावकों को उसका परिमाण करना चाहिए, उत्सर्ग-मार्ग से तो प्रभुशासन को समर्पित श्रावकों को अचित्तभोजी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता हो, तो अन्त में सचित्त आदि द्रव्य का परिमाण निर्धारित करना चाहिए। इसमें सामान्य रूप से श्रावक को निम्न चौदह नियम तो अवश्य करने का उल्लेख है- १. सचित्त २. द्रव्य ३. विकृति ४. उपासक ५. ताम्बू ६. वस्त्र ७. पुष्प ८. वाहन ९. शय्या १०. विलेपन ११. ब्रह्मचर्य १२. दिशागमन १३. स्नान और १४. भक्तपान। इन चौदह नियमों को धारण करने से निरुपयोगी भोग के अविरतिजन्य पाप से बचा जा सकता है।

उपासकदशांगसूत्र⁹⁶ के अनुसार गृहस्थ-साधक को उपभोग-परिभोग की निम्न वस्तुओं का परिमाण और प्रकार निश्चित करना होता है- १. उद्भद्रवणिका-विधि २. दन्तधावन-विधि ३. फल-विधि ४. अभ्यंगन-विधि ५. उद्वर्तन-विधि ६. स्नान-विधि ७. वस्त्र-विधि ८. विलेपन-विधि ९. पुष्प-विधि

⁹⁴ जगदाकृममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः। स्वल्पं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता। योगशास्त्र ३/३

⁹⁵ श्राद्धदिनचर्या ५४-६१.

⁹⁶ उपासकदशा १/२२-३८.

१०. आभरण-विधि ११. धूप-विधि १२. भोजन-विधि या पेय-विधि १३. भक्ष्य-विधि १४. ओदन-विधि १५. सूप-विधि १६. घृत-विधि १७. शाक-विधि १८. माधुर्य-विधि १९. जीमण-विधि २०. पानी-विधि २१. मुखवास-विधि। इसमें दस प्रकार के अन्नपानादि की भी मर्यादा करने का उल्लेख किया गया है।

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में द्रव्य-परिमाण की संख्या छब्बीस बताई गई है, जिसमें से २१ तो उपर्युक्त ही हैं एवं शेष पाँच निम्न हैं- १. वाहन २. उपानह ३. शय्यासन ४. सचित्त द्रव्य ५. द्रव्य।

इसके पाँच अतिचार :-

१. मर्यादा से अतिरिक्त सचित्त आहार करना।

२. सचित्त-अचित्त, ऐसी मिश्र वस्तु का आहार करना।

३. बिना पका हुआ आहार करना।

४. पूरी तरह नहीं पका हुआ आहार करना।

५. तुच्छ औषधिभक्षण- जो वस्तु कम खाई जाए और अधिक मात्रा में बाहर डाली जाए, ऐसी वस्तु का सेवन करना, जैसे- सीताफल, आदि।

उपासकदशा^{१७} में यह भी उल्लेखित है कि गृहस्थ उपासक को किन साधनों के द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करना चाहिए एवं किन साधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। इसमें पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों को गृहस्थ उपासक के लिए निषिद्ध बताया गया है, वे निम्न हैं- १. अंगार कर्म २. वन-कर्म ३. शकट-कर्म ४. भाटक-कर्म ५. स्फोटक-कर्म ६. दन्त-वाणिज्य ७. लाक्षा-वाणिज्य ८. रस-वाणिज्य ९. विष-वाणिज्य १०. केश-वाणिज्य ११. यन्त्रपीड़न-कर्म १२. निर्लाछन-कर्म १३. दावाग्निदापन १४. सर-द्रह-तडागशोषण-कर्म और १५. असतीजन-पोषण-कर्म।

इस प्रकार ये पन्द्रह कर्मादानरूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया व कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं।

८. अनर्थदण्ड-विमरण-व्रत :- आचार्य अभयदेव^{१८} ने अनर्थदण्ड के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन है। गृहस्थ अपने खेत,

^{१७} उपासकदशा १/३८.

^{१८} अर्थ प्रयोजनम्। गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु धन-धान्य शरीर परिपालनादि विषयं, तदर्थं आरम्भे भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो निग्रहो, यतना, विनाश इति पर्यायाः।

घर, धनधान्य की रक्षा तथा शरीर-पालन प्रभृति प्रवृत्तियाँ करता है। उन प्रवृत्तियों में आरम्भ द्वारा प्राणियों का जो उपमर्दन होता है, वह अनर्थदण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश- ये चारों शब्द एकार्थक हैं। अर्थदण्ड के विपरीत निष्प्रयोजन निरर्थक प्राणियों का विघात करना अनर्थदण्ड है।

आचार्य समन्तभद्र⁹⁹ ने अनर्थदण्डरूप प्रवृत्तियों के निम्न पाँच आधार-स्तम्भ बताए हैं- १. पापोपदेश २. हिंसादान ३. अपध्यान ४. प्रमादचर्या और ५. दुःश्रुति।

इस गुणव्रत के पाँच अतिचार :-

१. कंदर्प - कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना।
२. कौत्कुच्य - हाथ, मुँह, आँख, आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना।
३. मौखर्य - वाचाल बनना, बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना, अपनी शेखी बघारना।
४. संयुक्ताधिकरण - अनावश्यक रूप से हिंसा के साधनों का संग्रह करना और उन्हें दूसरों को देना।
५. उपभोग-परिभोगातिरेक - आवश्यकता से अधिक उपभोग की सामग्री का संचय करना।

इस तरह अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत और उसके दोषों के सन्दर्भ में चिन्तन करते हैं, तो वर्तमान युग में इसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। मानव-समाज में आज भी ये सभी चारित्रिक-विकृतियाँ विद्यमान हैं, अतः इन विकृतियों का परिमार्जन इस व्रत को ग्रहण करने से होता है, क्योंकि इस व्रत से श्रावक की मानसिक, वाचिक और कायिक- सभी प्रवृत्तियाँ विशुद्ध होती हैं, जिससे श्रावक सामायिक आदि सभी शिक्षाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

शिक्षाव्रत :- शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को जिन व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिए, उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं। वे व्रत कुछ समय के लिए ही होते हैं। उनके नाम निम्न हैं-

⁹⁹ अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः। - उपासकदशांग- टीका

१. सामायिक २. देशावकाशिक ३. पौषधोपवास और ४. अतिथि संविभाग।

६. सामायिक-व्रत :- सामायिक शिक्षाव्रत का प्रथम व्रत है, जिसके निरन्तर अभ्यास से साधक आत्म-विकास के चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। सामायिक समभाव की साधना है। सामायिक के दो प्रकार हैं- आगार सामायिक और अनगार-सामायिक। आगार-सामायिक, अर्थात् गृहस्थ की सामायिक, जो अल्पकालिक है। अनगार-सामायिक, अर्थात् श्रमण की सामायिक, जो जीवनपर्यन्त के लिए होती है। नियत समय तक हिंसादि पाप-प्रवृत्तियों को तीन योग व दो करण से करने का त्याग करना ही श्रावक का सामायिक-व्रत है।

सामायिक-व्रत के पाँच अतिचार :-

१. मनःदुष्प्रणिधान - सामायिक में मन में सांसारिक प्रपंचों की उधेड़बुन चलते रहना।

२. वचनदुष्प्रणिधान - सामायिक में वचन का दुरुपयोग करना, अपशब्दों का प्रयोग करना।

३. कायदुष्प्रणिधान - सामायिक में शरीर से सावध्य प्रवृत्ति करना, शरीर को बारम्बार हिलाना, प्रसारना, आदि।

४. स्मृत्यकरण - सामायिक की स्मृति न रखना।

५. अनवस्थितता - सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता से करना, विधि के अनुसार नहीं करना।

१०. देशावकाशिक-व्रत :- दिशापरिमाण व्रत में जीवन भर के लिए दसों दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घण्टों के लिए या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकाशिक-व्रत है।¹⁰⁰ दिग्परिमाण-व्रत एक वर्ष के लिए या चार मास के लिए भी किया जाता है। देशावकाशिक-व्रत प्रहर, मुहूर्त व दिन भर के लिए किया जाता है। क्षेत्र-मर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोगादिरूप अन्य मर्यादाओं को भी संकुचित करना ही इस व्रत में गर्भित है। श्राद्ध-दिनचर्या में जिन चौदह नियमों का उल्लेख मिलता है, उन्हीं चौदह नियमों का चिन्तन प्राचीन आचार्यों ने इस व्रत में किया है।

¹⁰⁰ योगशास्त्र, ३/८४.

देशावकाशिक-व्रत के पाँच अतिचार :-

१. आनयन-प्रयोग - अपने मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मंगवाना।
२. प्रेष्य-प्रयोग - मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।
३. शब्दानुपात - मर्यादित क्षेत्र के बाहर शब्द-संकेत से अपना कार्य करना।
४. रूपानुपात - मर्यादित क्षेत्र के बाहर रूप-संकेत (इशारे) आदि के द्वारा कार्य करवाना।
५. पुद्गल-प्रक्षेप - कंकर, पत्थर, आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

११. पौषधोपवास-व्रत :- यह व्रत मुख्य रूप से निवृत्तिपरक जीवन की साधना के निमित्त है। पौषध शब्द का अर्थ है- धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना। धर्मस्थान में निवास करते हुए उपवास करना, पौषधोपवास है। इसमें पौषध एवं उपवास- दो शब्दों का निर्देश है। उपासकदशांगसूत्र की टीका में पौषध शब्द का अर्थ अष्टमी, चतुर्दशी, आदि पर्वकाल किया है एवं उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग किया गया है। इस प्रकार पर्वकाल में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पौषध है। पौषध में आत्मचिन्तन, आत्मशोधन और आत्मविकास का पुरुषार्थ ही मुख्य रूप से किया जाता है। इस तरह आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध कहा जाता है।

पौषध-व्रत के पाँच अतिचार :-

१. पौषध-योग्य स्थान आदि का भली प्रकार से निरीक्षण न करना।
२. आसन, आदि का प्रमार्जन नहीं करना, अथवा असावधानी से प्रमार्जन करना।
३. मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।
४. मल-मूत्र त्यागने की भूमि को साफ किए बिना या प्रमार्जित किए बिना उसका उपयोग करना।
५. पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

१२. अतिथिसंविभाग व्रत :- अतिथि का अर्थ है- जिसके आने की कोई तिथि, दिन या समय नियत नहीं है। जो बिना सूचना के अनायास आ जाता है, वह अतिथि है। उस अतिथि के लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग है। इस दृष्टि से मुख्यतया साधु-साध्वी को ही अतिथि कहा जाता है, किन्तु श्रावकप्रज्ञप्ति में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका- इन चारों को अतिथि कहा गया है।^{१०१} इस व्रत में चारों बातों का ध्यान रखना आवश्यक है- विधि, द्रव्य, दाता एवं पात्र। जो दान इन चार विशेषताओं से युक्त है, वही श्रेष्ठ सुपात्र दान है। प्रस्तुत व्रत का उद्देश्य गृहस्थ में सेवा और दान की वृत्ति को जाग्रत करना है।

प्रस्तुत व्रत में यह फलित होता है कि गृहस्थ को अपने परिजनों की सेवा के साथ-साथ समाज व जिन-शासन का दायित्व भी सम्भालना होता है, यह व्रत गृहस्थ साधक को अपने दायित्व का बोध देता है कि उसे दीन-दुःखियों का यथोचित सत्कार करना चाहिए।

अतिथिसंविभाग के पाँच अतिचार :-

१. सचित्त-निक्षेपण - दान न देने की भावना से अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु का सम्मिश्रण कर देना।

२. सचित्तापिधान - अचित्त पदार्थ, जो श्रमण के ग्रहण करने योग्य है, उस पर सचित्त पदार्थ ढक देना।

३. कालातिक्रम - श्रमण की भिक्षा का समय व्यतीत हो जाने पर भोजन तैयार करना।

४. परव्यपदेश - न देने की इच्छा से या कृपणता के कारण अपनी वस्तु को दूसरे की बताना।

५. मात्सर्य - ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना।

इन अतिचारों में लोभवृत्ति, अहंकार, ईर्ष्या, और द्वेषवृत्ति रही हुई है, जिससे श्रावक का व्रत दूषित या भंग होता है। श्रावक को अत्यन्त उदार होना चाहिए। कोई भी अतिथि उसके द्वार से निराश और हताश होकर न लौटे, यह उसे ध्यान रखना चाहिए।

उपर्युक्त व्रत विवेचन में बहुत ही संक्षेप में व्रतों के स्वरूप, महत्व एवं उसमें लगने वाले दोषों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठकों

¹⁰¹ अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-७, पृ. ८१२

को श्रावक व्रतों का हार्द हृदयंगम हो सके। प्राचीन जैन मूर्खन्य मनीषी आचार्यों ने बहुत विस्तार से श्रावक व्रत के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ :

जैनधर्म-दर्शन में आराधना का महत्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। जैन-विचारणा में गृहस्थ-जीवन के आध्यात्मिक-विकास का सुन्दर चित्रण श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में उपलब्ध होता है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष है। नैतिक विकास के प्रत्येक चरण पर साधक द्वारा प्रकट किया हुआ दृढ़ निश्चय ही प्रतिमा कहा जाता है। श्रावक-प्रतिमाएँ गृही-जीवन में की जाने वाली साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक-प्रगति कर जीवन के परमादर्श 'स्वस्वरूप' को प्राप्त कर लेता है। श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जो साधक के उत्तरोत्तर नैतिक या आध्यात्मिक-विकास लिए हुए हैं। इसमें साधक पूर्व-पूर्व की भूमिकाओं से उत्तरोत्तर भूमिकाओं में प्रवेश करता जाता है। जैसे ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश करने वाले विद्यार्थी में दसवीं कक्षा की योग्यता होनी चाहिए, वैसे ही उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व के गुण समाविष्ट रहते हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में उपासक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में- १. उपासकदशांगसूत्र^{१०२} २. समवायांगसूत्र^{१०३} ३. दशाश्रुतस्कन्ध^{१०४} ४. पंचाशकप्रकरण,^{१०५} आदि ग्रन्थों में उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं की चर्चा की गई है। संवेगरंगशाला के अनुसार प्रतिमा का अर्थ व्रतविशेष या प्रतिज्ञाविशेष है। इसमें साधक श्रमण के सदृश विशेष व्रतों का पालन करता है। इस ग्रन्थ में मोह एवं राग के निवारण हेतु ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, वे निम्नानुसार हैं:- १. दर्शनप्रतिमा २. व्रतप्रतिमा ३. सामायिकप्रतिमा ४. पौषधप्रतिमा ५. प्रतिमाप्रतिमा ६. अब्रह्मवर्जनप्रतिमा ७. सचित्तत्यागप्रतिमा ८. आरम्भवर्जनप्रतिमा ९. प्रेष्यवर्जनप्रतिमा १०. उद्दिष्टवर्जनप्रतिमा और ११. श्रमणभूतप्रतिमा।^{१०६}

¹⁰² उपासकदशांगसूत्र १/६८, पृ. ११५-१२१ (हिन्दी टीका)।

¹⁰³ समवायांगसूत्र ११/१.

¹⁰⁴ दशाश्रुतस्कन्ध, पृ. ४०-४६.

¹⁰⁵ पंचाशकप्रकरण- १८/१०.

¹⁰⁶ संवेगरंगशाला, गाथा २६७७.

दिगम्बर-परम्परा में चारित्रप्राभृत,^{१०७} रत्नकरण्डकश्रावकाचार,^{१०८} वसुनन्दिश्रावकाचार,^{१०९} सागारधर्माभृत,^{११०} आदि ग्रन्थों में श्रावक की ग्यारह श्रेणियों का उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं :- १. दर्शन २. व्रत ३. सामायिक ४. पौषध ५. सचित्त-त्याग ६. रात्रि-भोजन एवं दिवामैथुन-विरति ७. ब्रह्मचर्य ८. आरम्भ-त्याग ९. परिग्रह-त्याग १०. अनुमति-त्याग और ११. उद्दिष्ट-त्याग।

इस तरह दोनों परम्पराओं में उपासक-प्रतिमाओं के नाम एवं क्रम में कुछ साम्य एवं कुछ अन्तर दृष्टिगत होता है, किन्तु दिगम्बर-आचार्यों में इनकी संख्या के सम्बन्ध में भी कुछ मतभेद हैं। स्वामी कार्तिकेय ने इनकी संख्या १२ मानी है। इसी प्रकार दोनों परम्पराओं में और भी महत्वपूर्ण अन्तर प्राप्त होते हैं, जिनका विवेचन डॉ. सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक “जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन” में विस्तार से किया है।^{१११}

१. दर्शन-प्रतिमा :- साधक को अध्यात्ममार्ग की यथार्थता के सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा होना ही दर्शन-प्रतिमा है। दर्शन का अर्थ ही दृष्टिकोण की विशुद्धता है। दृष्टिकोण की विशुद्धता कषाय की मन्दता बिना नहीं होती, अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषायों पर विजय प्राप्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है और तब ही हमारी प्रज्ञा सम्यक् रूप से कार्य कर सकती है। यह प्रतिमा सम्यग्दर्शन की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित है, जिसके आधार पर ही व्रतों का भव्य भवन खड़ा होता है। इस प्रतिमा में साधक क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चारों कषायों की तीव्रता को कम करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह गृहस्थ-धर्म की पहली भूमिका है। शुभ और अशुभ, अथवा धर्म और अधर्म के मध्य यथार्थ विवेक ही दर्शन या दृष्टिकोण की विशुद्धि का तात्पर्य है। इस अवस्था में शुभ एवं अशुभ का सही ज्ञान होता है, लेकिन उसके अनुसार आचरण करना उसके लिए जरूरी नहीं होता है।

संवेगरंगशाला के अनुसार वही पण्डित पुरुष है, जो सम्यक्त्व का निरतिचारपूर्वक पालन करता है। सम्यक्त्व ही गुणों का मूल है। इसके बिना की गई क्रिया ईश्वर के पुष्प के समान निष्फल है। क्रिया करने वाला सत्त्वशाली अन्धा व्यक्ति जैसे शत्रु को जीत नहीं सकता है, वैसे ही पाप कार्यों से निवृत्त परीषहों

^{१०७} चारित्रप्राभृत, गाथा २१-२२.

^{१०८} रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १३७-१४७.

^{१०९} वसुनन्दिश्रावकाचार - ४.

^{११०} सागारधर्माभृत, गाथा १७, पृ. ३२.

^{१११} वसुनन्दिश्रावकाचार की भूमिका, पृ. ५०, उद्धृत जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ. ३१८-३१९

और उपसर्गों को सहन करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।¹¹²

२. व्रत-प्रतिमा :- दर्शन-विशुद्धि के पश्चात् जब उपासक आगे बढ़ता है, तो उसे पाँच अणुव्रतों का आंशिक रूप में पालन करना होता है। संवेगरंगशाला के अनुसार गृहस्थ-जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - इन पाँच अणुव्रतों का निर्दोष रूप से पालन करना ही व्रत-प्रतिमा है। इस व्रत-प्रतिमा में साधक अणुव्रतों के अतिचारों से निवृत्त एवं सुविचारों में प्रवृत्त होकर सदैव शुभ अध्यवसायों में विचरण करता है। सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त होकर साधक व्रत-प्रतिमा में नैतिक आचरण की दिशा में आंशिक प्रयास प्रारम्भ करता है।¹¹³

व्रत-प्रतिमा के सम्बन्ध में कहीं पाँच अणुव्रतों का, तो कहीं बारह व्रतों का उल्लेख मिलता है। श्रमणसूत्र¹¹⁴ के अनुसार श्रावक इस प्रतिमा में पहली प्रतिमा का सम्यक् पालन करते हुए अतिचाररहित अणुव्रतों, अर्थात् श्रावक के व्रतों का भी पालन करता है।

३. सामायिक-प्रतिमा :- इसमें साधक अपने अपूर्व बल, वीर्य, उत्साह से पूर्व प्रतिमाओं का तो सम्यक् प्रकार से पालन करता ही है, साथ ही दिन में अनेक बार सामायिक की साधना करता है एवं देशावकाशिक-व्रत का भी पालन करता है। संवेगरंगशाला में सामायिक के पाँच गुण कहे गए हैं, वे निम्न हैं - १. उदासीनता, २. माध्यस्थ-भाव ३. संक्लेश की विशुद्धि ४. अनाकूलता और ५. असंगता।

१. उदासीनता - विरस आहार पानी एवं प्रतिकूल शय्या में भी चित्त की धैर्यता ही उदासीनता है, यह सामायिक का मुख्य अंग है।

२. माध्यस्थ - अपने पराए की भावना से हटकर विश्व-कुटुम्ब की भावना को माध्यस्थ कहते हैं।

३. संक्लेश की विशुद्धि - प्रत्येक परिस्थिति में, अर्थात् किसी के दोषों को देखकर भी क्रोध (क्लेश) नहीं करना ही संक्लेश-विशुद्धि है।

४. अनाकूलता - सोते, उठते, बैठते समय हर्ष-विषाद का अभाव ही अनाकूलता है।

¹¹² संवेगरंगशाला, गाथा २७१३-२७१६.

¹¹³ संवेगरंगशाला, गाथा २७३६-२७३८.

¹¹⁴ श्री महादेव श्रमणसूत्र सार्ध, पृ. ८३.

५. असंगताएँ - शत्रु-मित्र एवं सुख-दुःख में समभाव रखना ही असंगता है।

वस्तुतः, साधक इन पाँच गुणों से युक्त होकर सामायिक करता है, तो उत्कृष्ट सामायिक कहलाती है, किन्तु मात्र उदासीनता गुण से युक्त होने पर भी श्रावक की सामायिक श्रेष्ठ मानी जाती है। इस तरह तीसरी प्रतिमा में गृहस्थ सामायिक-प्रतिमा का सम्यक् पालन करता है तथा दुष्प्रणिधान आदि अतिचारों का त्याग करता है। इसमें साधक को मात्र त्याग ही करना नहीं है, वरन् कुछ पाना भी होता है, अर्थात् समभाव प्राप्त करने को ही सामायिक कहते हैं।¹¹⁵

४. पौषध-प्रतिमा :- प्रस्तुत प्रतिमा में मास में चार या छः दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने का विधान है। इसमें पूर्व प्रतिमाओं का आचरणपूर्वक उपासक अष्टमी, चतुर्दशी के दिन पौषध स्वीकार करता है तथा अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन, शय्या-संस्तारक एवं उच्चारप्रस्रवण-भूमि आदि अतिचारों का त्याग करता है।¹¹⁶

पौषधोपवास-निवृत्ति की दिशा में बढ़ा हुआ एक और चरण है। यह एक दिवस का श्रमणत्व ही है। यह गृहस्थ के विकास की चौथी भूमिका है, जिसमें प्रवृत्तिमय जीवन में रहते हुए भी अवकाश के दिनों में निवृत्ति का आनन्द लिया जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध¹¹⁷ एवं श्रमणसूत्र¹¹⁸ में स्पष्ट वर्णन है कि पौषध प्रतिमा में साधक पूर्व की तीन प्रतिमाओं का पालनपूर्वक पर्वों के दिनों में, अर्थात् दो अष्टमी और दो चतुर्दशी को निरतिचारपूर्वक पौषध करते हैं।

५. प्रतिमा-प्रतिमा :- इसे कायोत्सर्ग एवं दिवामैथुनविरत-प्रतिमा भी कहते हैं। इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पाँच विशेष नियम लिए जाते हैं:- १. स्नान नहीं करना २. रात्रिभोजन नहीं करना ३. धोती की एक लांग नहीं लगाना ४. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और ५. रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना तथा पर्वों के दिन पौषध हो, तब रात्रि में भी सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना। इसी प्रकार अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों में रात्रि-पर्यन्त

¹¹⁵ सविगर्गशाला, गाथा २७४०-२७५२.

¹¹⁶ सविगर्गशाला, गाथा, २७५३-२७५४.

¹¹⁷ दशाश्रुतस्कन्ध ६/४.

¹¹⁸ श्री माहेन्द्र श्रमण सूत्र सार्य, पृ. ८३.

देहासक्ति का त्याग कर कायोत्सर्ग करना। वस्तुतः इस प्रतिमा में कामासक्ति, भोगासक्ति, अथवा देहासक्ति कम करने का प्रयास किया जाता है।¹¹⁹

६. अब्रह्मवर्जन-प्रतिमा :- इस प्रतिमा में साधक रात्रि में भी मन, वचन और काया से ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करता है। इसमें वह पूर्ण जितेन्द्रिय बन जाता है। वह इन्द्रिय के विषय-विकारों में आसक्त नहीं होता है। विकास की इस कक्षा में मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक और चरण आगे बढ़ाता है; इस प्रतिमा में वह ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त- १. स्त्री के साथ एकान्त का सेवन नहीं करता है २. स्त्री-वर्ग से अति परिचय नहीं रखता है ३. शृंगार नहीं करता है ४. स्त्री-जाति के रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी तथा कामवर्द्धक वार्त्तालाप नहीं करता है और ५. स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता है।¹²⁰

७. सचित्तत्याग-प्रतिमा :- पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए अप्रमत्त साधक आसक्ति के त्यागपूर्वक सातवीं प्रतिमा में सचित्त आहार का त्याग करता है। वह उष्ण जल एवं अचित्त आहार का ही सेवन करता है। आहार प्रत्येक जीवात्मा को आवश्यक है, परन्तु जो भक्ष्य व अचित्त हो, वही प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक ग्रहण कर सकता है। सचित्त, अर्थात् हरी वनस्पति, सब्जी, फल, गुठलीयुक्त आम, गुठलीयुक्त पिण्डखजूर, आदि।¹²¹

८. आरम्भवर्जन-प्रतिमा :- साधना की इस भूमिका में आते ही साधक पूर्व साधना के साथ आजीविका के लिए स्वयं व्यवसाय (सावद्य आरम्भ) नहीं करता है, फिर भी वह पुत्र, नौकरादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक-कार्यों में मार्गदर्शन करता रहता है। इस प्रकार वह सभी प्रकार के सावद्य आरम्भ यानी हिंसात्मक क्रियाओं का त्याग करता है। प्रस्तुत प्रतिमा में मन, वचन और काया से हिंसा से बचा जाता है।¹²²

९. प्रेष्यवर्जन-प्रतिमा :- इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का पालन करते हुए साधक पुत्र पर घर का भार छोड़कर लोक व्यवहार से भी मुक्त होकर श्रावक परम

¹¹⁹ संवेगरंगशाला, गाथा २७५५-२७५७.

¹²⁰ संवेगरंगशाला, गाथा २७५८-२७६०.

¹²¹ सत्तम पिंडियाए पुण्ये, सचित्तमाऽऽहारमेस परिहरइ। पुब्बोइयगुणजुते, अपमत्ते सत जा मासा। संवेगरंगशाला, गाथा २७६०.

¹²² आरम्भमऽदूठमीए, सावज्जं करवेई पेसेहिं। पुब्बतं न सयं, वित्तिकए अदूठ जा मासा। संवेगरंगशाला, गाथा २७६१.

संवेगी गुण वाला एवं प्राप्त धन में संतोष करके पापारम्भ के निर्देश का भी त्याग करता है। आठवीं प्रतिमा में एक करण तीन योग से आरम्भ का त्याग करता है, जबकि नौवीं प्रतिमा में दो करण तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा में अनुमति देने की छूट होती है।¹²³

१०. उद्विष्टवर्जन प्रतिमा :- इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला साधक क्षुर से मुण्डन कराता है, किन्तु चोटी रखता है। स्वयं के निमित्त तैयार किए हुए आहार-पानी का त्याग करता है। निरन्तर स्वाध्याय, ध्यान में तल्लीन रहता है। इस अवस्था में गृहस्थ-उपासक से कोई पारिवारिक-समस्या की बात पूछता है, तो वह जानता है, तो कहता है, अन्यथा मौन रहता है, साथ ही वह ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता है, जिससे किसी को हानि हो। वह भाषा का पूर्ण विवेक रखता है।¹²⁴

११. श्रमणभूत-प्रतिमा :- संवेगरंगशाला में यह प्रतिपादित किया गया है कि इस प्रतिमा को धारण करने वाले उपासक की समस्त चर्या साधु के समान होती है। इसमें प्रतिमाधारी उपासक क्षुरकर्म से मस्तक का मुण्डन, अथवा केशलूचन करके रजोहरण आदि उपकरणों को धारण करता है। उसकी वेशभूषा भी निर्ग्रन्थ की भांति होती है।

इस तरह प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक श्रमण सदृश जीवन-यापन करता है। वह श्रमण के समान निर्दोष भिक्षा, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि, आदि में लीन रहता है। सभी प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है। पंच समिति एवं त्रिगुप्ति का परिपालन करते हुए जब वह किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षा के लिए जाता है, तब वह कहता है - “प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।”

तात्पर्य यह है कि श्रमण एवं श्रमणोपासक का वेश एकसदृश होने से कहीं श्रमणोपासक को श्रमण न समझ लिया जाए, इसलिए वह स्पष्टीकरण करता है। दूसरी बात यह है कि यदि उसे कोई मुनि समझकर वन्दन करता है, तो वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है- “मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ, आहार आदि के लिए आया हूँ।” इस तरह ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक उत्कृष्ट से ग्यारह महीने तक इसी प्रकार विचरण करता है, किन्तु जघन्य से एक दिन, दो दिन, आदि इच्छानुसार काल तक भी इसका पालन कर सकता है।

¹²³ संवेगरंगशाला, गाथा २७६२ - २७६३.

¹²⁴ संवेगरंगशाला, गाथा २७६४ - २७६५.

अन्त में संवेगरंगशाला के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा सम्पन्न कर वह श्रमणोपासक श्रमण बन जाता है तथा कभी पुत्रादि पर मोह हो जाने से श्रमण न बनकर गृहस्थ भी रहता है।¹²⁵ यही दृष्टिकोण दशाश्रुतस्कंध¹²⁶ में एवं विंशतिका¹²⁷ में भी उपलब्ध होता है। ऐसा श्रावक जीवन के सन्ध्याकाल में समाधिमरण भी स्वीकार कर लेता है।

आराधक-गृहस्थ की पहचान (लिंग) :-

संवेगरंगशाला में सर्वप्रथम आराधना के योग्य कौन-कौन हैं, इसका उल्लेख करने के पश्चात् उस आराधक के लिंग, अर्थात् वेशभूषा को बताया गया है। प्रस्तुत कृति के लिंगद्वार में साधु एवं गृहस्थ- दोनों के लिंगों के उल्लेख मिलते हैं। संवेगरंगशाला में यह बताया गया है कि “निश्चय से इहलोक और परलोक को साधने वाला जिनकथित लिंग, जो पूर्व में अर्हताद्वार में कहा गया है, उसमें रहकर संवेग या वैराग्य भाव की वृद्धि करते हुए साधना करना ही योग्य-जीव की आराधना का लिंग (द्वार) है।”¹²⁸

आराधक-गृहस्थ का सामान्य लक्षण (लिंग) :-

संवेगरंगशाला में आराधक-गृहस्थ किन-किन लक्षणों, अर्थात् लिंगों से पहचाने जा सकते हैं, इसका उल्लेख निम्न रूप से किया गया है-

१. गृहस्थ-आराधक को शस्त्र, मूसल आदि उपकरणों का त्याग करना चाहिए।
२. देह पर चन्दनादि सभी विलेपनों का त्याग करना चाहिए।
३. लज्जा ढकने के लिए अल्प वस्त्र रखना चाहिए।
४. एकान्तस्थान में रहकर स्वाध्याय, सामायिकादि क्रियाएँ करना चाहिए।
५. पौषध में इन्द्रियविषय-सुखों एवं संसार की वस्तुओं के प्रति राग का त्याग कर संसार की अनित्यता, अशरणता, आदि का चिन्तन करना चाहिए।
६. सचित्त अन्न और जल का त्याग करके परिमित प्रासुक भोजन एवं जल का सेवन करना चाहिए।

¹²⁵ संवेगरंगशाला, गाथा २७६० - २७७४

¹²⁶ दशाश्रुतस्कंध ६/११.

¹²⁷ आसेविऊण एयं कोई पव्वयइ तह गिही होई।तम्भावमेयओ च्विय विसुद्धित्तकेसभेएण - विंशतिका १०/१८.

¹²⁸ संवेगरंगशाला, गाथा १२००-१२०१

अन्त में यह बताया गया है कि आराधक को इन गुणों का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए, निश्चय से यही आराधक-गृहस्थ का लिंग है।

सवेगरंगशाला में वर्णित गृहस्थ की दिनचर्या :-

सवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में साधु एवं गृहस्थ के सामान्य आचार-धर्म का विवेचन करने के पश्चात् केवल गृहस्थ के विशेष आचार-धर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि श्रावक को धन, यौवन और आयु को विनश्वर मानते हुए अपने भावों को प्रतिदिन शुभ परिणामों की ओर बढ़ाना चाहिए।¹²⁹ स्वभाव से विनीत, भद्रिक, संवेगी और उदारचित्त वाले बुद्धिमान् श्रावक को साधर्मिकवात्सल्य और जिन-मन्दिरों के जीर्णोद्धार कराने में धन का व्यय करना चाहिए तथा परनिन्दा से बचना चाहिए।¹³⁰

प्रस्तुत कृति में आगे श्रावक की दिनचर्या एवं जीवनचर्या में यह बताया गया है कि सर्वप्रथम निद्रा से जाग्रत होते ही श्रावक पंचपरमेष्ठी महामंगल मंत्र का स्मरण करे। फिर लघुशंकादि का त्याग करके गृहमन्दिर में जिन-प्रतिमाओं को वन्दन करके साधु भगवन्त के उपाश्रय में जाकर वहाँ प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाएँ करे। इस प्रकार करने से श्रावक को गुरु के प्रति विनय का प्रकटन तथा सूत्र-अर्थ का विशेष ज्ञान होता है, साथ ही वह रुमाचारी या आचार के नियमों में कुशल होता है, मिथ्यात्वबुद्धि का नाश होता है, और गुरु की साक्षी में धर्म क्रिया आदि विधिपूर्वक होती है और इससे जिनेश्वर की आज्ञा का पालन होता है।¹³¹

साथ ही यह भी कहा गया है कि गुरु की अनुपस्थिति में भी उपाश्रय या पौषधशाला आदि में जाकर प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करे तथा समयानुसार स्वाध्याय एवं नए सूत्रों का अध्ययन आदि करके घर जाए। घर पर विशेष कार्य न हो, तो उसी समय शरीर की शुद्धि हेतु स्नान करके पुष्प आदि पूजन की सामग्री लेकर सपरिवार मन्दिर में जाए तथा पाँच प्रकार के अभिगमों का पालन करते हुए विनयपूर्वक मन्दिर में प्रवेश करे, फिर विधिपूर्वक प्रभु की पूजा करके देववन्दन करे। किसी कारण से प्रातःकाल में सामायिक न की हो, तो पौषधशाला में जाकर सामायिक आदि क्रिया करके मुनि से वन्दनपूर्वक प्रत्याख्यान करे। फिर समयानुसार जिनवाणी श्रवण करके मुनि भगवन्तों के संयम-तपादि की सुखसाता पूछकर

¹²⁹ सवेगरंगशाला, गाथा १२०२-१२०७

¹³⁰ सवेगरंगशाला, गाथा १५२४-१५२८

¹³¹ सवेगरंगशाला, गाथा १५२६-१५३१

आहार-औषध आदि से उचित भक्ति करे। उसके पश्चात् आजीविका हेतु लोक एवं धर्म की निन्दा से रहित अपना व्यापार करे।¹³²

भोजन के समय घर आकर स्नान से निवृत्त होकर जिनमन्दिर में जाकर अष्टप्रकारी पूजा करे। द्रव्यपूजा में जल, चन्दन और पुष्प से प्रभु की अंगपूजा करे तथा धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य और फल से प्रभु की अग्रपूजा करे, वस्त्र आदि से सत्कार-पूजा एवं स्तुति, स्तोत्र आदि के द्वारा प्रभु की सम्यक् रूप से भाव-पूजा करे।

पूजा करने के पश्चात् श्रावक किस तरह साधु एवं साधर्मिक की भक्ति करे, इसका वर्णन प्रस्तुत कृति में निम्न प्रकार से है- श्रावक पुनः साधु महाराज के पास जाकर विनती करे- “हे भगवन्! अशनादि वस्तुओं को ग्रहण करके, आप मुझ पर अनुग्रह करें।”

संसाररूपी कुँ में गिरते हुए इस मुझ पामर को हाथ का सहारा दो”- इस प्रकार प्रार्थना करे। साधु भगवन्त को अपने साथ घर ले जाए, घर आते ही स्वजनादि सभी साधु भगवन्त के सामने आकर भावपूर्वक वन्दन करे, फिर श्रद्धायुक्त विधिपूर्वक सुपात्र दान दें, फिर वन्दनपूर्वक विदा करें। इसके पश्चात् पिताजी आदि वयोवृद्ध को भोजन करवाकर पशु, नौकरों आदि के योग्य उनके खाने की व्यवस्था करके, अन्य अतिथिगण की भी भक्ति करके तथा रोग से ग्रस्त स्वजनों आदि की सार-संभाल करके फिर उचित आसन पर बैठकर प्रत्याख्यान का स्मरण करके नवकारमंत्र के स्मरणपूर्वक भोजन करे।¹³³

भोजन करने के पश्चात् घर-मन्दिर में परमात्मा के सामने बैठकर चैत्यवन्दन करके तिथिहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करे। फिर समयानुसार स्वाध्याय तथा सूत्रों का अभ्यास करे। पुनः, जीवन-निर्वाह के लिए लोक में अभिन्दनीय हो, ऐसा व्यापार करे। सन्ध्या के समय पुनः गृह-मन्दिर में पूजन, दर्शन करके फिर श्रीसंघ के जिनमन्दिर में जाए। जिनबिम्बों की अर्चना एवं चैत्यवन्दन करे।

जिस प्रकार प्रातःकाल की विधि में कहा गया है, उसी प्रकार शाम को भी सामायिक प्रतिक्रमणादि क्रिया करे। साधु भगवन्त हों, तो उपाश्रय में जाकर उनकी वन्दना करे तथा आलोचना और क्षमापना करके प्रत्याख्यान ग्रहण करे तथा समयानुसार धर्मशास्त्र का अनुश्रवण करके, साधु की सेवा सुश्रुषा करे। संदिग्ध शब्दों का अर्थ पूछकर तथा श्रावकवर्ग के कर्तव्यों को समझकर घर जाए।

¹³² सवेगर्गशाला, गाथा १६३२-१६४२

¹³³ सवेगर्गशाला, गाथा १६४३-१६५०

दिनचर्या-विधि के अन्त में यह बताया गया है कि श्रावक को विधिपूर्वक शयन करते समय देव-गुरु का स्मरण करना चाहिए। गृहस्थ को यथाशक्ति उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए, अथवा मैथुन आदि की मर्यादापूर्वक एकान्त स्थान में शयन करना चाहिए।¹³⁴

आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में लिखा है कि श्रावक ब्रह्ममुहूर्त में उठकर धर्म का चिन्तन करे, तत्पश्चात् पवित्र होकर अपने गृह-चैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे, फिर गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी सेवा-भक्ति करे। तत्पश्चात् धर्मस्थान से लौटकर आजीविका के स्थान में जाकर इस प्रकार धनोपार्जन करे कि उसके व्रत-नियमों में बाधा न पहुँचे। इसके बाद मध्याह्नकालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे। पुनः, संध्या समय देव-गुरु की उपासना एवं प्रतिक्रमण आदि षटावश्यक क्रिया करे, फिर स्वाध्याय करके अल्पनिद्रा ले।¹³⁵

संवेगरंगशाला में वर्णित गृहस्थ का आध्यात्मिक-चिन्तन :-

संवेगरंगशाला के तीसरे द्वार में आगे यह बताया गया है कि यदि गृहस्थ मोहवश किसी अधर्म-कार्य में प्रवृत्ति करता हो, तो मोह के विकारों का वेग जब भी शान्त हो, तब भावपूर्वक इस प्रकार चिन्तन करे- मोह सर्व अनर्थों एवं दुःखों का मूल है, इसके वश में पड़ा हुआ प्राणी हित को अहित मानता है। इसके अधीन बना हुआ मनुष्य स्त्री के असार मुखादि को चन्द्र आदि की उपमा देता है, ऐसे मोह की धिक्कार हो।¹³⁶

साथ ही यह कहा गया है कि जो मुख चन्द्र की कान्ति के समान मनोहर कहलाता है, वही मुख गन्दे मैल का झरना भी है। वह दो चक्षु, दो कान, दो नासिका-द्वार एवं एक मुख - ऐसे सात मूलस्रोत से युक्त है। पेट अशुचि की पेटी है और शेष शरीर भी मांस, हड्डी और नसों की रचनामात्र है। यह स्वभाव से ही दुर्गन्धमय मल से भरा हुआ है, मलिन और नाश होने वाला है। साथ ही प्रकृति से ही अधोगति का द्वार, घृणाजनक और तिरस्कार करने योग्य है। इसमें जो गुह्य विभाग हैं, वे भी लज्जा उत्पन्न करने वाले हैं तथा अनिष्टरूप होने से उन्हें भी ढँकने की जरूरत पड़ती है। इतने पर भी मनुष्य कामासक्त बना कामभोगों को भोगता है, तो इससे बढ़कर खेद की बात क्या हो सकती है? ऐसे

¹³⁴ संवेगरंगशाला, गाथा १५५१-१५५८

¹³⁵ योगशास्त्र - ३/१२१-१२१.

¹³⁶ संवेगरंगशाला, गाथा १५५६-१५६२

दोषों से ग्रसित स्त्रियों के शरीर के भोग से जो विरक्त होगा, वही संसार में पुनः-पुनः जन्म, जरा और मरण के चक्र से मुक्त होगा।¹³⁷

इसी में आगे विशेष धर्म के गुणों को बताते हुए कहा गया है कि साधक को पंचविध आचारवाले गुरु की भक्ति, सुविहित साधुजन की सेवा, गुणीजनों के साथ रहना, उनके गुणों को प्राप्त करना, सूत्रों का अभ्यास करना, अपूर्व अर्थ एवं नई हितशिक्षा प्राप्त करना, सम्यक्त्व गुण की विशुद्धि करना, साधर्मिकों से गाढ़ राग रखना और शास्त्रानुसार अतिथि को दान आदि देने के पश्चात् भोजन करना, इस लोक के लौकिक-कार्यों में अरुचि और अनादर तथा परलोक की आराधना में रुचि एवं आदर, चारित्र के गुणों में तत्परता, इत्यादि उत्तरगुणों की सम्यक् आराधना करते हुए कुलीन गृहस्थ समय व्यतीत करे। जैसे- कोई धीरे-धीरे कदम बढ़ाने से भी पहाड़ पर चढ़ जाता है, वैसे ही धीर पुरुष क्रमशः प्रयत्न करते हुए आराधनारूपी पर्वत के ऊपर समारूढ़ हो जाता है। इस प्रकार यहाँ धार्मिक-गृहस्थ का विशेष आचार कहा गया है।¹³⁸

मुनिधर्म :-

संवेगरंगशाला में सामान्य आराधना का विवेचन करते हुए जिनचन्द्रसूरि ने गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का विवेचन किया है। मुनिधर्म के विवेचन के प्रसंग में संवेगरंगशाला में हमें पंच-महाव्रतों का विवेचन उसके चौथे द्वार में उपलब्ध होता है। पंच-महाव्रतों का यह विवेचन तो संवेगरंगशाला में अति विस्तार के साथ उपलब्ध होता है, किन्तु मुनि-जीवन के प्राणरूप पंच-समिति और त्रिगुप्ति का विवेचन प्रस्तुत कृति में उतने विस्तार से उपलब्ध नहीं होता है। प्रथम परिकर्मद्वार के अन्तर्गत चतुर्थ विनय-उपद्वार में मुनि के विनय-धर्म का उल्लेख करते हुए आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने पंच समिति और त्रिगुप्ति का निर्देश किया है।¹³⁹ इसी प्रकार आसेवन-शिक्षा के अन्तर्गत दसविध-सामाचारी का तथा मुनि की दैनिक-चर्या के रूप में प्रतिलेखना, प्रमार्जना, भिक्षाचर्या, आदि का उल्लेख किया है।¹⁴⁰ साथ ही, इस प्रसंग में उन्होंने स्थण्डिलभूमि-शुद्धि आदि को लेकर भी विचार किया है। इस प्रकार जिनचन्द्रसूरि ने यथावसर मुनिधर्म का विस्तृत निर्देश किया है। इसी मनोनुशास्तिद्वार में मन के संयम का उपदेश दिया गया है। मन का संयम ही शरीर और वाणी के संयम का आधार होता है। मुनि-जीवन में मन,

¹³⁷ संवेगरंगशाला, गाथा १५६३-१५६७

¹³⁸ संवेगरंगशाला, गाथा १५६८-१५७८.

¹³⁹ संवेगरंगशाला, गाथा १५६३

¹⁴⁰ संवेगरंगशाला, गाथा १५६४-१६०२

वचन और शरीर की प्रवृत्तियों को कैसे नियन्त्रित किया जाए, इसके सन्दर्भ में हमें आचार्य जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला में स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। इसी क्रम में मुनि-जीवन की आराधना के लिए आधारभूत क्षमा आदि दस धर्मों का उल्लेख चाहे संवेगरंगशाला में एक स्थान पर विस्तृत रूप में उपलब्ध न हो, किन्तु आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने प्रकीर्ण सन्दर्भों में और विभिन्न कथानकों के माध्यम से क्षमा आदि धर्मों का उल्लेख भी किया है। मुनि-आचार के विवेचन के सन्दर्भ में संवेगरंगशाला का वैशिष्ट्य यह है कि वह सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा की अपेक्षा मुनि की दैनिक-दिनचर्या के विवेचन पर अधिक बल देती है। इस क्रम में वह दसविध समाचारी का उल्लेख करती है, साथ ही प्रतिलेखना, प्रमार्जना, आलोचना आदि की क्रियाओं पर अधिक बल देती है। मुनिधर्म की चर्चा करते हुए इसमें विनय पर भी विशेष बल दिया गया है। जिनचन्द्रसूरि ने प्रथम परिकर्मद्वार के चतुर्थ उपद्वार में विनय का विस्तृत विवेचन किया है।

मुनि किसी एक स्थानविशेष पर प्रतिबद्ध होकर नहीं रहता है। राग के प्रहाण के लिए यह आवश्यक है। इस सन्दर्भ में जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला में मुनि के लिए स्थिरवास का निषेध कर अप्रतिबद्धविहारी होने का उल्लेख किया है। समाधिमरण की विशेष आराधना के प्रसंग में संवेगरंगशाला में तीन स्थानों पर तप का विवरण भी हमें उपलब्ध होता है। प्रथमतः, गाथा क्रमांक ६१३ से ६२२ तक तप के सामान्य स्वरूप और उपयोगिता की चर्चा की गई है। पुनः, प्रथम परिकर्म के ही संलेखना-प्रतिद्वार में भी गाथा क्रमांक ४०१८ से लेकर ४०७३ तक छः प्रकार के बाह्य-तपों का विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार चौथे समाधिलाभ नामक द्वार के प्रथम अनुशास्ति नामक उपद्वार के सत्तरहवें तप नामक प्रतिद्वार में पुनः तप का संक्षिप्त उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेगरंगशाला में जैन-मुनि के सामान्य आचार का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। अग्रिम पंक्तियों में हम मुनि-आचार के इस स्वरूप का निर्देश निम्न क्रम से करेंगे -

१. पंच महाव्रत और रात्रिभोजन-त्याग	२. पंच समिति और तीन गुप्ति
३. दस प्रकार के यतिधर्म	५. बाईस परीषद
६. बारह प्रकार के तप	७. दस प्रकार की सामाचारी
८. षडावश्यक और	८. मुनि के दैनिक-कर्तव्य।

श्रमण-जीवन का सामान्य स्वरूप :-

जीवमात्र का एक ही लक्ष्य है- दुःख से मुक्त होना, सुख और शान्ति को प्राप्त करना, इसलिए जैन विचारकों ने जीव व जगत् के स्वरूप का चिन्तन

करके आगम-ग्रन्थों के आधार पर बन्धन से मुक्त होने का रास्ता बतलाया है। उनका एक ही उद्देश्य रहा है कि व्यक्ति जीवन एवं जगत् के स्वरूप को समझे, बन्ध और मुक्ति के कारणों एवं उपायों का परिज्ञान करे और तदनन्तर साधना के द्वारा अपने साध्य, अर्थात् जन्ममरण के चक्र से मुक्ति को प्राप्त करे। इसी दृष्टिकोण के आधार पर जैन-मनीषियों ने मुक्ति का मार्ग बताते हुए महाव्रतों की साधना को मोक्ष प्राप्ति का साधन कहा है। जैन-परम्परा मूलतः श्रमण-परम्परा है, इसलिए उसमें श्रमण-जीवन की प्रधानता प्रमुख है। श्रमण-जीवन का तात्पर्य पाप-विरति है। श्रमण-जीवन में व्यक्ति को हिंसादि पाप-प्रवृत्तियों से बचते हुए उनकी कारणभूत रागद्वेषात्मक आन्तरिक-वृत्तियों से ऊपर उठना होता है।

उत्तराध्ययन में श्रमण-साधना का मुख्य लक्ष्य समत्वभाव की साधना ही माना गया है। भगवान् महावीर ने कहा है कि केवल मुंडित होने से ही कोई श्रमण नहीं होता है, वरन् जो समत्व की साधना करता है, वही श्रमण होता है।¹⁴¹

संवेगरंगशाला¹⁴² में सामान्य रूप से व्रतों का निर्देश करते हुए श्रमण-जीवन की स्पष्ट व्याख्या की गई है। जो साधक शरीर के प्रति ममत्व-भाव नहीं रखता, सांसारिकवस्तुओं की इच्छा नहीं करता, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित है; क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि जितने भी कर्मादान के कारण और आत्मा के पतन के हेतु हैं, उन सबसे निवृत्त रहता है, जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्ष-मार्ग का सफल यात्री है, वही श्रमण कहलाता है। यही बात प्रकारान्तर से सूत्रकृतांग में भी कही गई है।¹⁴³

श्रमणधर्म का आधार : पंच महाव्रत :-

पंच महाव्रत श्रमण-जीवन के मूलभूत गुणों में माने गए हैं। संवेगरंगशाला में श्रमण के पंच महाव्रतों का उल्लेख चतुर्थद्वार के प्रथम अनुशास्ति नामक प्रतिद्वार के दसवें पंच-महाव्रत-रक्षण उपद्वार में किया गया है। वे ये हैं - १. अहिंसाव्रत २. असत्य-त्यागव्रत ३. अदत्तादानत्यागव्रत ४. ब्रह्मचर्यव्रत और ५. अपरिग्रहव्रत। ये पाँचों व्रत श्रावक एवं श्रमण- दोनों के लिए विहित हैं, अन्तर यह है कि साधु अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, किन्तु

¹⁴¹ उत्तराध्ययन, २५/३२/

¹⁴² संवेगरंगशाला, गाथा ७८८८

¹⁴³ सूत्रकृतांग १/१६/२-३

गृहस्थ साधक अपनी मर्यादा निश्चित करके आंशिक रूप से उनका परिपालन करता है। अपवाद बिना पूर्ण रूप से इन व्रतों का पालन करना ही महाव्रत कहलाता है। सामान्यतया, मुनि को इन महाव्रतों का पालन नव कोटियों सहित करना होता है।

अहिंसामहाव्रत :-

संवेगरंगशाला में अहिंसा व्रत का उल्लेख करते हुए इसमें श्रमण को क्या प्रतिज्ञा ग्रहण करना चाहिए, इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है- जीवन-पर्यन्त के लिए सर्वथा प्राणातिपात का त्याग, अर्थात् त्रस और स्थावर जीवों की मन-वचन और काया से हिंसा न करना, दूसरों से न कराना और हिंसा करने वालों का अनुमोदन नहीं करना। आगे इसमें जीव के भेद-प्रभेद का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उन सर्व जीवों को निजात्मा के सदृश मानकर उन सब पर दयाभाव रखना चाहिए; क्योंकि निश्चय से वे सभी जीव जीना चाहते हैं, इसीलिए धीरपुरुष हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं, साथ ही श्रमण के लिए हितोपदेश का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं- हे मुनि! चाहे तू भूख-प्यास से पीड़ित हो और शुद्ध आहार भी दुर्लभ हो, तो भी तू स्वप्न में भी कभी किसी प्राणी का वध करने का विचार नहीं करना। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, आदि से युक्त होकर भोग-उपभोग के लिए जीवों की हिंसा मत करना। यदि इन्द्र भी तीन जगत् की ऋद्धि और प्राणरक्षण- इन दोनों में से कोई एक का वरदान मांगने को कहे, तो ऐसा कौन बुद्धिमान् जीव होगा जो अपने प्राण को छोड़कर तीन जगत् की ऋद्धि की याचना करेगा? अर्थात् कोई नहीं करेगा, क्योंकि मानव-जीवन तीनों लोक की सम्पत्ति की प्राप्ति से भी ज्यादा दुर्लभ एवं सर्व को प्रिय है, दोनों में कोई समानता हो नहीं सकती है।¹⁴⁴

ग्रन्थकार अहिंसा की महानता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे पर्वतों में मेरुपर्वत श्रेष्ठ है, वैसे ही व्रतों में अहिंसाव्रत श्रेष्ठ है, महान् है। जैसे आकाश लोक का आधार है, द्वीप, समुद्र-यात्रा में आधारभूत हैं, वैसे ही अहिंसा दान, शील, और तप का आधार है; साथ ही ग्रन्थकार कहते हैं कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं रात्रिभोजन-त्याग, आदि के पालन बिना अहिंसक अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि ये सभी गुण अहिंसाव्रत की सुरक्षा के लिए हैं।¹⁴⁵ इसमें जीवहिंसा और अजीवहिंसा- ऐसे दो प्रकार की हिंसा का उल्लेख कर जीवहिंसा के १०८ भेदों और अजीवहिंसा के ११ भेदों का उल्लेख

¹⁴⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ७८८६/७९००

¹⁴⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ७९०१/७९११

किया गया है। तीन योग, चार कषाय, तीन करण एवं संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ- ये तीन स्थितियाँ इनको परस्पर गुणित करने से जीव-हिंसा के $3 \times 4 \times 3 \times 3 = 108$ भेद होते हैं। इसमें संरम्भ, अर्थात् हिंसा का संकल्प करना; समारम्भ, अर्थात् जीव को परिताप देना या हिंसा के साधन जुटाना एवं आरम्भ, अर्थात् प्राणों का विनाश करना- ऐसे हिंसा के तीन रूप बताए गए हैं। निक्षेप, निवृत्ति, संयोजन और निसर्ग- ये चार अजीवहिंसा के मूल भेद हैं।

इनमें प्रत्येक के क्रमशः चार, दो, दो और तीन- इस तरह ग्यारह भेद कहे गए हैं।

(१) १. अप्रमार्जना २. दुष्प्रमार्जना ३. सहसाकार और ४. अनाभोग- ये चार भेद निक्षेप के हैं।

(२) १. काया से दुष्ट व्यापार करना एवं २. हिंसक उपकरण बनाना- ये निवृत्ति के दो भेद हैं।

(३) १. उपकरण का संयोजन करना एवं २. आहारपानी का संयोजन करना- ये दो संयोजन के भेद हैं।

(४) १. मन २. वचन और ३. काया की कुमार्ग में प्रवृत्ति- ये तीन भेद निसर्ग के कहे गए हैं।¹⁴⁶

सामान्य रूप से प्रमत्त योगपूर्वक प्राणघात करना हिंसा है। प्रमाद एवं अत्यधिक कषाय- इन दोनों से भी जीव की हिंसा होती है। गधे के मस्तक पर जैसे सींग नहीं होते हैं, वैसे ही रस-गारव, ऋद्धि-गारव एवं साता-गारव में आसक्ति रखने वाले और नगर, कुल, आदि से ममत्व रखने वाले अज्ञानी मूढ़ात्मा में अहिंसा नहीं होती है। ज्ञान, तप, त्याग, सेवा, स्वाध्याय, आदि सबका सार अहिंसा है। अहिंसाव्रत का विवेकपूर्वक पालन करने से अहिंसक को परलोक में दीर्घ आयुष्य, आरोग्यता, सौभाग्य, सुरूप, शुभवर्ण, आदि का योग होता है। इससे विपरीत हिंसक जीव को परलोक में अत्पायुष्य, अशुभवर्ण, गंध, रूप, आदि का योग होता है। जो सदैव सुख की आकांक्षा वाला हो, जीवदया का उपयोग रखता हो, प्रत्येक वस्तु के लेने में, रखने में, तथा उठने-बैठने आदि समस्त क्रियाओं में अप्रमत्त एवं दयालु हो, उस जीव के जीवन में निश्चय से अहिंसा होती है।¹⁴⁷

¹⁴⁶ सविहरगशाला, गाथा ७६१२/७६१७.

¹⁴⁷ सविहरगशाला, गाथा ७६१८/७६२७.

सत्य-महाव्रत :-

संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने क्षपकमुनि को चार प्रकार के असत्य भाषण का त्याग करने का उल्लेख किया है। प्रथम असत्य-सद्भूत पदार्थों का निषेध करना, जैसे- जीव नहीं है। दूसरा असत्य असद्भूत कथन करना जैसे- जीव पाँच भूतों से बना है एवं कुछ भी सत् नहीं है। तीसरा असत्य, जैसे-जीव को एकान्त रूप से नित्य, अथवा अनित्य मानना। चौथा असत्य, अनेक प्रकार से सावध्य वचन बोलना, जैसे-अप्रियवचन या कर्कशवचन, चुगली, निन्दा, आदि करना। इससे हिंसादि का दोष लगता है।¹⁴⁸

मुनि को हास्य, क्रोध, लोभ, अथवा भय से भी असत्य बोलने का त्याग करना चाहिए तथा प्रिय, मित, मधुर, सावध्यरहित, छलरहित, सबको सुखकर लगे, ऐसे प्रशस्त वचन बोलना चाहिए, क्योंकि सत्यभाषी पुरुष सदैव माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूजनीय एवं स्वजन के समान सर्वप्रिय होता है। सत्य में तप, संयम आदि सर्वगुणों का समावेश है। सत्य वचन बोलने वाले सत्यवादी पुरुष की अग्नि, जल, देव, नदी, पर्वत, आदि भी रक्षक बनकर रक्षा करते हैं। सत्य से ग्रहदशा व पागलपन भी टल जाता है, सत्यवादी को देवता भी सदैव नमस्कार करते हैं एवं उसके वश में रहते हैं। इस तरह सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है, कीर्ति फैलती है और प्रसिद्धि होती है।

असत्य वचन के बोलने से असत्यवादी सदैव अविश्वास का पात्र होता है। वह अपकीर्ति, धिक्कार, कलह, वैर, भय, शोक तथा धन के विनाश का हेतु होता है। दूसरे भव में मृषासम्भाषण नहीं करने पर भी इस भव के अन्य दोषों के कारण उसमें चोरी आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, अतः इन दोषों से बचने के लिए और उपर्युक्त गुणों को प्राप्त करने के लिए मुनि को असत्य सम्भाषण का त्याग करना चाहिए।¹⁴⁹

अदत्तादान-महाव्रत :-

साधु संसार की कोई भी वस्तु चाहे सचित्त हो या अचित्त, अल्पमूल्य की हो या बहुमूल्य, बिना उसके मालिक की आज्ञा के ग्रहण नहीं करें। अदत्तादान-त्यागव्रत में मुनि को दन्तशोधन की शलाका भी दिए बिना लेने की इच्छा करने का भी निषेध कहा गया है। जैसे पिंजरे में बन्द बन्दर फलों को खाने के लिए दौड़ता है, वैसे ही जीव परधन को देखकर उसे लेने की इच्छा करता है।

¹⁴⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ७६२८/७६३३.

¹⁴⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ७६३२/७६४४.

मानव संसार का सम्पूर्ण धन प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि सम्पूर्ण धन की प्राप्ति हो भी जाए, तो उसे वह भोग नहीं सकता। यदि एक बार वह भोग भी ले, तो भी उसके मन की तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि लोभी जीव सारे जगत् से भी तृप्त नहीं होता है। कहा भी है कि लोभ से लोभ बढ़ता है।¹⁵⁰

इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है कि चोरी करने से जीव-हिंसा का दोष लगता है। जो जिसके धन की चोरी करता है, वह उसके प्राणों का भी हरण करता है। व्यक्ति के पास धन होने पर वह जीता है और धन के लिए तो प्राण भी दे देता है, इस तरह वह धन को नहीं छोड़ता है एवं धन के पीछे सारे परिवार की भी हिंसा होती है; इसलिए जीवदयारूपी परमधर्म को प्राप्त कर मानव को अधम अदत्त-ग्रहण नहीं करना चाहिए। शुद्ध चारित्र को पालनेवाला (मुनि) एक तिनका भी अदत्त-ग्रहण करने से तृण के समान तुच्छ एवं चोर के समान अविश्वसनीय बन जाता है।¹⁵¹

अदत्त ग्रहण से चोर की दशा का विवेचन करते हुए कहा है कि चोर हमेशा चोरी पकड़े जाने की शंका से भयभीत रहता है, निद्रा भी नहीं ले सकता है, हरिण के समान सर्वत्र देखता हुआ भय से कांपते हुए भागता-फिरता है। चूहे की आवाज से भी कांपने लगता है। वध, बन्धन, आदि पीड़ाएँ सहन करता है, परभव में शोक प्राप्त करता है; इस तरह अपना आत्मसम्मान खोकर मृत्यु को प्राप्त करता है, परलोक में भी नरक में अपना स्थान बनाता है तथा संसार में अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है। इस तरह मुनि को परधन ग्रहण से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर, उसका त्याग करने के लिए तत्पर बनना चाहिए।¹⁵²

ब्रह्मचर्य महाव्रत :-

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार कहते हैं- हे मुनि! तू स्त्री के प्रति आसक्ति से रहित होकर एवं नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति से सुविशुद्ध रहते हुए, तू ब्रह्मचर्य की रक्षा कर। यह जीव ही ब्रह्म है, पर देह की चिन्ता से रहित जो साधु भी स्व में ही प्रवृत्ति करता है, उसे ब्रह्मचर्य कहा है। आगे ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का उल्लेख करते हैं- वसतिशुद्धि, सराग कथात्याग, आसन का त्याग, अंगोपांगादि को रागपूर्वक देखने का त्याग, दीवार या परदे के पास खड़े होकर स्त्री के विकारी शब्दादि सुनने का त्याग, पूर्वक्रीड़ा की स्मृति का त्याग, प्रणीत

¹⁵⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ७६४५/७६४७

¹⁵¹ 50 संवेगरंगशाला, गाथा ७६४५/७६४७

¹⁵² संवेगरंगशाला, गाथा ७६५२/७६६०

भोजन का त्याग, अतिमात्रा में आहार का त्याग और विभूषा का त्याग- इस तरह ये नौ गुणियाँ मुनि के ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बाड़ के रूप में कही गई हैं।¹⁵³

कामासक्त मनुष्य की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि काम से पीड़ित पुरुष शोक करता है, चिन्ता करता है, कांपता है, अशुभ ध्यान करता है, निद्रारहित होता है एवं उसकी किसी भी कार्य में रुचि नहीं होती है। एक क्षण वर्ष जैसा लगता है, उसके अंग शिथिल हो जाते हैं, वह काम में उन्मादी बना रहता है, वस्तु तथा इच्छित प्रिय की प्राप्ति नहीं होने पर अग्नि, पर्वत या पानी में अपघात कर लेता है, साथ ही कामी पुरुष को सर्प के विष से भी ज्यादा भयंकर कहा गया है। आशीविष सर्प के डंक लगने से मनुष्य में सात विकार होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्प का डंक अति दुष्ट परिणाम देने वाला है। उसके कारण निम्न दस विकारी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं- कामासक्त पुरुष चिन्ता करता है, देखने की इच्छा करता है, निःश्वास लेता है, उसे ज्वर चढ़ता है, शरीर में दाह उत्पन्न होता है, वह उन्मादी होता है, बेहोश होता है और अन्त में प्राण भी त्याग देता है। इसमें भी काम-संकल्प में जितनी तीव्रता और मन्दता होगी, उतनी तीव्रता और मंदता इन दस अवस्थाओं की होती है।¹⁵⁴

काम को सूर्य के ताप से भी अधिक तापवाला कहा है, क्योंकि सूर्य का ताप मनुष्य को दिन में ही जलाता है, जबकि काम का ताप दिन-रात जलाता है। सूर्य के ताप से बचने के लिए छत्र, आदि होते हैं, किन्तु काम से तप्त का कोई आच्छादन नहीं होता है। सूर्य का ताप जल-सिंचन, आदि से शान्त होता है, जबकि कामी पुरुष की कामाग्नि कभी शान्त नहीं होती है। सूर्य का ताप मात्र मनुष्य की चमड़ी को जलाता है, जबकि कामाग्नि मनुष्य को अन्दर और बाहर-दोनों ओर से जलाती है। इस तरह कामाग्नि से जलता हुआ मनुष्य हितैषी को भी शत्रु के समान देखता है।¹⁵⁵

कामी पुरुष अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की अवज्ञा करता है, श्रुतरत्न का त्याग करता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूपी श्रेष्ठ गुणों को तृणसदृश मानता है। कामासक्त पुरुष इस जन्म में प्राप्त होने वाले

¹⁵³ सविमरंगशाला, गाथा ७६६१/७६६४

¹⁵⁴ सविमरंगशाला, गाथा ७६६६/७६७६

¹⁵⁵ सविमरंगशाला, गाथा ७६७७/७६७८.

अपयश, अनर्थ और दुःख का तथा परलोक में होने वाली दुर्गति का और अनन्त संसार-परिभ्रमण का भी विचार नहीं करता है।¹⁵⁶

ग्रन्थकार स्त्री के संसर्ग से होने वाले दोषों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि स्त्री पुरुष को अपने वश में करके इस जन्म और परलोक - दोनों जन्मों में दुःख देने वाले दोषों को प्रकट करने वाली होती है, निर्मल स्वभाव वाले पुरुष को भी मलिन करती है। स्त्री पुरुष का अनादर करती हुई भी कपट से पुरुष को टगती है और उद्यम करने पर भी पुरुष स्त्री को टग नहीं सकता है। पुरुष के लिए स्त्री के मन को जानना अति दुष्कर है, ऐसा उल्लेख करते हुए कहा गया है कि समुद्र में जितनी जल-तरंगें होती हैं तथा नदियों में जितने रेत-कण होते हैं, उससे भी अधिक स्त्री के मन के अभिप्राय होते हैं। आकाश, भूमि, समुद्र, मेरुपर्वत एवं वायु, आदि दुर्जेय पदार्थों को पुरुष जान सकता है, किन्तु स्त्रियों के भावों को किसी भी तरह से नहीं जान सकता है। जिस प्रकार पानी का बुलबुला और बिजली का प्रकाश स्थिर नहीं रहता है, वैसे ही स्त्रियों का चित्त एक पुरुष से चिरकाल तक प्रसन्न नहीं रहता है। परमाणु भी एक बार हाथ में पकड़ा जा सकता है, किन्तु स्त्री के मन की अति सूक्ष्मता को पकड़ने में पुरुष भी शक्तिमान् नहीं है। विकराल सिंह, सर्प एवं हाथी को भी पुरुष किसी तरह वश में कर सकता है, किन्तु दुष्ट स्त्रियों को वश में नहीं कर सकता है। सम्भव है कि पानी में भी पत्थर तैर जाय, अग्नि भी शीतलता दे, किन्तु स्त्री का चित्त कभी भी ऋजु या सरल नहीं हो सकता है, अतः सरलता के अभाव में स्त्री पर विश्वास कैसे हो सकता है और बिना विश्वास स्त्रियों में प्रीति कैसे हो सकती है? इसलिए इन सर्व कारणों से स्त्री के प्रति ममत्वबुद्धि सर्वथा त्याज्य है।¹⁵⁷

संवेगरंगशाला में स्त्री-चारित्र्य का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा गया है कि मनुष्य का स्त्री के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है, इसलिए स्त्री को न+अरि=नारी कहते हैं। स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न हुए दोषों का चिन्तन करने वाले विवेकी पुरुष का मन प्रायः स्त्रियों से विरक्त हो जाता है। जैसे विवेकी पुरुष इस लोक में दोषों से युक्त सिंह, आदि का त्याग करता है, वैसे ही दोषों से युक्त स्त्रियों से भी दूर रहता है।

स्त्री के दोषों के सम्बन्ध में अधिक क्या कहें? संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने कहा है कि जो वस्तु शुद्ध सामग्री से बनी हो, उसका मूल कारण

¹⁵⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ७६८०/७६८३.

¹⁵⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ७६६०-८०११

शुद्ध होने से वह शुद्ध होती है, किन्तु अशुद्धि से बने हुए शरीर की शुद्धि किस तरह हो सकती है। शरीर की उत्पत्ति का कारण शुक्र और रुधिर हैं और ये दोनों ही अपवित्र हैं, इसलिए अशुद्धि से बना हुआ स्त्री शरीर भी अशुद्ध है विस्तारभय से यहाँ उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

संवेगरंगशाला में अशुद्धि से शरीर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने गर्भावस्था के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में स्त्री-संसर्ग से विपत्ति को प्राप्त करने वाले चारुदत्त की कथा का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है।¹⁵⁸

अपरिग्रह-महाव्रत :-

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार अपरिग्रह का उल्लेख करते हुए मुनि को कहते हैं- हे मुनि! तू बाह्य एवं आभ्यन्तर- दोनों प्रकार के सर्वपरिग्रह की आसक्ति का मन-वचन व काया से त्याग कर। इसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर के क्रमशः ६ एवं १४ भेद कहे गए हैं, वे ये हैं- चार वेद, हास्यादिषट्क एवं चार कषाय- ये चौदह आभ्यन्तर-परिग्रह हैं। क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, धातु-सोना-चांदी, दास-दासी, पशु-पक्षी, तथा शयन-आसनादि नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। जैसे- क्षालयुक्त चावल (धान) शुद्ध नहीं कहलाता है, वैसे परिग्रह से युक्त जीव भी कर्ममल से शुद्ध नहीं हो सकता है, साथ ही यह भी कहा गया है कि जब गारव एवं परिग्रह-संज्ञा का उदय होता है, तब लालची जीव को परिग्रह संग्रह करने की बुद्धि पनपती है। उसके कारण वह जीवों की हत्या करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अपरिमित धन एकत्रित करता है। धन के मोह में जीव अहंकार, चुगली, कलह, कठोरता, झगड़ा, आदि अनेक दोषों का सेवन करता है।¹⁵⁹

धन-प्राप्ति के लिए सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, वर्षा, आदि अनेक कष्टों का भार-वहन करता है, साथ ही नीच-कर्म भी करता है, फिर भी मन्द भाग्य के कारण धन को प्राप्त नहीं कर पाता है। यदि किसी तरह धन मिल भी जाए तो उसे उस धन से तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि लोभ से लोभ बढ़ता है। जैसे ईंधन से अग्नि और नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता, वैसे ही जीव को तीन लोक की ऋद्धि भी मिल जाए, फिर भी तृप्ति नहीं होती है।

¹⁵⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ८०१०/८०२७

¹⁵⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ८१४७/८१५३

धन के लिए जीव माता, पिता, पुत्र और पुत्री पर भी विश्वास नहीं करता है। धन की रक्षा करते हुए समग्र रात्रि जाग्रत रहता है तथा जब धन का विनाश होता है, तब पुरुष उन्मत्त होकर विलाप करता है, शोक करता है और पुनः धन की प्राप्ति की उत्सुकता रखता है। परिग्रह के ग्रहण एवं रक्षण में मर्यादा से भ्रष्ट हुआ जीव शुभध्यान आदि धर्म नहीं कर सकता है।¹⁶⁰

जैसे अग्नि का हेतु लकड़ी है, वैसे ही कषायों का हेतु आसक्ति या संग्रहबुद्धि है, इसलिए अपरिग्रही साधु कषायों का त्याग करते हैं। जो अपरिग्रही होता है, वही नम्र एवं सबका विश्वास-पात्र बनता है। जो परिग्रहों में आसक्ति रखता है, वह अभिमानी, चिन्तातुर एवं शंका का पात्र बनता है, इसलिए हे सुविहित मुनि! तुझे भूत, भविष्य और वर्तमान के सर्वपरिग्रह का तीन योग व तीन करण से त्याग करना चाहिए। इस तरह सर्वपरिग्रह का त्यागी साधु मोक्ष को प्राप्त करता है।¹⁶¹ अहिंसा आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग अनिवार्य है, अतः आगे रात्रिभोजनत्याग की चर्चा करेंगे।

रात्रिभोजनत्याग-व्रत :-

रात्रि-भोजन को महापाप कहा है। शास्त्रकारों ने कहा है- “धुवड़ कागने नागना ऐ पामे अवतारतो”, यानी रात्रिभोजन करने से जीव उल्लू, कौआ और सर्प, इत्यादि योनियों को प्राप्त करते हैं। रत्नसंचय नामक ग्रन्थ में रात्रि-भोजन से कितना पाप लगता है, उसका उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि १६६ भव तक परस्त्रीगमन करने में जितना पाप लगता है, उतना पाप एक बार रात्रिभोजन करने वाले को लगता है, तो फिर प्रतिदिन रात्रिभोजन करने से कितना पाप लगेगा?¹⁶²

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार रात को भोजन न करना अहिंसा-महाव्रत का संरक्षक होने के कारण समिति की भांति उत्तरगुण है, फिर भी मुनि के लिए वह अहिंसा महाव्रत की तरह पालनीय है, अतः मूलगुण के अन्तर्गत गिना जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि साधु के पंच महाव्रत आदि २७ गुण को मूलगुण एवं मूलगुणों के संरक्षक पिण्डविशुद्धि आदि को उत्तरगुण कहा गया है। जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, इसमें हमें रात्रिभोजनत्याग के सम्बन्ध में अलग से कोई विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु चतुर्थद्वार के प्रथम अनुशास्ति नामक प्रतिद्वार के दसवें पंचमहाव्रत नामक उपद्वार में अहिंसाव्रत

¹⁶⁰ संवेगरंगशाला, याथा ८१५७/८१६५.

¹⁶¹ संवेगरंगशाला, याथा ८१७१/८१७८.

¹⁶² श्राद्धदिनचर्या - ५७.

में एवं अपरिग्रहविरमण व्रत की चर्चा के साथ ही रात्रिभोजन के निषेध का भी उल्लेख मिलता है।

रात्रिभोजन क्यों नहीं करना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि रात्रि में पृथ्वी पर सूक्ष्म त्रस एवं स्थावर जीव व्याप्त रहते हैं, अतः रात्रिभोजन में उनकी हिंसा से नहीं बचा जा सकता है। इसी कारण साधु को रात्रिभोजन का निषेध है।¹⁶³ इस प्रकार अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए साधु रात्रिभोजन का आजीवन परित्याग करता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन¹⁶⁴, सूत्रकृतांग¹⁶⁵, पद्मपुराण¹⁶⁶, पुरुषार्थसिद्धयुपाय¹⁶⁷ आदि में भी रात्रिभोजन-निषेध का उल्लेख मिलता है।

अष्ट प्रवचनमाता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) :-

पूर्वोक्त महाव्रतों के रक्षण एवं उनकी परिपुष्टि करने के लिए जैन परम्परा में पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान है। इन्हें अष्टप्रवचन-माता भी कहा जाता है। ये आठ गुण श्रमण-जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं, जैसे माता अपने पुत्र का संरक्षण करती है, इसीलिए इन्हें माता कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र एवं भगवतीआराधना में भी पाँच समिति और तीन गुप्तियों को अष्टप्रवचनमाता के नाम से अभिहित किया गया है।¹⁶⁸ श्रमणधर्म निवृत्तिप्रधान है। श्रमण-साधना के दो पक्ष माने गए हैं—प्रथम तीन गुप्तियाँ, जो श्रमण-जीवन की साधना के निषेधात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। वे यह बताती हैं कि क्या नहीं करना चाहिए? दूसरे पाँच समितियाँ उसके विधेयात्मक पक्ष प्रस्तुत करती हैं, ये पाँच समितियाँ पाप-प्रवृत्तियों से बचने के लिए हैं। मुनि-जीवन में की जाने वाली इन प्रवृत्तियों को समिति कहते हैं। ये पाँच समितियाँ महाव्रतों की रक्षा और पालन में सहायक होने से साधु-आचार का मुख्य अंग है। श्रमणजीवन में सम्यक् रूप से संयम का निर्वाह हो सके, उसके लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनको विवेकपूर्वक सम्पादित करना ही समिति है। उत्तराध्ययनसूत्र¹⁶⁹ के अनुसार समितियाँ संयमी जीवन की प्रवृत्ति के लिए हैं। समितियाँ पाँच हैं :- १. ईर्या

¹⁶³ दशवैकालिकभाष्य - ६/२३.

¹⁶⁴ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/३०, ३०/२.

¹⁶⁵ सूत्रकृतांग, १/६/२८.

¹⁶⁶ पद्मपुराण - प्रभासखण्ड; उद्धृत श्राद्ध दिनचर्या.

¹⁶⁷ पुरुषार्थसिद्धयुपाय - १३२.

¹⁶⁸ (अ) उत्तराध्ययनसूत्र - २४/८, (ब) भगवतीआराधना गाथा, ११७६.

¹⁶⁹ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/३.

(गमन)-समिति २. भाषा-समिति ३. एषणा-समिति ४. आदान-भण्ड-निक्षेपण ५. उच्चारादि-प्रतिस्थापन समिति।

(१) ईर्या-समिति :-

जीवों की रक्षा के लिए सावधानी के साथ चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। श्रीमद्देवचन्द्रजी ने ईर्या-समिति की सञ्ज्ञाय में साधु के आवागमन के चार कारण बताए हैं:-

१. जिनवन्दन २. विहार ३. आहार और ४. निहार।¹⁷⁰

उत्तराध्ययन¹⁷¹ के अनुसार मुनि को चलने की क्रिया करते समय स्वाध्याय, बातचीत, चिन्तन करना, आदि क्रियाओं का निषेध किया गया है तथा आलम्बन, काल, मार्ग और यतना, आदि अनेक नियम प्रस्तुत किए गए हैं। आचारांगसूत्र में इसी की चर्चा और विस्तार से उपलब्ध होती है।¹⁷²

१. चलते समय सावधानीपूर्वक सामने की भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

२. भय और विस्मय का त्याग कर चलना चाहिए।

३. वनस्पति, व्रण-पल्लव, आदि से एक हाथ दूर चलना चाहिए।

४. चलते समय हाथ-पैरों को आपस में टकराना नहीं चाहिए, आदि।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट निर्णय लिया जा सकता है कि मुनि जीवन के मूल में हिंसा से बचने का विधान है, इसलिए आवागमन की क्रिया अत्यन्त आवश्यक कार्य होने पर ही की जाना चाहिए, ताकि मुनि सूक्ष्म जीवों की विराधना से बच सके।

(२) भाषा-समिति :-

यतनापूर्वक हित, मित, प्रिय, निरवद्य एवं सत्य वचन बोलने को भाषा-समिति कहा गया है। मुनि को सदोष, कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवों को

¹⁷⁰ जिनवन्दन गामान्तरे जी के आहार निहार, श्रीमद् देवचन्द्र सञ्ज्ञायमाला, भाग-१, पृ. ७

¹⁷¹ उत्तराध्ययनसूत्र - २४१८.

¹⁷² आचारांगसूत्र - २/१३/२ - ११.

आघात एवं परिताप देने वाली भाषा नहीं बोलना चाहिए, बल्कि वाणी का विवेक रखते हुए सावधानीपूर्वक बोलना चाहिए। मधुरभाषी व्यक्ति स्वजनों का प्रिय एवं विश्वसनीय बनता है, अतः व्यक्ति को अत्यन्त अल्प, वह भी पहले विचार करके, फिर बोलना चाहिए। प्रत्येक शब्द को तौल-तौल कर बोलना चाहिए, वाणी का विवेक श्रमण व श्रावक जीवन- दोनों के लिए आवश्यक है। मुनि को कैसी भाषा बोलना चाहिए, इसकी चर्चा सत्य-महाव्रत के सन्दर्भ में विस्तार से की जा चुकी है, अतः यहाँ उसका पुनः विवेचन नहीं किया गया है।

(३) एषणा-समिति :-

मुनि को संयम-निर्वाह के लिए आहार और स्थान आदि की आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। विवेक रखते हुए मुनि को याचना द्वारा इन आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना चाहिए, यही एषणा-समिति है। उत्तराध्ययन में एषणा के तीन भेद प्रतिपादित किए गए हैं¹⁷³ :- १. गवेषणा-खोज की विधि २. ग्रहणैषणा-ग्रहण (प्राप्त) करने की विधि और (३) परिभोगैषणा-आहार करने या वस्तु का उपयोग करने की विधि- एषणा; ये तीनों प्रकार मुनि के आहार, उपधि (वस्त्र-पात्र) और शय्या (स्थान) के सम्बन्ध में बतलाए गए हैं।

जैन-मुनियों की भिक्षावृत्ति अन्य धर्म के मुनियों से बिल्कुल भिन्न है। मुनि अपने संयम-निर्वाह हेतु किसी एक घर पर भाररूप बने बिना अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लाता है, इस सम्बन्ध में कहा भी गया है कि जिस प्रकार भ्रमर विभिन्न वृक्षों के फूलों को कष्ट नहीं देता हुआ अपना आहार ग्रहण करता है, जैसे गाय मूल से घास न खाकर ऊपर-ऊपर से थोड़ी घास खाकर अपना निर्वाह करती है, उसी प्रकार मुनि भी किसी को कष्ट नहीं देता हुआ, थोड़ा आहार ग्रहण करता है।¹⁷⁴

मुनि को राजमहल, वेश्या-गृह, गुप्तचरों के मंत्रणा-स्थल आदि से आहार लाना निषिद्ध है, क्योंकि इनके कारण से सन्देह में पकड़े जाने का भय रहता है एवं यह लोकापवाद का कारण भी होता है।¹⁷⁵

उत्तराध्ययनसूत्र¹⁷⁶ के अनुसार भिक्षुक दिन के प्रथम प्रहर में ध्यान करे, दूसरे प्रहर में स्वाध्याय करे, तीसरे प्रहर में भिक्षा हेतु नगर अथवा गाँव में प्रवेश

¹⁷³ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/११

¹⁷⁴ दशवैकालिक - १/२, ४

¹⁷⁵ दशवैकालिक - ५/१/६, १६

¹⁷⁶ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१२

करे। इस तरह भिक्षुकाल एवं अकाल का विशेष ध्यान रखते हुए भिक्षा के लिए जाए।

(४) आदान-भण्ड-निक्षेपण-समिति :-

जैसे मुनि को चलते समय, बोलते समय एवं आहार लेते समय- इस तरह प्रत्येक कार्य में विवेक रखने को कहा गया है, वैसे ही चौथी समिति में वस्तुओं को उठाते एवं रखते समय भी सावधानी एवं विवेक रखने का निर्देश दिया गया है, इसे ही आदान-भण्ड-निक्षेपण-समिति कहते हैं। आदान, अर्थात् उठाना, लेना एवं निक्षेपण, यानी वस्तु को रखना- इस तरह वस्तु को अच्छी तरह से देखकर एवं प्रमार्जन करके ग्रहण करे या रखे, जिससे मुनि-जीवन हिंसा से बच सके।

(५) उच्चार-प्रस्रवण-समिति :-

मल-मूत्र आदि अनावश्यक वस्तुएँ ऐसे स्थान पर विसर्जित करना, जिससे जीवों का घात न हो और न जीवोत्पत्ति हो तथा दूसरों को घृणा या कष्ट न हो। उत्तराध्ययन में मुनि के लिए निम्न परिहार्य वस्तुएँ बताई गई हैं- मल-मूत्र, कफ, नाक एवं शरीर का मैल, अनावश्यक आहार, पानी, अनुपयोगी वस्त्र एवं मुनि का मृत शरीर। भिक्षुक इन सब परिहार करने योग्य वस्तुओं को विवेकपूर्वक उचित स्थानों पर ही विसर्जित करे।¹⁷⁷

आचारांगसूत्र¹⁷⁸ में मल-मूत्र के परिहार हेतु दो निषिद्ध स्थान बताए गए हैं- १. व्रत-भंग की दृष्टि से और २. लोकापवाद की दृष्टि से। व्रत भंग की दृष्टि से मुनि नाली, पाखाने, जीव-जन्तु युक्त प्रदेश (स्थान) में मल-मूत्र आदि का विसर्जन न करे, क्योंकि उससे जीवों की हिंसा होने से अहिंसाव्रत भंग होता है। लोकापवाद की दृष्टि से भोजन पकाने के स्थान, सभागृह, देवालय, उपवन, प्याऊ, जहाँ मनुष्यों का आवागमन होता हो, इत्यादि स्थानों में मुनि को मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए, इससे जिनशासन की अवहेलना होती है। इस प्रकार मुनि को मल-मूत्र का विसर्जन करते समय प्रासुक भूमि को देखकर सावधानीपूर्वक इन्हें विसर्जित करना चाहिए।

¹⁷⁷ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१५.

¹⁷⁸ आचारांगसूत्र - द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १०

तीन गुप्तियाँ :-

मोक्षाभिलाषी आत्मा को आत्मरक्षा के लिए इन्द्रिय और मन का गोपन करना ही गुप्ति कहलाता है। असत्य प्रवृत्तियों या अशुभ योगों को रोकना ही गुप्ति है। आत्मा को मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों से हटाकर उसकी अशुभ से रक्षा करना ही गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं - १. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति और ३. कायगुप्ति।

१. मनोगुप्ति :

मन को अप्रशस्त, अशुभ एवं कुत्सित संकल्प-विकल्पों से हटाना यानी आर्त-रौद्रध्यान तथा संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ सम्बन्धी मानसिक-संकल्प-विकल्पों को रोक देना। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रमण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की हिंसक प्रवृत्तियों में जाते हुए मन को रोके, यही मनोगुप्ति है।¹⁷⁹

२. वचनगुप्ति :

वचन के अशुभ व्यापार को रोकना, अर्थात् असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक, अहितकर भाषा का प्रयोग नहीं करना वचनगुप्ति है। नियमसार में स्त्री-कथा, राज-कथा, चोर-कथा, भोजन-कथा आदि में वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना एवं असत्य वचन का परिहार करना ही वचनगुप्ति कहा है।¹⁸⁰

३. कायगुप्ति :

उठना-बैठना, खड़ा होना, आदि कायिक व्यापार हैं। शरीर को असत् व्यापारों से निवृत्त करना और प्रत्येक क्रिया में अयतना या असावधानी का परित्याग करके सावधानी रखना। नियमसार के अनुसार बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन, प्रसारण, आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।¹⁸¹

दसविध मुनिधर्म :-

संवेगरंगशाला में दसविध मुनि-धर्म का उल्लेख तो है, किन्तु उनके नाम तथा उनका विस्तृत विवरण एक स्थान पर नहीं मिलता है। इसमें प्रत्येक मुनि-धर्म का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। मुनि-जीवन में इन दशविध धर्मों का पालन करना अनिवार्य होता है। जैन ग्रन्थों में 'दशविध श्रमण धर्म' का

¹⁷⁹ उत्तराध्ययनसूत्र - २४/१.

¹⁸⁰ नियमसार ६७

¹⁸¹ नियमसार ६८.

वर्णन व्यापक रूप में उपलब्ध होता है, जैसे उत्तराध्ययनसूत्र,¹⁸² आचारांगसूत्र,¹⁸³ समवायांगसूत्र,¹⁸⁴ स्थानांगसूत्र,¹⁸⁵ मूलाचार,¹⁸⁶ तत्त्वार्थसूत्र,¹⁸⁷ आदि ग्रन्थों में इन धर्मों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है, यद्यपि संख्या या क्रम में आंशिक अन्तर मिलता है। जीव स्वभाव से अमर है, लेकिन कर्मवशात् उसका एक शरीर से दूसरे शरीर में शरीरान्त होता रहता है। अपने को अमर करने की अभिलाषा रखकर भी जीव नाशवान् पदार्थों के संग्रह में जुटा रहता है। उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि कषायों में रत रहने से उसका संसार-परिभ्रमण समाप्त नहीं होता है। नाशवान् पदार्थों की आसक्ति उसे अमर कैसे बना सकती है। जो स्वयं नाशवान् हैं, वे दूसरों को कैसे अमर बना सकेंगे? अमरता प्राप्ति का मार्ग है- क्षमा, मार्दव, आदि दशविध धर्मों का परिपालन, अतः मुनि-जीवन में इनका पालन परम आवश्यक बतलाया है। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

१. क्षमा :-

क्षमा को आत्मा का सबसे प्रमुख धर्म कहा गया है, क्रोध को दोषों की खान कहा है। क्रोध को उत्पन्न न होने देना एवं उत्पन्न होने पर उसे जीतना, उसका शमन करना क्षमा है। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए संसारी जीवों के भीतर राग-द्वेष, क्रोध-मान, आदि कषायें पलने लगती हैं, इसलिए जब साधक के अन्तर-चेतन में क्रोधरूपी अग्नि जलने लगे, तब उसे क्षमारूपी नीर से शान्त कर देने से आत्मा का निज गुण प्रकट होता है।

बृहत्कल्पभाष्य¹⁸⁸ में कहा गया है कि साधु, साध्वियों को परस्पर कलह हो जाने पर तत्काल क्षमायाचना करके उसे शान्त कर देना चाहिए। क्षमा याचना किए बिना गोचरी आदि के लिए जाना, स्वाध्याय करना एवं विहार करना भी नहीं कल्पता है। क्षमायाचना करने वाला साधु आराधक और न करने वाला विराधक माना जाता है। जैन-परम्परा में क्षमागुण को मानव का प्राण कहा गया है, इसलिए प्रतिवर्ष क्षमापना-पर्व के रूप में मैत्रीदिवस मनाया जाता है। उस दिन सभी

¹⁸² उत्तराध्ययनसूत्र - ६/५७.

¹⁸³ आचारांगसूत्र - १/६/५.

¹⁸⁴ समवायांगसूत्र - १०/१

¹⁸⁵ स्थानांगसूत्र - १०/१४.

¹⁸⁶ मूलाचार - ११/१५.

¹⁸⁷ तत्त्वार्थसूत्र - ६/६.

¹⁸⁸ बृहत्कल्पभाष्य - ४/१५.

साधर्मिक बन्धु एवं श्रमणसंघ मिलकर परस्पर क्षमायाचना करते हैं। वे कहते हैं- “मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी भी मुझे क्षमा करें। मेरी सभी प्राणियों से मित्रता है। किसी से मेरा वैर नहीं है।” उत्तराध्ययन में कहा गया है- ‘मेति भूएसु कप्पए’, अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव धारण करें।¹⁸⁹

संवेगरंगशाला में साधक को यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि समाधिमरण ग्रहण करने के पूर्व वह सर्वजीवों से क्षमायाचना करे।¹⁹⁰

२. मार्दव :-

मान पर विजय प्राप्त करना, विनम्रवृत्ति रखना मार्दव कहलाता है। संवेगरंगशाला में विनय के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया गया है- प्रथम ज्ञानविनय, दूसरा दर्शनविनय, तीसरा चारित्रविनय, चौथा तपविनय एवं पाँचवाँ उपचारविनय है। उसमें ज्ञानविनय के आठ भेद- काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवण, व्यंजन, अर्थ और तदुभय कहे गए हैं।¹⁹¹

निःशक्ति, निष्कांक्षित, आदि आठ प्रकार के दर्शनविनय¹⁹² एवं प्रणिधानपूर्वक पाँच समिति और तीन गुणियों में आश्रित होकर उद्यम करना, वही आठ प्रकार का चारित्रविनय है।¹⁹³ तप में उद्यम करना तपविनय है¹⁹⁴ एवं औपचारिकविनय कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से तीन प्रकार का है।¹⁹⁵

इस तरह विनय के अनेक भेदों को जानकर आराधना के अभिलाषी साधक को विनयधर्म का आचरण करना चाहिए। विनय से विद्या प्राप्त होती है, विनय लक्ष्मी का मूल है, समस्त सुखों का मूल है, निश्चय से तो विनय धर्म का मूल है, तथा विनय कल्याणकारी-मोक्ष का भी मूल है। विनयरहित सारा अनुष्ठान निरर्थक है। अभिमान से विनय नष्ट होता है। मान-कषाय के उपशांत होने पर ही मार्दव (विनम्रता) धर्म प्रकट होता है। अभिमान उत्पन्न होने के आठ कारण होने से मान के आठ भेद कहे गए हैं - जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ज्ञान (श्रुत) मद, लाभमद, और ऐश्वर्य (प्रभुत्व) मद। व्यक्ति जिस वस्तु का

¹⁸⁹ उत्तराध्ययनसूत्र - ६/२.

¹⁹⁰ संवेगरंगशाला, ४२४३-४२८०/५४८०-५४८८/५५००-५५१०.

¹⁹¹ संवेगरंगशाला, गाथा - १५६१.

¹⁹² संवेगरंगशाला, गाथा - १५६२.

¹⁹³ संवेगरंगशाला, गाथा - १५६३.

¹⁹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा - १५६४.

¹⁹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा - १५६५.

अभिमान करता है, उससे उस वस्तु की प्राप्ति में कमी हो जाती है, जैसे-ज्ञान का घमण्ड करने से मूर्खता और रूप का अभिमान करने से कुरूपता मिलती है, इसीलिए अभिमान करना योग्य नहीं है।

उत्तराध्ययनसूत्र¹⁹⁶ एवं दशवैकालिकसूत्र¹⁹⁷ में विनय धर्म का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

३. आर्जव :-

माया, छल, कपट, वक्रता का त्याग करना तथा सरल वृत्ति रखना आर्जव-धर्म है। आर्जव-धर्म का पालन करने से मन, वचन, काय की कथनी-करनी में समानता की प्राप्ति होती है। जब व्यक्ति का मन माया, छल, कपट, आदि में उलझता रहता है, तो वह मूढ़ात्मा अपनी काया की छाया में ही सुख को खोजने लगता है, अतः शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए कथनी व करनी में सरलता व एकरूपता जरूरी है।

बौद्ध-दर्शन में ऋजुता को कुशलधर्म कहा गया है। 'अंगुत्तरनिकाय' में कहा गया है कि माया या शठता दुर्गति का कारण है जबकि ऋजुता, सुख, सुगति, स्वर्ग और मोक्ष का कारण है।¹⁹⁸

४. मुक्ति :-

लोभ को जीतना, यानी निर्लोभता ही मुक्ति है। यह पौद्गलिक-वस्तुओं की आसक्ति का त्याग करना है। इस धर्म का पालन करने से अपरिग्रहत्व की प्राप्ति होती है। कुछ ग्रन्थों में मुक्ति-धर्म के स्थान पर शौच, लाघव, आदि नाम भी मिलते हैं। लोभ पापों का मूल है। लोभ से जीव की बुद्धि बिगड़ती है और इससे वह अनर्थ-कार्य करता है। हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, आदि पाप-प्रवृत्ति करना लोभ का ही परिणाम है, अतः जीवों को सन्तोषरूपी धन को धारण कर सुखी जीवन जीना चाहिए। आकिंचन्यभाव को मुक्ति का फल कहा गया है।

५. तप :-

कर्मों से विमुक्ति प्राप्त करने के लिए जो धर्माराधना की जाती है, वह तप है, अर्थात् जिस (धार्मिक) अनुष्ठान द्वारा शारीरिक-विकारों और ज्ञानावरणादि

¹⁹⁶ उत्तराध्ययनसूत्र - १/४५.

¹⁹⁷ दशवैकालिकसूत्र - ८/३६.

¹⁹⁸ अंगुत्तरनिकाय - २/१५, १७

कर्मों को तपाकर नष्ट किया जाए, उसे तप कहते हैं। तप के दो भेद हैं- १. बाह्य तप एवं २. आभ्यन्तर-तप। बाह्य तप के अनशन, उनीदरी, आदि छः भेद हैं एवं आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय, आदि छः भेद होते हैं। कुल मिलाकर तप के बारह भेद किए गए हैं। इनका विवेचन आगे किया गया है। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि मुनि को अपनी शक्ति छिपाए बिना बाह्य एवं आभ्यन्तर-तप करना चाहिए तथा जो अपनी शक्ति छिपाता है, वह माया-कषाय, एवं वीर्यान्तराय-कर्म का बन्ध करता है तथा जो सुखशीलता, प्रमाद एवं देहासक्ति के कारण तप नहीं करता है, वह क्रमशः माया के कारण मोहनीयकर्म, सुखशीलता के कारण अशातावेदनीयकर्म और प्रमाद के कारण चारित्रमोहनीयकर्म का बन्ध करता है। पुनः, देहासक्ति से परिग्रह-दोष उत्पन्न होता है। इस तरह यथाशक्ति तप नहीं करने वालों को ये दोष लगते हैं एवं तप करने वालों को इस लोक और परलोक में गुणों की प्राप्ति होती है। संसार में कल्याण, ऋद्धि, सुख, आदि के साथ जो मानवीय जीवन, दैवीय-जीवन और मोक्ष का सुख मिलता है, वह भी तप से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार पापरूपी पर्वत तोड़ने में वज्र के दण्डसदृश, कामरूपी हाथी को नाश करने में भयंकर सिंह के समान एवं भवसमुद्र को पार उतरने के लिए नौका के तुल्य श्रेष्ठ मात्र तप को ही कहा गया है, इस तरह हे मुनि! तू गुणों के भण्डारस्वरूप तप को जानकर मन की इच्छाओं को रोककर, उत्साहपूर्वक यथाशक्ति तप में प्रवृत्ति कर।¹⁹⁹

६. संयम :-

सर्व सावद्य व्यापारों से निवृत्त होना संयम-धर्म है। संयम सत्तरह प्रकार के हैं- पाँच-आश्रव से निवृत्ति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय तथा मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति से विरक्ति। समवायांगसूत्र²⁰⁰ में संयम के निम्न सत्तरह प्रकार बताए गए हैं। १. पृथ्वीकाय-संयम २. अपृकाय-संयम ३. तेजस्काय-संयम ४. वायुकाय-संयम ५. वनस्पतिकाय-संयम ६. द्वीन्द्रिय-संयम ७. त्रीन्द्रिय-संयम ८. चतुरिन्द्रिय-संयम ९. पंचेन्द्रिय-संयम १०. अजीवकाय-संयम ११. प्रेक्षा-संयम १२. उपेक्षा-संयम १३. अपहृत्य-संयम १४. प्रमार्जना-संयम १५. मन-संयम १६. वचन-संयम एवं १७. काय-संयम। जिस प्रकार कर्मों की निर्जरा के लिए तप-धर्म की आराधना करना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार भावी कर्मों के आस्रवों के निरोध हेतु संयम-धर्म की साधना भी आवश्यक होती है।

¹⁹⁹ संवेगरंगशाला, गाथा - ६११६/६१२७.

²⁰⁰ समवायांगसूत्र - अष्टादश स्थानक १२५, पृ. ५६.

७. सत्य :-

सावद्य, अप्रिय एवं अहितकारी मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करना, सत्य व्यवहार करना, सत्य-धर्म हैं। सत्यधर्म का पालन करने वालों को ही सभी प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है, इसलिए साधु को प्राण देकर भी सत्य की सुरक्षा करना चाहिए। न्याय-नीतिपूर्वक या ईमानदारीपूर्वक जीवन यापन करना ही सत्य धर्म है। जैनधर्म में सत्य धर्म का सर्वाधिक महत्व होने से इसके चार रूपा उपलब्ध होते हैं- १. सत्यमहाव्रत २. भाषासमिति ३. वचनगुप्ति एवं ४. सत्यधर्म। साधु को सदैव सत्य वचन बोलना चाहिए। इससे सत्य धर्म का पालन होता है एवं सत्य महाव्रत भी खण्डित नहीं होता है।

८. शौच :-

विषय-वासनाओं या कषायों की गंदगी हमारे चित्त को कलुषित करती है, अतः उसकी शुद्धि ही शौचधर्म है।²⁰¹ जैनधर्म में पवित्रता को शौच कहा जाता है। पवित्रता दो प्रकार से होती है- शारीरिक-पवित्रता और मानसिक-पवित्रता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शौचधर्म, यानी शारीरिक-पवित्रता, अर्थात् स्नान, दन्त-प्रक्षालन, आदि एवं मानसिक-पवित्रता, अर्थात् विषय-कषाय, आदि की शुद्धि को ही कहा गया है। उत्तराध्ययन²⁰² में कलुषित मनोभावों को दूर करने के लिए धर्मरूपी सरोवर में स्नान करने से जीव विमल एवं विशुद्ध बन जाता है, ऐसा उल्लेख है।

९. अकिंचनता :-

अकिंचनता का दूसरा नाम लाघव भी है। अकिंचनता का अर्थ है- द्रव्य से अल्प उपकरण रखना एवं भाव से तीन प्रकार के गारव का परित्याग करना। गारव, यानी मान एवं लोभसहित अशुभ भावना। तत्त्वार्थभाष्य²⁰³ के अनुसार शरीर तथा धर्मोपकरण आदि में ममत्वभाव का सर्वथा अभाव अकिंचनता धर्म है। इसमें व्यक्ति एकत्वभावना का चिन्तन करता है, इससे लोभ की प्रवृत्ति घटती है और निर्लोभता तथा अपरिग्रहवृत्ति जाग्रत होती है। जिस प्रकार कपिल ब्राह्मण ने लोभ का त्याग करके केवलज्ञान को प्राप्त कर अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त किया, उसी प्रकार मुनि भी अकिंचनता का पालन कर मोक्ष को प्राप्त करें।

²⁰¹ जैन, बौद्ध तथा गीता के आधारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ. ४१४.

²⁰² उत्तराध्ययनसूत्र - १२/४६

²⁰³ तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, पृष्ठ - २१३.

१०. ब्रह्मचर्य :-

संवेगरंगशाला में²⁰⁴ ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ उपलब्ध होता है। ब्रह्म, अर्थात् आत्मा, और चर्य, अर्थात् रमण। आत्मा में तल्लीन रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य-धर्म का विस्तृत उल्लेख महाव्रतों एवं अणुव्रतों के सन्दर्भ में किया गया है। श्रमण को समस्त प्रकार के मैथुन का त्याग होता है, जबकि गृहस्थ-उपासक को स्वपत्नी-सन्तोष की मर्यादा होती है। ब्रह्मचर्य के पालन से व्यक्ति अनेक दोषों से बचता है, क्योंकि एक बार मैथुन का सेवन करने से लाखों जीवों की हिंसा होती है तथा वह मानसिक रूप से अशान्त बनता है एवं देह में भी अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसकी आसक्ति व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है, अतः श्रमण को अनिवार्य रूप से इस धर्म का पालन करना चाहिए।

परीषद:-

आए हुए कष्टों को समता से सहन करना ही परीषद है। मुनि-जीवन में सबसे महत्वपूर्ण यदि कोई कठिन नियम है, तो वह परीषदों को समभावपूर्वक सहन करना है। गृहस्थ-जीवन में भी अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उसमें वह समता नहीं होती है, जो श्रमण-जीवन में होती है। जैन-धर्म में एक या दो ही नहीं, बल्कि कुल बाईस परीषद कहे गए हैं। इन परीषदों को सहन करने से मुनि के कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए कष्ट-सहिष्णुता मुनि-जीवन के लिए अनिवार्य ही नहीं, उसकी जीवनचर्या का एक आवश्यक अंग भी है। जो कष्टसहिष्णु नहीं रहता है, वह अपने नैतिक-पथ से विचलित हो जाता है।

जैन-साधु को दीक्षा स्वीकार करते ही इन बाईस परीषदों को सहन करना होता है। संवेगरंगशाला में इनका स्वतन्त्र रूप से तो कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु क्षपक को परीषदों को सहन करने के निर्देश हैं।²⁰⁵ इनका विवेचन उत्तराध्ययन²⁰⁶ एवं समवायांगसूत्र²⁰⁷ में उपलब्ध होता है, वे ये हैं -

१. क्षुधा-परीषद :- भूख की वेदना से पीड़ित होता हुआ भी भिक्षु अशुद्ध आहार ग्रहण न करे, बल्कि क्षुधा-वेदना को समभावपूर्वक सहन करे।

²⁰⁴ संवेगरंगशाला, गाथा - ८६३३-८६६३.

²⁰⁵ संवेगरंगशाला, गाथा २१४४.

²⁰⁶ उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २.

²⁰⁷ समवायांग, २२/१.

२. तृषा-परीषह :- भयंकर प्यास में व्याकुल बना मुनि स्वप्न में भी सचित्त जल पीने की इच्छा न करे, वरन् नरक के जीवों की वेदना एवं महापुरुषों के कष्टमय जीवन का चिन्तन करते हुए प्यास की वेदना को सहन करे।

३. शीत-परीषह :- शीतऋतु में शीत परीषह के निवारण हेतु अधिक वस्त्रों को धारण न करे एवं अल्प वस्त्र के कारण अग्नि का ताप भी न ले।

४. उष्ण-परीषह :- ग्रीष्मकाल में भीषण गर्मी से शरीर में व्याकुलता होने पर भी मुनि स्नान, अथवा पंखे की हवा आदि से गर्मी को शान्त करने का प्रयत्न न करे, बल्कि उसे समभाव से सहन करे।

५. दंश-मशक-परीषह :- डाँस, मच्छर, आदि के द्वारा डंक मारने पर दुःख उत्पन्न हो, तो भी क्रोध या आवेश में आकर उन्हें त्रास न दे, वरन् उपेक्षाभाव रखे।

६. अचेल-परीषह :- वस्त्र के अभाव की चिन्ता न करे, न वीभत्स वस्त्र को धारण करे।

७. अरति-परीषह :- मुनि-जीवन में सुख-सुविधाओं का त्याग होता है, फिर भी यदि उनके भोग का विचार उत्पन्न हो एवं संयम में रुचि न रहे, तो भी मन लगाकर संयम-धर्म का पालन करे।

८. स्त्री-परीषह :- स्त्री-संसर्ग को आसक्ति, बन्धन और पतन का कारण जानकर स्त्री-संग की इच्छा न करे और उनसे दूर रहे। साध्वियों के सन्दर्भ में यहाँ पुरुष-परीषह समझना चाहिए।

९. चर्या-परीषह :- चातुर्मास के अतिरिक्त शेषकाल में मुनि को गांव में एक रात्रि एवं नगर में पाँच रात्रि से अधिक स्थिरवास करने का निषेध है, अतः अनेक प्रकार के कष्टों को समता से सहन करते हुए सदैव भ्रमण करे।

१०. निषद्या-परीषह :- विषम, अथवा कंकरीली भूमि में स्वाध्याय, ध्यान, आदि के लिए एकासन में बैठना पड़े, तो भी मन में बुरे विचार न लाए एवं दुःखी न होते हुए उसे समभावपूर्वक सहन करे।

११. शय्या-परीषह :- मुनि को ठहरने, अथवा सोने के लिए विषम भूमि हो, तो कोमल शय्या का विचार नहीं करे, बल्कि सहन करे।

१२. आक्रोश-परीषह :- यदि कोई भी मुनि को ताड़न, तर्जना, आदि द्वारा कष्ट दे, अथवा कर्कश शब्द या कठोर वचन कहे, तो भी मुनि उसे सहन करे।

१३. वध-परीषह :- यदि कोई मुनि को लकड़ी या हाथ, आदि से मारे, अथवा अन्य किसी शस्त्र से वध करे, तो उसे उस वध-परीषह को समता से सहन करना चाहिए।

१४. याचना-परीषह :- मान और अपमान की भावना से रहित होकर मुनि भिक्षाप्राप्ति करे। आवश्यक वस्तुएँ सुलभता से प्राप्त नहीं होती हैं- ऐसा विचार कर मन में दुःखी न हो, बल्कि ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार की गवेषणा करे।

१५. अलाभ-परीषह :- मुनि को लाभान्तराय-कर्म के उदय से आवश्यक उपधि (वस्त्र, पात्र) आदि नहीं मिलने पर तथा आहार की प्राप्ति नहीं होने पर, लाभान्तराय-कर्म का उदय जानकर परीषह को सहन करे।

१६. रोग-परीषह :- चिकित्सा के अभाव में रोग की पीड़ा से दुःखी न होकर मुनि समता से बीमारी को सहन करे।

१७. तृण-परीषह :- तृण, आदि की शय्या में निद्रा लेने से तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से तृण या काँटे, आदि के चुभने से होने वाली वेदना को कर्मों की निर्जरा का हेतु जानकर सहन करे।

१८. मल-परीषह :- शरीर या वस्त्र में पसीने से, अथवा रज, आदि के कारण मैल, आदि जम जाने से दुर्गन्ध उत्पन्न हो, तो भी उद्विग्न न होकर समभाव से सहन करे।

१९. सत्कार-परीषह :- जनता द्वारा मान-सम्मान के प्राप्त होने या न होने पर भी प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव रखे।

२०. प्रज्ञा-परीषह :- शिष्यों को बार-बार सूत्रों का अर्थ बताना पड़े, तो अधीर होकर विद्वान् मुनि को यह विचार नहीं करना चाहिए कि इससे तो अज्ञानी होना अच्छा होता।

२१. अज्ञान-परीषह :- मन्दबुद्धि के कारण शास्त्रों का अध्ययन न कर पाने से खिन्न हुए बिना मुनि को परिश्रमपूर्वक अपनी साधना में लगे रहना चाहिए।

२२. दर्शन-परीषह :- अन्य मतावलम्बियों के चमत्कार व आडम्बर को देखकर उनका अनुमोदन नहीं करना चाहिए एवं स्वयं को हीन नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार आडम्बरों को देखकर उत्पन्न हुई अश्रद्धा को मिटाना दर्शन परीषह-है।

संवेगरंगशाला में स्पष्ट रूप से यह वर्णन किया गया है कि अनियत विहार करने से, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, इत्यादि परीषहों को सहन करने से एवं वसति, अर्थात् रहने का स्थान जैसा भी मिलता है, उसके कष्ट को सम्यक् रूप से सहन करने से चारित्र का अभ्यास होता है।²⁰⁸

दसविध सामाचारी :-

मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय नियम सामाचारी कहे जाते हैं। सामाचारी का दूसरा अर्थ सम्यक् दिनचर्या भी है। मुनि को अपने दैनिक जीवन के नियमों के प्रति विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में दस प्रकार की सामाचारी कही गई हैं, जो इस प्रकार हैं²⁰⁹ :-

१. आवश्यकीय :- मुनि आवश्यक कार्य होने पर उपाश्रय (निवासस्थान) से बाहर जाए। अनावश्यक रूप से आवागमन नहीं करे।

२. नैषेधिकी :- उपाश्रय में आने पर यह विचार करे कि मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर आया हूँ। अब नितान्त आवश्यक कार्य के सिवाय मेरे लिए बाहर जाना निषिद्ध है।

३. आपृच्छना :- अपना कोई भी कार्य करने के लिए गुरु एवं गणनायक की आज्ञा प्राप्त करे।

४. प्रतिपृच्छना :- दूसरे के कार्य को गुरु एवं गणनायक से पूछकर करे।

५. छंदना :- भिक्षा द्वारा अपने उपभोग के निमित्त लाए गए पदार्थों के लिए भी अपने सभी साम्भोगिक-साधुओं को आमन्त्रित करे। अकेला चुपचाप उनका उपभोग न करे।

६. इच्छाकार :- गण के साधुओं की इच्छा जानकर तदनुकूल आचरण करे।

७. मिथ्याकार :- प्रमादवश कोई गलती हो जाए, तो उसके लिए पश्चात्ताप करे तथा नियमानुसार प्रायश्चित् ग्रहण करे।

८. प्रतिश्रुत-तथ्याकार :- आचार्य, गणनायक, गुरु एवं बड़े साधुओं की आज्ञा स्वीकार करे एवं उन्हें उचित मान दे।

²⁰⁸ चरिया छुड़ा य तण्हा, सीयं उण्हं च भावियं होई।अठिया सिया य सेज्जा, सम्मं अणिययविहारेण॥
संवेगरंगशाला, गाथा २१४४.

²⁰⁹ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/२-४

६. गुरुपूजा अभ्युत्थान :- गुरु के आगमन पर वन्दना, आदि के द्वारा गुरु का सत्कार-सम्मान करे।

१०. उपसम्पदा :- आचार्य, आदि की सेवा में विनम्रभाव से रहते हुए अपनी दिनचर्या करे।

संवेगरंगशाला में उत्तराध्ययन के समान ही दसों सामाचारियों का एक साथ उल्लेख हमें प्रथम परिकर्मविधि-द्वार के तीसरे शिक्षाद्वार में संक्षिप्त रूप में प्राप्त होता है। वहाँ केवल इच्छाकार, मिथ्याकार, आदि प्रारम्भ करके उपसम्पदा तक साधु की दस सामाचारी कही गई हैं²¹⁰ वहाँ दसों सामाचारियों के नाम और उनके विवरण उल्लेखित नहीं हैं, किन्तु उसके अलग-अलग द्वारों में पृच्छा, प्रतिपृच्छा, उपसम्पदा, आदि का विवेचन हुआ है।²¹¹ इन दस सामाचारियों का सम्बन्ध मुनि-जीवन की सामान्य आराधना से है, चूँकि संवेगरंगशाला का मुख्य प्रतिपाद्य अन्तिम आराधना है, इसलिए आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने इनका एकसाथ विस्तृत उल्लेख नहीं किया है, फिर भी यह सुनिश्चित है कि आगमिक-साध्याचार के पालन के प्रति उनकी जो निष्ठा रही है, उसे देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि ये सामाचारी उन्हें भी मान्य रही हैं। स्वयं उन्होंने यह कहा है कि ये दस प्रकार की सामाचारी सुविहित साधुजनों के लिए पालनीय हैं।

बारह प्रकार के तप :

जैन-साधना का लक्ष्य मोक्ष या शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है और वह केवल तपसाधना (अविपाक-निर्जरा) से ही सम्भव है। जैन-साधना में तप का क्या स्थान है, इस तथ्य के साक्षी जैनागम ही नहीं हैं, वरन् बौद्ध और हिन्दू-आगमों में भी जैन-साधना के तपोमय स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है।²¹² उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा की शुद्धि तप से होती है।²¹³ संवेगरंगशाला में चतुर्थ आराधना तपाराधना है।²¹⁴

²¹⁰ जावि य इच्छामिच्छ-प्पमुहा उवसंपयाउवसाणाओ.सुविहिय जणपाउग्गा, सामाचारी दसपयारा। संवेगरंगशाला, गाथा १५८.

²¹¹ संवेगरंगशाला, गाथा क्र. - ४८४४-४८५३/४८५४-६६/४७१५-४७२७.

²¹² (अ) श्रीमद्भागवत्, ५/२.

(ब) मन्त्रिमलिकय-चूल दुक्खक्खन्थ सुत्ता।

²¹³ उत्तराध्ययन, ३०/६.

²¹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ६१३-६२२.

जैनधर्म में आराधना के अन्तर्गत तप-साधना को आवश्यक माना गया है। चाहे मुनि-जीवन की सामान्य आराधना हो या अन्तिम आराधना, दोनों ही तपोमय हैं। बिना तप के आराधना सम्भव नहीं है। आराधना का मुख्य प्रयोजन मुक्ति है। मुक्ति के लिए कर्मों की निर्जरा आवश्यक है और कर्मों की निर्जरा तप के द्वारा ही सम्भव है, यही कारण है कि जैन-धर्म में निर्जरा की चर्चा करते हुए तपों का ही विवेचन किया गया है। जैन-परम्परा में तप का जो बाह्य-तप और आभ्यन्तर तप का विभेद किया गया है, वह विभेद मुख्यतया इस आधार पर है कि जो बाह्य-क्रियाओं या घटनाओं से सम्बन्धित है, अथवा जिनका सम्बन्ध बाह्य-वस्तु के परित्याग से है, वे बाह्य-तप कहलाते हैं और जिनका सम्बन्ध हमारी आत्मा से है, वे आन्तरिक-तप कहलाते हैं। संवेगरंगशाला में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने संलेखना के प्रसंग में मुख्य रूप से बाह्य-तपों की चर्चा की है, किन्तु साधना के क्षेत्र में बाह्य-तपों के साथ-साथ आभ्यन्तर-तप भी आवश्यक है। यहाँ हम क्रमशः प्रथम छः बाह्य-तपों की और उसके पश्चात् छः आभ्यन्तर-तपों की विवेचना करेंगे। बाह्य-तप छः हैं - १. अनशन २. उणोदरिका ३. वृत्तिसंक्षेप ४. रसत्याग ५. कायक्लेश और ६. संलीनता।

१. अनशन :- संवेगरंगशाला में अनशन दो प्रकार के बताए गए हैं- सर्व-अनशन और देश-अनशन। जो जीवनपर्यन्त आहार-त्याग का प्रत्याख्यान करता है, उसे भवचरिम, अर्थात् सर्व-अनशन कहते हैं। जो यथाशक्ति उपवास, आदि तप करता है, उसे देश-अनशन कहते हैं।²¹⁵

२. अवमोदरिका या उणोदरिका :- प्रस्तुत कृति में द्रव्य-उणोदरिका एवं भाव-उणोदरिका- इस प्रकार दो भेद किए गए हैं। द्रव्य-उणोदरी उपकरण एवं आहार-पानी के विषय में होती है, उपकरण-उणोदरी जिनकल्पी मुनियों को होती है। आगम-साहित्य में पुरुषों के लिए बत्तीस कवल आहार एवं स्त्रियों के लिए अट्ठाईस कवल आहार की मात्रा का उल्लेख है। जो आकार में बड़े आँदले जितने, अथवा जिसे सुलभता से मुख में प्रवेश दिया जा सके उतने आकार के जानना चाहिए। “उणोदरिका-तप में कवल-मर्यादा भी पाँच प्रकार से बताई गई है- १. अल्पाहार, अर्थात् आठ कवल २. अपार्द्धा, अर्थात् बारह कवल ३. द्विभाग, अर्थात् सोलह कवल ४. प्राप्ता, अर्थात् चौबीस कवल

²¹⁵ देसे सब्बेऽणसर्णं, सब्बवाऽणसर्णं भणति भवचारिमं। देसे चउत्थमाऽऽई, जहसत्तीए कुणइ एसो।। संवेगरंगशाला, गाथा ४०२०.

और ५. किंचिदुणा, अर्थात् एकतीस कवला।”²¹⁶ इसके अतिरिक्त आहार में एक-एक कवल कम करते हुए अन्त में एक कवल, आधा कवल, अथवा एक दाना जितना आहार ग्रहण करना भी सर्वद्रव्य-उणोदरिका-तप कहलाता है। जिनवचनों के चिन्तन-मननपूर्वक क्रोधादि कषायों का त्याग करना भाव-उणोदरिका कहलाता है।

३. वृत्ति-संक्षेप :- संवेगरंगशाला में वृत्तिसंक्षेप तप का निर्देश करते हुए यह निरूपण किया गया है कि भिक्षाचर्या के समय इतनी ही दत्ति,²¹⁷ अथवा इतना ही आहार ग्रहण करूँगा, इसका परिमाण करना, पिण्डैषणा और पाणैषणा का नियम करना, अथवा प्रतिदिन विचित्र अभिग्रह करना, उसे वृत्तिसंक्षेप तप कहा गया है। अभिग्रह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव- इस तरह चार प्रकार से ग्रहण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त बिना माँगे दिया जाए तो ही लूँगा, अथवा भोजन करने के लिए उठाया हुआ कवल मिले, तो आहार लूँगा, अथवा गायन करता या रोता हुआ, इस तरह अलग-अलग अवस्था में आहार दिया जाए, तो लेना, अन्यथा नहीं लेना, इत्यादि प्रकार के संकल्प को अभिग्रह कहा गया है। इस तरह वृत्तिसंक्षेप के लिए अनेक प्रकार के अभिग्रह ग्रहण कर सकते हैं।²¹⁸

४. रसत्याग :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने विकृतियों को दुर्गति का मूल कहते हुए उसे त्याग करने के लिए कहा है। दूध, दही, घी, तेल, मिठाई, आदि को विकृति (विगय) कहा गया है। इनके सेवन में स्वादासक्ति होती है। इनके त्याग के बिना संयम का पालन नहीं हो सकता है, अतः प्रतिदिन किसी न किसी विकृति का परिहार करना चाहिए। यही रस-त्याग कहलाता है। मक्खन, मांस, मदिरा और शहद- ये चारों महाविकृतियाँ हैं एवं आसक्ति, अब्रह्म, अंहकार और असंयम को बढ़ाने वाली हैं। इसमें आगे यह कहा गया है कि समाधि की इच्छा वाला इन विकृतियों का त्याग करता है तथा इसके अतिरिक्त स्वादिष्ट एवं विकार-उत्पादक अन्य वस्तुओं, यथा - नमक, लहसुन, आदि का भी त्याग करता है।²¹⁹

²¹⁶ अप्पाऽऽहार-अवडडा, दुभागपत्ता लहेव किंचूणा। अट्टदुवाल ससोलस - चउडीस तडेकतीसा या। संवेगरंगशाला, गाथा ४०२७.

²¹⁷ दत्ति - भिक्षा में दत्ते समय एक साथ जितने आहार या पानी की मात्रा गिरे, उसे एक दत्ति कहते हैं।

²¹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ४०३०-४०३८.

²¹⁹ बीराऽऽईरसे विगई, तासिं चाओ उ होई परिहारो। संघरओ जंताओ, दुगइमूलाउ भणिवाउ। संवेगरंगशाला, गाथा ४०३८-४४.

५. कायाक्लेश :- जैनाग्रमों के अनुसार शरीर को विविध प्रकार से कष्ट देना कायाक्लेश है। इसमें अनेक प्रकार के आसनों के द्वारा कष्ट को सहन करने का एवं काया को निरोध करने का उल्लेख किया गया है। सूर्य की आतापना लेना, केशलोच करना, ठण्ड-गर्मी आदि परीषहों को सहन करना, आदि कायाक्लेश-तप हैं। इससे जीवों के प्रति दया एवं करुणा के भाव पैदा होते हैं तथा परलोक में हितबुद्धि उत्पन्न होती है। नरक की वेदना का स्मरण करते हुए इस वेदना को सहन करने से संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है। अन्त में, इसमें कायाक्लेश को निर्वेद प्राप्त कराने में रसायनतुल्य कहा गया है।²²⁰

६. संलीनता-तप :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने तीन प्रकार की संलीनता का विवेचन किया है - १. वसति संलीनता २. इन्द्रिय-संलीनता और ३. मन-संलीनता।

(१) वसति-संलीनता :-

इस कृति में वसति संलीनता का वर्णन करते हुए कहा गया है- आराधक के लिए आराधना का स्थान चाहे आवास (घर) में हो, अथवा वृक्ष के नीचे, चाहे उद्यान में हो, अथवा पर्वत की गुफा में, किन्तु वह स्थान उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित होना चाहिए। पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, आदि से रहित होना चाहिए तथा चाहे वह गाँव में हो, अथवा गाँव से बाहर हो, विषम अथवा सम हो, किन्तु स्वाध्याय, ध्यानादि में विघ्न उत्पन्न करने वाला नहीं हो, अर्थात् ऐसे स्थान में साधक के द्वारा अपने अंगोपांग को संकुचित कर रखना ही वसति-संलीनता-तप कहा जाता है।²²¹

(२) इन्द्रिय-संलीनता :-

उपर्युक्त वसति में रहते हुए इन्द्रियों को वश में करना इन्द्रिय-संलीनता-तप है। इसमें कहा गया है कि इन्द्रियों के शब्दादि कोई भी विषय ऐसे नहीं है कि जिन्हें भोगकर व्यक्ति तृप्ति प्राप्त कर सके। विषयतुल्य इन विषयों में से एक-एक विषय भी जीवन का घात करने में समर्थ है, तो जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एक साथ भोग करे, वह कुशल कैसे रह सकता है? अतः

²²⁰ अउसूरं पडिसूरं च, उडडसूरं च। तिरियसूरं च। समपायमेषपायं, गळ्हेलीणाऽऽ इत्थणाई॥ संवेगरंगशाला, गाथा ४०४५-५१.

²²¹ संवेगरंगशाला, गाथा ४०५२-४०५६.

इहलोक और परलोक में आत्मा का अनर्थ या अहित करने वाले इन इन्द्रियों के विषय-सुखों का त्याग करना चाहिए। धीर पुरुषों ने सदैव ही दुःख के विपाकरूप इन विषयों को त्यागा है, इसलिए विषयरूपी भयंकर जंगल में निरंकुश होकर जहाँ-तहाँ परिभ्रमण करने वाले इन्द्रियरूपी हाथी को ज्ञानरूपी अंकुश से वश करना चाहिए। जिसमें इन्द्रियों के स्व-स्व विषयों को सुनकर, देखकर, सेवनकर, सूँघकर और स्पर्श करके भी व्यक्ति को रति या अरति नहीं होती, उसे ही इन्द्रिय-संलीनता-तप कहते हैं।²²²

(३) मन-संलीनता :-

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार का कहना है कि धैर्यवान् साधक मनरूपी हाथी को विवके, बुद्धि एवं संयमरूपी उत्तम उपायों द्वारा वश में करे, जिससे मोहजन्य कषायों पर विजय प्राप्त की जा सके। पाँच समिति से समित और तीन गुप्ति से गुप्त बना मुनि मनःसंलीनता के द्वारा आत्महित में तत्पर बनता है। इसमें आगे यह कहा गया है कि संयमी-जीव दीर्घकाल में जिन कर्मों की निर्जरा करते हैं, उन्हें संयमी साधक अन्तर्मुहूर्त में ही क्षीण कर देता है।²²³

आभ्यन्तर-तप के भेद :-

आभ्यन्तर-तप बाह्य-तप से भी अधिक महत्वपूर्ण एवं उच्च है। बाह्य तप स्थूल होने से दिखाई देता है, जबकि आभ्यन्तर-तप अन्तरंग एवं सूक्ष्म होने से मात्र अनुभव किया जाता है। ये तप बाहर से तपरूप में नहीं दिखाई देते हैं। आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं :-

१. प्रायश्चित्त :- अपने पापों का पश्चात्ताप करना, अशुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उन पापों को गुरु के समक्ष प्रकटकर दण्ड देने के लिए प्रार्थना करना एवं उनके द्वारा दिए गए दण्ड को स्वीकार करना प्रायश्चित्त-तप है। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जो साधक अपने समस्त दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, उसको ही समाधिमरण के लिए की गई आराधना सार्थक होती है। जैसे- छोटा-सा तृण भी शरीर को पीड़ा देता है, वैसे ही छोटा-सा दोष भी असमाधि उत्पन्न करता है। गलती होना मानव का

²²² संवेगरंगशाला, गाथा ४०५७-४०६४.

²²³ संवेगरंगशाला, गाथा ४०६५-६०६६.

स्वभाव है, किन्तु गलती का निराकरण नहीं करने से उस गलती का सुधार सम्भव नहीं है।²²⁴

२. विनय:- विनय धर्म का मूल है, प्रायश्चित्त भी बिना विनय के सम्भव नहीं है। विनीत शिष्य ही अपने पापों का प्रायश्चित्त करता है। संवेगरंगशाला के अनुसार जो जाति, कुल, विनय, ज्ञान से युक्त हो, वह ही प्रायश्चित्त ग्रहण करने के योग्य है। विनय के बिना सम्यक्-ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की प्राप्ति असम्भव है। रांसार के कार्य में भी सर्वप्रथम शिष्टाचार की आवश्यकता होती है। विनय, अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, उनके निर्देशानुसार जीवन जीना है।²²⁵

३. वैयावृत्य :- जैन-आगमों में सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य है। भिक्षु को दस प्रकार के साधकों की सेवा-शुश्रूषा करने का कर्त्तव्य होता है, वे इस प्रकार हैं- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, गुरु, रोगी, वृद्धमुनि, सहपाठी, अपने भिक्षु-संघ का सदस्य, दीक्षा स्थापित और लोकसम्मानित भिक्षु- इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके अतिरिक्त संघ की सेवा भी भिक्षु का कर्त्तव्य है। संवेगरंगशाला में क्षपकमुनि की अड़तालीस निर्यापकों द्वारा वैयावृत्य करने का उल्लेख मिलता है।²²⁶

४. स्वाध्याय :- स्वाध्याय, अर्थात् सद्ग्रन्थों का पठन, पाठन एवं मनन, आदि। स्वाध्याय के निम्न पाँच भेद हैं²²⁷ :-

१. वाचना- सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना।
२. पृच्छना - शंकाओं का निराकरण करने हेतु गुरुजनों से प्रश्नोत्तर करना।
३. अनुप्रेक्षा - अर्जित ज्ञान का चिन्तन करना।
४. परावर्तन - अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिए उसे पुनः पुनः दोहराना।
५. धर्मकथा - धार्मिक उपदेश देना।

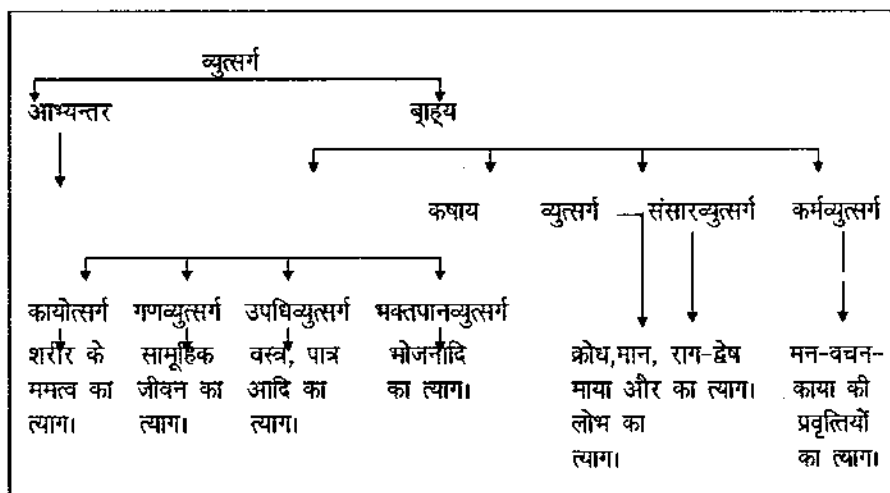
५. व्युत्सर्ग :- व्युत्सर्ग शब्द वि+उत्सर्ग शब्द से बना है। इस प्रकार व्युत्सर्ग का अर्थ विशेष रूप से त्यागना या छोड़ना है। व्युत्सर्ग के निम्न दो भेद हैं :-

²²⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ४८७७-४८७८.

²²⁵ संवेगरंगशाला, गाथा १५८६-१६१६/४६०१/५०३५-५०३७.

²²⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५३७५.

²²⁷ संवेगरंगशाला, गाथा, ५६०.



६. ध्यान :- संवेगरंगशाला में ध्यान सम्बन्ध विचार से विवेचन उपलब्ध होता है।²²⁸ बारह प्रकार के तप में ध्यान तप का सबसे अधिक महत्व है। ध्यान चित्त की एकाग्रता को कहा गया है। साधक किसी एक ही विषय पर या आत्मा पर चित्त को केन्द्रित करता है, उसे ध्यान कहते हैं। जैन धर्मग्रन्थों में ध्यान के चार भेदों का उल्लेख मिलता है- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान। प्रथम दो ध्यानों का साधना में कोई स्थान नहीं होने से वे त्याज्य हैं, आध्यात्मिक-साधना की दृष्टि से अन्तिम दो, अर्थात् धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान महत्वपूर्ण हैं। धर्मध्यान चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास है और शुक्लध्यान चित्त-विशुद्धि की अन्तिम अवस्था है।

षडावश्यक :-

जैन-आचारदर्शन में आचरण के कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका परिपालन करना गृहस्थ और श्रमण- दोनों के लिए आवश्यक है। संवेगरंगशाला के प्रथम परिकर्म के नौवें उपद्वार के तीसरे प्रतिद्वार में हमें षडावश्यकों का मात्र नाम निर्देश ही प्राप्त होता है।²²⁹ उन नियमों में आवश्यक कर्म को जैन-साधना का आधारभूत अंग माना गया है। जैन-श्रमण का जीवन साधना की अभिवृद्धि के लिए होता है। अनुयोगद्वार के अनुसार भी ये षडावश्यक गृहस्थ और श्रमण-दोनों

²²⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६६२६-६६६४.

²²⁹ संवेगरंगशाला, गाथा २८८१.

के लिए आचरणीय हैं।²³⁰ आवश्यक के निम्न पर्यायवाची नाम भी बताए गए हैं- १. आवश्यक २. अवश्यकरणीय ३. ध्रुवनिग्रह (अनादि कर्मों का निग्रह करनेवाला) ४. विशोधि (आत्मा की विशुद्धि करने वाला) ५. षट्क-अध्ययन-वर्ग ६. न्याय ७. आराधना और ८. मार्ग (मोक्ष का उपाय)।

आवश्यक शब्द के अनेक अर्थ हैं। विशेषावश्यकभाष्य की टीका में उसके निम्न अर्थ किए गए हैं²³¹ -

१. जो अवश्य करने योग्य कार्य हो, वे आवश्यक कहलाते हैं।
२. जो आध्यात्मिक-सद्गुणों का पूरी तरह आश्रयप्रदाता हो, वह आवासक है।
३. जो आत्मा को पूरी तरह दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के वश करता है, उसे आवश्यक कहते हैं।
४. जो इन्द्रिय, कषाय, आदि भावशत्रुओं को सर्वतः वश में करता है, वह आवश्यक है।
५. जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से सुवासित एवं अनुरजित करता है, उसे आवश्यक कहते हैं, अथवा जो आत्मा को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं, वे आवश्यक हैं। आत्मविशुद्धि हेतु जैन आगमों में छः आवश्यक कर्म माने गए हैं। वे छः आवश्यक कर्म इस प्रकार हैं - १. सामायिक २. स्तवन ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्याना।

१. सामायिक :- सामायिक समत्ववृत्ति की साधना है। जैनाचारदर्शन में समत्व की साधना नैतिक-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। वह नैतिक-साधना का अर्थ और इति- दोनों है। समत्व साधना के दो पक्ष हैं- बाह्यरूप में सावध (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग है,²³² तो आन्तरिकरूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना है।²³³ सामायिक का फल सावद्ययोग, अर्थात् पाप-कार्यों से विरति है।

गृहस्थ-साधक सामायिक-व्रत सीमित समय (४८ मिनट), अर्थात् एक मुहूर्त के लिए ग्रहण करता है। आवश्यक कृत्यों में इसको स्थान देने का प्रयोजन यही है कि साधक चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण, सदैव यह स्मृति बनाए रखे कि

²³⁰ अनुयोगद्वारसूत्र टीका, उद्धृत श्रमण सूत्र, पृ. ६३.

²³¹ विशेषावश्यकभाष्य टीका, उद्धृत श्रमण सूत्र, पृ. ६१-६२.

²³² नियमसार, गाथा १२५

²³³ उत्तराध्ययनसूत्र - १६/६०-६१.

वह समत्व-योग की साधना के लिए साधना-पथ में प्रस्थित हुआ है। अपने निषेधात्मक रूप में सामायिक सावध-कार्यों, अर्थात् पाप-कार्यों से विरति है, तो अपने विधायक रूप में समत्वभाव की साधना है।²³⁴

२. चतुर्विंशतिस्तव :- चौबीस तीर्थकरों या वीतराग देवों की स्तुति करना। सामायिक-आवश्यक के पश्चात् दूसरा आवश्यक स्तवन या स्तुति है। साधना दो प्रकार से होती है- आलम्बन एवं निरालम्बन। जब साधक मोक्ष-प्राप्ति हेतु साधना के लिए कदम बढ़ाता है, तब सर्वप्रथम उसे किसी-न-किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है, अतः साधक को अपने साधनाकाल में चौबीस तीर्थकर की स्तुतिरूप द्वितीय आवश्यक का विधान किया गया है।

सामान्यतः, व्यक्ति का ऐसा विचार होता है कि मेरे आराध्यदेव की कृपा से ही मेरी आराधना सफल हुई है, किन्तु उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें सूत्र में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है कि स्तवन/स्तुति से, अर्थात् भगवद्भक्ति से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु जैन-दर्शन में भगवद्भक्ति के माध्यम से प्राप्त होने वाली मुक्ति या कर्मनिर्जरा परमात्मा की कृपा का परिणाम नहीं है, वरन् स्वयं के दृष्टिकोण की विशुद्धि का ही परिणाम है।²³⁵

साधक स्तुति द्वारा वीतराग परमात्मा के गुणों का गुणगान करता है कि हे भगवन्! किसी जन्म में आप और मैं- दोनों एकसाथ खाते-पीते और खेलते थे। सुख-दुःख में एक-दूसरे का साथ देते थे। अपने दोनों में घनिष्ठ मित्रता थी। अपनी दोनों की आत्मा भी समान है, फिर भी आप कर्मरहित हो और मैं कर्म से जकड़ा हूँ, आप मोक्ष में विराजित हैं और मैं अज्ञान-दशा में पाप करता हुआ चारों गति में भटक रहा हूँ। इस तरह परमात्मा आपका अतीत और मेरा अतीत समान है, वर्तमान में अन्तर हो गया है। यदि मैं, आपके गुणों को याद करते हुए प्रयत्न करूँ, तो मैं भी आपके समान बन सकता हूँ। मेरे विकार नष्ट हो सकते हैं और भविष्य में भी दोनों की एकरूपता हो सकती है।

३. वन्दन :- साधक को अपनी साधना करने से पहले गुरु को वन्दन कर आज्ञा लेना अनिवार्य होता है। कहा भी गया है, गुरु बिना ज्ञान नहीं, अतः साधक को चतुर्विंशतिस्तव में साधना के आदर्श के रूप में तीर्थकरों की उपासना के पश्चात् साधना के पथ-प्रदर्शक गुरु को वन्दन करने का विधान है। यही वन्दन तीसरा आवश्यक है। गुरु की आज्ञा को ही अपना मार्गदर्शक मानना एवं उनकी आज्ञा के

²³⁴ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ. ३६४.

²³⁵ उत्तराध्ययनसूत्र - २६/१५.

अनुसार ही प्रत्येक कार्य करना साधक के लिए आवश्यक है, क्योंकि वन्दन करने से कर्मों की निर्जरा होती है। यदि विनीत शिष्य गुरु का विनय करता है तथा मन-वचन-काया से उनकी सेवा करता है, तो वह घातीकर्मों को नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त करता है एवं इस तरह अन्त में मोक्षरूपी फल को प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र²³⁶ के अनुसार वन्दन करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा उच्च गोत्र, अबाधित-सौभाग्य एवं लोकप्रियता को प्राप्त करता है। वन्दन का मूल उद्देश्य अहंकार का विसर्जन करना एवं जीवन में विनय को स्थान देना है। विनय ही धर्म का आधार है।

भगवतीसूत्र के अनुसार वन्दन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्रश्रवण, शास्त्रश्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है।²³⁷ जैन-आचार्यों ने वन्दन के ३२ दोष बताए हैं। इनके अतिरिक्त भी स्वार्थभाव, आकांक्षा, भय, अनादर का भाव, उनके प्रति सम्मानपूर्वक वचनों का प्रयोग नहीं करना, उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करना तथा उनका सम्मान नहीं करना, आदि भी वन्दन के दोष हैं, अतः सम्पूर्ण दोषों से रहित वन्दन के लिए निर्दिष्ट अवसरों पर गुरु का वन्दन करना, यह साधक का आवश्यक कर्तव्य है।

४. प्रतिक्रमण :- आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभयोग से अशुभयोग की ओर गए हुए अपने-आपको पुनः शुभयोग में लौटाना प्रतिक्रमण है।²³⁸ स्थानांगसूत्र में इन छः बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है:-

१. उच्चार-प्रतिक्रमण- मल, आदि का विसर्जन करने के बाद आने-जाने में हुई जीव-हिंसा का प्रतिक्रमण करना।

२. प्रश्रवण-प्रतिक्रमण- पेशाब करने के बाद प्रतिक्रमण करना।

३. इत्वर-प्रतिक्रमण- आकस्मिक रूप से किसी भी दोष के लगने पर प्रतिक्रमण करना।

४. यावत्कथिक-प्रतिक्रमण- सम्पूर्ण जीवन के लिए पापनिवृत्त होना।

²³⁶ उत्तराध्ययनसूत्र - १/४५.

²³⁷ भगवतीसूत्र - २/५/११२.

²³⁸ योगशास्त्र स्वोपश्रुति - ३.

५. यत्किञ्चिन्मिथ्या-प्रतिक्रमण- सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद, अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना।²³⁹

६. स्पृजांतिक-प्रतिक्रमण- विकार-वासनारूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप करना।

ये निवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनचर्या से संबंधित है, किन्तु गृहस्थ के लिए भी दैवसिक, आदि प्रतिक्रमण करने का विधान है।

साधकों की श्रेणी के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं - श्रमण-प्रतिक्रमण और श्रावक-प्रतिक्रमण। कालिक-आधार पर प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं:-

१. दैवसिक-प्रतिक्रमण २. रात्रिक-प्रतिक्रमण ३. पाक्षिक-प्रतिक्रमण

४. चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण और ५. सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण।

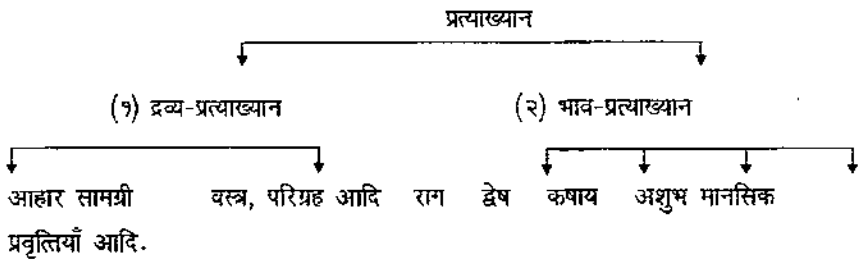
इस तरह भगवान् महावीर के साधुओं को चाहे दोष लगे अथवा न लगे, किन्तु प्रतिक्रमण करना अनिवार्य होता है; जबकि षष्ठ्यनाथ के साधु पापाचरण होने पर ही उसकी आलोचना के रूप में प्रतिक्रमण कर लेते थे। इससे यह फलित होता है कि भगवान् महावीर के शासनकाल में उनके साधु प्रमादाचरण करने वाले होंगे, इसी सम्भावना को ध्यान में रखते हुए वर्तमान में प्रतिक्रमण की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। चाहे पापाचरण हुआ हो या न हुआ हो, फिर भी साधु को नियमित रूप से प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

५. कायोत्सर्ग :- शरीर का त्याग करना ही कायोत्सर्ग-आवश्यक है, लेकिन जीवित रहते हुए शरीर का त्याग संभव नहीं है। यहाँ शरीर-त्याग का अर्थ है-शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। किसी सीमित समय के लिए शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग कर शारीरिक क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्व बहुत अधिक है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग की परम्परा है। वस्तुतः, देहासक्ति को समाप्त करने के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है।

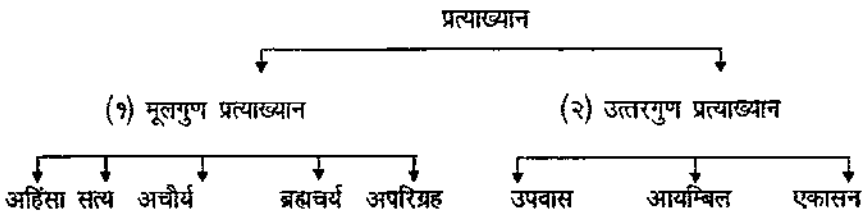
जैन-परम्परा में कायोत्सर्ग के लिए तीन प्रकार की मुद्राएँ बताई गई हैं।²⁴⁰ जिनमुद्रा में खड़े होकर ध्यान करना, सुखासन में बैठकर ध्यान करना एवं लेटकर ध्यान करना। कायोत्सर्ग करते समय १६ दोषों से बचने का प्रयास करना चाहिए। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक्निर्युक्ति में शुद्ध कायोत्सर्ग के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि चाहे कोई भक्ति-भाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश वसूले को छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे उसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में समभाव रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।²⁴¹

६. प्रत्याख्यान :- मानव के मन में प्रतिपल अनन्त इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतः उन इच्छाओं को रोकना ही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का सही अर्थ प्रवृत्ति को मर्यादित, अथवा सीमित करना है। साधना की पुष्टि के लिए साधक को प्रतिदिन किसी-न-किसी प्रकार का प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए, इससे वस्तु के प्रति ममत्व तथा आसक्ति का भाव कम होता है। प्रत्याख्यान के दो रूप हैं :-

(१) द्रव्य-प्रत्याख्यान एवं (२) भाव-प्रत्याख्यान



इसी तरह प्रत्याख्यान के अन्य दो भेद भी कहे गए हैं:-



²⁴⁰ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ. ४०४.

²⁴¹ आवश्यक्निर्युक्ति १५४८, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ.-६६.

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार दुराचरण नहीं करने वाला व्यक्ति भी जब तक दुराचरण नहीं करने की प्रतिज्ञा नहीं लेता है, तब तक वह दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं है। प्रतिज्ञा के अभाव में मात्र परिस्थितिगत विवशताओं के कारण जो दुराचार में प्रवृत्त नहीं है, वह वस्तुतः दुराचार के दोष से मुक्त नहीं है। वृद्ध वेश्या के पास कोई नहीं जाता, तो इतने मात्र से वह वेश्यावृत्त से निवृत्ति नहीं मानी जा सकती। कारागार में पड़ा हुआ चोर, चौर्य-कर्म से निवृत्त नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान दुराचार से निवृत्त होने के लिए किया जाने वाला दृढ़ संकल्प है। उसके अभाव में नैतिक-जीवन में प्रगति संभव नहीं है।²⁴²

साधु की दिनचर्या:-

संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जैन-आगमों में साधु की जो प्रतिदिन की चर्या कही गई है, उसे ही शिक्षा कहते हैं। जिस शिक्षा का जीवन में पालन किया जाता है, उसे ही आसेवन शिक्षा कहा जाता है। इसके अन्तर्गत निम्न क्रियाएँ आती हैं :-

प्रतिलेखन, प्रमार्जन, भिक्षाचर्या, आलोचना, भोजन के पात्र धोना, स्पंडिल भूमि की शुद्धि, प्रतिक्रमण, चिन्तन-मनन, ध्यान और मिथ्याकार, आदि दस प्रकार की सामाचारी का पालन। सामाचारी का उल्लेख पूर्व में किया गया है। शास्त्रों का पठन-पाठन करें तथा तत्त्वों के स्वरूप का चिन्तन करें। प्रस्तुत कृति में यह कहा गया है कि जो साधु इन विशेष आचारों का समादर एवं पालन नहीं करता हो, वह मुनि मिथ्यात्वी है। इस तरह गुण-दोष की परीक्षा करके ग्रहण-शिक्षारूप ज्ञान को प्राप्त करके प्रतिक्षण आसेवन-शिक्षा के अनुसार उसका पालन करें। इस प्रकार सामान्यतया धर्म के सभी पक्षों को ध्यान में रखकर संवेगरंगशाला में मुनि-जीवन की क्रियाओं की शिक्षा दी गई है। जो इनसे युक्त होकर आराधना में दत्तचित्त हो, उस साधक का क्या कहना? पूर्व में वर्णित मुनि-आचार के दृढ़ अभ्यास त्रिना विशेष आराधना, अर्थात् समाधिमरण की साधना नहीं हो सकती है।²⁴³

साधु के सामान्य लिंग:-

प्रस्तुत कृति में साधु के लिंग के वर्णन में साधुता के पाँच लिंगों का प्रतिपादन कर उनके गुणों का उल्लेख किया गया है। वे निम्न हैं :-

²⁴² जैन बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ. ४०८.

²⁴³ संवेगरंगशाला, गाथा १५७६-१५८८.

१. मुहपत्ति, २. रजोहरण (ओघा) ३. शरीर-शुश्रूषा का त्याग,

४. वस्त्ररहित्व (अचेलत्व) और ५. केश का लोच²⁴⁴

१. साधु संयम-जीवन में इन लिंगों को धारण करके ही धर्मासाधना करते हैं।

२. ये लिंग सम्यक् चारित्र्य अर्थात् मुनि-जीवन की निशानी या पहचान है।

३. इनको देखकर अन्य मनुष्यों का साधु के प्रति विश्वास एवं पूज्य भाव उत्पन्न होता है।

४. इनसे संयम में स्थिरता प्राप्त होती है।

५. मुनि-वेश को धारण करने से मुनि को प्रत्येक पल यह ध्यान बना रहता है कि मैंने गृहस्थ-जीवन का त्याग किया है तथा मुझे छःकाय जीवों की रक्षा करनी है। इस प्रकार वह प्रतिपल सजग एवं अप्रमत्त-अवस्था में रहकर धर्मसाधना करता है।

अन्त में यह बताया गया है कि “उस वेश को साधु को किसी भी प्रकार से विशेष संस्कार किए बिना, जैसा मिला हो, वैसा ही संयम में बाधारूप न हो, इस तरह शरीर पर धारण करना चाहिए।”²⁴⁵

सवेगरंगशाला में साधु के मुहपत्ति आदि पाँच लिंगों का प्रयोजन और उनसे होने वाले लाभ का जो विवेचन उपलब्ध है, उसका यहाँ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है:-

१. मुहपत्ति-द्वार :- सवेगरंगशाला में मुहपत्ति का अर्थ मुखवस्त्रिका बताकर उसका उपयोग किस प्रकार करना, इसका निरूपण किया गया है। मुखवस्त्रिका मस्तक तथा नाभि के ऊपर शरीर को प्रमार्जित करने के लिए है तथा मुख से बोलते तथा श्वासोच्छ्वास लेते समय जो वायु निकलती है, उनसे जीवों की रक्षा के लिए तथा धूल से ग्रस्त मुख को पोंछने के लिए है। इस तरह पहला मुहपत्ति नामक द्वार कहा गया है।²⁴⁶

२. रजोहरण-द्वार :- सवेगरंगशाला में रजोहरण, अर्थात् ओघा कैसा होना चाहिए, यह बताया गया है। रजोहरण - रज, पसीने से रहित, मृदु,

²⁴⁴ सवेगरंगशाला, गाथा १२०६.

²⁴⁵ सवेगरंगशाला, गाथा १२१०

²⁴⁶ सवेगरंगशाला, गाथा १२११.

कोमल और हलका होना चाहिए। ऐसे पाँच गुणों से युक्त रजोहरण का उपयोग किस समय किया जाता है, इसका निर्देश भी किया गया है। कहीं आने-जाने में, उठने-बैठने में, कोई वस्तु रखने या उठाने में और सोते समय करवट बदलने में, इत्यादि कार्यों में प्रमार्जन के लिए रजोहरण है। इस तरह यह दूसरा रजोहरण नामक द्वार कहा गया।²⁴⁷ ये बातें मूलाचार एवं भगवती आराधना नामक दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में भी कही गई हैं।²⁴⁸

३. शरीर-शुश्रूषात्याग-द्वार :- संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में मुनि को अपने शरीर की सेवा-शुश्रूषा, आदि नहीं करने का भी उल्लेख है। कहा गया है कि मुनि को शरीरमर्दन, स्नान, उद्वर्त, आदि का त्याग करना चाहिए। केश, रोम, नख, आदि को सुशोभित नहीं करना चाहिए। जो मुनि पसीने और मैल से युक्त, केशलोच से अशोभित मस्तक वाला, बड़े-बड़े नाखूनों से युक्त तथा शरीर की सेवा-शुश्रूषा से रहित हो, वह ब्रह्मचर्य का रक्षक कहलाता है। इस तरह यह तीसरा शरीर-शुश्रूषात्याग-द्वार कहा गया।²⁴⁹

४. अचेल-द्वार :- संवेगरंगशाला में प्रस्तुत द्वार में पहले तो अचेल का अर्थ वस्त्ररहित बताकर अचेलता के गुणों एवं लाभों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् यह कहा गया है कि जो मुनि पुराने मलिन प्रमाणोपेत और अल्पमूल्य वाले वस्त्र धारण करता है, उसे भी वस्त्ररहित, अर्थात् अचेल ही कहा गया है। ऐसे मुनि भी अपरिग्रही कहलाते हैं। अल्प-उपधि होने से अल्प प्रतिलेखन होती है, शरीर के सुखों का अनादर होता है, इत्यादि अनेक गुणों की प्राप्ति अचेलकत्व से होती है।²⁵⁰

५. केश-लोचद्वार :- संवेगरंगशाला के केश-लोचद्वार में लोच करने से प्राप्त होने वाले लाभ एवं लोच नहीं करने से उत्पन्न दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है।

लोच से लाभ :- १. इससे महासात्त्विकता प्रकट होती है। २. जिनेश्वर भगवान् का बहुमान होता है। ३. दुःख अथवा पीड़ा सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। ४. नरकादि की भावना से निर्वेद होता है। ५. अपनी सहनशीलता की परीक्षा होती है। ६. धर्म पर श्रद्धा मजबूत होती है। ७. सुखशीलता का त्याग

²⁴⁷ संवेगरंगशाला, गाथा १२१३.

²⁴⁸ (अ) मूलाचार, ६/३, (ब) भगवतीआराधना, ७६-८६.

²⁴⁹ संवेगरंगशाला, गाथा, १२१४-१२१५.

²⁵⁰ संवेगरंगशाला, गाथा १२१७-१२१८.

होता है। ८. क्षुरकर्म से होने वाले पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म के दोषों से बच जाता है। ९. शरीर के प्रति निर्ममत्व की साधना होती है। १०. शोभा की वृत्ति का त्याग होता है। ११. निर्विकारता का प्रकटन होता है और १२. आत्मा का दमन होता है। इस प्रकार संवेगरंगशाला में लोच के विविध गुणों का निरूपण है।²⁵¹

लोच नहीं करने के दोष :- लोच नहीं करने से जूं, लीख आदि उत्पन्न होते हैं। उससे मस्तक में पीड़ा होती है, मन में संक्लेश होता है तथा बार-बार खुजली करने से गरिताप होता है। इस प्रकार लोच न करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।²⁵²

इस प्रकार साधु सम्बन्धी पाँच द्वारों में सामान्य लिंग का विवेचन कर साधु के विशेष लिंगों, अर्थात् उसकी विशेषता का वर्णन किया गया है।

संवेगरंगशाला में कहा गया है कि मुनि को ज्ञानादि गुणों से युक्त गुरु की सेवा में सदैव तत्पर रहना चाहिए। अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी बार-बार निन्दा करना चाहिए एवं अपराध होने पर क्षमायाचना करना चाहिए। क्षपक मुनियों की वैराग्यपूर्ण कथाएँ सुनने को उत्सुक रहना चाहिए और निरतिचारपूर्वक संयम का पालन करना चाहिए। मूलगुणों की आराधना में विशेष प्रीति होना चाहिए। उसे पिण्डविशुद्धि आदि ग्रन्थों में वर्णित मुनि-आचार का सम्यक् रूप से पालन करते हुए अपने मोक्षरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने में तत्पर रहना चाहिए।²⁵³



²⁵¹ संवेगरंगशाला, गाथा १२२०-१२२१.

²⁵² संवेगरंगशाला, गाथा १२२२.

²⁵³ संवेगरंगशाला, गाथा १२२३-१२२६.

अध्याय - ३

समाधिमरण की पूर्वपीठिका एवं देह विसर्जन विधि

जैनदर्शन में समाधिमरण का स्वरूप :-

जीवन क्या है और इसे सुखपूर्वक किस तरह जीना चाहिए? यह एक अहम् प्रश्न है। आज विश्व में सुख के साधनों की पूर्ति हेतु अनेक वैज्ञानिक तकनीकों का विकास हुआ है और हो रहा है, फिर भी मनुष्य सुखी नहीं हो सका है। जीवन को कैसे सुखी बनाए? इसके लिए उसने अनेक प्रयत्न भी किए और विविध कलाओं का सृजन भी किया, फिर भी वह सुखी नहीं हुआ, क्योंकि ये सारे साधन बाहरी थे, जबकि सुख का स्रोत तो अन्तस् में निहित है। जब तक मनुष्य इच्छाओं और आकांक्षाओं से त्रस्त है और मृत्यु के भय से भयभीत है, वह सुखी नहीं हो सकता है। चाहे मनुष्य ने सुखमय जीवन जीने की कला सीखने का प्रयास भी किया हो, किन्तु जीवन के अन्तिम चरण, अर्थात् मृत्यु से अभी तक वह अपरिचित ही रहा है। उसने जीवन जीने की कला तो सीखी, लेकिन शान्तिपूर्वक मृत्यु को स्वीकार करने की कला नहीं सीखी। मरण का भय आज भी हमारे मन को उद्वेलित करता है, वह हमारे वर्तमान जीवन को भी अशान्त बनाता है।

कल्पना कीजिए, कोई मनुष्य अपना पूरा जीवन आनन्द में ही बिता रहा हो और उसे चिन्ता, शोक, विपत्ति, आदि का बोध भी नहीं हो, प्रत्येक दृष्टि से अपने में सुखी अनुभव करते हुए भी जब मौत सामने दिखाई देती है तो उसके हाथ, पैर कांपने लग जाते हैं, वह भयभीत होता है। मृत्यु का भय उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को नष्ट कर देता है, जैसे - ओलावृष्टि उत्पन्न फसल को नष्ट कर देती है। जिसने सम्यक् रूप से मरना नहीं सीखा, वह जीवन के आनन्द से वंचित रहता है, इसलिए मानव को जीवन की कला के साथ-साथ मृत्यु की कला भी सीखना चाहिए।

भारतीय-मनीषियों ने जीवन जीने की कला के साथ-साथ मृत्यु की कला पर भी चिन्तन-मनन किया है। उन्होंने हँसते हुए शरीर को छोड़ने की कला भी बताई है। जैनधर्म में मोक्ष-प्राप्ति के लिए नवीन कर्मबन्ध को रोकने के साथ-साथ पूर्वसंचित कर्मों को क्षय करना होता है। कर्मों का क्षय संवर और निर्जरा के द्वारा होता है। संयम और तप जैनसाधना के महत्वपूर्ण अंग हैं, क्योंकि संयम नवीन कर्मों के बन्ध से बचाता है, तो तप पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करता है। निर्ग्रन्थों की कठोर तप-साधना प्रसिद्ध है। तप पर विस्तार से विवेचन आगे किया है। जैनधर्म में तप के बारह भेदों में से प्रथम तप अनशन है। वह समाधिमरण का एक आवश्यक अंग है, क्योंकि देहासक्ति से ऊपर उठने के लिए देह-पोषण के प्रयत्नों को छोड़ना होता है; उसमें आहार-त्याग आवश्यक है, क्योंकि वह देह-पोषण का मुख्य साधन है। समाधिमरण में अनशन के अतिरिक्त ध्यान, आदि की भी साधना की जाती है, क्योंकि वे मानसिक-उद्धिग्नता को समाप्त करते हैं।

समाधिमरण की साधना न केवल शरीर-व्युत्सर्ग की साधना है, अपितु यह कषाय-व्युत्सर्ग, अर्थात् कषाय-त्याग की साधना भी है। यह चेतना के अन्तर्मुखीकरण की प्रक्रिया है, जो व्यक्ति में समत्व का भाव जगाती है। जैन-परम्परा में समाधिमरण की साधना को देह के प्रति रहे हुए ममत्व के त्याग का और आत्मानुभूति का हेतु माना गया है। इसमें व्यक्ति जीवन और मृत्यु-दोनों ही परिस्थितियों में 'सम' बना रहता है। उसे न जीवन की आकांक्षा होती है और न मरण की चाह; इस कारण ही इसे समाधिमरण कहा गया है। इसे मृत्यु-कला के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इसमें निष्कामभाव से और अनुद्धिग्नतापूर्वक मृत्यु का वरण किया जाता है। साररूप में कहें, तो मृत्यु की अनिवार्यता को जानकर जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु को अनुद्धिग्नतापूर्वक स्वीकार करना ही समाधिमरण है।

आगमों में समाधिमरण की अवधारणा :-

जैन-परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में समाधिमरण एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। अन्तकृतदशांग²⁵⁴, अनुत्तरोपपातिक²⁵⁵ तथा उपासकदशांग,²⁵⁶ आदि अनेक आगमों में श्रमण-साधकों एवं गृहस्थ-उपासकों के द्वारा समाधिमरण की साधना करने के उल्लेख मिलते हैं। आचारांग²⁵⁷, समवायांग²⁵⁸, आदि प्राचीन

²⁵⁴ अन्तकृतदशांग ८/१/४, २

²⁵⁵ अनुत्तरोपपातिक ३/१,

²⁵⁶ उपासकदशांग १/७३,

²⁵⁷ आचारांगसूत्र १/८/६, ७, ८.

आगम-ग्रन्थों में समाधिमरण ग्रहण करने की विधि सम्बन्धी उल्लेख भी मिलते हैं। आराधनापताका²⁵⁹, मरणसमाधि²⁶⁰, भगवतीआराधना²⁶¹, आदि अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर-ग्रन्थों में समाधिमरण की विस्तृत चर्चा हुई है।

“रत्नकरण्डकश्रावकाचार” में आचार्य समन्तभद्र ने समाधिमरण के स्वरूप का जो विवेचन किया है, वह इस प्रकार है - उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, असाध्यरोग, अथवा प्राणघातक अनिवार्य परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर धर्म की रक्षा, अथवा समभाव की साधना के लिए जो देहत्याग किया जाता है, वह समाधिमरण कहलाता है।¹¹²⁶²

“उत्तराध्ययनसूत्र” में समाधिमरण को पण्डितमरण कहा गया है। जीवन के सन्ध्याकाल में अनासक्तभाव से मृत्यु का वरण करने की कला को ही समाधिमरण कहा जाता है।¹¹²⁶³

समाधिमरण के साधक को इस लोक और परलोक-दोनों का ही आकर्षण नहीं रहता है और वह बाह्याभिमुखता को त्यागकर विशुद्ध भावदशा में आत्मा में ही रमण करता है। समाधिमरण विशुद्धचारित्र्य से युक्त आत्मा का आत्मा के स्व स्वभाव में रमण करने का नाम है। वह कर्त्ताभोक्ता का भाव त्यागकर ज्ञाता-दृष्टाभाव में जीने की साधना है।

“उपासकाध्ययन” के अनुसार जब व्यक्ति को यह विदित हो जाता है कि उसका शरीर विनष्ट होने वाला है, तो उसे समभावपूर्वक शरीर का त्याग करने के लिए तत्पर बन जाना चाहिए।¹¹²⁶⁴

सामान्य रूप से व्यक्ति देह के प्रति रागभाव और देह के विनाश के कारणों के प्रति भय एवं द्वेष का भाव होने से समभावपूर्वक मरण को प्राप्त नहीं कर पाता है, लेकिन जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे अपनी मृत्यु से डरते नहीं हैं। उनके अनुसार समाधिमरण जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा दिलाता

258 समवायसूत्र १७/१२१

259 आराधनापताका, पङ्कजसुताई भाग-२, पृ. १-१६८

260 मरणसमाधि पङ्कजसुताई भाग-१, पृ. ६६-११६,

261 भगवतीआराधना, शिवचार्वकृत

262 रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/१,

263 उत्तराध्ययनसूत्र- ७/२, ३२.

264 उपासकाध्ययन-८११

है, अतः यह तो कल्याणकारी मित्र है, ऐसी निराकांक्ष एवं समभावपूर्वक मृत्यु की प्राप्ति को उत्तमार्थ, मृत्युमहोत्सव, समाधिमरण, आदि कहा जाता है।²⁶⁵

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि मरण उत्तरपर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्वपर्याय का नाश है, अतः मरण को सुधारने के लिए जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरण लिया जाता है, जिससे कषायों के आवेग उपशमित या क्षय होकर जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।²⁶⁶

व्रत, नियम, तप, संयम, आदि का पालन करते हुए जीवन की अन्तिम सन्ध्या में शान्तिपूर्वक जो मृत्यु की प्राप्ति होती है, वही समाधिमरण है।

डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार जीवन के अन्तिम क्षणों में आहारादि का त्याग करके समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करना समाधिमरण कहलाता है। वृद्धावस्था, अथवा रुग्णता के अतिरिक्त भी जब आकस्मिक रूप में मृत्यु अपरिहार्य बन गई हो, तो निर्विकार चित्तवृत्ति से देह का त्याग करना ही समाधिमरण है।²⁶⁷

समाधिमरण के स्वरूप पर की गई उपर्युक्त चर्चाओं के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब व्यक्ति का शरीर अपने आवश्यक कार्यों में अक्षम हो जाए, अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण शरीर कांपने लगे, असाध्य रोग हो जाएं, तथा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएं, जिसके कारण मृत्यु जीवन की देहली पर दस्तक देने लगे, अथवा जब जीवन-रक्षण के लिए चारित्र से पतित होने वाली परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँ, तो व्यक्ति को धर्मरक्षार्थ अपने शरीर का त्याग कर देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति द्वारा किया गया देहत्याग उसके संयम और धर्म-दोनों की रक्षा करता है, और ऐसी परिस्थितियों में यही उपादेय है।

अतः, समाधिमरण हमारे समक्ष समभावपूर्वक देहत्याग की अवधारणा उपस्थित करता है। ऐसे देहत्याग को नैतिक-दृष्टि से तथा धार्मिक-दृष्टि से भी उचित माना गया है।

समाधिमरण के पर्यायवाची नाम :-

जैन-विचारकों ने समाधिमरण पर विस्तार से चर्चा की है और उसे भिन्न-भिन्न पर्यायवाची नामों से प्रकट किया है, उदाहरणस्वरूप-संलेखना, संथारा,

²⁶⁵ मृत्यु महोत्सव- ३,

²⁶⁶ तत्त्वार्थवार्तिक - ७/२२

²⁶⁷ जैन आचार, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. १२०.

पण्डितमरण, सकाममरण, अन्तःक्रिया, उत्तमार्थ, आदि सभी नाम समाधिमरण के ही पर्यायवाची हैं। इनके अर्थ को निम्न रूप में स्पष्ट किया जा सकता है -

संलेखना : सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को क्षीण करना ही संलेखना है।

संधारा : संधारा या संस्तारक, अर्थात् मृत्युशय्या पर आरूढ़ होना। संलेखना में मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा के लिए व्यक्ति जिस मृत्युशय्या को ग्रहण करता है, उसे संस्तारक या संधारा कहा जाता है।

समाधिमरण : मन में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों को दूर करके अत्यन्त शान्त भाव से प्राणत्याग करना समाधिमरण है।

पण्डितमरण : पण्डित शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञानी, अथवा विद्वान् है। ज्ञानी व्यक्ति उच्च आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए देह के प्रति निर्ममत्व का भाव रखता है। इसी भाव के वशीभूत होकर वह जो देहत्याग करता है, वह पण्डितमरण कहलाता है।

सकाममरण : किसी आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मृत्यु को स्वीकार करना सकाममरण है।

संन्यासमरण : देह के प्रति ममत्व का त्याग करना ही संन्यासमरण है।

अन्तःक्रिया, उत्तमार्थ, उपयुक्तमरण, आदि समाधिमरण के और भी नाम हैं, जिनका अर्थ आलोचनापूर्वक तथा क्षमापनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त करना है।

जैन-परम्परा में समाधिमरण का स्थान :-

जैनधर्म में वर्णित साधनाओं में समाधिमरण की साधना सबसे कठिन है। सामान्यतः, यह भी माना जाता है कि मृत्यु की वेला में व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोदशा होती है, भावी जीवन की गति भी उसी तरह की होती है। यही कारण है कि जैन-आचार्यों ने समाधिमरण को आवश्यक माना है और उसे मुक्ति का द्वार कहा है। समाधिमरण करनेवाले के मन में बहुत ही उच्चकोटि के विचार उठते हैं तथा वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है। मैं शरीर का नहीं हूँ। यह देह विकारी तथा क्षणभंगुर है और आत्मा शाश्वत और चैतन्यस्वरूप है। यह शरीर जन्म, जरा, मरण से युक्त है, रोग तथा आधि-व्याधि से घिरा हुआ है। दुःख और कष्ट देह को होता है, आत्मा को नहीं। संसार में सम्पत्ति या विपत्ति, संयोग या वियोग, जन्म या मरण, सुख या दुःख, मित्र या शत्रु की प्राप्ति, जो कुछ भी होता है, वह सभी पूर्व में किए गए पाप-पुण्य का फल है। मैं एक ज्ञायक

स्वभाववाली आत्मा हूँ। उसी की कर्ता, भोक्ता और अनुभवकर्ता हूँ। ज्ञायक का स्वभाव तो अविनाशी है, अतः यह शरीर रहा तो क्या? गया तो क्या? इसलिए शरीर पर से अपने ममत्व का त्याग करना ही उचित है।

“भगवतीआराधना के अनुसार समाधिमरण का व्रत लेनेवाला व्यक्ति अपना जीवन सफल करने के साथ-साथ अन्य जीवों का जीवन भी सफल करने में सहायक बनता है। जो व्यक्ति समाधिमरण ग्रहण करनेवालों के दर्शन, वन्दन और पूजन करते हैं, वे अपने पाप को कम कर लेते हैं। समाधिमरण ग्रहण करनेवाला गृहस्थ भोग-विलास का तथा सम्पूर्ण आहार का त्याग करता है, अतः उसकी वन्दना करने से मुनि को वन्दना करने जैसा लाभ प्राप्त होता है।”²⁶⁸

समाधिमरण का जैन-धर्म में कितना अधिक सम्मान एवं महत्वपूर्ण स्थान है, इसका पता तो इसी से चलता है कि प्रत्येक जैनमुनि एवं श्रावक अपनी जीवन-साधना के अन्त में यही कामना करता है - मैं समाधिमरण ग्रहण कर इस देह का समभावपूर्वक त्याग कर सकूँ। इस प्रकार समाधिमरण का साधक समभावपूर्वक मृत्यु को स्वीकार कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

समाधिमरण कब और क्यों? :-

मूलाराधना में संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण दिए गए हैं :-

१. दुर्चिकित्स्यव्याधि - संयम का परित्याग किए बिना व्याधि का उपचार करना सम्भव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।

२. वृद्धावस्था - जो श्रमण-जीवन की साधना करने में बाधक हो।

३. मानव, देव, तिर्यच सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित हो। चारित्रविनाश के लिए उपसर्ग किए जाते हैं।

४. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

५. भयंकर अटवी में दिग्विमूढ़ होकर पथ-भ्रष्ट हो जाए।

६. देखने, श्रवण करने एवं पैर से चलने की शक्ति क्षीण हो जाए।²⁶⁹

²⁶⁸ भगवतीआराधना, १६६५-२००३.

²⁶⁹ मूलाराधना २, ७१-७४.

इसी तरह के अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है। संक्षेप में कहें, तो मारणान्तिक-उपसर्ग, अतिवृद्धावस्था और असाध्य रोग की स्थिति में ही व्यक्ति समाधिमरण ले सकता है। एक स्वस्थ व्यक्ति, यदि वह नैतिक-आचरण करते हुए अपनी साधना या संघ-सेवा करने में सक्षम है- समाधिमरण ग्रहण नहीं कर सकता है। जब व्यक्ति का शरीर अपनी संयम-साधना में असमर्थ हो जाए और अपने लिए और संघ के लिए भारभूत हो, तभी वह समाधिमरण ग्रहण कर सकता है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार प्रतिकाररहित असाध्य रोग को प्राप्त, मारणान्तिक-उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्णता की स्थिति में, अथवा अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर निकट भविष्य में मृत्यु के अपरिहार्य बनने पर साधक संलेखना कर सकता है।²⁷⁰

सागारधर्माभूत के अनुसार आयुष्य का अन्त (मृत्यु) निकट दिखाई दे, अथवा किसी उपसर्ग के उपस्थित होने पर यह निश्चित हो कि अब जीवन का विनाश सन्निकट है - विधिपूर्वक महाव्रतों एवं अनशन स्वीकार करके दर्शन, आदि प्रतिमा-विषयक जो नित्य नैमेत्तिक-क्रियाएँ कही हैं, उन्हें सफल करना चाहिए। जीवन भर जो धर्म किया है, उसकी सफलता समाधिपूर्वक मरण से ही सम्भव है, अन्यथा वह सब निष्फल हो जाता है।²⁷¹

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार समाधिपूर्वक देहत्याग के निम्न अवसर, अथवा परिस्थितियाँ होती हैं, जैसे :-

१. बाढ़, दुर्भिक्ष, अकाल, सूखा, आदि विषम परिस्थितियों में जब खाद्य-पदार्थों की आपूर्ति सुगमता से सम्भव न हो और उसके अभाव में जीवन जाने का भय हो तथा अपने धर्म से पतित हो जाने की सम्भावना हो, जैसे-शरीर बेचकर, किसी की हत्या करके, किसी का धन-अन्न चुराकर जीवन बचाना पड़े, आदि।

२. जरा, अर्थात् अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण या तपादि की साधना के कारण सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गई हो, अपने आवश्यक कार्यों के सम्पादन के लिए भी दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता हो, शरीर जब भारभूत हो गया हो, इत्यादि।

²⁷⁰ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूज्यायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्थाः॥ सागारधर्माभूत, पृ. १६०.

²⁷¹ सागारधर्माभूत, पाण्य ८१६

३. असाध्यरोग हो जाने पर, अर्थात् किसी प्रयत्न से भी जिसके ठीक होने की सम्भावना नहीं है, उपचार करनेवाले तथा करानेवाले भी थक गए हों, अत्यधिक पीड़ा के कारण व्यक्ति संज्ञाशून्य अवस्था में पड़ा हो तथा जीवनरक्षा का कोई भी प्रयत्न सम्भव नहीं रह गया हो, आदि।

४. अनिवार्य प्राणघातक परिस्थितियों में फंस जाने पर जहाँ से निकल पाना सम्भव नहीं हो, जैसे- हिंसक पशु या दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फंस गए हों, भयंकर जंगल, मरुस्थल आदि में भटक जाने पर वहाँ से निकल पाने की कोई भी सम्भावना नहीं बची हो।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें धर्म से पतित होने की सम्भावना हो। इन सारी परिस्थितियों पर स्वयं व्यक्ति को ज्ञानपूर्वक सोचविचार कर उपयुक्त और अनुपयुक्त विवेक रखते हुए समाधिपूर्वक देहत्याग को स्वीकार करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि असाध्य बीमारी या अति वृद्धावस्था में जो समाधिमरण किया जाता है, वह यावज्जीवन के लिए होता है, जबकि मारणान्तिक संकट/उपसर्ग उपस्थित होने पर जो समाधिमरण के प्रत्याख्यान किए जाते हैं, वह सागारी-संधारा या आतुर-प्रत्याख्यान कहलाता है, उस संकट के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति पुनः अपना सामान्य जीवन जी सकता है।

संलेखना या समाधिमरण ग्रहण करने की अनिवार्य शर्त यही है कि जब व्यक्ति को यह अनुभव हो कि अब मृत्यु सन्निकट है, तभी वह समाधिमरण ग्रहण कर सकता है, किन्तु मृत्यु की सन्निकटता का बोध कैसे हो, इस हेतु संवेगरंगशाला में कुछ उपाय बताए हैं, आगे हमने उनकी चर्चा की है।

समाधिमरण लेने वाले की योग्यता :-

जैनधर्म में समाधिमरण या अन्तिम आराधना ग्रहण करना सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि समाधिमरण की साधना में साधक को कठिन तप करना पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति समभावपूर्वक कष्टों को नहीं सहन कर पाता है, इसलिए जैन-परम्परा में समाधिमरण ग्रहण करने की योग्यताएँ किसमें हैं, इसका उल्लेख भी जैन-आगमों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। संवेगरंगशाला²⁷² में जाति-कुल का भेदभाव रखे बिना राजा, स्वामी, सेनापति, मंत्री, कौटुम्बिक, आदि सभी को आराधना के योग्य स्वीकार किया गया है। साथ ही; जो आत्मचिन्तक, बुद्धिशाली,

शान्त (सौम्य) प्रकृतिवाला, सज्जनों से सम्मानित हो, वह आराधना के योग्य है एवं इससे विपरीत क्रूरकर्मी, मदिरापान करनेवाला, मांस एवं मादक वस्तुओं का सेवन करनेवाला, स्त्री, बाल, वृद्ध की हत्या करनेवाला, चोरी व परस्त्री सेवन में तत्पर, असत्य वचन कहनेवाला तथा धर्म की हँसी करनेवाला, इत्यादि पुरुष भी यदि अन्त में वैराग्य का निमित्त प्राप्त करके प्रायश्चित्त लेकर पश्चाताप करनेवाला हो, परम उपशमभाव को प्राप्त करनेवाला हो एवं शुभ-आशयवाला हो, वही धीर पुरुष आराधना (समाधिमरण) ग्रहण करने के योग्य कहा गया है। इस प्रसंग में वंक्चूल एवं चित्तातिपुत्र के कथानक विस्तार से दिए गए हैं।

उपासकदशांग²⁷³ में भी समाधिमरण लेनेवाले व्यक्ति की योग्यता का वर्णन किया गया है, जैसे-आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकौलिक, सकडालपुत्र, गोशालक, महाशतक, नन्दिनीपिता, सालिहीपिता, आदि ने श्रावक की प्रतिमाओं का वहन करते हुए वृद्धावस्था में समाधिपूर्वक देहत्याग किया था।

भगवतीआराधना²⁷⁴ के अनुसार जिसके दुःसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्य-जीवन को हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो, अथवा देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यचकृत उपसर्ग हो एवं अनुकूल बन्धु या मित्र हों, या प्रतिकूल शत्रु हों, जो चारित्र्य का विनाश करनेवाले हों, भयंकर दुर्भिक्ष हो, अथवा जंगल में भटक गया हो एवं जिसके चक्षु दुर्बल हों या जिसके श्रोत्र दुर्बल हों, जो जंघाबल से हीन हो, अथवा विहार करने में असमर्थ हो, इस प्रकार उक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होने पर विरत, अथवा अविरत साधक समाधिमरण ग्रहण करने योग्य होता है। आराधनापताका²⁷⁵ में भी समाधिमरण लेनेवाले की योग्यता के सम्बन्ध में यही बात उपलब्ध होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार संयमशील, जितेन्द्रिय और चारित्र्ययुक्त सकाम और अकाममरण के भेद जाननेवाला तथा मृत्यु के स्वरूप का ज्ञाता एवं मृत्यु से नहीं डरनेवाला व्यक्ति समाधिमरण के योग्य है।²⁷⁶

मरणविभक्ति के अनुसार शरीर और कषाय को क्षीण करनेवाला व्यक्ति समाधिमरण के योग्य है, अर्थात् विभिन्न प्रकार के तप, अनशन की सहायता से

²⁷³ उपासकदशांग - प्रथम अध्ययन से दस अध्ययन के आधार पर।

²⁷⁴ भगवतीआराधना, गाथा ७०, ७१, ७२, ७३.

²⁷⁵ आराधनापताका, गाथा ५८ - ६१.

²⁷⁶ उत्तराध्ययन - ५/२६.

जिसने काया को दुर्बल बना लिया, अपनी कषायों को शुभभावना के चिन्तन-मनन से पतला कर लिया तथा समस्त प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो गया, वह समाधिमरण ग्रहण करने के योग्य है।²⁷⁷ संलेखना-व्रत ग्रहण करनेवाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं होना चाहिए।

मूलाधार में भी समाधिमरण लेनेवाले की योग्यता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ममत्वरहित, अहंकाररहित, कषायरहित, धीर, निदानरहित, सम्यग्दर्शन में सम्पन्न, इन्द्रियों को अपने वश में रखनेवाला, सांसारिक राग को समझनेवाला, अल्पकषायवाला, इन्द्रिय निग्रह में कुशल, चारित्र्य को स्वच्छ रखने में प्रयासरत तथा संसार के समस्त दुःखों को जानकर एवं समझकर इससे विरत रहनेवाला व्यक्ति समाधिमरण करने का अधिकारी होता है।²⁷⁸

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक को सर्वप्रथम मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को शान्त करना होता है; क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि कषायों (आन्तरिक-शत्रुओं) पर विजय प्राप्त करना होता है एवं इन्द्रियों के विषयों के प्रति ममत्व का त्याग करना होता है। इस तरह मुख्य रूप से जिसकी देहासक्ति नष्ट हो चुकी हो एवं कषाय भी क्षीण हो गए हों, उसी भव्य आत्मा को समाधिमरण ग्रहण करने के योग्य जानना चाहिए।

मृत्युकाल जानने के उपाय

समाधिमरण ग्रहण करने के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि जब मृत्यु सन्निकट हो, तभी समाधिमरण ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु प्रश्न यह है कि मृत्यु की सन्निकटता को कैसे जाना जाए? इस हेतु जहाँ प्राचीन जैन-आगमों में मानवीय एवं शारीरिक लक्षणों की चर्चा है, वहीं परवर्ती जैन-आचार्यों ने काल, अर्थात् मृत्यु-ज्ञान के अन्यान्य उपायों की चर्चा भी की है। इन उपायों में अनेक उपाय स्वप्नशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा तान्त्रिक साधना पर आधारित हैं। जैन परम्परा पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव तो दूसरी, तीसरी शती से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु नौवीं-दसवीं शती तक वह अन्य तान्त्रिक-परम्पराओं से पूर्णतः प्रभावित भी था। यही कारण है कि संवेगरंगशाला, योगशास्त्र, आदि ग्रन्थों में मृत्युकाल जानने में इन तान्त्रिक-विधियों का उल्लेख हुआ है।

आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला के कालपरिज्ञान-द्वार में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि विद्या, यंत्र, शकुन, आदि के द्वारा साधक की आयुष्य

²⁷⁷ मरणविषयि, १८७, १८६, १६६, १७६.

²⁷⁸ मूलाधार (पूर्वार्द्ध) १०३.

को जाना जा सकता है, क्योंकि समाधिमरण ग्रहण करनेवाले साधकों के मृत्युकाल को जानने के लिए ये विद्याएँ उपयोगी होती हैं। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि साधक को सम्पूर्ण आलोचना कराने के पश्चात् चाहे साधक सशक्त हो, अथवा अशक्त, यदि उसकी मृत्यु नजदीक हो, तो उसे शीघ्र भक्त-परिज्ञा करा देना चाहिए, किन्तु जिन साधकों की मृत्यु अभी दूर है या निकट है, ऐसा ज्ञान नहीं होने पर उस काल में जो उचित हो, उसके अनुसार प्रतिज्ञा ग्रहण कराना चाहिए। यद्यपि मृत्युकाल का सही ज्ञान तो सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता है, फिर भी मृत्युकाल को जानने के लिए ग्रन्थकार ने कुछ उपायों का या संकेतों का उल्लेख किया है। जैसे- बादल के आने से वृष्टि का ज्ञान होना, अंधेरे में दीपक के प्रकाश से वस्तु का दिखाई देना, धुएँ से अग्नि की उपस्थिति को एवं पुष्प से फल की उत्पत्ति को जाना जा सकता है, वैसे ही शास्त्रों में वर्णित निम्न ग्यारह उपायों के द्वारा मृत्यु के काल को जाना जा सकता है। वे ग्यारह उपाय इस प्रकार हैं :-

- (१) देवता-द्वार (२) शकुन-द्वार (३) उपश्रुति-द्वार (४) छाया-द्वार
- (५) नाड़ी-द्वार (६) निमित्त-द्वार (७) ज्योतिष-द्वार (८) स्वप्न-द्वार
- (९) रिष्ट-द्वार (१०) विद्या-द्वार और (११) यंत्र-द्वार²⁷⁹।

१. देवता-द्वार :- देवता-द्वार का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि इस विद्या के द्वारा व्यक्ति अपने मृत्युकाल को जान सकता है। देवताओं का आह्वान करते समय व्यक्ति सर्वप्रथम मन, वाणी और शरीर को स्थिर करे और विशुद्ध भावों से चित्त को भावित करे। शास्त्रों में विदित नियमानुसार निश्चल मन से “ॐ नरवीरे ठः ठः”- इस प्रकार की विद्या का दस हजार आठ बार जाप करे। पहले सूर्यग्रहण, अथवा चन्द्रग्रहण के समय इस विद्या का विधिपूर्वक जाप करके इस विद्या को सिद्ध करे। फिर प्रसंग उपस्थित होने पर इस विद्या का पुनः एक हजार आठ बार ध्यान करे।²⁸⁰ इस तरह शुभध्यान (जाप) के प्रभाव से प्रभावित होकर विद्या की अधिष्ठायिका (देवी) अंगूठे आदि स्थान में उतरती है।

“इस तरह विद्या के द्वारा देवता को दर्पण में उतारकर, फिर उस दर्पण को एक कन्या को दिखाएं, जिससे वह कन्या दर्पण में स्थित देवता के प्रतिबिम्ब को देखकर उनके पास से सर्व निर्णय सुनकर प्रश्नकर्ता से कहती है। इस तरह

²⁷⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३०५७-३०६५.

²⁸⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३०६८-३०६९.

वह पुरुष उस कुमारिका से आयुष्य सम्बन्धी काल को निःसंशयपूर्वक जान लेता है। इससे यह फलित होता है कि देवता के द्वारा मनुष्य अपने या दूसरों के मृत्युकाल को जान सकता है। यह विद्या सदाचारी एवं सम्यक्त्वी जीवों के ही वांछित को पूर्ण करती है।²⁸¹

योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में भी देवताद्वार का इसी प्रकार से निरूपण उपलब्ध होता है और साथ ही उसमें यह भी कहा गया है कि देवता उत्तम गुणों से युक्त साधक से आकर्षित होकर स्वयं निर्णयवान् होना हुआ संशयरहित त्रिकाल सम्बन्धी आयुष्यज्ञान को कह देता है।²⁸²

शकुन-द्वार :- संवेगरंगशाला में शकुन नामक दूसरे द्वार का विवेचन करते हुए जिनचन्द्रसूरि लिखते हैं कि शकुन विद्या के द्वारा भी रोगी, अथवा निरोग व्यक्ति के आयुष्यकाल को जाना जा सकता है। इसमें पहले निरोग पुरुष के आयुष्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शकुन द्वार में यह प्रतिपादित किया गया है कि सर्वप्रथम शुभभावों से अपने इष्ट देवता को नमस्कार करें, फिर एकाग्रचित्त होकर प्रशस्त दिन घर में या बाहर शकुन को देखकर उनके भाव (फलों) का सम्यक् विचार करें। “जैसे- सर्प, चूहे, कीड़े, गिलहरी, बिच्छू, आदि की अति वृद्धि हो गई हो, अथवा घर में दीमक लगी हो, भूमि में चीराड़ या दरार आ गई हो, खटमल, जूं, आदि का बहुत ज्यादा उपद्रव हो गया हो, घर में मकड़ी का जाल, अनाज में कीड़े, आदि बिना कारण बढ़ गए हों, तो घर में उद्वेग, कलह, युद्ध, धन का नाश, व्याधि अथवा मृत्यु, आदि संकट उत्पन्न होते हैं।”²⁸³

साथ ही इसमें यह भी बताया गया है- “जब व्यक्ति निद्रा में हो और सहसा एक कौआ आकर उसके बालों को खींचता हो तथा उसके वाहन, शस्त्र, जूते, छत्र, अथवा शरीर को निःशंक रूप से अपनी चौंच या पंजे से काटता हो या मारता हो, तो वह शीघ्र यमलोक में गमन करनेवाला है- ऐसा समझना चाहिए। यदि अश्रुपूर्ण नेत्र से कोई गाय, आदि पशु पैर से पृथ्वी को खोदे, तो वह घटना अपने मालिक के रोग उत्पत्ति का कारण के साथ-साथ मृत्यु का हेतु भी बनती है।”²⁸⁴

281 संवेगरंगशाला, गाथा ३०७०-३०७१.

282 योगशास्त्र, गाथा १७३-१७६, प्रकाश-५.

283 संवेगरंगशाला, गाथा ३०७४-३०७६.

284 संवेगरंगशाला, गाथा ३०७७.३०८०

इसके पश्चात् अब रोगी के मृत्युकाल का वर्णन करते हुए कहते हैं - “यदि कुत्ता अपने दाईं ओर मुख मरोड़कर अपनी पीठ को चाटता है, तो रोगी एक ही दिन में मृत्यु को प्राप्त होता है, यदि छाती को चाटता है, तो रोगी दो दिन में और यदि पूंछ को चाटता है, तो तीन दिन में रोगी के प्राण चले जाते हैं।”²⁸⁵ इस सम्बन्ध में श्वान-शकुन के ज्ञाता यह निर्देश करते हैं कि यदि कुत्ता निमित्तकाल के समय ही सर्व अंगों को सिकोड़कर सो रहा हो, तो समझना कि रोगी उसी समय मरणावस्था को प्राप्त करेगा। “यदि कुत्ता अपने दोनों कानों को जोर से हिलाकर एवं शरीर को मरोड़कर कंपकंपी करे, तब भी रोगी अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी तरह यदि वह खुले मुख से तार टपकाता हुआ, दोनों आँखों को बन्द करके एकदम सिकुड़कर सो जाता है, तो उस रोगी की मृत्यु अवश्य होती है।”²⁸⁶

अन्त में यह भी वर्णित किया गया है- “रोगी के घर के ऊपर तीनों संध्या में कौओं के समूह को एकत्रित होते देखें, तो जीव का विनाश होता है। जिसके शयनकक्ष में, अथवा रसोईघर में कौआ चमड़ा, रस्सी, बाल या हड्डी, आदि डाल जाता है, तो वह रोगी मृत्युशय्या में सो जाता है।”²⁸⁷ योगशास्त्र में भी यही बात शकुनद्वार में मिलती है।²⁸⁸

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संवेगरंगशाला के अनुसार रोगी (पुरुष) अथवा निरोगी पुरुष की मृत्यु का ज्ञान शकुनों की सहायता से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि घर में जीवों की वृद्धि को जानकर या कुत्ते एवं कौए की क्रिया को देखकर प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के काल का अंदाजा लगा सकता है।

२. उपश्रुतिद्वार :- संवेगरंगशाला के अनुसार उपश्रुति, अर्थात् शब्द-श्रवण। संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने उसके उपश्रुति-द्वार में आयुष्य का निर्णय करते हुए यह निरूपण किया है कि “सर्वप्रथम रात्रि के समय आचार्य अपने दोनों कानों को नमस्कारमंत्र अथवा सूरिमंत्र से मंत्रित करे, उसके पश्चात् श्वेत वस्त्र पहनकर हाथ में गन्ध, अक्षत, आदि लेकर, कानों में किसी अन्य के शब्द सुनाई नहीं दे, इसलिए कान बन्द करके, घर से बाहर निकले। इस तरह वह क्रमशः उत्तरदिशा, ईशानदिशा की तरफ जाए। वहाँ चाण्डाल, वेश्या, अथवा शिल्पकार आदि के स्थान पर, अथवा बाजार में जाकर उन अक्षतों एवं गन्ध को

²⁸⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ३०८१-३०८२.

²⁸⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ३०८४-३०८५.

²⁸⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३०८६-३०८७.

²⁸⁸ योगशास्त्र, गाथा १७७-१८७.

फेंके। ऐसा करने के पश्चात् वहाँ से जो आवाज (शब्द) सुनाई देती है, उसे उपश्रुति कहते हैं।²⁸⁹ वे शब्द दो प्रकार के होते हैं, प्रथम- अर्थान्तरोप्रदेश्य एवं दूसरा- स्वरूप-उपश्रुति। इस प्रथम उपश्रुति में अर्थ का निर्धारण, कल्पना अथवा विचार के द्वारा किया जाता है। द्वितीय उपश्रुति में जैसा शब्द सुनें, वैसा ही अर्थ धारण करना, अर्थात् शब्द स्पष्ट अर्थ को प्रकट करने वाला होता है।

जैसे- इस घर का स्तम्भ पाँच दिन के पश्चात्, अथवा छः मास या सात वर्ष के बाद निश्चय से टूट जाएगा, अथवा नहीं टूटेगा। यह दीपक लम्बे समय तक जलता रहेगा, अथवा टकराने से शीघ्र नष्ट हो जाएगा। इस तरह पदार्थ सम्बन्धी शब्द को सुनकर इनसे अपनी आयुष्य का अनुमान लगा लेना चाहिए। यदि पीठिका, दीपक की शिखा, आदि स्त्रीलिंग पदार्थ से सम्बन्धित शब्दों का श्रवण हो, तो स्त्री के आयुष्य का अन्दाज लगाना चाहिए।²⁹⁰ इस तरह यह प्रथम उपश्रुति के द्वारा ज्ञान हुआ। द्वितीय स्वरूप-उपश्रुति का वर्णन करते हुए कहा गया है- “जिस प्रकार ये स्त्री-पुरुष इस स्थान से जाएंगे, अथवा नहीं जाएंगे। हम उन्हें जाने नहीं देंगे तथा वे भी जाने की इच्छा नहीं करते हैं अथवा उन्हें जाने की इच्छा है और मैं भी उनको भेजना चाहता हूँ, इसलिए वे अब जल्दी यहाँ से जाएंगे, अर्थात् रोकने पर भी नहीं रुकेंगे। वह आज, कल या परसों चला जाएगा।”²⁹¹ इस तरह यह दूसरे प्रकार की स्वरूप-उपश्रुति कही गई है।

अन्त में उपश्रुति का अर्थ बताते हुए कहा गया है - “यदि जाने के शब्द सुनाई दें, तो उस व्यक्ति की मृत्यु निकट है और यदि रुकने के शब्द श्रवण होते हों, तो मृत्यु अभी नजदीक नहीं है - ऐसा समझना चाहिए। इस तरह दो प्रकार के शब्दों को अच्छी तरह श्रवण करके, फिर उनके अनुरूप उचित अर्थ लगाकर व्यक्ति को कार्य में संलग्न होना चाहिए।”²⁹² इस प्रकार उपश्रुति के द्वारा कुशल पुरुष अपनी आयुष्य का प्रमाण निकाल लेता है तथा उन शब्दों के माध्यम से अपनी मृत्यु निकट है, अथवा दूर है, ऐसा निर्णय कर लेता है। उपश्रुति से आयुष्य का ज्ञान प्राप्त करने के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में जो विवेचन मिलता है, वही विवेचन योगशास्त्र²⁹³ के पाँचवें प्रकाश में भी मिलता है। इससे निश्चित

²⁸⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३०८८-३०९४.

²⁹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३०९८.

²⁹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ३०९९-३१०२.

²⁹² संवेगरंगशाला, गाथा ३१०३-३१०४.

²⁹³ योगशास्त्र गाथा, पंचमप्रकाश, १८८-१९६.

रूप से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में उपश्रुति के द्वारा मृत्यु-काल को जानने की परम्परा थी।

३. छायाद्वार :- प्रस्तुत कृति के अनुसार आयुष्य की काल मर्यादा जानने के लिए छाया का सम्यक् रूप से निरीक्षण करना होता है। इसमें पुरुष सदैव अपनी छाया को एकाग्र मन से निरीक्षण करता है। फिर शास्त्र के अनुसार “अपनी परछाई से शुभ या अशुभ को जानता है। इसमें सूर्य के प्रकाश में, शीशे में, अथवा पानी आदि में जो शरीर की आकृति गिरती है, उसे प्रतिछाया कहा है। जिसे अपनी छाया में छेदन-भेदन दिखाई दे, अथवा छोटी या बड़ी दिखाई दे, तो वह पुरुष शीघ्र मृत्यु को प्राप्त करता है।”²⁹⁴ “पानी में अपनी छाया को मस्तकरहित देखे, अथवा अनेक मस्तकवाली देखे, तब वह मृत्यु को प्राप्त करता है। जिसे अपनी छाया दिखाई नहीं दे, तो दस दिन के बाद और दो छाया दिखाई दे, तो एक दिन के बाद, वह मरण को प्राप्त करता है।”²⁹⁵

निमित्तशास्त्र के अनुसार “सूर्योदय से अन्तर्मुहुर्त पश्चात् स्थिर चित्त से अपनी परछाई को देखते हुए जिसे अपनी छाया सर्व अंगों से अक्षत दिखाई दे, तो वह कुशलतापूर्वक जीएगा और यदि पैर दिखाई न दे, तो विदेशगमन होगा। दो जंघा नहीं दिखे, तो रोग उत्पन्न होगा। पेट न दिखे, तो धन का नाश होगा और हृदय दिखाई नहीं दे, तो मृत्यु को प्राप्त होगा।”²⁹⁶

इसी तरह यदि “बाई एवं दाई भुजा नहीं दिखे, तो भाई एवं पुत्र का नाश होगा। मस्तक दिखाई नहीं दे, तो छः महीने में मरण को प्राप्त होगा एवं सर्व अंग दिखाई नहीं दे तो शीघ्र ही मृत्यु होगी- ऐसा जानना चाहिए। जल अथवा दर्पण आदि में यदि अपनी परछाई को नहीं देखे, अथवा विकृत देखे, तो निश्चय ही मृत्यु उसके नजदीक ही है- ऐसा जानना चाहिए।”²⁹⁷

इस प्रकार छायाद्वार से हमें यह ज्ञात होता है कि सम्यक् रूप से प्रयत्न करने पर कुशल पुरुष छाया के द्वारा मृत्यु-काल को जान सकता है।

४. नाड़ी-द्वार :- संवेगरंगशाला में नाड़ी-द्वार का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहता है - “नाड़ी तीन प्रकार की होती है - १. ईडा २. पिंगला और ३. सुषुम्ना। ईडा नाड़ी बाई नासिका भाग से चलती है। पिंगला नाड़ी दाई

²⁹⁴ संवेगरंगशाला गाथा, ३१०७-३११०.

²⁹⁵ संवेगरंगशाला गाथा, ३११२-३११४.

²⁹⁶ संवेगरंगशाला गाथा, ३११५-३११८.

²⁹⁷ संवेगरंगशाला गाथा, ३११९-३१२१.

नासिका-भाग से चलती है और सुषुम्ना नाड़ी दोनों भागों से चलती है। ईडा और पिंगला नाड़ी क्रमशः ढाई घड़ी तक चलती है और सुषुम्ना नाड़ी एक क्षणमात्र चलती है।²⁹⁸

प्रस्तुत कृति में इस विषय पर अन्य आचार्यों का मत इस प्रकार बताया गया है - “ईडा नाड़ी पाँच घड़ी तक निरन्तर चलती है एवं पिंगला नाड़ी पाँच घड़ी में लगभग छः प्राण कम चलती है और शेष छः प्राण सुषुम्ना नाड़ी चलती है। इस तरह तीनों नाड़ी दस घड़ी तक चलती हैं।²⁹⁹

“इसमें ईडा नाड़ी को चन्द्रनाड़ी और पिंगला को सूर्यनाड़ी भी कहा गया है। परमहर्षि गुरु का कहना है - आयुष्य का विचार करते समय वायु अन्दर प्रवेश करती है, तो वह व्यक्ति जीवित रहता है और यदि वायु बाहर निकलती है, तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है। जिसकी चन्द्रनाड़ी चलने के समय सूर्यनाड़ी चलती है, अथवा सूर्यनाड़ी के चलने के समय चन्द्रनाड़ी चलती हो, इस तरह दोनों नाड़ी अनियमित चलती हो, तो उस पुरुष का जीवन छः महीने शेष है- ऐसा जानना चाहिए।³⁰⁰

इसमें साथ ही यह उल्लेख किया गया है - “उत्तरायण के दिन से पाँच दिन तक अखण्ड सूर्यनाड़ी चले, तो उसकी आयु दो वर्ष की है और पन्द्रह दिन चले, तो एक वर्ष की जानना चाहिए। इसी तरह उत्तरायण के दिन से बीस दिन तक लगातार सूर्यनाड़ी चले, तो तीन महीने के पश्चात् मृत्यु होती है, छब्बीस दिन चले, तो दो महीने बाद, सत्ताईस दिन चले, तो एक मास बाद, अट्ठाईस दिन चले, तो पन्द्रह दिन बाद, उनतीस दिन चले, तो दस दिन बाद, तीस दिन चले, तो पाँच दिन बाद, इकतीस दिन चले, तो तीन दिन बाद, बत्तीस दिन चले, तो दो दिन बाद और तैंतीस दिन चले, तो एक दिन बाद मृत्यु होती है।³⁰¹

प्रस्तुत ग्रन्थ में नाड़ीज्ञान से अन्य अनेक घटनाओं के घटने का चित्रण भी किया गया है। एक दिन पूरे समय सूर्यनाड़ी चलती हो, तो कुछ उत्पात की सूचना देती है।

५. निमित्त-द्वार :- संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि निमित्त-द्वार का वर्णन करते हुए कहते हैं- “जिसको चलते-चलते या खड़े रहते, बैठते, अथवा

²⁹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३१२३-३१२६

²⁹⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३१२७-३१२८.

³⁰⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३१३०-३१३२.

³⁰¹ संवेगरंगशाला, गाथा ३१३३-३१३६.

सोते हुए बिना किसी निमित्त के अचानक भूमि में ज्वालाएँ उठती दिखाई दे, अथवा भूमि फटकर चकनाचूर होती दिखाई दे, अथवा किसी के रुदन की आवाज (शब्द) सुनाई दे, तो उसकी छः मास में मृत्यु होती है। दृष्टिभ्रमवश जिसे अन्य के मस्तक पर धुआँ, अथवा केशराशि में अग्नि दिखाई दे एवं कुत्ते की हड्डी या मृतक के अवयव को जो घर में रखे, तो उससे भी व्यक्ति का मरण होता है।³⁰²

इसमें आगे ग्रन्थकार ने यह उल्लेख किया है - “यदि जिसे स्वच्छ आकाश में भी संगीत की ध्वनि सुनाई दे, तो उसे रोग उत्पन्न होता है एवं वाद्ययन्त्र की आवाज आने से निश्चित मृत्यु होती है- ऐसा जानना चाहिए। व्यक्ति यदि आकाश में एकसाथ दो चन्द्र को देखता है, तो वह यमलोक जाने की तैयारी करता है। यदि जीभ के अन्तिम भाग में काले बिन्दु को देखता है तथा बिना कारण उसका स्वर-परिवर्तन हो जाता है, तो निःसन्देह वह अन्य काया में प्रवेश करनेवाला है”³⁰³ - ऐसा जानना चाहिए।

संवेगरंगशाला के निमित्तद्वार के अन्त में यह निरूपण किया गया है - “जिस उत्तम पुरुष के ललाट पर दीर्घ (लम्बी) एवं स्थूल एक, दो, तीन, चार, अथवा पाँच रेखाएँ हों, तो वह अनुक्रम से तीस, चालीस, साठ, अस्सी एवं सौ वर्ष तक सुन्दर जीवन यापन करता है। यदि बिना किसी निमित्त के विकार पैदा होता हो, कम्पन होता हो, पसीना आता हो, थकावट लगती हो एवं उपचार करने पर भी अल्प-लाभ भी नहीं होता हो, तो वह व्यक्ति तत्काल मृत्यु को प्राप्त करता है- ऐसा जानना चाहिए”³⁰⁴

६. ज्योतिषद्वार :- संवेगरंगशाला में ज्योतिषद्वार का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि “सर्वप्रथम एक शनिश्चर पुरुष की आकृति को बनाए, उसके पश्चात् निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र में शनि हो, उस नक्षत्र को मुख (मध्य) में स्थापित करे। फिर क्रमशः चार नक्षत्र दाँए हाथ में, तीन-तीन नक्षत्र दोनों पैरों में चार बाँए हाथ में, पाँच नक्षत्र हृदय में, तीन नक्षत्र मस्तक में, दो-दो नक्षत्र दोनों नेत्रों में और एक नक्षत्र गुह्यस्थान में- इस तरह सत्ताईस नक्षत्र स्थापित करे। इस प्रकार शनिश्चर पुरुष-चक्र में नक्षत्रों की स्थापना करके उसमें जन्म एवं नाम नक्षत्र को देखे। यदि निमित्त-ज्ञान प्राप्त करते समय शनि-पुरुष गुह्यस्थान में आया हो एवं उस पर दुष्ट ग्रहों की दृष्टि गिरती हो, अथवा उनके साथ मिलाप होता हो तथा सौम्यग्रहों की दृष्टि नहीं गिरती हो, अथवा मिलाप नहीं

³⁰² संवेगरंगशाला, गाथा ३१३३-३१३६.

³⁰³ संवेगरंगशाला, गाथा ३१५३-३१५६.

³⁰⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३१६१-३१६५.

होता हो, तो वह मनुष्य निरोगी होने पर भी मृत्यु को प्राप्त करता है, तो रोगी की तो फिर बात ही क्या करना?"³⁰⁵

यही बात हेमचन्द्राचार्य ने भी अपने योगशास्त्र³⁰⁶ के पाँचवें प्रकाश में कही है। प्रश्न-लग्न के अनुसार मरणकाल का विवेचन करते हुए ज्योतिषद्वार में यह कहा गया है कि आयुष्य सम्बन्धी प्रश्न करते समय यदि क्रूर ग्रह चौथे, सातवें या दसवें लग्न में रहा हो और चन्द्रमा छठी या आठवीं राशि में हो, तो निश्चय से मृत्यु होती है।³⁰⁷ योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में भी ऐसा ही विवेचन उपलब्ध होता है। यदि प्रश्न करते समय लग्न-अधिपति मेषादि राशि में गुरु, मंगल, शुक्रादि हो, अथवा चालू लग्न का अधिपति अस्त हो गया हो, तो निरोगी मनुष्य की भी मृत्यु होती है।³⁰⁸

इसी तरह प्रश्न करते समय लग्न में चन्द्रमा स्थिर हो, बारहवें में शनि हो, नौवें में मंगल हो, आठवें में सूर्य हो, किन्तु बृहस्पति बलवान् नहीं हो, तो उसकी मृत्यु होती है और यदि चन्द्रमा दसवें में हो और सूर्य तीसरे या छठे स्थान में हो, तो तीसरे ही दिन उसकी दुःखपूर्वक मृत्यु होने वाली है- ऐसा समझना चाहिए।

यदि पापग्रह (खराब ग्रह) लग्न के उदयस्थान से चौथे या बारहवें में हों, तो उसकी (कालमान वाले पुरुष की) तीसरे दिन मृत्यु होगी- ऐसा बताते हैं। प्रश्न करते समय चालू लग्न में, अथवा पाँचवें स्थान में पापग्रह हो, तो निःसंदेह निरोगी भी पाँच दिन में मरेगा। इसी तरह योगशास्त्र में चालू लग्न में पापग्रह पाँचवें स्थान में हो, तो मनुष्य की आठ या दस दिन के बाद मृत्यु होती है- ऐसा उल्लेख मिलता है। अशुभग्रह यदि धनु राशि और मिथुन राशि में तथा सातवें स्थान में हों, तो व्याधि उत्पन्न होती है, अथवा मृत्यु होती है- इस प्रकार ज्योतिष जानने वालों ने कहा है।

स्वप्न-द्वार :- प्रस्तुत द्वार में ग्रन्थकार ने स्वप्न के माध्यम से मृत्युकाल को किस प्रकार जाना जा सकता है, इसका प्रतिपादन किया है- "जैसे- स्वप्न में विकृत नेत्रवाली बंदरी द्वारा स्वयं को आलिंगन करते देखे, अथवा दाढ़ी, मूँछ,

305 सविगर्गशाला, गाथा ३१६६-३१७०.

306 योगशास्त्र, गाथा १६७-२००.

307 सविगर्गशाला, गाथा ३१७८-३१७९

308 योगशास्त्र, गाथा २०१-२०२.

बाल, नख को काटते हुए देखे, तो उसकी शीघ्र मृत्यु होगी- ऐसा जानना चाहिए। जब स्वप्न में

स्वयं को तेल से अथवा काजल से विलेपन किया हुआ देखे, अथवा स्वयं की केशराशि को बिखरी हुई देखे, अथवा स्वयं को वस्त्ररहित एवं गधे या ऊँट पर बैठकर दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए देखे, तब भी व्यक्ति की जल्दी मृत्यु होती है।³⁰⁹ यही बात योगशास्त्र में कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादित की गई है, जैसे - ऊँट या सूअर के ऊपर स्वयं को सवारी करते देखे, अथवा उनके द्वारा स्वयं को खिंचाता हुआ देखे, तो एक वर्ष के अन्त में मृत्यु होती है।³¹⁰ “जबकि संवेगरंगशाला में ऐसा वर्णन मिलता है कि स्वप्न में जिसे सियार के बच्चे खींच रहे हों, वह प्रायः बुखार से मृत्यु को प्राप्त करता है एवं जिसको सूअर, गधा, कुत्ता, ऊँट, भेड़िया, भैंसा, आदि दक्षिण दिशा में खींचकर ले जाएं, उसकी श्वास की बीमारी से मृत्यु होती है।”³¹¹ इस प्रकार स्वप्नद्वार-विवेचन में दोनों ग्रन्थों में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है।

“यदि मनुष्य स्वप्न में अपने को चाण्डालों के संग घी, तेल, आदि स्निग्ध वस्तुओं का पान करते हुए देखे, तो वह प्रमेह दोष से मरता है एवं सूर्य-चन्द्र को नीचे गिरते हुए देखता है, तो नेत्ररोग से मरता है। सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण को देखे, तो मूत्रकृच्छ रोग से मृत्यु होती है। स्वप्न में जो सुपारी अथवा तिल-पापड़ी का भक्षण करे, तो वह उसी प्रकार के वर्तन करते हुए मरता है। स्वप्न में स्वयं को लाल पुष्पों से सज्जित, सिर से मुण्डित एवं वस्त्र से रहित तथा स्वयं को चाण्डाल दक्षिण दिशा में खींचता हो - ऐसा देखे, तब भी वह शीघ्र मरता है तथा स्वप्न में जिसके मस्तक पर बांस की लता उत्पन्न हुई हो, पक्षी घोंसला डालते हों, कौआ, गिद्ध, आदि सिर पर चढ़ते हों, तो उस व्यक्ति की मृत्यु भयंकर बीमारी से होती है।”³¹² “जबकि योगशास्त्र में, ऐसे स्वप्न देखनेवालों की छः महीने के बाद मृत्यु होती है- ऐसा उल्लेख किया गया है, साथ ही योगशास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो स्वप्न में उल्टी, मूत्र, विष्ठा, सोना एवं रूपा को देखता है, तो वह नौ महीने में मरता है एवं काले वर्ण, काले परिवार वाले मनुष्य को देखे, तो तीन महीने में मरता है।”³¹³

309 संवेगरंगशाला, गाथा ३१८६-३१८८.

310 योगशास्त्र, गाथा १३७.

311 संवेगरंगशाला, गाथा ३१८२-३१८३.

312 संवेगरंगशाला, गाथा ३२८८-३२९०.

313 योगशास्त्र, गाथा १५१, १४०.

इस प्रकार संवेगरंगशाला में विभिन्न निमित्तों का उल्लेख करते हुए रोगी एवं निरोगी के मृत्युकाल का वर्णन किया गया है। “जिस स्वप्न में मंगल विवाह, हास्यादि क्रिया होती हो, स्वप्न में मिठाई आदि भोजन ग्रहण करने के पश्चात् उल्टी या विरेचन हो, सोना, चांदी, लोहा, आदि धातु की प्राप्ति हो एवं स्वप्न में लड़ाई-झगड़ा करता हो, देवमंदिर, नक्षत्र, चक्षुप्रदीप अथवा दांत आदि गिरते हों अथवा काले मनुष्य का मुखदर्शन हो तथा रात्रि में भोजन करता हो, तो वह स्वस्थ मनुष्य भी निश्चय से मृत्यु को प्राप्त करता है और रोगी तो अवश्यमेव मरता ही है।”³¹⁴

ग्रन्थकार ने स्वप्न के सात प्रकारों का निरूपण किया है, वे निम्न हैं -

१. देखा हुआ २. सुना हुआ ३. अनुभव किया हुआ ४. वातपित्त, आदि दोष के कारण ५. कालातीतभाव का ६. इच्छित भाव और ७. कर्मों के उदय के कारण, स्वप्नों का आना।³¹⁵ इनमें से प्रथम पाँच प्रकार के स्वप्न निष्फल कहे गए हैं एवं अन्तिम दो प्रकार के स्वप्न ही शुभाशुभ फल के सूचक हैं- ऐसा जानना चाहिए। संवेगरंगशाला का स्वप्न सम्बन्धी यह विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें भी स्वप्न के कारणों में दुष्ट, श्रुत, अनुभूत और कल्पित तथ्यों की प्रधानता स्वीकार की गई है।

“जो स्वप्न अति लम्बा अथवा अति छोटा हो और प्रथम रात्रि में देखा हुआ हो, तो वह स्वप्न लम्बे समय बाद और तुच्छ फल देने वाला होता है, किन्तु जो स्वप्न अति प्रभात में दिखाई देता है, वह उसी दिन महान् फल को देने वाला होता है। स्वप्नफल के विषय में अन्य मतों का ऐसा मानना है कि रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल प्रदान करता है, दूसरे प्रहर में देखा हुआ तीन महीने में, तीसरे प्रहर में देखा हुआ दो महीने में, चौथे प्रहर में देखा हुआ एक महीने में फल प्रदान करता है। आगे यह स्पष्ट किया गया है कि यदि प्रथम अनिष्ट स्वप्न को देखकर बाद में इष्ट स्वप्न को देखें, तो उसका फल शुभ होता है तथा पहले शुभ स्वप्न को देखकर फिर अनिष्ट (अशुभ) स्वप्न को देखें, तो उसका फल अशुभ होता है। नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करने से एवं तप,

³¹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३२०८-३२१५.

³¹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ३२२९.

संयम, दानादि धार्मिक-अनुष्ठान करने से पाप (अशुभ) स्वप्न भी अल्प (मन्द) फल देने वाला होता है।³¹⁶

रिष्टद्वार :- प्रस्तुत ग्रन्थ के रिष्टद्वार में मरण के उपायों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें रिष्ट का अर्थ अमंगल कहा है। मृत्यु अमंगल के बिना नहीं होती है। अमंगल देखने के पश्चात् जीवन बचता नहीं है। अमंगल मृत्यु का सूचक है, इसलिए इस पर सदैव ध्यान से विचार करना चाहिए। लक्षण बिना प्रकृति में जो बदलाव नजर आता है, उसे ही रिष्ट (अमंगल) समझना चाहिए, जैसे- स्वयं का पैर कीचड़ में अथवा रेती में धंसा हुआ अपूर्ण दिखाई देता हो, तो आठ महीने में मृत्यु हो जाती है। यदि रोगी घी के पात्र में सूर्य का प्रतिबिम्ब देखते हुए पूर्व दिशा को खण्डित देखे, तो छः महीने में, दक्षिण दिशा को खण्डित देखे, तो तीन महीने में, पश्चिम दिशा को खण्डित देखे, तो दो महीने में और उत्तर दिशा को खण्डित देखे, तो एक महीने में वह मरण को प्राप्त करता है।³¹⁷ साथ ही इसमें यदि सूर्य को रेखाओं से युक्त देखे, तो पन्द्रह दिन तक, छिद्रयुक्त देखे, तो दस दिन तक और धूम्रसहित देखे, तो पाँच दिन तक जीवन रहता है - ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है।³¹⁸

“यदि सूर्य, चन्द्र और ताराओं के समूह को जो निस्तेज देखता है, वह एक वर्ष तक जीवित रहता है, जो सर्वथा ही नहीं देखता है, वह छः महीने तक जीवित रहता है। यदि सूर्य, चन्द्र के बिम्ब अकस्मात् नीचे गिरते हुए दिखें, तो बारह दिन एवं दो सूर्य दिखें, तो तीन महीने शेष जानना चाहिए। जिसकी विष्टा काली एवं खण्डित हो, तो वह शीघ्र मरता है। जिसे नेत्र से भृकुटि न दिखे, तो नौ दिन में एवं अंगुली से आँख को ढँकने पर यदि बाईं आँख के नीचे प्रकाश दिखाई नहीं दे, तो छः महीने में, कान की ओर प्रकाश नहीं दिखे, तो दो महीने में, नाक की ओर प्रकाश नहीं दिखे, तो एक महीने में मृत्यु होती है।³¹⁹

“हेमचन्द्राचार्य ने भी योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में रिष्टद्वार के सन्दर्भ में यही बातें उल्लेखित की हैं। इसमें आगे कहा है कि निश्चित होकर देखने पर भी यदि नासिका नहीं दिखे, तो पाँच दिन एवं मुख से निकली हुई जीभ के अन्तिम भाग को नहीं देख सकता हो, तो वह एक अहोरात्रि जीवित रहता है।³²⁰

316 सविगर्गशाला गाथा, ३२२२-३२२४.

317 सविगर्गशाला गाथा, ३२२५-३२२८ तथा ३२२९ से ३२३२.

318 सविगर्गशाला गाथा, ३२३३-३२३४.

319 सविगर्गशाला गाथा, ३२५३-३२५६.

320 योगशास्त्र, गाथा १२६-१२६.

अब संवेगरंगशाला की जिन दस गाथाओं में कालचक्र की विधि प्रस्तुत की गई है, उसका यहाँ निरूपण करते हैं - “सर्वप्रथम अरिहंत परमात्मा की पूजा करके दाहिने हस्त की शुक्लपक्ष एवं बाएँ हस्त की कृष्णपक्ष के रूप में कल्पना करे। फिर कनिष्ठिका अंगुली के नीचे के पर्व में प्रतिपदा, मध्यम पर्व में षष्ठी एवं ऊपर के पर्व में एकादशी तिथि की कल्पना करे। इसी तरह शेष अंगुलियों में भी प्रदक्षिणा-क्रम से शेष तिथियों की कल्पना करे, यानी अनामिका अंगुली के तीनों पर्व में द्वितीया, तृतीया एवं चतुर्थी की, मध्यमा के तीनों पर्व में सप्तमी, अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीनों पर्व में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करे और अंगूठे के तीनों पर्व में पंचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करे।”³²¹

“जिस तरह दाएं हाथ के समस्त पर्वों में सर्व तिथियों की कल्पना की गई, उसी तरह बाएं हाथ के पर्व में भी कल्पना करे। फिर महासात्विक आत्मा एकान्त-प्रदेश में जाकर पद्मासन लगाकर, दोनों हाथों को कमल के आकार में जोड़कर, प्रसन्न और स्थिर मन वाला होकर, श्वेत वस्त्र धारण किए हुए, एक लक्ष्यवाला होकर, उस हस्तकमल में काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे। तत्पश्चात् हस्तकमल को खोलने पर जिस अंगुली के पर्व में शुक्ल अथवा कृष्ण-पक्ष की तिथि में काला बिन्दु नजर आए, उसी तिथि के दिन निःसंदेह मृत्यु होगी- ऐसा समझना चाहिए।³²² ऐसा ही वर्णन योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में श्लोक क्रमांक १२६ से १३४ में भी परिलक्षित होता है।”

इसके अतिरिक्त संवेगरंगशाला में मृत्युकाल जानने के अनेक विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। शरीर के अंगों एवं उपांगों के विकृत होने पर व्यक्ति की पृथक्-पृथक् समय पर मृत्यु होती है, इसकी विस्तृत चर्चा की गई है; पर विस्तार-भय से हम उनकी चर्चा यहाँ करना नहीं चाहते हैं, किन्तु थोड़ा विवेचन करना अनिवार्य समझते हैं, जैसे- “जिसकी नासिका सहसा टेढ़ी हो जाए, फुंसी से युक्त हो, या सिकुड़ गई हो, अथवा छिद्रवाली हो गई हो, तो समझना कि वह अन्य जन्म को चाहता है। जिसके शरीर के घाव में से दुर्गंध आती हो, रक्त अति काला हो, जीभ के मूल में पीड़ा हो, हथेली में असह्य वेदना हो, जिसके हृदय में अतीव उष्णता रहे और पेट में अति शीतलता रहे, तो वह मनुष्य छः दिन में यमपुरी जाने वाला है- ऐसा जानें।”³²³

³²¹ संवेगरंगशाला, गाथा ३२६७-३१७१.

³²² संवेगरंगशाला, गाथा ३२७२-३२७५.

³²³ संवेगरंगशाला, गाथा ३२६४-३२६८.

७. यन्त्रद्वार :- जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला में यन्त्र का प्रयोग किस प्रकार करें, उसका विवेचन करते हुए यह कहा है- “सर्वप्रथम व्याक्षेपों से रहित (शान्त चित्तवाला) होकर अन्य औपचारिक-विधि करके फिर षट्कोण यन्त्र बनाएं, उसके मध्य में ऊँकार सहित उस व्यक्ति का नाम लिखें। फिर यन्त्र के चारों कोणों में अग्नि की ज्वाला, अर्थात् “रकार” की स्थापना करें। उसके पश्चात् यन्त्र के बाहरी छः कोण में छः (बार) स्वस्तिक बनाएं। फिर अनुस्वारसहित अकार आदि- अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं- इन छः स्वरों से बाह्य-भागों को धेरें। स्वस्तिक एवं स्वर के बीच-बीच में छः बार “स्वाह” शब्द लिखें। पुनः चारों ओर विसर्गसहित “यकार” की स्थापना करें। उस यकार के चारों बाजू “पायु” के पुर से आवृत्त (संतग्न) चार रेखाएँ खींचें। इस तरह मन में ऐसे यन्त्र की कल्पना करें, अथवा ऐसा यन्त्र बनाकर पैर, हृदय, मस्तक और संधियों में स्थापन करें।”³²⁴

इसमें आगे यह प्रतिपादित किया गया है कि “स्व अथवा पर के आयुष्य का निर्णय करने के लिए सूर्योदय के समय पूर्व दिशा में पृष्ठभाग एवं पश्चिम में मुख रखकर अपनी परछाई का अवलोकन करें। यदि परछाई पूर्ण दिखाई दे, तो व्यक्ति को एक वर्ष तक मृत्यु का भय नहीं होगा, यदि कान नहीं दिखे, तो वह बारह वर्ष तक जीवित रहेगा, हाथ नहीं दिखे, तो दस वर्ष तक, अंगुलियाँ न दिखे, तो आठ वर्ष तक, कन्धा न दिखे, तो सात वर्ष तक, केशराशि न दिखे, तो पाँच वर्ष तक, पार्श्वभाग न दिखे, तो तीन वर्ष तक और नाक न दिखे, तो एक वर्ष तक जीवित रहेगा। इसी प्रकार यदि मस्तक न दिखे, तो छः महीने तक, गर्दन न दिखे, तो एक मास तक, आँखें नहीं दिखें, तो ग्यारह दिन तक और हृदय में छिद्र दिखाई दे, तो सात दिन तक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है”- ऐसा जानना चाहिए।³²⁵

अन्त में, इसमें यह निरूपित किया गया है कि यदि दो छाया दिखाई दें, तो मृत्यु को अत्यन्त नजदीक जानना चाहिए। यही बात “योगशास्त्र के यन्त्रद्वार में काल के सम्बन्ध में कही गई है।”³²⁶ इससे यह फलित होता है कि संवेगरंगशाला के अनुसार पुरुष अपनी आयुष्य का काल यन्त्र के प्रयोग से भलीभाँति जान सकता है।

³²⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३३००-३३०३.

³²⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ३३०४-३३०६.

³²⁶ योगशास्त्र पंचमप्रकाश, २०८-२१५.

८. विद्याद्वार :- संवेगरंगशाला में मृत्युकाल को जानने के ग्यारह उपाय बताए गए हैं, उनमें ग्यारहवें उपाय का नाम विद्याद्वार कहा गया है। अन्य द्वारों की तरह विद्या-मन्त्र के द्वारा भी मृत्युकाल को जाना जा सकता है। इस मन्त्र की सहायता से व्यक्ति स्व एवं पर - दोनों के मृत्युकाल को सम्यक् प्रकार से जान सकता है। इस मन्त्र की स्थापना करने से पूर्व मन, वाणी एवं शरीर को शुद्ध बना ले, पश्चात् एकाग्रतापूर्वक शिखास्थान में “स्वाह”, मस्तक में “ॐ”, दोनों आखों में “क्षि”, हृदय में “प”, और नाभि में “हा” - इन अक्षरों की स्थापना करे। फिर निम्न मंत्र का जाप करे -

“ॐ जुसः ॐ मृत्युंजयाय, ॐ वज्रपाणिने, शूलपाणिने।

हर हर, दह दह, स्वरूपं दर्शय दर्शय हूं फट्।”³²⁷

इस तरह प्रस्तुत कृति में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि “इस विद्या को एक सौ आठ बार जाप करके पहले अपने नेत्रों को मन्त्रित करे। फिर अरुणोदय के समय सूर्य की तरफ पृष्ठभाग करके एवं पश्चिम दिशा की तरफ मुख करके स्वयं की अथवा अन्य की छाया को देखे। यदि वह छाया अखण्ड रूप से दिखाई देती है, तो समझना वह व्यक्ति अभी एक वर्ष और जीवित रहेगा। यदि परछाई में पैर, जंघा, घुटने, आदि अंग दिखाई न दें, तो दस मास के अन्दर एवं पेट नहीं दिखाई दे, तो पाँच-छः माह के अन्दर उस व्यक्ति की मृत्यु निश्चित रूप से हो जाती है- ऐसा समझना चाहिए।”³²⁸

“इसी तरह गर्दन नहीं दिखने से, चार, तीन, दो या एक मास के बाद, बगल नहीं दिखे, तो पन्द्रह दिन के बाद एवं भुजा नजर में नहीं आए, तो दस दिन के बाद वह व्यक्ति परलोक की यात्रा करता है। इसमें ही आगे यह उल्लेख मिलता है कि कन्या नहीं दिखने से आठ दिन में, हृदय में छिद्र दिखने से चार महीने में मृत्यु को प्राप्त होता है।”³²⁹ “संवेगरंगशाला की तरह ही योगशास्त्र में भी विद्याद्वार का विवेचन समान रूप में मिलता है, किन्तु उसमें हृदय के नहीं दिखाई देने पर चार प्रहर के बाद मृत्यु का उल्लेख किया गया है,³³⁰ जबकि संवेगरंगशाला में चार महीने के बाद का वर्णन प्राप्त होता है।

³²⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३३१२-३३१६.

³²⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३३१७-३३१८.

³²⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३३१९-३३२१.

³³⁰ योग-शास्त्र, पंचमप्रकाश २१६-२२४.

अन्त में, यह कहा गया है कि यदि पुरुष को अपना मस्तक नहीं दिखाई दे, तो दो प्रहर के पश्चात् एवं स्वयं की अपनी छाया सर्वथा दिखाई न दे, तो उसका तत्काल मरण हो जाता है।

मरण के दो भेद :-

संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक-दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सजगता एवं समभावपूर्वक जीना है। वह मृत्यु का मित्र की तरह स्वागत करता है- मित्र! आओं, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। संलेखना को एक दृष्टि से मृत्यु महोत्सव भी कहा जा सकता है। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है, तब साधक को शरीर और जागतिक-विषयों में बन्धन की अनुभूति होती है। वह देहादि को बन्धन समझकर उससे मुक्त होना चाहता है।

मृत्यु से भयभीत न होकर उसका स्वागत करना चाहिए। वह अनुद्विग्नतापूर्वक मरने की कला है। इस कला के सम्बन्ध में जैन-मनीषियों ने विस्तार से विश्लेषण किया है। जैनधर्म में गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण-साधकों-दोनों के लिए समभावपूर्वक मृत्यु-वरण का विधान है।

संवेगरंगशाला एवं उत्तराध्ययनसूत्र में मृत्यु के दो रूप बताए गए हैं -

१. निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण एवं २. अनिच्छापूर्वक अथवा भयभीत होकर मृत्यु को प्राप्त करना। समाधिमरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। मरण के पहले प्रकार को पण्डितमरण या समाधिमरण कहा गया है और दूसरे प्रकार को बाल (अज्ञानी) मरण या असमाधिमरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन का देहत्याग है, तो दूसरा अज्ञानी एवं विषयासक्त का मरण है, इसलिए वह बार-बार मरता है, जबकि ज्ञानी अनासक्त होता है, इसलिए वह एक बार ही मरता है।³³¹

अज्ञानी मृत्यु के भय से कांपता है तथा उससे बचने का प्रयास करता है; किन्तु ज्ञानी मृत्यु का वरण करता है। ज्ञानी मृत्यु से भयभीत नहीं होता, उस अवस्था में भी वह निर्भय होता है, अतः अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर देहासक्ति छोड़कर उसका मित्रवत् स्वागत करो।

³³¹ उत्तराध्ययनसूत्र - ५/२, ३, ३२.

मरण के पाँच प्रकार :-

संवेगरंगशाला के रचयिता जिनचन्द्रसूरि ने मरणविषयित नामक ग्यारहवें द्वार में मरण के प्रकारों का अनेक दृष्टियों से उल्लेख करने के पश्चात् बारहवें द्वार में मरण के स्वरूप की चर्चा की है। इसमें सर्वप्रथम रचनाकार पण्डितमरण का स्वरूप बताते हुए लिखता है कि यह दुःखों के समूहस्वरूप लताओं का नाश करने के लिए एक तीक्ष्ण धारवाली कुल्हाड़ी के समान है। इसके विपरीत जन्म-मरण और दुःखों की परम्परा को बढ़ानेवाले मरण के वीतराग भगवान् ने बालमरण कहा है। पुनः, इन दोनों के पाँच उपप्रकार बतलाए हैं :-

१. पण्डित-पण्डितमरण २. पण्डितमरण ३. बालपण्डितमरण
४. बालमरण और ५. बाल-बालमरण।³³²

इन पाँच प्रकार के मरणों में पहला मरण जिनेश्वर देवों का, दूसरा मरण सर्वविरतिधर साधुओं का, तीसरा मरण देशविरति वालों का, चौथा मरण अविरतसम्यग्दृष्टियों का और पाँचवाँ मरण मिथ्यादृष्टियों का होता है। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने इनका विभाजन दूसरी तरह से करते हुए यह भी बताया है कि पाँच प्रकार के मरण में प्रथम तीन पण्डितमरण और अन्तिम दो बालमरण हैं। पहले तीनों मरण से मरनेवाले मुनियों को सम्यग्दृष्टि-अप्रमत्त, स्वाश्रयी और अप्रतिबद्धविहारी कहा गया तथा दूसरे दोनों मरण से मरनेवालों को मिथ्यादृष्टि और प्रमत्त कहा गया है।³³³

संवेगरंगशाला में आगे ग्रन्थकार ने जिनेश्वर देवों के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले एवं नहीं रखने वाले जीवों का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहा है- सम्यक्त्व उपार्जन करनेवाला जीव यदि मृत्यु के समय असंयमी हो जाता है, तो भी जिनाज्ञा के अनुसार आचरण करने से अल्प संसारी होता है, किन्तु जो जिन-वचनों पर श्रद्धा रखते हुए आचरण करता है, वह निश्चय से आराधक होता है। जिनेश्वर कथित वचनों पर श्रद्धा नहीं रखने वाले अनेक जीव भूतकाल में अनन्त बार बालमरण को प्राप्त हुए तथा फिर भी ज्ञानरहित एवं विवेकशून्य इन जीवों को इन अनन्त मरणों से लेशमात्र भी गुण प्राप्त नहीं हुए।

³³² संवेगरंगशाला, गाथा ३५६७-३६००.

³³³ संवेगरंगशाला, गाथा ३६०१-३६०७.

वस्तुतः, जिनेश्वरकथित वचनों में जो श्रद्धा नहीं रखते हैं, वे जीव अनन्त बार जन्म-मरण करने के बाद भी लेशमात्र भी निर्वेद गुण को प्राप्त नहीं करते हैं।³³⁴

साथ ही, संवेगरंगशाला में रचनाकार ने बालमरण के परिणाम का संक्षेप में इस प्रकार से उल्लेख किया है कि यह संसार भयंकर दुर्गम अटवी के समान है, जिसमें दुःख से पीड़ित यह जीव बालमरण से मरते हुए अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। जन्म, जरा, मरणरूपी इस चक्र में परिभ्रमण करते हुए अत्यधिक थक जाने से वह पार को प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार रहट में बांधा हुआ बैल दिन-रात घूमता ही रहता है, उसी प्रकार बालमरण प्राप्त करने वाले जीव भी जन्म-मरण करते रहते हैं। संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार के अन्त में यह कहा गया है कि बालमरण के भयंकर स्वरूप को जानकर धीर पुरुषों को पण्डितमरण स्वीकार करना चाहिए।³³⁵

जन्म और मरण-ये दो ऐसे विषय हैं, जिन पर मनुष्य अनादिकाल से चिन्तन करता आ रहा है। विभिन्न जैन-ग्रन्थों में भी मृत्यु के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ हम कुछ जैन ग्रन्थों के आधार पर मरण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करेंगे।

उत्तराध्ययन में मरण के दो प्रकारों का उल्लेख मिलता है। वे दो प्रकार हैं:- १. अकाममरण और २. सकाममरण।

१. अकाममरण :- अज्ञानवश विषय-वासनाओं एवं भोगों में आसक्त रहना, धर्म-मार्ग का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार करना तथा मिथ्या जगत् को सत्य समझकर हमेशा मृत्यु के भय से भयभीत रहना, आदि गुण बाल जीव के हैं। इन जीवों के मरण को ही अकाममरण अथवा बालमरण कहा गया है। बाल शब्द का अर्थ मूर्ख, मूढ़, आदि होता है। मृत्यु की शाश्वत सत्यता को जानते हुए भी मृत्यु के उपस्थित होने पर उसे अस्वीकार करना ही बालमरण (अकाममरण) है। यहाँ अकाम शब्द उद्देश्यहीन मरण का बोधक माना गया है।

२. सकाममरण :- सकाम शब्द का अर्थ होता है-कामनासहित, किन्तु यहाँ सकाम का अर्थ उद्देश्यपूर्वक या सप्रयोजन है। इसमें व्यक्ति अन्त समय में प्रमादरहित समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करता है, इसलिए इसे सकाममरण, अर्थात् सार्थकमरण कहा गया है। इसमें उसकी आत्मा जाग्रत एवं सजग रहती है।

³³⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३६०८-३६११.

³³⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ३६१२-३६१७

यह मरण पण्डित जीवों को प्राप्त होता है। इस कारण इसे पण्डितमरण भी कहा जाता है। पण्डित शब्द का अर्थ है- ज्ञानी या सत्य को समझनेवाला, उसका मरण पण्डितमरण है।³³⁶

मूलाधार में आचार्य वट्टकेर ने भी मरण के विविध रूपों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार मरण के मुख्य तीन भेद हैं- बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण।

१. बालमरण - असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।

२. बालपण्डितमरण - संयतासंयत जीवों के मरण को बालपण्डितमरण कहा गया है।

३. पण्डितमरण - केवल ज्ञान के धारक मुनि भगवन्तों का देह-त्याग पण्डितमरण कहा जाता है।³³⁷

समाधिमरणोत्साहदीपक में मरण के सात प्रकारों का उल्लेख किया गया है। वे निम्न हैं :- १. बाल-बालमरण २. बालमरण

३. बालपण्डितमरण

४. भक्तप्रत्याख्यान-पण्डितमरण ५. इंगिनीपण्डितमरण

६. प्रायोपगमन-पण्डितमरण तथा ७. पण्डित-पण्डितमरण।³³⁸

समाधिमरणोत्साहदीपक में वर्णित इन सातों प्रकार के मरणों में से बाल-बालमरण को अशुभ माना गया है। बालपण्डितमरण, पण्डितमरण एवं उसके तीनों भेदों को तथा पण्डित-पण्डितमरण को शुभ माना गया है। पुनः, इसमें भी पण्डित-पण्डितमरण को परम शुभ कहा गया है, पण्डितमरण को मध्यम कोटि का शुभ कहा गया है तथा बालपण्डितमरण को जघन्य कोटि का शुभ कहा गया है। इस तरह से इस ग्रन्थ में उत्तम शुभ, मध्यम शुभ और जघन्य शुभ के रूप में मरण के तीन विभेद भी किए गए हैं।³³⁹

³³⁶ सन्ति मे यं दुवे ठाणं अक्खाया मारणात्तिथा। अकाम-मरणं वेव सकाम-मरणं तह।। उत्तराध्ययन, ५/२.

³³⁷ तिविहं भणति मरणं बालाणं बालपण्डिणं च। तद्वयं पण्डितमरणं जं केवलिणो अनुमरति। मूलाधार (पूर्वाखंड), ५६

³³⁸ मरणं बालबालाख्यं निन्ध बालाख्यं ततः। बालपण्डितनामाय त्रिविधं पण्डिताभिधम्। समाधिमरणोत्साहदीपक, ११

द्विरुक्तं पण्डितं चैते सप्त भेदा मता मृतेः।

³³⁹ समाधिमरणोत्साहदीपक, पृ. १०.

इस तरह व्याख्याप्रज्ञप्ति एवं स्थानांगसूत्र में मरण के विविध भेदों पर प्रकाश डाला गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार मरण के दो प्रकार- बालमरण और पण्डितमरण हैं, जबकि स्थानांगसूत्र में मरण के अप्रशस्तमरण और प्रशस्तमरण - इस तरह दो भेद किए गए हैं। पुनः, बालमरण एवं अप्रशस्तमरण के बारह-बारह प्रकारों का उल्लेख करते हुए पण्डितमरण एवं प्रशस्तमरण के दो प्रकारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार स्थानांगसूत्र एवं भगवतीसूत्र में मरण के चौदह भेद मिलते हैं।³⁴⁰

उत्तराध्ययननिर्युक्ति की व्याख्या में शान्ताचार्य ने बालमरण के बारह भेदों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं:-³⁴¹

(क) अप्रशस्तमरण - यह मरण कषायों के आवेश में होता है, इसके बारह भेद हैं:-

१. बलन्मरण - परीषहों से पीड़ित होने पर संयम त्याग करके मरना।

२. वशार्तमरण - इन्द्रिय विषयों के वशीभूत होकर मरना।

३. निदानमरण - भावी जीवन में धन, वैभव, भोग, आदि की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।

४. तद्भवमरण - उसी भव में मरना।

५. गिरिपतनमरण - पर्वत से गिरकर मरना।

६. तरूपतनमरण - वृक्ष से गिरकर मरना।

७. जलप्रवेशमरण - नदी आदि के जल में डूबकर मरना।

८. अग्निप्रवेशमरण - आग में जलकर मरना।

९. विषभक्षणमरण - विषपान करके मरना।

१०. शस्त्रावपाटनमरण - शस्त्र की सहायता से मरना।

११. वैहायसमरण - फांसी लगाकर मरना।

³⁴⁰ दुविहं मरणे घण्णते, तं जह्ण-बालमरणे य पण्डितमरणेया।(अ) व्याख्याप्रज्ञप्ति (मधुकर मुनि), २/१/२५ पृ. -१८०.

(ब) स्थानांगसूत्र, २/४/४११, पृ.-८८ (मधुकरमुनि).

³⁴¹ उत्तराध्ययननिर्युक्ति, भाग २, अध्याय ५, पृ. २३७-३८.

१२. गृह्यस्पृष्टमरण - विशालकाय मृत पशु के शरीर में प्रवेश करके मरना।

(ख) प्रशस्तमरण - समभावपूर्वक मरण प्राप्त करना प्रशस्तमरण कहलाता है, इसके दो भेद हैं³⁴² :-

१. भक्तप्रत्याख्यानमरण - भक्त-पान (आहार-जल) का क्रम से त्याग करते हुए समाधिपूर्वक प्राणत्याग करने को भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। इस मरण में व्यक्ति दूसरों द्वारा की गई वैयावृत्य को स्वीकार करने के साथ-साथ स्वयं भी अपने शरीर की देखभाल करता है।

२. प्रायोपगमनमरण - कटे हुए वृक्ष के समान निश्चेष्ट पड़े रहकर प्राण-त्याग करने को प्रायोपगमनमरण कहते हैं। इस मरण को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति न तो स्वयं अपनी वैयावृत्य (सेवा शुश्रूषा) करता है और न किसी अन्य से करवाता है।

भक्तप्रत्याख्यानमरण एवं प्रायोपगमनमरण - दोनों ही प्रकार के मरण सर्वमरणों में उत्तम, अर्थात् श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनके निहारिम और अनिहारिम जैसे दो उपविभाग भी किए गए हैं। निहारिममरण में मृत शरीर को मरणस्थल से बाहर ले जाना या हटा देना होता है। अनिहारिममरण, स्थान से मृत शरीर को बाहर नहीं लाना, उसे वहीं पड़ा रहने देना है, ताकि वह वहीं पशु-पक्षियों का भक्ष्य बन जाए।³⁴³

मरण के सत्तरह प्रकार :-

संवेगरंगशाला के रचनाकार जिनचन्द्रसूरि ने मरणविभक्ति नामक ग्यारहवें द्वार में इस प्रकार कहा है कि सर्व का त्याग मृत्यु से ही सम्भव हो सकता है, इसलिए मैं मरणविभक्ति द्वार को कहता हूँ। इसमें मरण के सत्तरह प्रकारों का उल्लेख किया गया है, वे ये हैं -

१. आवीचिमरण	२. अवधिमरण	३. आत्यान्तिक (अन्तिम) मरण
४. बलायमरण	५. वशार्तमरण	६. अन्तःशल्य (सशल्य) मरण
७. तद्भवमरण	८. बालमरण	९. पण्डितमरण

³⁴² (अ) व्याख्याप्रज्ञप्ति - २/१/२७,

(ब) स्थानांग - २/४/४१४.

³⁴³ (अ) व्याख्याप्रज्ञप्ति २/१/२८, (ब) स्थानांगसूत्र २/४/४१५

१०. बालपण्डितमरण ११. छद्मस्थमरण १२. केवलीमरण
 १३. वेहायसमरण १४. गृद्धपृष्ठमरण १५. भक्तपरिज्ञामरण
 १६. इंगिनीमरण और १७. पादपोषगमनमरण³⁴⁴

समवायांगसूत्र में भी मरण के उपर्युक्त सत्तरह प्रकारों के नामों का उल्लेख मिलता है। इससे यह निश्चित होता है कि ग्रन्थकर्त्ता जिनचन्द्रसूरि ने मरण के इन भेदों का उल्लेख इसी आगम-ग्रन्थ के आधार पर किया है। समवायांग में तथा संवेगरंगशाला में मरण के इन नामों एवं उनके अनुक्रम की समानता दृष्टिगोचर होती है।³⁴⁵

इसी तरह दिगम्बर-परम्परा में मान्य यापनीय-सम्प्रदाय के ग्रन्थ भगवतीआराधना में भी मरण के निम्न सत्तरह प्रकारों का विवेचन किया गया है। भगवतीआराधना के अनुसार :-

१. अवीचिमरण	२. तद्भवमरण	३. अवधिमरण
४. आद्यन्तमरण	५. बालमरण	६. पण्डितमरण
७. आसण्णमरण	८. बालपण्डितमरण	९. सशल्लमरण
१०. बालायमरण	११. वसट्टमरण	१२. विष्पाणसमरण
१३. गिद्धपृष्ठमरण	१४. भक्तप्रत्याख्यानमरण	१५. इंगिनीमरण
१६. प्रायोपगमनमरण और	१७. केवलीमरण ³⁴⁶	

संवेगरंगशाला एवं भगवतीआराधना में मरण के इन सत्तरह प्रकारों में सामान्य तौर पर तो समानता ही दृष्टिगोचर होती है, लेकिन कहीं-कहीं कुछ नामों में एवं उनकी क्रम-संख्या में कुछ विभिन्नता भी दिखाई देती है।

उदाहरणस्वरूप- भगवतीआराधना में अवधिमरण के दो विभाग - १. देशावधिमरण और २. सर्वावधिमरण मिलते हैं, लेकिन संवेगरंगशाला में अवधिमरण का इस तरह स्पष्ट वर्गीकरण नहीं हुआ है। संवेगरंगशाला में छद्मस्थमरण का उल्लेख है, जबकि भगवतीआराधना में इस नाम के किसी मरण का उल्लेख नहीं मिलता है। भगवतीआराधना में आसण्णमरण की चर्चा है,

³⁴⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३४४४-४५

³⁴⁵ समवायांग, १७/१२१.

³⁴⁶ मरणाणि सत्तरसं देसिदाणि तित्थकरोहिं जिणवयणे। तत्तं वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोक्कामि॥ भगवतीआराधना, गाथा २५.

जिसका विवरण संवेगरंगशाला में नहीं है। इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त मरण के प्रकारों के सम्बन्ध में कोई अन्य अन्तर परिलक्षित नहीं होता है।

संवेगरंगशाला में वर्णित मरण के इन सत्तरह प्रकारों का विवेचन निम्न रूप में उपलब्ध होता है :-

१. अवीचिमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार प्रतिसमय आयुष्य-कर्म का क्षय होना ही अवीचिमरण है।³⁴⁷ समवायांगसूत्र के अनुसार वीचि, अर्थात् जल को तरंग। जिस प्रकार जल में एक तरंग के पश्चात् दूसरा तरंग उठती है, उसी प्रकार आयुष्यकर्म के दलिक प्रतिसमय उदय में आकर नष्ट होते रहते हैं। आयुष्यकर्म के दलिकों का क्षय होना ही मरण है, अतः प्रतिसमय होनेवाले इस मरण को अवीचिमरण कहते हैं। पुनः, जिस मरण में कोई विच्छेद या व्यवधान न हो, उसे अवीचिमरण कहते हैं।³⁴⁸

“भगवतीआराधना के अनुसार आयुष्य के अनुभव (उदय) को जीवन कहते हैं। इसी प्रकार आयुष्य के क्षीण होने या समाप्त होने को मरण कहते हैं। आयुष्य का उदय तथा क्षय प्रत्येक क्षण होता रहता है, अतः प्रत्येक क्षण होने वाले मरण को ही अवीचिमरण कहा जाता है।”³⁴⁹

इस तरह हम देखते हैं कि तीनों ही ग्रन्थों में अवीचिमरण का अर्थ प्रतिक्षण होनेवाला मरण ही कहा गया है, अतः तीनों ग्रन्थों में अवीचिमरण की अवधारणा समान है।

२. अवधिमरण :- नरकादि गतियों में उत्पन्न होने के निमित्त भूत आयुष्यकर्म के दलिकों को भोगकर वर्तमान में मृत्यु को प्राप्त होता है तथा पुनः उसी प्रकार के कर्मदलिकों का बंध कर उनको भी उसी प्रकार भोगकर मरता है, ऐसे मरण को संवेगरंगशाला में अवधिमरण कहा गया है।³⁵⁰ समवायांगसूत्र के अनुसार अवधि मर्यादा को कहते हैं। यदि कोई जीव वर्तमान में जिस आयुष्यकर्म का क्षय करके मरण को प्राप्त होता है, यदि वह आगामी भव हेतु उसी आयुष्यकर्म को बाँधकर मरण को प्राप्त हो, अर्थात् आगामी भव में उन्हीं कर्म-दलिकों को भोगकर मरे, तो ऐसे जीव के वर्तमान भव के मरण को अवधिमरण कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जो जीव एक जीवन में आयुष्यकर्म

³⁴⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३४४७.

³⁴⁸ समवायांगसूत्र १७/१२१.

³⁴⁹ भगवतीआराधना, पृ. ६२ (हिन्दी टीका).

³⁵⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३४४८.

के जिन दलिकों को अनुभव करके मृत्यु को प्राप्त होता है, यदि पुनः उन्हीं दलिकों का अनुभव करके मरे, तो वह मरण अवधिमरण कहलाता है।³⁵¹

भगवतीआराधना के अनुसार भी जीव वर्तमान में जैसा मरण प्राप्त करता है, यदि आगामी भव में भी उसी प्रकार का मरण करेगा, तो ऐसे मरण को अवधिमरण कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है :-³⁵²

१. देशावधिमरण :- वर्तमान में जैसे आयुष्यकर्म का उदय होता है, वैसा ही यदि एक देशबन्ध कर जीव मरण को प्राप्त करता है, तो वह देशावधिमरण है।

२. सर्वाधिमरण :- वर्तमान में आयुष्यकर्म की जैसी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का उदय हो रहा है, वैसी ही प्रकृति आदि का पुनः आयुष्य-बन्ध करता है और भविष्य में उनका उसी प्रकार का उदय होता है, तो वह सर्वाधिमरण कहा जाता है।

३. आत्यन्तिकमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव नरकादि भवों में जिन आयुष्यकर्म के दलिकों को भोगकर मरे और पुनः कभी-भी उसी प्रकार के कर्म-दलिकों को न भोगे, अर्थात् अनुभव नहीं करे, तो उसे आत्यन्तिकमरण कहते हैं।³⁵³ समवायांगसूत्र में इस प्रकार कहा गया है कि जो जीव वर्तमान में आयुर्कर्म के जिन दलिकों को भोगकर मरेगा और भविष्य में फिर कभी भी उसी प्रकार आयुर्कर्म के दलिक को भोगकर नहीं मरे, तो उसका वर्तमान मरण आत्यन्तिकमरण कहा जाता है।³⁵⁴ भगवतीआराधना के अनुसार मरण यदि भावी मरण से असमान होता है, तो वह मरण आद्यन्तमरण या आत्यन्तिकमरण कहलाता है।³⁵⁵

४. बलायमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव संयम लेकर तीनों योग से च्युत हो गया हो और ऐसी स्थिति में जो मरता है, वह बलायमरण कहलाता है।³⁵⁶ 'समवायांगसूत्र' में जो जीव संयम, व्रत, नियमादि धारण किए हुए हो और अन्त समय में धर्म से पतित होते हुए अव्रतदशा में मरण को प्राप्त

351 समवायांगसूत्र १७/१२१

352 भगवतीआराधना, पृ. ५३.

353 संवेगरंगशाला, गाथा ३४४६.

354 समवायांगसूत्र पृ. ५३.

355 भगवतीआराधना पृ. ५३.

356 संवेगरंगशाला, गाथा ३४५०.

करता हो, ऐसे जीव का मरण बलायमरण कहा गया है।³⁵⁷ 'भगवतीआराधना' के अनुसार विषय - वासनाओं से मुक्त व्यक्ति लम्बी अवधि से रत्नत्रय का पालन करता रहा हो, लेकिन मृत्यु के समय शुभध्यान के बदले अशुभध्यान से ग्रस्त हो जाता है, तो ऐसे व्यक्ति के मरण को बलायमरण कहा गया है।³⁵⁸ अतः, दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित तथा चारित्रपण्डित का भी बलायमरण सम्भव कहा गया है।

५. वशात्तमरण :- संवेगरंगशाला में मरण के गौचरें पक़र में यह कहा गया है कि जो जीव इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर मरण को प्राप्त होता है, ऐसे मरण को वशात्तमरण कहते हैं। 'समवायांगसूत्र' के अनुसार जो जीव इन्द्रिय-विषयों के वश होकर, अर्थात् उनसे पीड़ित होकर मरण को प्राप्त होता है, उस मरण को वशात्तमरण कहा गया है। जैसे- रात में पतंगे दीपक की ज्योति से आकृष्ट होकर मरते हैं, उसी प्रकार किसी भी इन्द्रिय के विषय से पीड़ित होकर मरना ही वशात्तमरण कहलाता है।³⁵⁹

'भगवतीआराधना' के अनुसार ऐन्द्रिक-विषय-वासनाओं के वशीभूत होकर, अर्थात् आर्त्त एवं रौद्रध्यानपूर्वक जीव का जो मरण होता है, उस मरण को वसट्टमरण कहा गया है।³⁶⁰

६. अन्तःशल्यमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार प्रस्तुत मरण के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जो लज्जावश, अभिमानवश, अथवा बहुश्रुत होने के कारण अपने दुश्चरित्र को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं, अथवा गारवरूप कीचड़ में फंसे हुए होने से अपने अतिचारों (दोषों) को दूसरे के समक्ष नहीं कहते हैं, वे निश्चय से आराधक नहीं होते हैं, अतः अन्त समय में उनका दर्शन, ज्ञान और चारित्र शल्ययुक्त होने से उनका मरण अन्तःशल्यमरण कहलाता है।³⁶¹

"समवायांगसूत्र के अनुसार मन के भीतर किसी प्रकार के शल्य को रखकर मरनेवाले जीव के मरण को अन्तःशल्यकरण कहा गया है, जैसे- किसी संयमी साधक के व्रतों में कोई दोष लग गया हो और लज्जा या अभिमानवश वह,

³⁵⁷ समवायांगसूत्र, पृ. ५३.

³⁵⁸ भगवतीआराधना, पृ. ५७.

³⁵⁹ समवायांगसूत्र, पृ. ५३.

³⁶⁰ भगवतीआराधना, पृ. ५७.

³⁶¹ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५१-३४५२.

उन दोषों की आलोचना किए बिना मरण को प्राप्त होता हो, तो ऐसे मरण को अन्तःशल्यमरण कहते हैं।³⁶²

भगवतीआराधना के अनुसार विचित्र दोषों से युक्त जीव अपने दोषों की आलोचना किए बिना ही मरण को प्राप्त होता है, तो उसके मरण को सशल्यमरण नाम से अभिहित किया जाता है। यह मरण संयत, संयतासंयत और अविरत-सम्यग्दृष्टि को होता है।³⁶³

७. तद्भवमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव अन्तर में शल्य रखकर मरण को प्राप्त होता है, वह जीव महाभयंकर संसार-अटवी में लम्बे समय तक परिभ्रमण करता है। तत्पश्चात् पुनः, मनुष्य अथवा तिर्यच-भव के योग्य आयुष्यकर्म को बांधकर मरनेवाले ऐसे मनुष्य एवं तिर्यच का मरण तद्भवमरण कहलाता है।³⁶⁴ समवायांगसूत्र के अनुसार जो जीव वर्तमान भव में जिस आयुष्यकर्म के दलिकों को भोग रहा है, वह उसी भव के योग्य आयुष्य को बांधकर यदि मरता है, तो वह मरण तद्भवमरण कहलाता है। यह मरण मनुष्य या तिर्यच-गति के जीवों का ही होता है, देव या नारकों का नहीं होता है, क्योंकि देव या नारकी मरकर पुनः देव या नारकी नहीं हो सकता- ऐसा नियम है। उनका जन्म मनुष्य या तिर्यच-पंचेन्द्रिय में ही होता है।³⁶⁵

भगवतीआराधना के अनुसार भवान्तर में उसी भव की प्राप्तिपूर्वक मरण तद्भवमरण कहलाता है।³⁶⁶ आगे, संवेगरंगशाला में यह बताया गया है कि अकर्मभूमि के मनुष्य, अकर्मभूमि के तिर्यच, देव और नारकी के जीवों को छोड़कर शेष जीवों में तद्भवमरण सम्भव होता है।

८. बालमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार तप, नियम, संयमादि से रहित अविरत जीवों की मृत्यु को बालमरण कहा गया है।³⁶⁷ समवायांगसूत्र में अविरत या मिथ्यादृष्टि जीवों को बाल कहा गया है। प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।³⁶⁸ भगवतीआराधना के

³⁶² समवायांगसूत्र, पृ. ५३.

³⁶³ भगवतीआराधना, पृ. ५८.

³⁶⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५३-५४.

³⁶⁵ समवायांगसूत्र, पृ. ५३

³⁶⁶ भगवतीआराधना, पृ. ५३.

³⁶⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५६

³⁶⁸ समवायांगसूत्र, पृ. ५३.

अनुसार बाल, अर्थात् अज्ञानी, अबोध, मिथ्यादृष्टि, असंयमी, आदि के मरण को बालमरण कहा गया है।³⁶⁹ अविरतसम्यग्दृष्टि भी चारित्र की अपेक्षा से बाल ही है।

६. पण्डितमरण :- संवेगरंगशाला में यम, नियम, संयम, आदि सर्वविरतियुक्त जीव की मृत्यु को पण्डितमरण कहा गया है।³⁷⁰

समवायांगसूत्र में सम्यग्दृष्टि जीव को पण्डित कहा है तथा उसके मरण को पण्डितमरण कहा गया है। सामान्यतः छठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के मरण को पण्डितमरण कहा गया है।³⁷¹ भगवतीआराधना में ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त जीव को पण्डित कहा गया है तथा ऐसे जीवों के मरण को पण्डितमरण कहा गया है। पण्डित चार प्रकार के बताए गए हैं, वे निम्न हैं -

१. व्यवहार-पण्डित २. दर्शन पण्डित ३. ज्ञान-पण्डित और

४. चारित्र-पण्डित। इनमें चारित्र पण्डित का मरण ही पण्डितमरण है।³⁷²

१०. बालपण्डितमरण :- संवेगरंगशाला में बालपण्डितमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि देशविरति को स्वीकार करके जो जीव मृत्यु को प्राप्त होता है, उसका मरण बालपण्डितमरण कहलाता है।³⁷³ समवायांगसूत्र में बालपण्डितमरण पर चर्चा करते हुए कहा गया है - जो जीव देशविरति हो, पंचम गुणस्थानवर्ती हो, व्रती श्रावक हो, तो ऐसे मनुष्य या तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव के मरण को बालपण्डितमरण कहा जाता है।³⁷⁴ भगवतीआराधना में सम्यग्दृष्टि-संयतासंयत जीव के मरण को बालपण्डितमरण कहा गया है।³⁷⁵

११. छद्मस्थमरण :- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान से युक्त छद्मस्थ-श्रमण का मरण छद्मस्थमरण कहलाता है।³⁷⁶ समवायांगसूत्र में केवलज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व बारहवें गुणस्थान तक के जीव छद्मस्थ कहलाते हैं,

³⁶⁹ भगवतीआराधना, पृ. ५३

³⁷⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५६.

³⁷¹ समवायांगसूत्र, पृ. ५४.

³⁷² भगवतीआराधना, पृ. ५४-५५.

³⁷³ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५७.

³⁷⁴ समवायांगसूत्र, पृ. ५४.

³⁷⁵ भगवतीआराधना, पृ. ५६.

³⁷⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ३४५८.

उन जीवों के मरण को छद्मस्थमरण कहा गया है।³⁷⁷ भगवतीआराधना में छद्मस्थ-मरण का विवरण नहीं मिलता है, जबकि इसमें ओसण्णमरण का उल्लेख मिलता है। इसमें संघ से बहिष्कृत संयमियों के मरण को ओसण्णमरण कहा गया है।³⁷⁸

१२. केवलीमरण :- संवेगरंगशाला में केवलीमरण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो जीव केवलज्ञान प्राप्त करके मृत्यु को प्राप्त होता है, उसका मरण केवलीमरण कहलाता है।³⁷⁹

समवायांगसूत्र के अनुसार केवलज्ञान को धारण करने वाले अयोगी-केवली के मरण को केवलीमरण कहा गया है।³⁸⁰

१३. वैहायसमरण :- जो गले में फांसी आदि लगाकर मरण को प्राप्त होता है, उस मरण को संवेगरंगशाला में वैहायस (वैखानस) मरण कहा गया है।³⁸¹

समवायांगसूत्र के अनुसार गले में फांसी लगाकर, अर्थात् किसी वृक्षादि से लटककर मरने को वैहायसमरण कहा गया है।³⁸²

भगवतीआराधना के अनुसार अपरिहार्य उपसर्ग की स्थिति में या न टलने वाला संकट, आदि के उपस्थित हो जाने पर जब जीव को यह ज्ञात हो जाए कि उपस्थित संकटापन्न स्थिति से बचना सम्भव नहीं है, अथवा उसके कारण धर्म के नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो धर्म की रक्षा के लिए व्यक्ति सांस रोककर जो मरण करता है, वह वैहायसमरण कहलाता है।³⁸³

१४. गृद्धपृष्ठमरण :- संवेगरंगशाला के अनुसार जो जीव गृद्धादि के भक्षण द्वारा मरण को प्राप्त होता है, तो उस मरण को गृद्धपृष्ठमरण कहा गया है।³⁸⁴ समवायांगसूत्र में 'गिद्धपिष्ट' पद के संस्कृत में दो रूप बनते हैं - गृद्धपृष्ठ और गृद्धस्पृष्ट। इसमें गिद्ध, चील, आदि पक्षियों के द्वारा जिसका मांस नोच-नोच कर खाया जाता हो, तो ऐसे मरण को गृद्धास्पृष्टमरण कहा गया है एवं 'गरे' हुए

377 समवायांगसूत्र, पृ. ५४.

378 भगवतीआराधना, पृ. ५६.

379 संवेगरंगशाला, गाथा ३४५८.

380 समवायांगसूत्र, पृ. ५४.

381 संवेगरंगशाला, गाथा ३४५९.

382 समवायांगसूत्र, पृ. ५४.

383 भगवतीआराधना, पृ. ६०

384 संवेगरंगशाला, गाथा ३४५९.

हाथी, ऊँट, आदि के शरीर में प्रवेशकर अपने शरीर को गिद्धों आदि का भक्ष्य बनाकर मरनेवाले जीवों के मरण को गृह्यपृष्ठमरण कहा गया है।³⁸⁵

भगवतीआराधना में उपसर्गादि तथा संकटापन्न अवस्था में धर्म की रक्षा हेतु शस्त्र की सहायता से जो मरण प्राप्त किया जाता है, उसे गृह्यपृष्ठमरण कहा गया है।³⁸⁶

संवेगरंगशाला में मरण की चर्चा करते हुए यह कहा गया है - वैहायस एवं गृह्यपृष्ठ- इन दोनों मरण की अनुज्ञा किसी विशेष परिस्थिति में ही दी गई है, क्योंकि विशेष परिस्थिति में संयम-रक्षा हेतु ज्ञानी मुनि का अविधि से किया गया मरण भी शुद्ध माना जाता है। जयसुन्दर और सोमदत्त नामक दो श्रेष्ठ मुनियों ने परिस्थितिवश इन दोनों मरणों को स्वीकार किया था- ऐसा संवेगरंगशाला में वर्णन मिलता है।

१५. भक्तपरिज्ञामरण :- संवेगरंगशाला में भक्तपरिज्ञामरण पर प्रकाश डालते हुए यह निरूपित किया गया है कि जीव ने इस संसार में अनादिकाल से आहार ग्रहण किया है, फिर भी इस जीव को आहार से तृप्ति नहीं हुई। इस जीव की उसके प्रति इतनी रुचि है, जैसे- पहले कभी उसका नाम सुना नहीं हो, अथवा उसे देखा नहीं हो, अथवा कभी खाया नहीं हो, अथवा उसे प्रथम बार ही मिला हो। इस प्रकार वह आहार के प्रति लालायित बना रहता है,³⁸⁷ किन्तु जिस आहार के प्रति यह जीव आसक्त बना है, वह अशुचित्व, आदि अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करने वाला है। उसकी आसक्ति पापबन्ध, का कारण है, अतः ऐसे आहार को ग्रहण करने से अब मुझे क्या लाभ है? इस तरह विचार कर वह ज्ञानी भगवन्तों के वचनानुसार विषय-भोगों के हेय स्वरूप को जानकर उनका प्रत्याख्यान करता है। प्रत्याख्यान में साधक चारों प्रकार के सभी आहार-पानी, बाह्य-उपधि (वस्त्र-पात्रादि), और आभ्यान्तर-उपधि (रागादि)- इन सर्व का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है।³⁸⁸

इस प्रकार जो जीव तीन प्रकार के आहार का, अथवा चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन प्रत्याख्यान करता है, उसे भक्तपरिज्ञा कहते हैं। उसको स्वीकार करके मरण को प्राप्त करना, भक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है। भक्तपरिज्ञा

³⁸⁵ समवायंगमसूत्र, पृ. ५४. (हिन्दी टीका)

³⁸⁶ भगवतीआराधना, पृ. ६०. (विजयोदया टीका)

³⁸⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३५४५-३५४६.

³⁸⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३५४७-३५४८

ग्रहण करनेवालों को शरीर की सेवा-शुश्रूषादि करने की छूट होती है। इस भक्तपरिज्ञामरण के सविचार और अविचार- इस प्रकार दो भेद हैं, इनकी चर्चा आगे विस्तार से की गई है।³⁸⁹

संवेगरंगशाला में भक्तपरिज्ञामरण के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है, वही विवेचन समवायांगसूत्र³⁹⁰, आचारांगसूत्र³⁹¹, स्थानांगसूत्र³⁹², उत्तराध्ययनसूत्र³⁹³, समाधिमरणोत्साहदीपक³⁹⁴, भगवतीआराधना³⁹⁵, आदि अनेक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

सविचारभक्तपरिज्ञामरण उसे कहते हैं, जिसमें व्यक्ति विचारपूर्वक निश्चय करके क्रमशः आहारादि का त्याग करते हुए देहत्याग करता है। अविचार भक्तपरिज्ञामरण किसी आकस्मिक विपदा के कारण जिस मुनि को आहारादि के क्रमशः त्याग करने का समय न हो उस स्थिति में होता है, अर्थात् अनायास मरण के उपस्थित हो जाने पर व्यक्ति अविचारभक्तपरिज्ञामरण स्वीकार कर सकता है। संवेगरंगशाला में अविचारभक्तपरिज्ञामरण को निम्न तीन भागों में विभक्त किया गया है - प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परम निरुद्धतर।³⁹⁶

३. निरुद्ध :- इसमें निरुद्ध के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि तत्काल मरण का कारण उपस्थित हो जाने पर, अर्थात् असाध्य रोग, आदि के होने पर अपने ही संघ में रहकर तथा दूसरों की सहायता से आराधना करते हुए देहत्याग करना, निरुद्ध-भक्तपरिज्ञामरण कहलाता है। यह मरण भी प्रकाश और अप्रकाश-इस तरह दो प्रकार का है।

४. निरुद्धतर :- संवेगरंगशाला के अनुसार सर्प, अग्नि, सिंह, आदि के निमित्त से तत्काल आयुष्य को समाप्त होता हुआ जानकर मुनि को जब तक वाणी बन्द नहीं हुई हो और चित्त व्यथित नहीं हुआ हो, तब तक समीपस्थ आचार्य, आदि के समक्ष सम्यक् रूप से अतिचारों की आलोचना करना और फिर

389 संवेगरंगशाला, गाथा ३५५०-३५५२.

390 समवायांगसूत्र, पृ. १७/६. (आ.तु.)

391 आचारांगसूत्र, अध्याय-८, पृ.

392 स्थानांगसूत्र, (आचार्य तुलसी), २/४१, १७/८

393 उत्तराध्ययननिर्युक्ति, अध्याय-५, पृ. २३७-३८

394 समाधिमरणोत्साहदीपक, पृ. ६.

395 भगवतीआराधना, पृ. ६५.

396 संवेगरंगशाला, गाथा ३५५२-३५५४.

आहार आदि का त्याग करके देहत्याग करना, निरुद्धतर-भक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है।

५. परम निरुद्धतर :- रोगादि अथवा अनायास मरण या अन्य निमित्त उपस्थित हो जाने से जब साधक की वाणी भी बन्द हो जाए, अर्थात् वह बोलने में असमर्थ हो जाए, तब उसी समय मन से ही चारों शरण को स्वीकार कर सर्व साधुओं से क्षमायाचनापूर्वक आत्म-आलोचना करके, चारों आहार का त्याग करके, शरीर छोड़ देना परम निरुद्धतर-भक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है।³⁹⁷

भक्तपरिज्ञामरण अथवा भक्तप्रत्याख्यानमरण का संक्षिप्त विवरण भगवतीआराधना³⁹⁸, स्थानांगसूत्र³⁹⁹, समवायांगसूत्र⁴⁰⁰ जैसे आगमों में मिलता है। इसकी विधि, स्वरूप एवं भेदों का विशेष विवेचन 'भक्तपरिज्ञा'⁴⁰¹ प्रकीर्णक में तथा वीरभद्राचार्यकृत 'आराधनापताका'⁴⁰² में मिलता है। भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ है-आहार का त्याग करना। इस प्रकार आहार का त्याग करके जो मरण ग्रहण किया जाता है, उसे भक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र,⁴⁰³ भक्तपरिज्ञा,⁴⁰⁴ आराधनापताका एवं भगवतीआराधना⁴⁰⁵ में भी भक्तपरिज्ञामरण के उपर्युक्त दो भेद किए गए हैं - सविचार और अविचार। "समय रहते हुए विधिपूर्वक जो भक्तपरिज्ञामरण ग्रहण किया जाता है, उसे सविचारभक्तपरिज्ञामरण कहा जाता है तथा तत्काल मृत्यु की सम्भावना होने पर बिना शरीर-संलेखना-विधि से जो भक्तपरिज्ञामरण ग्रहण किया जाता है, वह अविचारभक्तपरिज्ञामरण है।"

"वीरभद्राचार्य ने आराधना-पताका में सविचार भक्तपरिज्ञामरण के चार द्वार निरूपित किए हैं - १. परिकर्मविधि-द्वार २. गणसंक्रमण-द्वार ३. ममत्वव्युच्छेद-द्वार और ४. समाधिलाभ-द्वार। पुनः, परिकर्मविधि-द्वार के ग्यारह, गणसंक्रमण-द्वार के दस, ममत्वव्युच्छेद-द्वार के दस और समाधिलाभ-द्वार के आठ

397 संवेगरंगशाला, गाथा ३५५५-३५६२.

398 भगवतीआराधना, पृ. ६४.

399 स्थानांगसूत्र १.२/४४, १७/४८

400 समवायांगसूत्र, पृ. १७/८. (आ.तु.)

401 भक्तपरिज्ञा - १०-११.

402 सम्पूर्ण विवरण के लिए दृष्टव्य, आराधनापताका (वीरभद्र)

403 उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१२.

404 भक्तपरिज्ञा-प्रकीर्णक, गाथा १०/११.

405 भगवतीआराधना, पृ. ६४.

उपभेद किए हैं। इन प्रतिद्वारों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं, विस्तार के भय से यहाँ पुनः उनकी चर्चा आवश्यक नहीं है।⁴⁰⁶

भगवतीआराधना में सविचारभक्तपरिज्ञा अथवा भक्तप्रत्याख्यान का विवेचन चालीस अधिकार सूत्रपदों की सहायता से किया गया है;⁴⁰⁷ अतः तुलनात्मक-दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जहाँ संवेगरंगशाला में चार मूलद्वारों का विवेचन किया गया है, वहीं भगवतीआराधना में चार मूल द्वारों का उल्लेख नहीं मिलता है। संवेगरंगशाला में कुल तैंतालीस प्रतिद्वारों का उल्लेख है, जबकि भगवतीआराधना में चालीस अधिकारसूत्र उपलब्ध हैं। उसमें मनोनुसास्तिद्वार, राजद्वार, मरणविभक्तिद्वार, अधिगत (पण्डित) मरणद्वार, दर्शनद्वार, प्रतिपत्तिद्वार और सारणाद्वार- इन सात द्वारों के नाम नहीं पाए जाते हैं। साथ ही कुछ भिन्न नामों के अधिकार भी पाए जाते हैं, जैसे - मार्गणा, प्रतिक्रम, गुणदोष-प्रकाशन। संवेगरंगशाला में इन नामों के द्वार नहीं हैं।

भगवतीआराधना एवं आराधनापताका में अविचारभक्तपरिज्ञामरण का विवेचन भी संवेगरंगशाला के समान ही मिलता है। आराधनापताका एवं भगवतीआराधना में इसके उपर्युक्त तीन भेद करके उनका विवरण प्रस्तुत किया गया है, किन्तु भक्तपरिज्ञा-प्रकीर्णक में इन तीन भेदों का उल्लेख नहीं है। मात्र सामान्यतया अविचारमरण का विवेचन किया गया है।

१६. इंगिनीमरण :- संवेगरंगशाला में इंगिनीमरण का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि क्षपक गमनागमन हेतु क्षेत्र की सीमा निर्धारित करके, उस क्षेत्र में चेष्टा करते हुए अनशन द्वारा देहत्याग करना ही इंगिनीमरण है। यह मरण चारों प्रकार के आहार का त्याग करनेवाले, शरीर की सेवा-शुश्रूषा नहीं करनेवाले और एक विशेष क्षेत्र में रहकर देहत्याग करने वाले को ही प्राप्त होता है।⁴⁰⁸

ग्रन्थ में इंगिनीमरण को ग्रहण करनेवाले एक प्रज्ञावान् मुनि को अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों को किस तरह सहन करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम मुनि अपने गच्छ से क्षमायाचना करे, फिर प्रासुक स्थान पर तृण बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके बैठे और अरिहन्त की साक्षी से आलोचना करे, उसके पश्चात् चारों आहार का त्याग करके अंगों को संकुचित रखे। बड़ी नीत (मल) - लघुनीत (मूत्र) को स्वयं ही योग्य स्थान पर विसर्जित करे। देवता एवं किन्नरों के उपसर्ग उत्पन्न होने पर निर्भय होकर उन प्रतिकूल

⁴⁰⁶ श्रीवीरभद्राचार्यकृत "आराधनापताका", पृ. ८६.

⁴⁰⁷ भगवतीआराधना, पृ. ६५.

⁴⁰⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३५६३-३५६४.

उपसर्गों को सहन करे। देवकन्याएँ विषय-भोगादि के लिए प्रार्थना करें, तो अल्पमात्र भी क्षोभ को प्राप्त न हो तथा उनके द्वारा मान-सम्मानादि देने पर तथा अपनी ऋद्धि आदि को देखकर उन्हें अनुकूल उपसर्ग मानते हुए विस्मय को प्राप्त न करे।⁴⁰⁹

आगे यह भी कहा गया है कि साधक को शारीरिक-सुख अथवा दुःख होने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिए। कभी कोई बलपूर्वक साधक को सचित्त भूमि में पटक दे, तो उस समय भान से शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा विचार कर वहीं पड़ा रहे और जब उपसर्ग शान्त हो जाएँ, तो पुनः अचित्त भूमि पर आ जाए। साधक उस स्थिति में सूत्र की वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा, आदि का त्याग करता है, किन्तु स्थिर मन से सूत्र-अर्थ का स्मरण कर सकता है। वहाँ उसे प्रतिलेखन, आदि क्रियाएँ भी नहीं करनी होती हैं, अतः मात्र ध्यान में लीन रहकर ही आत्मसाधना करना चाहिए। संवेगरंगशाला में इस मरण के सम्बन्ध में यह निरूपित किया गया है कि साधक को अन्य कार्यों में मौनव्रत धारण करना चाहिए। मात्र आचार्य आदि के प्रश्नों के उत्तर देना चाहिए तथा मनुष्य द्वारा प्रश्न पूछने पर धर्मकथा करना चाहिए। इस तरह संवेगरंगशाला में शास्त्रानुसार इंगिनीमरण का स्वरूप कहा गया है।⁴¹⁰

इसी तरह इंगिनीमरण के स्वरूप का उल्लेख हमें आचारांगसूत्र,⁴¹¹ समवायांगसूत्र,⁴¹² भक्तपरिज्ञा,⁴¹³ भगवतीआराधना,⁴¹⁴ आराधनापताका,⁴¹⁵ प्रवचनसारोद्धार,⁴¹⁶ आदि अनेक ग्रन्थों में भी मिलता है।

इंगिनीमरण भक्तपरिज्ञामरण से विशिष्ट मरण है। “भक्तपरिज्ञा में की जाने वाली साधना तो इसमें भी की जाती है, किन्तु इसमें साधक दूसरों से किसी प्रकार की सेवा न लेकर संथारा ग्रहण करने के अनन्तर स्वयं ही शरीर के आकुंचन, प्रसारण, उच्चार, आदि की क्रियाएँ करता है।”⁴¹⁷ आचार्य शीलांक आचारांग की टीका में इंगिनीमरण के स्वरूप का विवेचन इस रूप में करते हैं -

⁴⁰⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३५६५-३५७१.

⁴¹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३५७२-३५८१.

⁴¹¹ आचारांगसूत्र (प्रथम भाग), आत्मारामजी ८/६/२१७, पृ. ५६६.

⁴¹² समवायांगसूत्र, १७/६.

⁴¹³ भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णक, गाथा ६.

⁴¹⁴ भगवतीआराधना, पृ. २०२६.

⁴¹⁵ आराधनापताका, गाथा ६०८-६१६.

⁴¹⁶ प्रवचनसारोद्धार.

⁴¹⁷ आराधनापताका, गाथा ६०८.

“क्षपक नियमपूर्वक गुरु के समीप चारों आहार का त्याग करता है और मर्यादित स्थान में ही शारीरिक क्रियाएँ करता है। करवट बदलना, उठना या बैठना, आदि कायिक-क्रियाएँ एवं लघुनीत-बड़ीनीत आदि क्रियाएँ भी स्वयं करता है। धैर्यवान्, बलयुक्त मुनि सर्वकार्य अपने-आप करता है, दूसरों की सहायता नहीं लेता है। इस प्रकार विधिपूर्वक इंगिनीमरण करके परमपद का अधिकारी बनता है।”⁴¹⁸

“आराधनापताका में इंगिनीमरण से मृत्यु को प्राप्त करनेवाला जीव प्रथम संहनन, अर्थात् वज्रऋषभनाराच-संहनन से युक्त होता है- ऐसा उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इंगिनीमरण का साधक इतना निर्भय एवं निराकुल होता है कि यदि संसार के सारे पुद्गल भी दुःखरूप में परिणत हो जाएँ, तब भी उसे दुःखी नहीं कर सकते। वह धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में ही रहता है, आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान में नहीं जाता है। स्वाध्याय एवं शुभध्यान ही उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। मौन एवं अभिग्रह धारक उस आराधक से यदि देव एवं मनुष्य कुछ पूछे, तो वह मात्र धर्मकथा करता है।” यही बात भगवतीआराधना में भी कही गई है कि समस्त परिग्रहों का त्याग करके धैर्यबल से युक्त वह क्षपक सब परीषहों को जीतता है और लेश्या-विशुद्धि से सम्पन्न होकर धर्मध्यान करता है।”⁴¹⁹

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में इंगिनीमरण को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है- “अपने शरीर की सेवा-शुश्रूषा व्यक्ति स्वयं करे, उसे किसी तरह का रोग हो जाए, तो अपने रोग का उपचार भी स्वयं करे, उसका उपचार अन्य से नहीं कराए, इत्यादि। इन विधियों का पालन करते हुए यदि व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तो इस मरण को इंगिनीमरण कहा जाता है।”⁴²⁰

१७. पादपोषगमनमरण :-

संदेगरंगशाला के अनुसार मरण के इस अन्तिम प्रकार में साधक कटे हुए वृक्ष की तरह बिना हलन-चलन किए मृत्युपर्यन्त एक स्थान पर पड़ा रहकर देह-त्याग करता है, इसे पादपोषगमनमरण कहते हैं। यह पादपोषगमनमरण भी दो प्रकार का है:- १. निहारिम और २. अनिहारिम। साधक को कोई हरणकर या उठाकर ले जाए और इस प्रकार उसका देह-त्याग अन्य स्थान पर हो, तो उसे निहारिम-पादपोषगमनमरण कहते हैं। यदि साधक अपने स्थान पर ही मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसे अनिहारिम-पादपोषगमनमरण कहते हैं। इस मरण को

⁴¹⁸ (अ) आचारांगसूत्र (शीलांक टीका) पत्रक-२८६.

(ब) भगवतीआराधना, पृ. २०२६.

⁴¹⁹ आराधनापताका, पाया ६०७, ६११, ११६ आदि.

⁴²⁰ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ६१.

स्वीकार करनेवाला साधक न स्वयं शरीर की सेवा करता है, न दूसरों से सेवा करवाता है। वह शरीर के प्रति पूर्णतः ममत्व का त्याग करता है। किसी के द्वारा शरीर को गन्ध-विलेपन, आदि लगाने पर या देह को काट देने पर भी मुनि किसी प्रकार से प्रतिक्रिया नहीं करता है। वह शरीर को जड़वत् छोड़ देता है, क्योंकि वह हलन-चलन की प्रवृत्ति से रहित होता है।⁴²¹

आचारांग में कहा गया है- “इस मरण को अंगीकार करने वाला साधक जीव-जन्तुरहित स्थण्डिलस्थल का सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अनेतनवत् स्थिर होकर पड़ा रहता है,”⁴²² जबकि भगवतीआराधना में प्रायोपगमन-मरण पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि- “जो व्यक्ति अपने शरीर को सम्यक् रूप से कृश करता है, अर्थात् उसका अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह जाता है, वही प्रायोपगमनमरण करता है। इस मरण में साधक तृण या घास के संधारे का प्रयोग नहीं करता है; क्योंकि इसमें व्यक्ति न तो स्वयं अपनी वैयावृत्य (सेवा) करता है और न ही दूसरों से करवाता है,”⁴²³ परन्तु आचारांगसूत्र में तृण अथवा घास के संस्तारण (संधारे) का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। भक्तपरिज्ञामरण एवं इंगिनीमरण से भी यह मरण उत्कृष्ट है, संवेगरंगशाला में पादपोपगमनमरण के लिए जो विवेचन प्राप्त होता है, वही विवरण आराधनापताक⁴²⁴ में भी उपलब्ध होता है।

मरणविभक्ति या मरणसमाधि प्रकीर्णक में पादपोपगमनमरण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- निश्चल रूप में बिना शारीरिक प्रतिक्रिया के जो मरण ग्रहण किया जाता है, वह पादपोपगमनमरण कहलाता है। यह मरण सनिहारिम और अनिहारिम-इस तरह दो प्रकार का होता है। जब उपसर्ग के कारण मरण होता है, तो उसे सनिहारिम एवं उपसर्ग बिना जो मरण होता है, उसे अनिहारिम कहा जाता है। मरणसमाधि-प्रकीर्णक में चिलातीपुत्र, स्कन्धक के शिष्यों, गजसुकुमाल, आदि के समाधिमरण के उल्लेख प्राप्त होते हैं तथा समाधिमरण की साधना का उत्कृष्ट निदर्शन भी मिलता है, जैसे- चिलातीपुत्र के शरीर को चींटियों के द्वारा छलनी कर दिया गया, किन्तु उन्होंने उनके प्रति मन से भी द्वेष नहीं किया।⁴²⁵

⁴²¹ संवेगरंगशाला, गाथा ३५८२-३५८६.

⁴²² आचारांगसूत्र, १/८/८/२४८.

⁴²³ भगवतीआराधना, २०५८.

⁴²⁴ आराधनापताक, गाथा ६२२.

⁴²⁵ मरणसमाधि-प्रकीर्णक, गाथा ५२७, ४२६.

“भगवतीआराधना के अनुसार प्रायोपगमनमरण वही क्षपक ग्रहण करता है, जिसकी आयु अति अल्प शेष रहती है। इसमें वह न तो स्वयं अपने शरीर की सेवा करता है, न दूसरों से सेवा करवाता है। इसमें भी प्रायोपगमनमरण के पूर्वोक्त दो भेद किए गए हैं।”⁴²⁶

पण्डितमरण की महिमा :-

संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जिस जीव ने जीवनभर दुर्ध्यान करके पापों की गठरी बाँध ली हो, वड़ जीव भी अन्तिम समय में पण्डितमरण को प्राप्त करके शुद्ध हो जाता है। अनादिकाल से संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव तब तक इस अटवी से पार नहीं हो सकता है; जब तक उसे पण्डितमरण की प्राप्ति न हो। पण्डितमरण प्राप्त करके यह जीव उसी भव में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, अथवा देवगति का एक भव करके पुनः श्रावक-कुल में जन्म लेकर शुद्ध चारित्र्य पालकर तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अधिकतम आठवें भव में तो मुक्त हो ही जाता है।⁴²⁷

इस ग्रन्थ में यह भी उल्लेख किया गया है कि पण्डितमरण को वही प्राप्त कर सकता है, जो प्रासुक स्थान में रहता हो, जिसने शल्य का त्याग करके क्षमा की धारण किया हो, जो छःकाय जीवों का रक्षक हो, जो शत्रु एवं मित्र में समभाव रखता हो, जो जिन-आज्ञा का आराधक हो, जिसने कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो और मन-वचन और कर्म से शुद्ध हो। आगे, पण्डितमरण का उल्लेख करते हुए इसमें कहा गया है कि यह मरण सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होता है, मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं होता है, क्योंकि चिन्तामणिरत्न प्रत्येक जीव को प्राप्त नहीं होता है। अज्ञजीव बाल-मरण को प्राप्त होता है। वह बार-बार कठिन तप तो करता है, किन्तु निदान (फलाकांक्षा) आदि के कारण मुक्त नहीं हो पाता है; किन्तु धीर-पुरुष एक बार में ही उत्कृष्ट रूप से संयम की शुद्ध आराधना करके समाधिमरण के द्वारा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।⁴²⁸

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जो रत्न के करण्डक के समान पण्डितमरण को प्राप्त कर लेता है, वह निश्चय से ही उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है। यह मरण विशेष पुण्यानुबन्धी पुण्यवाले किसी जीव को ही प्राप्त होता है। जैसे- एक

⁴²⁶ भगवतीआराधना, पृ. ८८५.

⁴²⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३७१०-३७१४.

⁴²⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३७१५-३७२२.

ही अग्नि-कण ईंधन के वृहत् समूह को जलाने में समर्थ होता है, वैसे ही एक ही पण्डितमरण अनेक भवों के पापों को नाश करने में समर्थ होता है।⁴²⁹

अन्त में ग्रन्थकार ने यह प्रतिपादित किया है कि इस जगत् में चिन्तामणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष के द्वारा भी जिसकी प्राप्ति दुःसाध्य है, उसे प्राप्त कराने में पण्डितमरण समर्थ है। चूँकि एक पण्डितमरण अनादिकाल की जन्म-मरण की 'परम्परा' को समाप्त कर देता है, इसलिए प्रत्येक साधक को पण्डितमरण को प्राप्त करना चाहिए। पण्डितमरण से व्यक्ति मुक्त होकर अजर-अमर बन जाता है। जिनको बार-बार मृत्यु से भय लगता है, उन्हें पण्डितमरण से ही मृत्यु को प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इससे मृत्यु का ही नाश हो जाता है। इसीलिए धीर-वीर पुरुष पण्डितमरण के द्वारा सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।⁴³⁰

समाधिमरण ग्रहण करने योग्य स्थल :

सवेगरंगशाला में शय्या को वसति, अर्थात् आवास-स्थल कहा गया है। समाधिमरण की आराधना में आराधक के लिए कौन-सी वसति अयोग्य है एवं कौन-सी योग्य है, उसका निरूपण किया गया है। प्रथम अयोग्य वसति का कथन करते हुए कहा है कि आराधक के समीप कटोर (दुष्ट) कर्म करनेवालों की वसति नहीं होना चाहिए, जैसे - चोरी करनेवाले, वेश्यागमन करनेवाले, मछली पकड़नेवाले, शिकार खेलनेवाले, प्राणीवध करनेवाले, असभ्य वचन कहनेवाले, नपुंसक एवं व्यभिचारी, आदि के समीप का स्थान (वसति) क्षपक के आराधना योग्य नहीं है। ऐसी वसति में रहने से समाधि में व्याघात होता है। इन्द्रियों के मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, रूप-रस आदि विषयों के सम्बन्ध से तथा कोलाहल से ध्यान में विघ्न होता है, इसलिए आराधक के लिए उपर्युक्त वसति का निषेध किया है।⁴³¹

साथ ही कहा गया है कि जब तिर्यच जीवों को भी शुभ एवं अशुभ संसर्गवश गुण एवं दोष प्रकट होते हैं, तो तप से कृशकायवाले एवं अनेक परीषहों, उपसर्गों को सहन करते हुए अनशन में उद्यमशील बने मुनि को कुत्सित संसर्ग से ध्यान में विघ्न उत्पन्न होता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, इसलिए जहाँ मन को सक्षोभ उत्पन्न करनेवाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों में उत्सुकतापूर्वक

⁴²⁹ सवेगरंगशाला, गाथा ३७२०-३७३५.

⁴³⁰ सवेगरंगशाला, गाथा ३७३६-३७४३.

⁴³¹ सवेगरंगशाला, गाथा ५२२८-५२३१.

गमन सम्भव नहीं हो, उस एकान्त वसति में साधु (क्षपक) को मन-वचन एवं काया को गुप्त करके सुखपूर्वक निवास करना चाहिए।⁴³²

संवेगरंगशाला में योग्य वसति का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं- जो वसति उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित हो, मुनि या क्षपक के उद्देश्य से जिसमें लिपाई, पुताई आदि नहीं कराई गई हो, जिसमें स्त्री, नपुंसक, पशु, आदि प्राणी वास नहीं करते हों, उस वसति में साधु निवास करे, साथ ही जिसकी दीवार मजबूत हो, जिसमें दरवाजे हों, जो गाँव के बाहर ऐसे स्थान पर हो, जहाँ बाल, वृद्ध, आदि चतुर्विध संघ का आवागमन सरल हो- ऐसी वसति में, उद्यान में, पर्वत की गुफा में अथवा शून्य घर में क्षपक का निवास होता है।

जिसमें बिना कष्ट के सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो, जिसमें अन्धकार न हो- ऐसी दो या तीन वसति को ग्रहण करना चाहिए। इनमें से एक वसति क्षपक के लिए रखें, दूसरी वसति अन्य मुनि एवं धर्म सुनने के लिए शहर से आए अतिथियों के लिए रखें। अन्य साधु यदि आहार ग्रहण कर रहे हों, तो क्षपक को उसकी गन्ध, आदि से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न न हो जाए, इस कारण क्षपक की वसति अलग होना चाहिए, साथ ही सामान्य बाल, आदि साधुओं (अपरिणत) को भी क्षपक की वसति में आने नहीं देना चाहिए।⁴³³

यहाँ प्रश्न उठता है कि सामान्य साधुओं को पास नहीं आने देने का क्या कारण है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है- सामान्य मुनि को समीप नहीं रखने का मुख्य कारण यह है कि किसी समय क्षपक को असमाधि उत्पन्न हो जाए, तो उसको अशन, आदि देते देखकर मुग्ध साधु को क्षपकमुनि के प्रति अश्रद्धा हो जाती है, साथ ही क्षपक को भी आहार आदि देखकर सहसा आहार के प्रति आसक्ति प्रकट हो सकती है। ऐसी स्थिति में आराधनारूप महासमुद्र के किनारे पर पहुँचे हुए तपस्वी की चारित्ररूपी नौका पर किस समय विघ्न आ जाए, उससे आराधना की सुरक्षा लिए यह सावधानी रखना होती है।

आचारांग⁴³⁴ एवं बृहत्कल्पभाष्य⁴³⁵ में नौ प्रकार की शय्याओं का विस्तार से निरूपण है। वे नौ प्रकार की शय्याएं इस प्रकार हैं :-

⁴³² संवेगरंगशाला, गाथा ५२५५-५२५६.

⁴³³ संवेगरंगशाला, गाथा ५२६०-५२६४.

⁴³⁴ आचारांगसूत्र - २/२/२.

⁴³⁵ बृहत्कल्पभाष्य. - उद्धृत आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध (मधुकरमुनि), पृ. १४२.

कालाङ्कन्तोवद्वाण अभिकन्त अणभिकन्ता य।

वज्जा य महावज्जा सावज्ज महप्पकिरिया य ।।बृहत्कल्पभाष्य।।

जैसे : १. कालातिक्रान्ता २. उपस्थान ३. अभिक्रान्ता ४. अनभिक्रान्ता

५. वज्या ६. महावज्या ७. सावद्या

८. महासावद्या ९. अल्पक्रिया।

संस्तारक- संवेगरंगशाला में आराधना के योग्य संस्तारक का वर्णन इस प्रकार किया गया है- जहाँ छःकाय जीवों की विराधना न हो, दुर्गन्ध न हो, पृथ्वी आदि में गड्ढे न हों, वहाँ क्षपकमुनि पृथ्वी या शिला अथवा काष्ठ या तृण (घास) का संथारा बनाता है और उस पर उत्तर अथवा पूर्व-दिशा की ओर मुख रखकर बैठता है। आगे संवेगरंगशाला में पृथ्वीशिला आदि योग्य संस्तर का कथन किया गया है। जो भूमि कठोर न हो, ऊँची-नीची न हो, छिद्रादि से रहित हो, सम हो, चींटी आदि जीवजन्तु से रहित हो, प्रकाशयुक्त एवं समतल हो; काष्ठ का संस्तर-विस्तीर्ण हो, हल्का हो, भूमि से जुड़ा हो, जड़ हो, एकरूप हो, चिकना हो, अचल हो, शब्द न करता हो, जन्तुरहित हो; तृण का संस्तर-गांठरहित हो, लम्बे तृण का हो, छिद्ररहित हो, मृदुस्पर्श वाला एवं कोमल हो- ये योग्य संस्तर के लक्षण हैं।

संस्तारक-भूमि में चींटी आदि का वास होने से जीवों की विराधना होती है, इसलिए भूमि जीव-जन्तु से रहित हो, संस्तर क्षपक के योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो, न छोटा हो, न बड़ा हो, दोनों समय (सूर्योदय एवं सूर्यास्त) प्रतिलेखन द्वारा शुद्ध किया गया हो एवं शास्त्र-अनुमोदित नियमानुसार बनाया गया हो, ऐसे संस्तर पर क्षपक को तीनों गुप्ति से गुप्त होकर आरोहण करना चाहिए। इसमें यह भी कहा गया है कि यदि कठोर संस्तर या तीक्ष्ण तृण, आदि के कारण क्षपक को असमाधि होती हो; तो एक, दो अथवा अधिक कपड़े बिछाए । अपवादमार्ग में तलाई आदि का भी उपयोग ले सकते हैं।⁴³⁶

संवेगरंगशाला में दो प्रकार के संस्तर बताए गए हैं- द्रव्य-संस्तर एवं भाव-संस्तर। द्रव्य-संस्तर की अपेक्षा से अनेक प्रकार के संस्तर का उल्लेख किया है। अब भाव की अपेक्षा से विविध प्रकार के संस्तर का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार राग-द्वेष, क्रोध-मोह, आदि का त्याग करके प्रशमभाव को प्राप्त करना ही आत्मा का भव-संथारा है, वैसे ही सावद्य योग से रहित, संयमरूपी धनवाली, तीन

⁴³⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५२७१-५२८२.

गुप्ति से गुप्त एवं पाँच सभिति से समित हुई आत्मा, ममत्व एवं अहंकार से रहित, समदृष्टि एवं परमार्थ से तत्त्व को जाननेवाली आत्मा, स्व-पर, शत्रु-मित्र में समचित्त (समता) रखनेवाली आत्मा, दूसरों के द्वारा हित या अहित करने पर भी हर्ष अथवा क्रोध को नहीं धारण करनेवाली आत्मा और सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में राग-द्वेष को त्यागने में तत्पर एवं सर्व जीवों के प्रति मित्रता रखनेवाली आत्मा ही भाव-संस्तारक है। सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्यरूप गुण ऐसी आत्मा में ही सुरक्षित रहते हैं, अतः आत्मा ही भाव संस्तारक है।⁴³⁷

इसमें संधारे के दो रूप बताए हैं- शुद्ध-संधारा और अशुद्ध-संधारा। जो साधक आश्रव भावों को रोकता नहीं है, उपशमभाव में रहता नहीं है, आलोचना आदि नहीं लेता है, फिर भी अनशन स्वीकार करता है, तो उसका संस्तर अशुद्ध कहलाता है; किन्तु जो गुरु के पास आलोचना आदि ग्रहण करता है, सर्व विकथाओं से मुक्त रहता है, सात भय एवं आठ मद से रहित होता है, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति एवं दस यतिधर्म का सम्यक् पालन करता है, उसका संधारा शुद्ध होता है। जो बाह्य एवं आभ्यान्तर-गुणों से रहित होकर तथा दोषों से युक्त होकर मात्र संस्तर में रहता है, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है। इसके विपरीत जो बाह्य-आभ्यान्तर गुणसहित एवं दोषों से रहित होता है तथा संस्तर में भी नहीं रहता है, तो भी वह मनोवांछित फल को प्राप्त करता है।⁴³⁸

इस तरह संवेगरंगशाला में कहा गया है तीन गुप्ति से गुप्त जो श्रेष्ठ आत्मा, संलेखना करने के लिए सम्यक्प्रवृत्त पृथ्वी एवं शुद्ध लेश्यारूपी शिला आदि संस्तर पर आरोहण करती है, वही आत्मा ही संस्तारक होती है। विशुद्धमरण (पण्डितमरण) प्राप्त करने वालों के लिए तृणमय संस्तारक अथवा अचित भूमि आराधना के कारण नहीं हैं, क्योंकि आत्मा ही स्वयं अपना संस्तर का आधार बनती है। आत्मसजग साधक का अग्नि, जल, हरी वनस्पति एवं त्रस जीव के ऊपर भी संस्तारक होता है। संवेगरंगशाला में अग्नि, जल एवं त्रस जीव आदि के संस्तारक के प्रसंग पर अनुक्रम से गजसुकुमार, अर्णिकापुत्र और चित्तातीपुत्र का दृष्टान्त उपलब्ध होता है।⁴³⁹

संवेगरंगशाला की तरह आचारंगसूत्र⁴⁴⁰, आराधनापताका⁴⁴¹ एवं भगवती-आराधना में भी शय्या, अर्थात् आराधक के रहने का स्थान एवं संस्तर,

⁴³⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ५२८३-५२९०.

⁴³⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ५२९१-५३०८.

⁴³⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ५३०९-५३१३.

⁴⁴⁰ आचारंगसूत्र २/२/३.

अर्थात् आराधक के बैठने व लेटने का सीन- दोनों आराधना के अनुकूल होने चाहिए- ऐसा उल्लेख मिलता है। साथ ही भगवतीआराधना में कहा गया है कि गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, कुम्भकारशाला, यंत्रशाला, धोबी, वाद्य बजानेवाला, डोम, नट, राजमार्ग के समीप का स्थान, पत्थरों का काम करनेवालों का स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकार का स्थान, जलाशय के समीप का स्थान क्षपक के रहने योग्य नहीं है, क्योंकि इन स्थानों पर होनेवाले कार्यों तथा शोरगुल से ध्यान-साधना में विघ्न उत्पन्न होता है।⁴⁴²

समाधिमरण हेतु मनोनुशासन की प्राथमिकता :

समाधिमरण के साधक के लिए मन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है, अतः संवेगरंगशाला के छठवें मन अनुशास्तिद्वार में ग्रन्थकार दोषों को दूर करने एवं गुणों को धारण करने हेतु चित्त को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- हे चित्त! विचित्र रंगोंवाले चित्रों की तरह तू भी विविध विकल्पों को धारण करता है, परन्तु इन विकल्पों में उलझकर तू स्वयं को ही ठगता है। इस संसार में जीवों को विभिन्न विकारों से ग्रसित एवं उनमें मदोन्मत्त बना देखकर तू ऐसा विचार कर कि मैं ऐसा आचरण करूँ, जिससे दूसरों की हँसी का पात्र नहीं बनूँ। क्या तू मोहरूपी सर्प से डंसे हुए इस मिथ्या जगत् को नहीं देखता? कि जिससे तू विवेकरूपी मन्त्र का विस्मरणकर विकल्पों (इच्छाओं) से विकल बना हुआ है।

हे हृदय! तू अपनी चंचलतावश एक पल में तल में प्रवेश करता है तथा दूसरे पल में आकाश में पहुँच जाता है और क्षणभर में सर्व दिशाओं में भी भ्रमण कर आता है। तेरी यह चंचलता ही तेरी अस्थिरता एवं अशांति का कारण है।

हे मन! जन्म, जरा, मरणरूपी अग्नि से संसाररूपी भवन चारों तरफ से जल रहा है। अतः तू ज्ञानरूपी समुद्र में स्नान करके स्वस्थता को प्राप्त कर।

हे मन! ये धन, वैभव, आदि सभी अस्थिर हैं, इनकी चिन्ता करने से क्या प्रयोजन? इसके प्रति तेरी तृष्णा अभी तक समाप्त नहीं हुई; अतः अब तो सन्तोषरूपी रसायन का पान कर ले।⁴⁴³

⁴⁴¹ आराधनापताका, गाथा ३८६-३६६.

⁴⁴² भगवतीआराधना, गाथा ६३२, ६३६.

⁴⁴³ संवेगरंगशाला, गाथा १७६७-१८०४.

हे चित्त! नरक और स्वर्ग में, शत्रु और मित्र में, संसार और मोक्ष में, दुःख और सुख में, मिट्टी और स्वर्ण में, जब तेरी समदृष्टि होगी, तब तू कृतार्थ होगा।⁴⁴⁴

इसी द्वार में आगे जिनचन्द्रसूरि ने मन को सम्बोधित करते हुए कहा है- हे हृदय! तू हरपल अपने निकट आनेवाली मृत्यु का विचार कर जिसे कोई भी शक्ति रोकने में समर्थ नहीं है। शेष विकल्पों के जाल में उलझने से क्या प्रयोजन? अरे! तेरे ऊपर इस महामोह का कैसा प्रभाव पड़ा है कि तू जरा से जीर्ण होती तेरी इस शरीररूपी झोपड़ी का भी ख्याल नहीं करता है? हे मूढ़! लोक में जरा-मरण, रोग-शोक, आदि दुःख प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, फिर भी तुझे वैराग्य प्राप्त नहीं हुआ, क्या तू अपने को अजरामर समझता है?⁴⁴⁵

संवेगरंगशाला के उपर्युक्त द्वार में व्यक्ति की तीन अवस्थाओं का चित्रण करते हुए कहा गया है- हे चित्त! बचपन में अविवेक के कारण, बुढ़ापे में इन्द्रियादि की विकलता के कारण धर्म-क्रिया के अभाव से तेरा नरभव निष्फल गया है। तेरा यौवन तो प्रायः सभी अनर्थों का कारण रहा है। तूने कभी धर्म की साधना नहीं की। यदि तू पर की चिन्ता में ही हमेशा व्याकुल बना रहेगा, तो तुझे शान्ति कैसे प्राप्त होगी? इसके लिए तू चित्त की निराकुलता को प्राप्त कर और निराकुलता से कार्य कर, क्योंकि जन्म-मरण की परम्परा का और इच्छाओं एवं तद्जन्य क्रिया-कलापों या प्रवृत्तियों का अन्त नहीं है, साथ ही यह भी कहा कि हे चित्त! यदि तू प्रतिदिन चिन्ताओं से ग्रसित रहेगा, तो तू अत्यन्त दुष्कर संसार समुद्र से पार नहीं हो सकेगा।⁴⁴⁶

ग्रन्थकार मति को निर्मल बनाने के लिए चित्त को सम्बोधित करते हुए आगे कहते हैं- दुःखों के समूहरूपी मेरु पर्वत की मथनी से तेरा मन्यन करने पर भी तुझ में विवकरूपी रत्न प्रकट नहीं हुआ, अतः अविवेकरूपी कीचड़ से कलुषित तेरी मति तब तक निर्मल नहीं होगी, जब तक तू विवकरूपी जल से अभिषेक नहीं करेगा।⁴⁴⁷

प्रस्तुत द्वार में मन को विषय-भोगों को त्यागने तथा वैराग्य में रमण करने के लिए यह कहा गया है- हे मन! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श - ये पाँचों विषय स्व-इंद्रियों को क्षणिक सुख प्रदान करते हैं तथा क्षणिक सुख देकर,

⁴⁴⁴ संवेगरंगशाला, गाथा १८०६

⁴⁴⁵ संवेगरंगशाला, गाथा १८१०-१८१३.

⁴⁴⁶ संवेगरंगशाला, गाथा १८१५-१८२५.

⁴⁴⁷ संवेगरंगशाला, गाथा १८४०-१८४२.

फिर वियोग का अति भयंकर दुःख देते हैं। हे चित्त! ऐसे विषयों के संग में रमण करने से क्या प्रयोजन? यदि वैराग्य को छोड़कर विषयों में रमण करना ही चाहता है, तो तेरी वही दशा होगी, जो कालरूपी सर्प के बिल के समीप चन्दन के काष्ठ से अनेक द्वारोंवाला सुन्दर महल बनाकर, मालती के पुष्पों की शय्या में, यहाँ सुख है- ऐसा समझकर, निद्रा लेनेवाले की होती है, अर्थात् वह शीघ्र मृत्यु का ग्रास बन जाता है।⁴⁴⁸

इसके पश्चात् जिनचन्द्रसूरि ने आत्मा में रहे सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हुए कहा है- हे मन! यदि तू निष्पाप आत्मा के ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहता है, तो सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न को धारण कर। जब तक तेरे भीतर अज्ञानरूपी घोर अंधकार रहेगा, तब तक तेरा जीवन अंधकारमय ही बना रहेगा, इसलिए अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने के लिए ज्ञानरूपी सूर्य को अपने अन्तर में प्रकट कर। मोहरूपी अंधकार से व्याप्त इस संसाररूपी गुफा में से निकलने के लिए ज्ञानरूपी सूर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।⁴⁴⁹

पुनः, संवेगरंगशाला में मन को अनुशासित करने के विभिन्न उपायों का उल्लेख करते हुए कहा गया है- हे मन! हड्डी, मांस, चर्बी, नस, आदि से बने इस शरीर पर तू मोह न कर। इस असार संसार में स्त्री ही सार है - ऐसी मिथ्या भ्रमरूपी मदिरा से मदोन्मत्त मत बन। बाहर से देखने में सुन्दर प्रतीत होने पर भी अति दुर्गन्धमय मल, मूत्र, मांस, रुधिर और हड्डी के पिंजररूप स्त्री के शरीर में तू राग मत कर। हे चित्त! तू अर्थ की प्राप्ति होने पर अभिमान करता है, नहीं मिलने पर दुःखी रहता है और मिलने के बाद नष्ट हो जाने पर शोक करता है, इसलिए धन की आशा को छोड़कर तू सन्तोषरूपी धन को प्राप्त कर। पूर्व में तूने जैसा किया है, वर्तमान में तुझे वैसा ही मिला है, इसलिए इसमें हर्ष अथवा खेद मत कर। कर्मों के परिणामों को समतापूर्वक सहन कर।⁴⁵⁰

ग्रन्थकार कहते हैं कि वही वन्दनीय है, जिसने मन को अपने वश में कर लिया। वे कहते हैं - हे चित्त! यदि तू लक्ष्मी का अभिमान नहीं करता है, रागादि अन्तरंग शत्रुओं के वशीभूत नहीं होता है, स्त्रियों के प्रति आकर्षित नहीं होता है, विषयों में लोलुपता नहीं रखता है, सन्तोष को नहीं छोड़ता है, इच्छाओं

⁴⁴⁸ संवेगरंगशाला, गाथा १८४३-१८५२.

⁴⁴⁹ संवेगरंगशाला, गाथा १८५३-१८५५.

⁴⁵⁰ संवेगरंगशाला, गाथा १८५७-१८६७.

को आदर नहीं देता और पापकर्मों का संकलन भी नहीं करता है, तो हे चित्त! तुझे नमस्कार है। सचमुच तू वन्दनीय है।⁴⁵¹

आगे ग्रन्थकार प्रमादरूपी मदिरा को पीकर मस्त बने मन को सम्बोधित कर कहते हैं- यदि तुझे जिनाज्ञा पर श्रद्धा नहीं है और यदि तू यथाशक्ति साधु-जीवन की विशुद्ध क्रिया करने में निरुत्साहित बना हुआ है, तो हे मूढ़ात्मा! धर्मरूपी नाव मिलने पर भी तू संसाररूपी समुद्र में डूब जाएगा।⁴⁵²

इस द्वार के अन्त में कहा गया है- यदि यह जीन भावपूर्वक एक दिन की भी दीक्षा स्वीकार कर ले, तो वह चाहे मोक्ष को प्राप्त नहीं भी करे, तो भी वैमानिकदेव तो अवश्य बन जाता है। अरे! एक दिन तो बहुत ज्यादा समय है, एक मुहूर्तमात्र भी ज्ञान का सम्यक् परिणमण होने से इष्टफल की प्राप्ति होती है। शास्त्र में कहा भी है- अज्ञानी जिन कर्मों का करोड़ों वर्ष में क्षय करते हैं, उतने कर्मों को तीन गुप्ति से गुप्त पुरुष एक उच्छ्वास (श्वास) मात्र में क्षय कर देता है। प्रस्तुत कृति में इस सम्बन्ध में मित्र को शत्रु और सत्य को असत्य मानने वाले मन की वृत्ति पर वसुदत्त की कथा उल्लेखित है।⁴⁵³

समाधिमरण सम्बन्धी अतिचारः

जैनदर्शन में समाधिमरण ग्रहण करने वाले की योग्यता, समाधिमरण स्वीकार करने की विधि एवं तत्सम्बन्धी हित-शिक्षा आदि का विवरण उपलब्ध होता है। इन विधियों एवं शिक्षाओं को ध्यान में रखते हुए सावधानीपूर्वक समाधिमरण ग्रहण करने के पश्चात् भी प्रमाद अथवा अज्ञानदशा के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना होती है, उन्हें अतिचार कहते हैं। समाधिमरण स्वीकार करके उसकी सम्यक् रूपेण साधना करना सर्वाधिक कठिन कार्य है। लम्बी अवधि तक आराधना करते हुए समाधि न होने पर कभी-कभी अन्य विचार भी उत्पन्न हो सकते हैं। साधक के मन में जिस प्रकार के शुभाशुभ विचार उठते हैं, उसी प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है। इन शुभाशुभ विचारों से चित्त की समाधि के खण्डित होने की सम्भावना होती है। जैन-आचार्यों ने समाधिमरण के लिए जिन निम्न पाँच दोषों से बचने का निर्देश किया है, संवेगरंगशाला में भी उन्हीं पाँच अतिचारों से बचने का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि जो बुद्धिमान् साधक जीने

⁴⁵¹ संवेगरंगशाला, गाथा १८१०.

⁴⁵² संवेगरंगशाला, गाथा १८५४-१८५५.

⁴⁵³ संवेगरंगशाला, गाथा १८६६-१८७१

की एवं मरने की इच्छा तथा इहलोक एवं परलोक के सुख की आकांक्षा से मुक्त एवं कामभोग का त्यागी होता है, वही समाधिमरण को प्राप्त होता है।⁴⁵⁴

उपासकदशांगसूत्र में संलेखना के निम्न पाँच अतिचारों का उल्लेख है- इहलोकासंसप्यओगे, परलोकासंसप्यओगे, जीविआसंसप्यओगे, मरणासंसप्यओगे, कामभोगासंसप्यओगे।⁴⁵⁵ पंचप्रतिक्रमणसूत्र में भी संलेखना के पाँच अतिचार यही बताए गए हैं।

१. इहलोक-आशंसा-प्रयोग :- ऐहिक-सुखों की कामना करना। धर्म के प्रभाव से मुझे इहलोक-सम्बन्धी राजऋद्धि, आदि की प्राप्ति हो, ऐसी इच्छा करना, जैसे-मैं मरकर राजा या समृद्धिशाली बनूं।

२. परलोक-आशंसा-प्रयोग :- पारलौकिक सुखों की कामना करना, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् देव-देवेन्द्र आदि सुखों की कामना करना।

३. जीवित-आशंसा-प्रयोग :- जीवन जीने का आकांक्षा करना, जैसे- कीर्ति आदि अन्य कारणों के वशीभूत होकर सुखी अवस्था में अधिक जीने की इच्छा करना।

४. मरण-आशंसा-प्रयोग :- मृत्यु की आकांक्षा करना। जैसे - जीवन में शारीरिक-प्रतिकूलता में, भूख-प्यास या अन्य दुःख आने पर मृत्यु की इच्छा करना, आदि।

५. काम-भोग-आशंसा-प्रयोग :- इन्द्रियजन्य विषयों के भोगों की आकांक्षा करना।

तत्त्वार्थसूत्र⁴⁵⁶ में जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध एवं निदानकरण-इस तरह पाँच अतिचारों के उल्लेख मिलते हैं, जबकि रत्नकरण्डक-श्रावकाचार⁴⁵⁷ में सुखानुबन्ध के स्थान पर भयानुशंसा नामक अतिचार का उल्लेख मिलता है। इसमें भयानुशंसा के इहलोकभय एवं परलोकभय - इस तरह दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपाय⁴⁵⁸ में भी समाधिमरण के पाँच अतिचारों का निर्देश है, किन्तु वहाँ भी अन्तर मात्र इतना ही है कि मित्रानुराग

⁴⁵⁴ संवेगरगशाला, गाथा ६४३४-६४३५.

⁴⁵⁵ उपासकदशांगसूत्र १/५७.

⁴⁵⁶ तत्त्वार्थसूत्र ७/३२.

⁴⁵⁷ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/८.

⁴⁵⁸ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १६५.

की जगह सहृदयानुराग नामोल्लेख प्राप्त होता है एवं सागारधर्मामृत में संलेखना के पाँच अतिचारों का अर्थ इस प्रकार है- जीने की इच्छा; यह शरीर अवश्य हेय है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है, इत्यादि चिन्तन न करके 'यह शरीर कैसे बना रहे'- इस प्रकार की इच्छा होना। अपना विशेष आदर-सत्कार तथा बहुत से सेवकों को देखकर, सब लोगों से अपनी प्रशंसा सुनकर ऐसा मानना कि चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देने पर भी मेरा जीवित रहना ही उत्तम है, यह प्रथम अतिचार है। दूसरा अतिचार है- मरने की इच्छा, रोग आदि के उपद्रवों से व्याकुल होने से मरने के प्रति चित्त का उपयोग लगाना, अथवा आहार त्याग देने पर भी कोई आदर नहीं करता, न कोई प्रशंसा करता है, अतः मैं शीघ्र मर जाऊँ, तो ही उत्तम है- इस प्रकार के परिणाम होने पर मरणाशंसा नामक दूसरा अतिचार होता है। बचपन में साथ-साथ खेलने, कष्ट में सहायक होने, उत्सवों में आनन्दित होने आदि - मित्रों के अनुराग का स्मरण करना तीसरा अतिचार है। मैंने जीवन में इस प्रकार के भोग भोगे हैं, मैं इस प्रकार सोता था, मैं इस प्रकार क्रीड़ा करता था - इत्यादि अनुभूत भोगों का स्मरण करना सुखानुबन्धस्मरण नाम का चतुर्थ अतिचार है। इस कठोर तप के प्रभाव से मैं आगामी जन्म में इन्द्र, चक्रवर्ती धरणेन्द्र, आदि होऊँ - इस प्रकार के अनागत अभ्युदय की इच्छा निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है। इन अतिचारों से क्षपक को बचना चाहिए।⁴⁵⁹

उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार से यही फलित होता है कि समाधिमरण के मुख्यतः पाँच अतिचार हैं। इनके नामों में चाहे भिन्नता हो, किन्तु अर्थ या भावों में तो समानता नजर आती है, इसलिए समाधिमरण की प्राप्ति के लिए साधक को इन पाँच अतिचारों से मुक्त रहना अनिवार्य है।

समाधिमरण प्राप्त मुनि के मृत शरीर का विसर्जन (विजहणा) कहाँ और कैसे :

संवेगरंगशाला में विजहणा-द्वार की चर्चा करते हुए लिखा गया है- शास्त्रोक्त-विधि अनुसार समाधिमरण या अन्तिम आराधना करते हुए क्षपक (मुनि) जब मृत्यु को प्राप्त करता है, तब निर्यापक आचार्य को उसके शरीर के विसर्जन के विषय में सम्यक् प्रकार से विचार करना चाहिए। क्षपक के देह-त्याग के बाद जो क्रिया की जाती है, उसे विजहणा या शरीर-परित्याग कहते हैं।⁴⁶⁰ प्राचीन परम्परा में क्षपक के मृत शरीर को जंगल में मुनियों द्वारा ही विसर्जित किया जाता था, किन्तु वर्तमान में उसका गृहस्थों द्वारा दाह-संस्कार किया जाता है।

⁴⁵⁹ सागारधर्मामृत, अध्याय अष्टम, गाथा ४६.

⁴⁶⁰ संवेगरंगशाला गाथा - ६७६६.

(अ) शोक-विसर्जन- जब क्षपक की मृत्यु हो जाती है, तो उसके शरीर को देखकर-अहो! तुम लोगों ने दीर्घकाल तक औषधादि उपचारों से क्षपक की सार सम्भाल एवं सेवा की तथा चिरकाल तक वह अपने साथ रहा, स्वाध्याय किया तथा समाधि ग्रहणकर हमें अनुगृहीत किया; इस तरह लम्बे समय तक के सहवास से तथा अपने ज्ञानादि गुणों के द्वारा वह हम सब में से किसी को बन्धु के सदृश, तो किसी को पुत्र के तुल्य एवं अन्य मुनिजनों को मित्र के समान प्रिय था तथा शुद्ध प्रेम का परम पात्र था, परन्तु फिर भी निर्दय मृत्यु ने हम सबसे तुझे क्यों छीन लिया? हा! हा! हम लुट गए, हम लुट गए - इस तरह जोर-जोर से शब्दोच्चार करके चिल्लाना, रोना या शोक प्रकट करना, इत्यादि निर्यापक आचार्य और गणस्थ साधुओं को नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से चिल्लानेवाले का शरीर कृश होता है, शक्ति क्षीण होती है, स्मृति भ्रष्ट होती है, बुद्धि विपरीत हो जाती है, पागलपन प्रकट होता है तथा हृदय-रोग (हृदयाघात) होने की भी सम्भावना होती है। इस तरह बारम्बार रोने आदि की क्रिया करने से इन्द्रियाँ भी शिथिल तथा कमजोर हो जाती हैं, विवेक भी नष्ट हो जाता है, इससे मुनि की लघुता प्रकट होती है तथा लोक-व्यवहार में इसे अच्छा नहीं माना जाता है, क्योंकि मुनि मोह-ममता का त्यागी होता है। इससे ज्यादा क्या कहा जाए? क्योंकि शोक सर्व अनर्थों की खान है, इसलिए ज्ञानी पुरुषों को शोक का परित्याग करके अप्रमत्तचित्त से संसार की स्थिति का विचार करना चाहिए।

भवस्थिति का निरूपण करते हुए कहा गया है- हे जीव! तू बारम्बार शोक क्यों करता है? क्या तू नहीं जानता है कि जो जन्म लेता है, वह मृत्यु को प्राप्त करता है, जन्म के पश्चात् मृत्यु अवश्यम्भावी है। जन्म लेने के बाद मृत्यु कभी रुकती नहीं है, क्योंकि जन्म के बाद मृत्यु एवं मृत्यु के बाद जन्म - इस तरह दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, लेकिन मृत्यु (निर्वाण) के बाद जन्म लेना अनिवार्य नियम नहीं है, किन्तु जन्म के पश्चात् मृत्यु होना- यह शाश्वत नियम है, जैसे- महावीर स्वामी, आदि। यदि मरण को रोका जा सकता, तो दुष्ट भष्मराशि ग्रह के उदय होने पर और इन्द्र द्वारा बारम्बार विनती करने पर भी अतुल बलशाली तीन लोक के नाथ महावीर परमात्मा ने सिद्धि गमन के समय अल्प समय के लिए भी मृत्यु को क्यों नहीं रोका?

अतः, लम्बी अवधि तक समाधिमरण की साधना करके कालधर्म को प्राप्त हुए उस क्षपक मुनि के लिए आशिक भी शोक करना योग्य नहीं है, इसलिए संसार की विषम परिस्थिति का सम्यक्पूर्वक विचार करते हुए निर्यापक आचार्य को

उद्देगरहित होकर क्षपक के मृतक शरीर को विसर्जित करने की विधि शीघ्र प्रारम्भ करना चाहिए।

(ब) महापरिष्ठापना की विधि- जब क्षपक देह त्याग देता है, तब उसके देह को वैयावृत्य करने वाले मुनि स्वयं ही सावधानीपूर्वक विसर्जित करते हैं। ग्रन्थकार जिनचंद्रसूरि संवेगरंगशाला में महापरिष्ठापना की विधि का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि वर्षा-ऋतु के चार मासों में एक स्थान पर वास प्रारम्भ करते समय तथा ऋतु या मास के प्रारम्भ में सर्व साधुओं को निषीधिका की प्रतिलेखना करना चाहिए। विशेष रूप से गीतार्थ मुनि को महारथण्डल, अर्थात् मृतक शरीर के परित्याग के लिए निरवध-भूमि की खोज करनी चाहिए।

भगवतीआराधना के अनुसार निषीधिका का लक्षण इस प्रकार कहा गया है- निषीधिका एकान्त स्थान में होना चाहिए, जहाँ दूसरे लोग उसे देख न सकते हों। वह नगर, आदि से न अति दूर हो और न अति निकट निषीधिका विस्तीर्ण होना चाहिए, प्रासुक तथा अतिदृढ़ होना चाहिए। वह चीटियों से रहित होना चाहिए, छिद्रों से रहित होना चाहिए, प्रकाशयुक्त होना चाहिए। भूमि-समतल, जीव-जन्तुओं से रहित तथा शुष्क होना चाहिए।⁴⁶¹

संवेगरंगशाला में देह विसर्जित करने की दिशाओं का विचार करते हुए यह बताया गया है कि किस दिशा में देह-विसर्जन करने से क्या लाभ या हानि होती है। नैऋत्य, दक्षिण, पश्चिम, आग्नेय, वायव्य, पूर्व, उत्तर और ईशान- इस तरह इन आठ दिशाओं में प्रथम नैऋत्य-दिशा उत्तम होती है। जैसे - प्रथम, नैऋत्य-दिशा में देह विसर्जित करने से संघ को आहार-लाभ सुलभ होता है; दूसरी, दक्षिण-दिशा में आहार-पानी की प्राप्ति दुर्लभता से होती है, पश्चिम-दिशा में वस्त्र, पात्र, आदि उपकरण की प्राप्ति नहीं होती है। आग्नेय दिशा में स्वाध्याय, आदि का अभाव होता है। वायव्य-दिशा में परस्पर कलह पैदा होता है, पूर्व-दिशा में संघ में मतभेद बढ़ता है, उत्तर-दिशा में व्याधि उत्पन्न होती है एवं ईशान-दिशा में मृतक का परित्याग करने से दूसरे मुनि की मृत्यु होती है, अतः योग्य दिशा का विचार करके ही देह का विसर्जन करना चाहिए।⁴⁶²

संवेगरंगशाला में दक्षिण आदि दिशा के संदर्भ जो निरूपण किया गया है, वह भगवतीआराधना से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। उसके अनुसार निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशा में हो, तो सर्व संघ को समाधिलाभ होता है। यदि

⁴⁶¹ भगवतीआराधना गाथा, १६६२-१६६३.

⁴⁶² संवेगरंगशाला, गाथा ६८१२-६८१५.

दक्षिण-दिशा में हो, तो संघ को आहारलाभ सुलभ होता है। यदि पश्चिम-दिशा में हो, तो संघ का विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणों का लाभ होता है, किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशा में होने से “मैं ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो”- इत्यादिरूप संघर्ष होता है, पश्चिमोत्तर-दिशा में होने से कलह होता है। पूर्व-दिशा में होने से संघ में भेद पैदा होता है, उत्तर-दिशा में होने से व्याधि होती है, पूर्वोत्तर-दिशा में परस्पर खींचतान होती है। इस प्रकार उक्त दिशाओं में निषधा बनाने का फल बताया गया है।⁴⁶³

ग्रन्थकार का कहना है- यदि प्रथम दिशा में व्याघात अथवा विघ्न उत्पन्न होता हो, तो दूसरी दक्षिण-दिशा प्रथम दिशा के सदृश ही गुणकारी व हितकारी सिद्ध होती है, दूसरी दिशा में भी यदि विघ्न उत्पन्न होता हो, तो तीसरी पश्चिम-दिशा भी प्रथम दिशा के समान उत्तम मानी जाती है। इस तरह सर्व दिशाओं में महापरिष्ठापना के लिए शुद्ध भूमि की खोज करना चाहिए। जिस समय मुनि देह का त्याग करता है, उसी समय देह को वहाँ से ले जाना चाहिए, किन्तु जब क्षपक असमय मरण को प्राप्त करता है, तब गीतार्थ मुनि, अर्थात् जिन्होंने अनेक बार क्षपक के वैयावृत्य का कार्य किया हो, ऐसे महासत्त्वशाली एवं महापराक्रमी मुनि मृतक के हाथ, पैर या अंगूठे को बांधते तथा छेदते हैं तथा धीरे वृद्ध मुनि उस दिन जागरण करते हैं, क्योंकि इस विधि का परिपालन नहीं करने से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे- व्यन्तर, आदि मनोविनोदी देव कौतूहलवश मृतक के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तथा उसे उठाकर दौड़ सकते हैं; अथवा क्रीड़ा कर सकते हैं तथा अनेक विघ्नों को उत्पन्न कर सकते हैं, अतः ऐसे समय में धैर्यवान् मुनि को शास्त्र-विधि के अनुसार क्षुद्रदेवता, आदि को शान्त करना चाहिए। इस प्रकार श्रुत के मर्मज्ञ निर्यापक आचार्य तथा अन्य तपस्वी मुनि को इन सब बातों का अनुसरण करते हुए सावधानीपूर्वक शीघ्र ही क्षपक के देह की परिष्ठापना करना चाहिए।⁴⁶⁴

देहत्याग के नक्षत्र और उनके प्रतिफल

इसमें आगे नक्षत्रों की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं - यदि क्षपक महानक्षत्र में देहत्याग करता है, तो शेष मुनियों में से दो मुनियों की मृत्यु होती है, इसलिए संघ की रक्षा के अभिप्राय से तृणों के दो पुतले बनाना चाहिए। यदि मध्यम नक्षत्र अथवा समभोग वाले नक्षत्र में कालधर्म करता है, तो एक की मृत्यु

⁴⁶³ भगवतीआराधना, गाथा १६६५-१६६७.

⁴⁶⁴ सवैगरांशाला, गाथा ६८१६ - ६८१८

होती है, अतः तृणों (घास) से एक पुतला बनाना चाहिए तथा अर्द्धनक्षत्र, अर्थात् अल्पनक्षत्र में क्षपक का मरण होता है, तो सबका कल्याण होने से पुतला बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। साथ ही, नक्षत्रों का नामोल्लेख करते हुए उनके काल-मान बताए हैं- उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तरा-भाद्रपद, उत्तरा-आषाढ़ा, पुनर्वसु, रोहिणी एवं विशाखा- ये छः नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं, इन्हें उत्कृष्ट या डेढ़ भोगवाले नक्षत्र कहते हैं। शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा-ये छः जघन्य नक्षत्र कहलाते हैं, जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं, इनमें पुतला बनाकर रखने की आवश्यकता नहीं होती है। शेष सभी नक्षत्र मध्यम कोटि में गिने जाते हैं, जैसे-अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्व-फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, रेवती, धनिष्ठा और पूर्वभाद्रपद। इनमें से किसी एक नक्षत्र या उसके अंश में भी मरण होने पर एक अन्य मुनि की भी मृत्यु होती है, अतः एक पुतला बनाकर रखा जाता है।

इस तरह निर्यापकाचार्य को दिशाओं एवं नक्षत्रों को ध्यान में रखते हुए, उसी अनुसार मृतक के पास पूर्व में दी गई सूचनानुसार पुतले को स्थापित करके, उन्हें क्षपक के साथ बांध देना चाहिए, जिससे वह उठ न सके। मृत क्षपक का मस्तक गांव की ओर होना चाहिए। उस शिबिका को लेकर पहले देखे हुए मार्ग से शीघ्र जाते हैं। न मार्ग में रुकते हैं और न पीछे की ओर देखते हैं। इस प्रकार विधि करने का मतलब यही है कि कहीं मृतक के शरीर में यक्षादि प्रवेश न कर जाए तथा नाचते हुए पुनः गांव में जाकर कौतूहल न कर दे, इसलिए विधि का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। मृत शरीर के विसर्जन-स्थल पर पहुँचने के पहले उसके आगे एक गीतार्थ मुनि को हाथ में कुश (तृण) तथा जल लेकर वहाँ जाना चाहिए, उसको भी न मार्ग में रुकना चाहिए तथा न ही पीछे देखना चाहिए। पहले से देखे हुए नीषिधिका के स्थान पर जाकर उन तृणों को समतल बिछाकर एक संस्तर बनाना चाहिए। उसके पश्चात् मृतक के शरीर को उस पर रख देना चाहिए। संस्तरक ऊपर, मध्य और नीचे सम होना चाहिए। यदि शय्या मृतक के मस्तक के भाग में विषम हो, तो आचार्य का मरण अथवा उन्हें रोग होता है। मध्य में अर्थात् कटि- प्रदेश में शय्या ऊँची-नीची हो, तो वृषभसाधु (वृद्ध साधु) मृत्यु को प्राप्त होता है, या उन्हें व्याधि होती है तथा नीचे पैर के पास विषम होने पर अन्य साधुओं का मरण या उन्हें रोग उत्पन्न होता है।⁴⁶⁵

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने इसका भी संकेत किया है कि जहाँ पुतले बनाने हेतु तृण नहीं मिलते हों, तो वहाँ चूर्ण (चावलादि के चूर्ण) से तथा केसर

⁴⁶⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ६८१६-६८२४.

के पानी की अखण्ड धारा से स्थण्डिल भूमि में ऊपर मस्तक के भाग में 'क' एवं नीचे पैर के भाग में 'त' अक्षर लिखना चाहिए।⁴⁶⁶ भगवतीआराधना में जहाँ कुश नहीं मिलते हों, वहाँ चावलादि के चूर्ण से तथा प्रासुक केसर से संस्तर बनाने का उल्लेख मिलता है। इस गाथा में "लेहा" पाठ मिलता है, उसका अर्थ 'रेखा' होने से आशाधरजी ने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसर से मस्तक से पैर तक समान रेखा बनाना चाहिए।⁴⁶⁷ भगवतीआराधना में यह भी कहा गया है कि पुतला बनाने के लिए तृण, आदि उपलब्ध न हों, तो ईट, आदि के चूर्ण से अथवा क्षार, आदि से ऊपर "क" कार लिखकर उसके नीचे "त" कार लिखें। संवेगरंगशाला एवं आराधनापताका में इस सन्दर्भ में समान गाथा उपलब्ध होती है। ज्ञातव्य है ब्राह्मी-लिपि में "क" और "त" बनाने से मानव-आकृति बन जाती है।

आचार्य जिनचन्द्रसूरि लिखते हैं- यदि मृतक किसी समय उठकर भागे, तो उसे गांव की तरफ जाने से रोकना चाहिए। शव के उठने के भय से जिस दिशा में गांव हो, उस दिशा में उसका मस्तक रखा जाता है। मृतक उठकर पुनः वापस न आ जाए, इसलिए साधुओं के द्वारा मृतक की प्रदक्षिणा दी जाती है, साथ ही जिस दिशा में गांव हो, उसी ओर रजोहरण, चोलपट्टक, मुहपत्ति, आदि साधु के उपकरण मृतक के साथ रखना चाहिए, क्योंकि साधु के उपकरण नहीं रखने से दोष उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे- जो मुनि मृत्यु प्राप्त करके देवलोक में देव होता है, वह ज्ञान से अपने पूर्व शरीर (शव) को देखता है, तब मृत देह के पास मुनि-चिह्न के अभाव को देखकर वह स्वयं को मिथ्यात्वी मानकर मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। किसी व्यक्ति ने इसे मार डाला है, अथवा इसका वध कर दिया है- ऐसा मानकर राजा गांव के लोगों का वध, बन्धन, आदि कर सकता है। इसी तरह उपकरण स्थापित नहीं करने पर अन्य भी दोष उत्पन्न हो सकते हैं, इसका निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति आदि अनेक ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। मृतक को विसर्जित करके जो साधु जहाँ खड़ा हो, वहाँ से सीधे चलकर अपने स्थान में जाए, किन्तु मृतक की प्रदक्षिणा देते हुए न जाए, इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। वहाँ से कहीं ओर न जाकर उपाश्रय में आकर महापरिष्ठापना की विधि में कोई आशातना हुई हो, तो गुरु के पास आकर ही कायोत्सर्ग करना चाहिए, मृतक के पास खड़े रहकर कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिए।⁴⁶⁸

⁴⁶⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ६८२६-

⁴⁶⁷ जत्थ णं होज्ज तण्णई चुण्णेहं ति तत्थ केसरेहिंवा॥ संघरिदव्वा लेहा सब्बत्थ समा अमुच्छिण्णा॥

भगवतीआराधना, गाथा १६७८

⁴⁶⁸ जत्थ य नत्थि तण्णई चुण्णेहि ति तत्थ केसरेहिंवा॥ कायाव्बोऽत्थ ककरो हेहि तक्करं च बधिण्णा॥
आराधनापताका, गाथा ८७६

इस तरह संघ के आचार्य, अथवा रत्नाधिक प्रसिद्ध साधुओं, अथवा अन्य साधु के स्वजन या जाति-कुल वाले साधु का स्वर्गवास होने पर उस दिन अवश्यमेव उपवास करना चाहिए तथा स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। दूसरे संघ के मुनि अथवा कुष्ठ, आदि के रोगी मुनि का मरण होने पर उपवास नहीं करना चाहिए। अन्य स्थान पर ऐसा भी लिखा मिलता है कि दूसरे गण के साधु का मरण होने पर 'ण सज्जाए परगणत्थे,' अर्थात् स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, किन्तु उपवास कर भी सकते हैं और नहीं भी करते हैं।⁴⁶⁹

आगे क्षपक की गति अच्छी हुई या बुरी इसे जानने के लिए सूत्रार्थ में विशारद गीतार्थ स्थविर दूसरे दिन प्रातःकाल उस क्षपक के मृत शरीर को देखने जाते हैं। यदि मृतक के शरीर को किसी मांसाहारी पशु-पक्षी ने वृक्ष या पर्वत के शिखर पर डाल दिया हो, अथवा मृतक के अंग पर्वत के शिखर पर दिखाई देते हों, तो वह क्षपक मुक्ति को प्राप्त हुआ है- ऐसा जानना चाहिए। यदि मृतक का मस्तक, आदि अंग किसी ऊँची (उन्नत) भूमि पर पड़ा दिखाई दे, तो वह मरकर वैमानिक-देव बना है- ऐसा जानना चाहिए। यदि शव समभूमि में दिखाई दे, तो वह ज्योतिष-देव अथवा वाणव्यन्तर-देव हुआ- ऐसा जानना चाहिए तथा किसी खाई या गड्ढे में गिरा हुआ दिखाई दे, तो वह भवनवासी-देव हुआ- ऐसा जानना चाहिए।⁴⁷⁰

अन्त में आचार्य जिनचन्द्रसूरि मृतक के अखण्ड पड़े रहने से गाँव की स्थिति का निरूपण करते हुए कहते हैं - जितने दिनों तक वह मृत शरीर गीदड़, आदि से अस्पर्शित एवं सुरक्षित रहता है, उतने वर्षों तक उस राज्य में सुभिक्ष, यानी सुकाल व शान्ति रहती है। मांसाहारी श्वापद, आदि द्वारा मृत देह को जिस दिशा में ले जाया गया हो, उस दिशा में क्षेत्र-कुशल, सुकाल जानकर संघ को उस दिशा में विहार करना चाहिए। उस दिशा में विहार करने से संघ पर विघ्न उत्पन्न नहीं होते हैं तथा मुनिजन सुख-सातापूर्वक अन्य स्थान पर पहुँचते हैं।⁴⁷¹

आराधनापताका⁴⁷² एवं भगवतीआराधना⁴⁷³ के विजहणाद्वार में भी मृतक के देह-विसर्जन के सम्बन्ध में यही विधि समान रूप से उपलब्ध होती है।

⁴⁶⁹ सविगरंगशाला, गाथा ६८२६ - ६८२६.

⁴⁷⁰ सविगरंगशालाशाला, गाथा ६८३०-६८३१.

⁴⁷¹ सविगरंगशाला, गाथा ६८३२-६८३३.

⁴⁷² आराधनापताका, गाथा ८६५-८६३

⁴⁷³ भगवतीआराधना, गाथा १६६१-१६६४.

आवश्यकनिर्युक्ति से लेकर संवेगरंगशाला, अर्थात् बारहवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में क्षपक के मृत-देह के विसर्जन की विधि के उल्लेख को देखकर ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में मुनि के मृत-देह का दाह-संस्कार नहीं होता था, उसे जंगल में विसर्जित कर दिया जाता था।



अध्याय - ४

समाधिमरण की आराधना विधि

संवेगरंगशाला में आराधना के निम्न रूप से दो भेद किए गए हैं - प्रथम, सामान्य आराधना का स्वरूप एवं द्वितीय, विशेष आराधना का स्वरूप। उसमें विशेष आराधना का तात्पर्य समाधिमरण की साधना से है, अतः उसमें सर्वप्रथम सामान्य आराधना के विवेचन करने के पश्चात् विशेष आराधना का वर्णन किया गया है। पुनः, संवेगरंगशाला में विशेष आराधना को भी संक्षिप्त आराधना एवं अन्तिम आराधना- इस तरह दो भागों में विभक्त किया गया है।

संक्षिप्त विशेष आराधना (तात्कालिक समाधिमरण की साधना) का स्वरूप :-

संवेगरंगशाला में विशेष आराधना के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि साधक द्वारा की गई विशेष आराधना को ही संलेखना या समाधिमरण कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी संलेखना व्रत के विषय में कहा गया है - 'मरणान्तिकी संलेखनां जोषिता,' अर्थात् जीवन के अन्त में संलेखना धारण करना चाहिए। यहाँ संलेखना का सामान्य अर्थ है- जीवन के सन्ध्याकाल में सम्यक् प्रकार से आत्मालोचन करना। समाधिमरण की यह साधना भी दो प्रकार की है - संक्षिप्त आराधना और विस्तृत आराधना। संक्षिप्त आराधना तब की जाती है, जब अकस्मात् मारणान्तिक-संकट उपस्थित हो जाए। उस समय साधक के पास अधिक समय नहीं होता है।

संवेगरंगशाला में यह कहा गया है कि जब साधक को ऐसी अनुभूति हो कि मृत्यु अति सन्निकट आ गई है, तब उसे गुरु के समक्ष समाधिमरण स्वीकार करने की इच्छा प्रकट करना चाहिए। उस समय आचार्य भगवन्त को साधक के चित्त की स्थिति को परखते हुए विचारपूर्वक पूर्व पापों का प्रायश्चित्त कराकर फिर समाधिमरण ग्रहण कराना चाहिए। इसमें आगे जिनचन्द्रसूरि ने यह निरूपण किया

है कि सामान्यतया साधक को अपने पापों का प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष ही करना चाहिए, किन्तु गुरु की अनुपस्थिति में स्वयं ही आलोचना करना चाहिए।⁴⁷⁴

इसके पश्चात् हाथ जोड़कर पंचपरमेष्ठि को वन्दन-नमन करते हुए साधक को इस प्रकार कहना चाहिए - हे भगवन्तु! मैं आपसे विनम्रतापूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि जिस प्रकार पूर्व में मैंने मिथ्यात्व को त्याग करके सम्यक्त्व को ग्रहण किया था, उसी प्रकार अब पुनः मिथ्यात्व को त्रिविध-त्रिविध रूप से त्याग करके पुनः सम्यक्त्व को अंगीकार करता हूँ। साथ ही, परमात्मा के गुणों की स्तुति करते हुए यह कहे- अरिहन्त और सिद्ध ही मेरे देव हैं तथा आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ही मेरे गुरु हैं, ऐसा मैंने पूर्व में स्वीकार किया था और अब पुनः वही प्रतिज्ञा विशेष रूप से स्वीकार करता हूँ। इसी तरह व्रतों को भी मैं पुनः विशेष रूप से स्वीकार करता हूँ।⁴⁷⁵

संवेगरंगशाला में विशेष आराधना के अन्त में यह प्रतिपादित किया गया है कि सर्व जीवों से विशेष रूप से क्षमायाचना कर तथा सर्व पदार्थों एवं देह के प्रति राग-भाव का त्याग करते हुए साधक चतुर्विध आहार-त्याग का प्रत्याख्यान करे। इस तरह अन्त में साधक पंचपरमेष्ठि के स्मरणपूर्वक शुभध्यान में शरीर का त्याग करे। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में मधुराजा एवं सुकौशलमुनि का दृष्टान्त दृष्टव्य है।⁴⁷⁶

इसी सन्दर्भ में एक अन्य दृष्टान्त सुदर्शन श्रावक द्वारा लिए गए सागारी-संधारे का हो सकता है।

विस्तृत आराधना (दीर्घकालिक समाधिमरण की साधना) का स्वरूप:-

वृद्धावस्था या असाध्य बीमारी आदि की स्थिति में जब मृत्यु अवश्यम्भावी प्रतीत हो, किन्तु तत्काल उसकी सम्भावना नहीं हो, तो विस्तृत आराधना ग्रहण की जाती है। विस्तृत आराधना, अर्थात् दीर्घकालिक समाधिमरण की साधना में साधक क्रमशः शरीर और कषायों को कृश करते हुए दीर्घकाल के पश्चात् अन्त में आहार का त्याग करके देहत्याग करता है।

संवेगरंगशाला में विस्तृत आराधना का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रकार प्राचीनकाल में नगर विशाल एवं रमणीय हुआ करते

⁴⁷⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ६२४-६२५.

⁴⁷⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ६२६-६३५.

⁴⁷⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ६३६-६४१.

थे तथा उन नगरों में प्रवेश करने हेतु चारों ओर चार द्वार होते थे, उसी तरह आराधना का वर्णन भी विस्तृत एवं रमणीय है। साधक द्वारा आराधनारूपी नगर में प्रवेश हेतु चार मूल द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। वे चार द्वार निम्न रूप से वर्णित हैं - १. परिकर्मविधि द्वार २. परगणसंक्रमण-द्वार ३. ममत्व-उच्छेद-द्वार और ४. समाधिलाभ-द्वार^{४७७}

जिनचन्द्रसूरि ने चार मूल द्वारों का निरूपण करने के पश्चात् उनके पन्द्रह, दस, नौ और नौ - इस तरह तैंतालीस उपद्वारों का क्रमशः वर्णन किया है। आगे, इसमें प्रथम परिकर्मद्वार के अर्हताद्वार, लिंगद्वार, शिक्षाद्वार, आदि पन्द्रह उपद्वारों का विस्तृत विवेचन किया गया है एवं कहा गया है कि पुण्यरहित आत्मा की आराधना सफल नहीं होती है। जैसे- शास्त्रों में कहा गया है-ज्ञान का सार उत्तम चारित्र्य है, चारित्र्य का सार मोक्ष है एवं मोक्ष का सार अव्याबाध सुख है, वैसे ही प्रवचन का सार आराधना है। यदि साधक ने दीर्घकाल तक निरतिचारपूर्वक आराधना की हो, किन्तु अन्त में यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की विराधना हो गई हो, तो भी वह अनन्त संसारी होता है। यहाँ यह भी कहा गया है कि विराधक को उत्कृष्ट से अर्द्धपुद्गल- परावर्तनकाल के पश्चात् ही पुनः धर्म की प्राप्ति होती है, किन्तु जगत् में ऐसी भी कुछ महान् आत्माएँ होती हैं, जो अन्त समय में माया एवं विकल्पों से रहित होकर आराधना द्वारा सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेती हैं।^{४७८} इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में मरुदेवा-माता का दृष्टान्त वर्णित है।

परगणसंक्रमण-विधि :-

संवेगरंगशाला के अनुसार परगणसंक्रमण-विधि में सर्वप्रथम आचार्य अपने स्थान पर नूतन आचार्य की नियुक्ति करता है। फिर अपने गण (समुदाय) एवं नूतन आचार्य को बुलाकर उनसे संलेखना ग्रहण करने के लिए परगण में प्रवेश हेतु अनुमति मांगता है। जब गुरु के मुख से परगणसंक्रमण की बात सुनते हैं, तब शिष्यगण अत्यन्त आर्द्र हृदय एवं गद्गद् स्वर से गुरु से कहते हैं- हे भगवन्! यह आप क्या कह रहे हो? क्या हममें ऐसी बुद्धि अथवा गीतार्थता नहीं है? क्या हम आपके चरणों की सेवा के योग्य भी नहीं हैं? क्या हम संलेखना विधि कराने में अकुशल हैं? हे भगवन्! क्या आपश्री का हमें छोड़ देना उचित है? आज भी यह गच्छ आपश्री से शोभायमान हो रहा है। कालचक्र गिरने के समान ऐसे वचन बोलने से क्या लाभ?^{४७९}

४७७ संवेगरंगशाला, गाथा ७१०-७१६

४७८ संवेगरंगशाला, गाथा ७१७-७२२.

४७९ संवेगरंगशाला, गाथा ४५६०-४६०२.

अपने शिष्यों के ऐसे वचन सुनकर आचार्य अपनी मधुर वाणी से इस प्रकार कहते हैं - हे महानुभावों! तुम्हारे द्वारा ऐसा बोलना अथवा चिन्तन करना भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिशाली व्यक्ति होगा, जो उचित कार्य करने में बाधकरूप होगा? अथवा क्या शास्त्रों में इसकी अनुमति नहीं दी गई है? अथवा पूर्व में किसी ने भी इसका आचरण नहीं किया है और फिर इस क्षणिक जीवन को क्या तुम नहीं देख रहे हो; जिससे तुम सब अमर्यादित एवं अति असद् आग्रह के अधीन बनकर ऐसा बोल रहे हो?⁴⁸⁰

गुरु एवं आचार्य की वाणी को श्रवण कर शिष्यादि पुनः उनसे इस तरह विनती करते हैं- हे भगवन्! यदि ऐसा ही है, तो अन्य गच्छ में जाने से क्या प्रयोजन? यहाँ आप अपने गच्छ में ही इच्छित प्रयोजन की सिद्धि करें; क्योंकि यहाँ भी प्रस्तुत कार्य में समर्थ, भारवहन करने वाले ऐसे गीतार्थ, उत्साही, निर्भयी, संवेगी, क्षमावान्, विनयवान्, आदि गुणों से युक्त अनेक साधु हैं।

इस तरह शिष्यों के कथन पर पुनः-पुनः विचार करके, हित-अहित एवं लाभ-हानि का चिन्तन करते हुए आचार्य को स्वर्गण अथवा परगण में संक्रमण करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में स्वर्गण में संलेखना ग्रहण करने पर आचार्य को किन-किन दोषों के लगने की सम्भावना हो सकती है, उनका निर्देश किया गया है, जैसे - १. आज्ञादोष २. कठोरवचन ३. कलहकरण ४. परिताप ५. स्वच्छन्दता ६. स्नेह-राग ७. करुणा ८. ध्यान में विघ्न, आदि असमाधि की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।⁴⁸¹

इस बात को और स्पष्ट करते हुए इसमें बताते हैं कि जब आचार्य अपने ही गच्छ में अनशन स्वीकार किए हुए हो और स्थविर, छोटे मुनि, नूतन दीक्षित मुनि, आदि आचार्य की आज्ञा का अनादर करते हों, तो इससे उन्हें असमाधि हो सकती है। साधुओं को असंयम में प्रवृत्ति करते देखकर कभी आचार्य कठोर वचन कह भी दे, किन्तु मुनिजनों में सहनशीलता न होने से वे उनसे कलह करते हों, तो इससे सन्ताप-दोष लगता है। इसी तरह कभी-कभी आचार्य को शिष्यादि के प्रति ममत्व-दोष से भी असमाधि उत्पन्न हो सकती है।⁴⁸²

⁴⁸⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ४६०३-४६०७.

⁴⁸¹ संवेगरंगशाला, गाथा ४६०८-४६०७.

⁴⁸² संवेगरंगशाला, गाथा ४६१४-४६१७.

इसमें ही आगे यह भी कहा गया है कि अपने गच्छ के साधुओं को रोगादि से पीड़ित देखकर भी आचार्य को दुःख या स्नेह, आदि के कारण असमाधि हो सकती है; गच्छ में विश्वासपात्र होने से दुःसह तृषा एवं क्षुधा में आचार्य निर्भय होकर अकल्पनीय वस्तु की याचना भी कर सकता है। आत्यन्तिक वियोग, अर्थात् मरण के समय बालमुनियों अथवा साध्वियों को रोते देखकर, अथवा करुण स्वर से बोलते हुए सुनकर उनके प्रति स्नेह, आदि से आचार्य को ध्यान में विघ्न उत्पन्न हो सकता है, साथ ही शिष्य-वर्ग आहार-पानी अथवा सेवा शुश्रूषा में यदि प्रमाद करता हो, तो भी साधक को साधना में असमाधि होने की सम्भावना होती है। इस तरह अपने गण में रहकर अनशन स्वीकार करनेवाले को एवं नूतन आचार्य को अप्रशमभाव से ये दोष लगते हैं। इन्हीं दोषों से बचने के लिए तथा आराधना की निर्विघ्न सिद्धि हेतु ही आचार्य परगण में संक्रमण करता है।⁴⁸³

साथ ही, इसमें अन्त में परगण के मुनियों के उच्चभावों (विचारों) का वर्णन करते हुए कहा गया है- परगण के मुनियों को यह चिन्तन करना चाहिए कि परगण के साधु विद्वान् और भक्तिभाववाले हैं, फिर भी अपने गच्छ को छोड़कर ये महात्मा मुनि (आचार्य) हमारी आशा लेकर यहाँ पधारे हैं। ऐसा विचार करके परम आदरपूर्वक अपनी शक्ति को छिपाए बिना भक्ति-भाव से उनकी सेवा में दृढ़तापूर्वक वर्तन करना चाहिए एवं गीतार्थ, चारित्रवान् आचार्य को भी अपने समुदाय की आज्ञा लेकर आगन्तुक का सर्वथा आदरपूर्वक निर्यामक बनना चाहिए। इस तरह संविज्ञ, पापभीरु एवं जिनवचन के सार को प्राप्त करनेवाले आचार्य की निश्चा में रहते हुए आगन्तुक (आचार्य) अवश्य आराधक बनते हैं।⁴⁸⁴

निर्यापक आचार्य की खोज :-

संवेगरंगशाला में गणसंक्रमण हेतु वह क्षपक किन गुणों से युक्त आचार्य का आश्रय लेता है- यह बताया गया है। जिस तरह नगर से प्रस्थान करने से पूर्व व्यक्ति सार्थवाह (साथी) की खोज करता है, उसी तरह परगणसंक्रमण करने से पूर्व क्षपक-निर्यापक आचार्य की खोज करता है। वह क्षपक क्षेत्र की अपेक्षा से छः सौ या सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक निर्यापक की खोज करता है।

⁴⁸³ संवेगरंगशाला, गाथा ४६१८-४६२३.

⁴⁸⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ४६२४-४६२७.

निर्यापक आचार्य (सुस्थित) :- चारित्र से श्रेष्ठ, शरणागतवत्सल, स्थिर, सौम्य, गम्भीर, महासात्विक, आदि-ये सामान्य गुण आचार्य में सहज (स्वभाव) ही होते हैं। इनके अतिरिक्त भी क्षपक-१. आचारवान् २. आधारवान् ३. व्यवहारवान् ४. लज्जा दूर करने वाला-ओवीलग ५. शुद्धि करने वाला-प्रकुर्वी, ६. निर्वाह करनेवाला-निर्यामक ७. अपाय-दर्शक और ८. अपरिश्रावी - इन आठ विशेष गुणों से युक्त आचार्य की खोज करता है।

१. आचारवान् :- उक्त गुणों में से सर्वप्रथम आचारत्व गुण की व्याख्या करते हैं- जो निरतिचारपूर्वक पंचाचार का पालन करता है तथा दूसरों को भी पांच प्रकार के आचार के निरतिचार पालन में लगाता है और शास्त्रानुसार आचार का उपदेश देता है, वह आचारवान् कहा जाता है। इसमें दूसरे प्रकार से भी आचारत्व को बताया गया है। जो आचार्य दस प्रकार के कल्पों का पालन करता है तथा पांच समिति और तीन गुप्तियों से युक्त होता है, वह आचारवान् है।⁴⁸⁵

भगवतीआराधना⁴⁸⁶ में भी आचार्य के विशेष गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् निर्यापक-आचार्य के आचारवान् होने पर क्षपक को क्या लाभ होता है, यह बतलाया गया है। जो आचार्य पंचाचार में तत्पर रहता है और जिसकी सब प्रवृत्तियाँ सम्पक् होती हैं, वह क्षपक से भी पाँच प्रकार के आचारों के पालन में उद्योग करता है।

जो आचार्य आचारवान् नहीं होता, उसका आश्रय लेने में निम्न दोष होते हैं-

ज्ञानाचार, आदि से थोड़ा-सा भी च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषों से दूषित अशुद्ध वसति, उपकरण, संस्तर और भक्तपान की व्यवस्था करेगा तथा ऐसे परिचायक मुनियों को नियुक्त करेगा, जिन्हें यह भय नहीं है कि इस प्रकार का असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और उससे हमारा संसार बढ़ेगा, जो अनेक आपत्तियों का मूल है; किन्तु आचारवान् आचार्य इन दोषों से रहित होता है, इसलिए जो दोषों से दूर रहता है और गुणों में प्रवृत्ति करता है- ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्यापक होता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार आचारत्व गुण का कथन किया है।

⁴⁸⁵ सविमर्गशाला, गाथा ४६३०-४६३८.

⁴⁸⁶ भगवती आराधना, ३१८-३८०.

२. आधारवान् :- संवेगरंगशाला में आगे निर्यापक के आधारवान् गुण का कथन है - जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्व धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर के समान गम्भीर हो, कल्प, व्यवहार, आदि प्रायश्चित्त शास्त्रों का ज्ञाता हो, वह ज्ञानी आधारवान् होता है। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का आधारवाला होने से आधारवान् कहा जाता है। ज्ञान आधार है और जो ज्ञानवान् है, वह आधारवान् है। जो ज्ञानवान् नहीं है, उसका आश्रय लेने में दोष सम्भव है। जिसने सूत्र के अर्थ को ग्रहण नहीं किया है, ऐसा आचार्य उस क्षपक के चतुरंगों को नष्ट कर देता है। इस जन्म में चतुरंगों (मनुष्यत्व, धर्म-श्रद्धा, श्रद्धा और संयम में उद्यमशीलता) के नष्ट होने पर पुनः इनकी प्राप्ति सुलभ नहीं है, क्योंकि इनके नष्ट होने पर वह मिथ्यात्व से ग्रसित होकर कुयोनि में चला जाता है।

इस संसाररूपी समुद्र में भयंकर दुःखरूप जल भरा है। इसमें भ्रमण करते हुए जीव बड़े कष्ट से मनुष्य-भव को प्राप्त करता है। उसमें भी देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्म का सुनना, उसे ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम की साधना करना-ये सब अति दुर्लभ हैं। इस प्रकार परम्परारूप से दुर्लभ संयम को पाकर क्षपक अल्पज्ञ आचार्य के पास से वैराग्यपरक देशना नहीं प्राप्त करता है।

चिरकाल तक असंयम के त्यागपूर्वक संयम को धारण करके आधारत्व-गुण से रहित आचार्य के पास मृत्यु के समय सम्यक् उपदेश प्राप्त नहीं करने से क्षपक संयम से गिर जाता है या पतित हो जाता है, क्योंकि यह जीव आहारमय है, अब्र ही इसका प्राण है। आहार के न मिलने पर आर्त्त और रौद्रध्यान से पीड़ित होकर संयम-तपस्वी उपवन में रमण नहीं कर पाता है, किन्तु ज्ञानी आचार्य के द्वारा जिनाज्ञारूप अमृतपान कराने से एवं हित-शिक्षारूप भोजन कराने से क्षुधा-तृषा से पीड़ित होने पर भी ध्यान में एकाग्र बन जाता है।

यह दुःसह क्षुधा-तृषा से पीड़ित उस क्षपक को अमीतार्थ (आचार्य) समाधि का उपदेश नहीं करता है, तो वह अल्पज्ञ क्षपक भूख-प्यास से पीड़ित हो, शुभभाव को छोड़ देता है, खदन करता है, याचना करता है, दीनता प्रकट करता है, अथवा चिल्लाने लगता है तथा यह धर्म पीड़ादायक है-ऐसे निन्दायुक्त चित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तथा असमाधिपूर्वक भरण को प्राप्त होता है। यदि उसके रोने-चिल्लाने पर प्रतिकार करे, तो भाग भी सकता है, इससे धर्म एवं संघ पर दूषण लगता है। इस प्रकार अल्पज्ञ आचार्य योग्य उपाय को न जानता हुआ क्षपक का जीवन नष्ट कर देता है।

ऐसी परिस्थिति में गीतार्थ आचार्य क्या करता है, इसे कहते हैं-गीतार्थ आचार्य विधिपूर्वक क्षपक की इच्छा की पूर्ति करके, जो वह चाहता है, वह देकर समाधि करता है, अर्थात् रत्नत्रय में उसका मन स्थिर करता है। गीतार्थ, क्षपक के निराश चित्त को सम्यक् उपायों से जैसे- शान्तिदायक वचन, उपकरणदान एवं पूर्व में हुए क्षपकों के दृष्टान्त, आदि से विधिपूर्वक शान्त करता है। शास्त्र के अर्थ को हृदयंगम करनेवाले आचार्य क्षपक की वेदना को नष्ट करने में समर्थ एवं वात, पित्त एवं कफ का प्रकोप होने पर उनका भी प्रतिकार करने में भी समर्थ होते हैं, जिससे क्षपक पुनः प्रशमगुण को प्राप्त होता है तथा देह के प्राप्ते ममत्वभाव को छोड़कर हर्ष-शोक से रहित बनता है एवं पुनः धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान से मोह को नष्ट करके निर्वाण-सुख को प्राप्त करता है।

इस तरह आधारवान् गीतार्थ की निश्चा में ली हुई समाधि सफल बनती है, अतः संक्लेश न हो एवं असाधारण (श्रेष्ठ) समाधि प्रकट हो, इसलिए आधारभूत आचार्य की निश्चा ग्रहण करना चाहिए।⁴⁸⁷

३. व्यवहारवान् :- संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि आगे व्यवहारवान् गुण का निरूपण करते हैं - जिसे पांच प्रकार के व्यवहार का ज्ञान हो, अर्थात् जो प्रायश्चित्त देने में अनुभवी हो, वह आचार्य व्यवहारवान् होता है। प्रायश्चित्त-शास्त्र का ज्ञान, प्रायश्चित्त कर्म का विवेक तथा प्रायश्चित्त देने का अनुभव - ये तीन गुण जिसमें हैं, उस आचार्य को व्यवहारवान् कहते हैं-१. आज्ञा २. श्रुत ३. आगम ४. धारणा और ५. जीत - यह पाँच प्रकार का व्यवहार है। इनकी विस्तृत प्ररूपणा प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध है।

व्यवहारवान् आचार्य दूसरों के दोषों का प्रायश्चित्त कैसे देता है? इसका वर्णन करते हैं-आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रव्रज्याकाल, आगमज्ञान और व्यक्ति की परिस्थिति को जानकर प्रायश्चित्त देता है। पुनः, प्रायश्चित्त देने में कुशल, जिनाज्ञारूप आगमों में दक्ष, वह आचार्य राग-द्वेष रहित, अर्थात् माध्यस्थ्यभाव से विवेकपूर्वक प्रायश्चित्त देता है।

जो आचार्य प्रायश्चित्तशास्त्र को जाने बिना प्रायश्चित्त देता है, तो वह संसाररूपी कीचड़ में फँसता है एवं अशुभकर्मों का बन्ध करता है। जैसे- अकुशल वैद्य व्याधि की चिकित्सा नहीं कर पाता है, वैसे ही व्यवहार को नहीं जाननेवाला आचार्य रत्नत्रय की विशुद्धि के इच्छुक क्षपक को शुद्ध नहीं कर पाता है, इसलिए क्षपक को आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के ज्ञाता व्यवहारवान् आचार्य के पादमूल

में स्थिरता करना चाहिए। उनके चरणों में रहने से निश्चय से दोष-शुद्धि होकर समाधि सम्यक् होती है।⁴⁸⁸

४. प्रभावशाली (अवपीड़क) :- प्रस्तुत कृति में अवपीड़क का अर्थ बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं- जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी-प्रतापवान्, वर्चस्वी-प्रशनों के उत्तर देने में कुशल, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और सिंह के समान निर्भय होते हैं, उन्हें जिनेश्वर भगवान् ने अवपीड़क आचार्य कहा है। स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनों के द्वारा एकान्त में समझाने पर भी कोई क्षपक अपने दोषों को सम्यक् रूप से नहीं कहता है, तो जैसे-सिंह सियार के पेट में गए मांस को भी उगलवाता है, वैसे ही अवपीड़क-आचार्य उस अनुत्साही क्षपक के अन्तर में छिपे हुए मायाशक्त्य के दोषों को बाहर निकलवाता है। कटु औषध की तरह उसके कठोर वचन भी उस क्षपक के लिए हितकारी होते हैं, क्योंकि स्वहित में तत्पर किन्तु परहित की उपेक्षा करनेवाले जीव जगत् में बहुत सुलभ हैं, किन्तु स्वहित की तरह परहित की चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोक में दुर्लभ हैं। यदि आचार्य क्षपक के दोषों को न निकाले, तो दोषों से निवृत्त हुए बिना वह निरतिचार रत्नत्रय की साधना में प्रवृत्त नहीं होता है, इसीलिए अवपीड़क आचार्य को क्षपक के सर्व दोष उगलवाना चाहिए, क्योंकि इसी में क्षपक का हित है।⁴⁸⁹

५. प्रकुर्वी :- प्रकुर्वी गुण का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- जो आचार्य क्षपक के वसति से निकलने अथवा उसमें प्रवेश करने में, वसति (शय्या), संस्तर, उपकरण, आदि शोधन में, आहार लाने में, बैठने में, खड़ा होने में, सोने में, शरीर से मल दूर करने में तथा इसी प्रकार पण्डितमरण सम्बन्धी चर्या में पूर्ण आदर एवं उत्कृष्ट भक्ति से हस्तावलम्बन द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वे ही आचार्य प्रकुर्वक होते हैं।

इस प्रकार अपने श्रम की परवाह न करके जो आचार्य क्षपक की सर्व प्रकार से सेवा करते हैं, वे प्रकुर्वक कहे जाते हैं, इसीलिए रोग से ग्रस्त क्षपक आचार्य के सेवा-गुण से प्रसन्नता (सुख) प्राप्त करता है, अतः क्षपक को सेवा करनेवाले आचार्य के पास ठहरना चाहिए।⁴⁹⁰

६. निर्यापक अथवा निर्वाहक :- संवेगरंगशाला के अनुसार निर्यापक आचार्य के बिना क्षपक संस्तर और भोजनपान मन के अनुकूल न होने पर, अथवा उनमें देरी होने पर, वैयावृत्य में प्रमाद करने पर या नए साधुओं के

⁴⁸⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ४६५७-४६६३.

⁴⁸⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ४६६४-४६७१.

⁴⁹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ४६७२-४६७५.

कठोर एवं प्रतिकूल वचनों से कुपित हो सकता है, अथवा मर्यादा का उल्लंघन कर सकता है।

जब क्षपक शीत, उष्ण, भूख, प्यास से पीड़ित होने पर मर्यादा को तोड़ने की इच्छा करता है, तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील मुनि एवं अभिमानरहित आचार्य को सन्तोषयुक्त वचन कहते हुए, उस कुपित अथवा मर्यादा को लांघने के इच्छुक क्षपक के चित्त को शान्त करना चाहिए।

इत ग्रन्थ में आगे आचार्य किस प्रकार क्षपक का चित्त शान्त करते हैं, वह बताते हैं- जो आचार्य श्रुत-पुरुष के समान श्रुतों का ज्ञाता, विविध योग से श्रुत का निरूपण करनेवाला, रत्नत्रय के अतिचारों का ज्ञाता एवं जितेन्द्रिय महात्मा होता है, वही निर्यापक-आचार्य स्निग्ध, मधुर, गम्भीर एवं प्रियवचनों से प्रीतिकर कथा कहता है, जिससे क्षपक को पहले अभ्यास किए हुए श्रुत के अर्थ का स्मरण होता है।

इस तरह निर्यापक आचार्य संयम और गुणों से पूर्ण, किन्तु परिषदरूप लहरों से चंचल हुए क्षपकरूपी जहाज का मधुर एवं हितकारी उपदेशों से संरक्षण करता है। यदि वह आत्म-हितकर ऐसी मधुरवाणी क्षपक के कानों में न सुनाए, तो मोक्ष-सुख को लानेवाली आराधना को क्षपक छोड़ बैठता है, अतः निर्यापक गुण से युक्त आचार्य क्षपक का उपकारी होता है और उसकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है।⁴⁹¹

७. अपायदर्शी :- अपायदर्शी गुण का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं - यद्यपि क्षपक संसार-समुद्र के किनारे पहुँच जाता है, फिर भी उसे तीव्र राग-द्वेष की भावना उत्पन्न हो सकती है। आराधना के अन्तिम क्षणों में कर्मवश क्षुधा-तृषा वेदना से क्षपक को दुर्ध्यान हो सकता है। पूर्व में क्षपक प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेने के दिन से समाधि धारण करने के दिन तक रत्नत्रय में जो दोष लगेंगे, उन सबको वह गुरु के समक्ष निवेदन करेगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध-निवेदन का समय आता है, तब क्षपक उस अपराध को कहने में लज्जा का अनुभव करता है।

वह क्षपक डरता है कि उसके अपराध को जानकर वे सब उसकी अवज्ञा करेंगे। उसकी इच्छा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की होती है। वह चाहता है कि सब उसका मान करें, किन्तु अपराध ज्ञात होने पर वे सब उसका मान नहीं

करेंगे, अपराधी जानकर वे उसे त्याग देंगे- इससे भी वह डरता है, अतः अपने अपराध और शरीर को त्यागने के लिए तत्पर होता हुआ भी वह गुरु से अपने दोषों को नहीं कह पाता है।

उस समय आचार्य को यह बतलाना चाहिए कि जो अपने दोषों की आलोचना नहीं करता है, अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचारपूर्वक आलोचना करता है, अथवा अपना अपराध नहीं कहता, उसे दोष लगता है। आचार्य इसे दृष्टान्त द्वारा बताते हैं- जैसे शरीर में लगे बाण, कांटा, आदि शल्य को निकालने पर मनुष्य कष्ट से पीड़ित होता है, उसी प्रकार भावशल्य से युक्त भिक्षु भी तीव्र दुःखों से पीड़ित होता है और भय से विचलित होता है। वह विचार करता है कि शल्य को दूर नहीं करने पर वह किस गति में जाएगा?

इस तरह लज्जा, भय और गर्व से प्रतिबद्ध क्षपक के भावशल्य को यदि दूर न किया जाए, तो वह उसके व्रत, शील और गुणों को नष्ट करता है। दीर्घकाल तक दीक्षा धारण करके जो बोधिलाभ प्राप्त किया था, वह नष्ट हो जाता है और जन्ममरणरूपी भंवरो से युक्त भयंकर भवसमुद्र में अनन्तकाल तक भ्रमण करता है एवं भयंकर दुःखों को भोगता है, इसलिए संसार से भयभीत श्रमण को प्रमादवश एक मुहूर्तमात्र के लिए भी शल्यसहित रत्नत्रय के साथ रहना उचित नहीं है। अतः, उक्त गुणवाले आचार्य के सान्निध्य में उसे अपने दोषों (शल्य) को निकाल देना चाहिए।

जन्म-जरा-मरण के दुःख से भयभीत क्षपक को भय एवं लज्जा को छोड़ आर्जव (सरलता) और मार्दव (विनम्रता) से युक्त होना चाहिए। धीर क्षपक पुनर्जन्मरूपी लता के मूल भावशल्य को उखाड़कर अनन्त भवसागर से तिर जाते हैं।

संवेगरंगशाला में उक्त कथन का उपसंहार करते हुए जिनचन्द्रसूरि कहते हैं- यदि आचार्य क्षपक को आलोचना, अर्थात् अपराध को कहते हुए गुण व दोष न बतलाए, तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोष से निवृत्त नहीं होगा और निःशल्य-गुण से युक्त नहीं होगा, अतः आचार्य को क्षपक के भावशल्य को मधुर वचन से दूर करना चाहिए।

८. अपरिश्रावी :- संवेगरंगशाला में अन्त में अपरिश्रावी-गुण का उल्लेख किया गया है। जैसे- लोहे के पात्र में रखा हुआ जल बाहर नहीं निकलता है, वैसे ही जिस आचार्य के समक्ष कहे गए दोष अन्य मुनियों पर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपरिश्रावी-गुण से युक्त होता है। किसी क्षपक के सम्यग्दर्शन

में अतिचार लगा हो, तो वह क्षपक विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्य से कहता है और यदि आचार्य उन अपराधों को दूसरों को कह देता है, तो उस आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया, क्योंकि उसने यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर यह लज्जित होकर दुःखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को छोड़ देगा। ऐसा करके उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं, उससे मिथ्यात्व की आराधना का दोष भी होता है।

उस आचार्य ने आत्मत्याग कैसे किया, उसे कहते हैं - रहस्य-भेद करने पर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्य को मार सकता है, अथवा गण में भेद डाल सकता है, अथवा विरोधी हो सकता है।

जो आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे शिष्यों के द्वारा प्रकट किए दोषों को दूसरों से नहीं कहता, वह रहस्य को गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिश्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते हैं।⁴⁹²

निर्यापक-आचार्य द्वारा स्वगण के साधुओं की सम्मति प्राप्त करना (प्रतीच्छा):-

संवेगरंगशाला में वर्णित उपर्युक्त विधि के अनुसार निर्यापक आचार्य आए हुए क्षपक को आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं। यदि एक साथ दो क्षपक आराधना के लिए आ जाते हों, तो एक संस्तारक (संधारा) में रहकर आराधना द्वारा शरीर का त्याग करता है एवं दूसरा उग्र तप के द्वारा काय और कषायों को कृश करता है। साथ ही, यदि तीसरा क्षपक भी आ जाता है, तो निर्यापक उसको स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि वैयावृत्यकारकों के अभाव में समाधि सम्यक् रूप से पूर्ण नहीं होती है, किन्तु अधिक परिचारकों के होने पर उनकी अनुमति से उस तीसरे क्षपक को भी स्वीकार कर लेते हैं।

इस तरह निर्यापक शास्त्र-विहित विधि के अनुसार क्षपक की सेवा शुश्रूषा करते हैं। यदि कभी क्षपक अनशन (तप) करने में असमर्थ हो एवं उसे अत्यधिक शिथिलता का अनुभव होता हो, तो निर्यापक आचार्य उस क्षपक का स्थानान्तरण करते हैं एवं दूसरे क्षपक को बाहर रखकर दोनों के बीच (मध्य) परदा रखते हैं। साथ ही उस क्षपक के स्वजनादि वन्दनार्थ पथारें, तो मात्र क्षपक के दर्शन कराते हैं एवं उसके बदले बाहर रहे क्षपक की वन्दना करवाते हैं,

⁴⁹² संवेगरंगशाला, गाथा ४७०६-४७१४

अन्यथा क्षपक की शिथिलता को देखकर जिन शासन की निन्दा, आदि का दोष उत्पन्न होने का भय रहता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक निर्यापक आचार्य की देख-रेख में एक साथ दो मुनि सल्लेखना कर सकते हैं, तीसरे मुनि की अनुज्ञा नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर (संधारा) पर आ जाएँ, तो चित्त को समाधान देनेवाली विनय-वैयावृत्य में कमी आती है, इसलिए आचार्य एक या दो ही क्षपक को स्वीकार करते हैं।⁴⁹³

क्षपक का परगणप्रवेश (उपसम्पदा) :-

सवेगरंगशाला में साधना में सुस्थित व्यक्ति के गुणों का विवेचन करने के पश्चात् उपसम्पदा का निरूपण किया गया है- रत्नत्रयी के गुणों से युक्त क्षपक आचारत्व आदि गुणों से युक्त निर्यापक-आचार्य को खोजकर उनसे उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) स्वीकार करता है। सर्वप्रथम क्षपक निर्यापक-आचार्य की विधिपूर्वक वन्दना करता है, फिर वह मुमुक्षु क्षपक विनयपूर्वक दोनों हाथों को जोड़कर अंजलि बनाकर आचार्य से इस तरह कहता है-हे भगवन्! आप द्वादशांग श्रुत सागर के पारगामी हो, जिनशासनरूपी प्रासाद के आधार स्तम्भ हो, संघ के निर्यापक हो, संसाररूपी वन में भ्रमण करते थके हुए प्राणियों के लिए समाधि का स्थान हो एवं इस संसार में आप ही गति हो, मति हो, हम अशरणों के शरण हो, हम अनाथों के नाथ हो। हे भगवन्! मैं अपने करने योग्य कर्तव्यों को पूर्ण करके अब आपश्री के चरणों में रहकर अपने श्रामण्य-जीवन की विशुद्धि करने हेतु आया हूँ।

दीक्षा ग्रहण करने से लेकर आज पर्यन्त मैंने जो भी दोष किए हैं, उन सर्व अपराधों की सम्यक् रूप से आलोचना करके अपने रत्नत्रय को विशुद्ध करना चाहता हूँ, और अब तक जो चारित्र्य का पालन किया, उसकी विशुद्धि करके निःशल्क आराधना करने की इच्छा करता हूँ।⁴⁹⁴

निर्यापक-आचार्य उत्तम चारित्रवाले क्षपक के उक्त वचनों को श्रवणकर इस प्रकार कहते हैं- हे भद्र! मैं तुम्हारे मनोवांछित कार्य को निर्विघ्नतापूर्वक शीघ्र सिद्ध करूँगा। हे सुविहित! तुम धन्य हो, पुण्यशाली हो, जो तुम चार गतियों में परिभ्रमणरूप संसार में जो दुःख हैं, उन दुःखों को नष्ट करने हेतु निष्पाप आराधना करने के लिए उत्साही बने हो। आराधना से ही कर्मों का विनाश होता

⁴⁹³ सवेगरंगशाला, गाथा ४८५४-४८६६.

⁴⁹⁴ सवेगरंगशाला, गाथा ४७९५-४७९७.

है एवं कर्मों का विनाश होने से ही दुःख से छुटकारा होता है। हे सुभग! तुम विश्वस्त होकर अपने चित्त को व्याकुल किए बिना यहाँ रहो। हम क्षण भर वैयावृत्यकारकों (सेवा करनेवालों) के साथ इस विषय पर निर्णय (विचार) करते हैं।⁴⁹⁵

प्रस्तुत कृति में ग्रन्थकार पृच्छा का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं- निश्चा में आए क्षपक की इच्छा को जानकर निर्यापक-आचार्य परिचर्या करनेवाले मुनिजनों से पूछते हैं कि यह क्षपक रत्नत्रय की साधना में हमारी सहायता चाहता है, अर्थात् हमारी निश्चा में विशुद्ध आराधना करने की इच्छा रखता है, अतः कहिए, हम लोग इस पर अनुग्रह करें या न करें? इसके साथ ही आचार्य कहते हैं कि यदि इस क्षेत्र में तपस्वी के लिए समाधिजनक अन्न, जल, आदि वस्तुएँ सुलभ हो एवं तुम सब इनका विनय-वैयावृत्य स्वीकार करते हो, तो हम इस महानुभाव तपस्वी को स्वीकार करें।

इसके पश्चात् परिचायक आचार्य के वचनों को बहुमान् देते हुए वे कहते हैं-हे भगवन्! तपस्वी के साधना हेतु यह क्षेत्र अनुकूल है। यहाँ आहार-पानी की सुलभता है एवं हम भी क्षपक के रत्नत्रय की साधना में सहायता करने के लिए तैयार हैं, अतः आप इस पर अनुग्रह करें। शिष्यों द्वारा ऐसा कहने पर आचार्य तपस्वी क्षपक को गण में स्वीकार करते हैं एवं क्षपक की साधना को निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण कराते हैं।

इस तरह पृच्छा से परस्पर असमाधि उत्पन्न नहीं होती है तथा यह निर्यापक-आचार्य, आराधक एवं सेवा करनेवाले मुनिजनों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।⁴⁹⁶

निर्यापक-आचार्य द्वारा क्षपक को हितशिक्षा (अनुशास्ति) :-

संवेगरंगशाला के चतुर्थ समाधिलाभ द्वार के प्रथम अनुशास्ति प्रतिद्वार में निर्यापक-आचार्य क्षपकमुनि को उपदेश देते हुए कहते हैं। हे देवानुप्रिय! तुम धन्य हो। तुमने सर्वश्रेष्ठ मनुष्य जीवन को प्राप्त किया तथा गृहस्थाश्रम को तृणवत् त्यागकर भगवती-दीक्षा को स्वीकार किया। उसके पश्चात् भी अतिदुष्कर इस अनशन को स्वीकार करके इस तरह अप्रमत्त चित्त से साधना के लिए तत्पर बने हो, अतः तुम्हारी साधना निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण हो, इस दृष्टि से मैं तुम्हें किंचित शिक्षा देना चाहता हूँ। इन शिक्षाओं को जीवन में उतारने से साधक-आत्मा

⁴⁹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ४८५४-४८६६.

⁴⁹⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ४८४४-४८५३.

मोक्षरूपी फल को प्राप्त करती है। इस प्रकार अनुशास्तिद्वार के पाँच प्रतिद्वारों में त्याग करने योग्य एवं तेरह प्रतिद्वारों में आचरण करने योग्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वे इस प्रकार हैं ⁴⁹⁷ :-

(अ) त्याग करने योग्य विषय :- १. अट्टारह पापस्थानक २. आठ मद स्थान ३. क्रोधादि चार कषाय ४. प्रमाद और ५. विघ्नों का त्याग-ये पाँच निषेध-द्वार हैं।

(ब) आचरण करने योग्य शिक्षाएँ :- १. सम्यक्त्व में स्थिरता २. अरिहंत, आदि की भक्ति ३. पंचपरमेष्ठि-नमस्कार में तत्परता ४. सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि ५. पाँच महाव्रतों की रक्षा ६. क्षपक के द्वारा चार शरण का स्वीकार ७. दुष्कृतों की गद्दी करना ८. सुकृत की अनुमोदना करना ९. बारह भावना से युक्त होना १०. शील का पालन करना ११. इन्द्रियों का दमन करना १२. तप में उद्यमशीलता और १३. निःशल्पता।

अठारह पापों का स्वरूप और क्षपक द्वारा उनका त्याग :- जो अशुभ कर्म आत्मा को मलिन करते हैं, वे पाप कहलाते हैं तथा जिन अशुभ कर्मों से आत्मा मलिन होती है, उन्हें पापस्थान कहते हैं। ये पापस्थान अठारह हैं। वे इस प्रकार हैं:-⁴⁹⁸

१. प्राणीवध २. अलीक-वचन (असत्य) ३. अदत्तग्रहण ४. मैथुनसेवन ५. परिग्रह ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. प्रेम (राग) ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्याख्यान १४. अरति -रति १५. पैशुन्य १६. पर-परिवाद १७. माया-मृषावचन और १८. मिथ्यादर्शन-शल्प्य।

१. प्राणीवध :- श्वासोश्वास आदि दस प्राणों का वध करना, वियोग करना, छेदन आदि करना प्राणीवध कहलाता है। प्राणीवध को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया है। प्राणीवध अत्यन्त दुर्गम दुर्गतिरूपी पर्वत की गुफा का बड़ा प्रवेश-द्वार है, संसाररूपी भट्टी में तपे हुए अनेक प्राणियों को लोहे के हथौड़े से मारने के लिए एरण है, क्षमा, आदि गुणरूप धान्य को पीसने के लिए मजबूत चक्की है तथा नरकरूपी तालाब में अथवा गुफा में उतरने के लिए सरल सीढ़ी है। इस तरह जीव हिंसा करनेवाला उसी जन्म में वध, बन्धन, निर्धनता को प्राप्त

⁴⁹⁷ संविगरंगशाला, गाथा ५५६३-५५७४.

⁴⁹⁸ संविगरंगशाला, गाथा ५५७८-५५८०.

करता है। जीवदया के बिना संयमग्रहण, देवपूजा, ध्यान, तप, विनय, आदि सर्व अनुष्ठान भी निरर्थक होते हैं।⁴⁹⁹

साथ ही कहा गया है, मोहत्या, ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्या की निवृत्ति से यदि परमधर्म होता है, तो सर्वजीवों की रक्षा करने से उससे भी उत्कृष्ट धर्म कैसे नहीं होगा? संसारचक्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए जीव ने सर्व जीवों के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध किए हैं, अतः जीव-हिंसा करनेवाला हिंसक व्यक्ति अपने ही स्वजन एवं सम्बन्धियों की हिंसा करता है। जो एक जीव की हिंसा करता है, वह करोड़ों जन्म तक अनेक बार अनेक प्रकार से मरण को प्राप्त होता है। जीव की हिंसा करनेवाला सर्वप्रथम स्वयं का वध करता है, फिर दूसरों का, इसलिए वध, बन्धन से बचने के लिए आत्मार्थी जीव को सर्वथा हिंसा का त्याग करना चाहिए।⁵⁰⁰

प्रस्तुत कृति में ग्रन्थकार कहते हैं- सर्व प्राणियों के प्रति वैसा ही भाव रखें, जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो। कहा है कि जैसे स्वयं को छोटा-सा कांटा भी लगता है, तो तीव्र वेदना होती है, वैसे ही अन्य जीवों पर भी शस्त्र, आदि से प्रहार करने से उन्हें भयंकर वेदना होती है।⁵⁰¹ जो कार्य स्वयं के लिए अनिष्टकारी है, वह कार्य दूसरों के लिए भी करने योग्य नहीं है। जो जैसा कर्म करता है, वह मृत्यु के बाद वैसा ही फल प्राप्त करता है। जगत् के सभी जीवों को अपने प्राण सर्वाधिक प्रिय होते हैं, इसलिए सभी जीवों के प्रति करुणा, वात्सल्य एवं दया-भाव रखना चाहिए।

साथ ही कहा गया है, जो व्यक्ति जीव की हिंसा करता है, वह पाप के भार से भारी होकर नरक में गिरता है एवं जो जीवों पर दया, करुणा करता है, वह देवलोक के सुख को प्राप्त करता है। दया-गुण के प्रभाव से जीव जगत् के जीवों को सुख देनेवाला होता है, इससे वह दीर्घ-आयुष्य, निरोगी-काया, सुरुप, सौभाग्य, विपुल सम्पत्ति, अतुलबल आदि गुणों को प्राप्त करता है। इस प्रकार पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध करता है तथा जैन-धर्म को प्राप्त कर, विधिपूर्वक समाधिमरण की आराधना द्वारा जीवदया के पारमार्थिक-फल को प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ में हिंसा, अहिंसा के सन्दर्भ में सास, बहू और पुत्री का दृष्टान्त उपलब्ध है।⁵⁰²

⁴⁹⁹ सवेरगेशाला, गाथा ५५८७-५५८८.

⁵⁰⁰ सवेरगेशाला, गाथा ५५८०-५५८५.

⁵⁰¹ सवेरगेशाला, गाथा ५५८६.

⁵⁰² सवेरगेशाला, गाथा ५६०५-५६२५.

२. मृषावाद :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार मृषावाद के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं- मृषावचन अविश्वासरूप वृक्षों के समूह का अति भयंकर कंद है। मनुष्यों के विश्वासरूप पर्वत के शिखर पर वज्राग्नि का गिरना है, निन्दारूपी वेश्या को आभूषण का दान है, सद्भावरूपी अग्नि में जल का छिड़काव है और अपयशरूपी कुलटा को मिलने का सांकेतिक-घर है, दोनों जन्म में उत्पन्न होने वाले आपत्तिरूप कमलों को विकसित करनेवाला शरद-ऋतु का चन्द्र है। यह विशुद्ध धर्मरूपी धान्य-सम्पत्तियों को नष्ट करने में दुष्ट वायु है एवं सज्जनतारूपी वन को जलाने में तीव्र दावानल के समान है, इसलिए साधक को इसका त्याग करना चाहिए।⁵⁰³

जैसे विषमिश्रित भोजन तथा जरायुक्त- यौवन दोनों ही शरीर के लिए परम घातक सिद्ध होते हैं, वैसे ही असत्य भाषण को भी धर्म का विनाशक एवं घात करनेवाला जानना चाहिए। एक बार भी कहा गया असत्य, अनेक बार कहे गए सत्य का नाश कर देता है और इससे वह अविश्वास का पात्र बनता है। जो रिश्वत लेकर झूठी साक्षी देता है, वह स्वयं की आत्मा का घात करके महाभयंकर नरक में गिरता है तथा सदाचार, कुल, लज्जा, मर्यादा, यश, जाति, न्याय, शास्त्र और धर्म का त्याग करता है एवं इन्द्रिय-रहित, जड़, मूक (गूंगा), बेस्वर, दुर्गन्ध मुखवाला एवं निन्दा का पात्र बनता है।

मृषावचन स्वर्ग एवं मोक्ष के दरवाजे को बन्द करनेवाली जंजीर है तथा दुर्गति का सरल मार्ग है, इसलिए साधक आत्मा को झूठ नहीं बोलना चाहिए। असत्य वचन जो अहितकारी, पीड़ाकारी एवं दुःखजनक हों, तो हास्य में भी कभी नहीं कहना चाहिए, किन्तु जो वचन कीर्तिकारी, नरक के द्वार को बन्द करने में जंजीर के समान, सुख एवं पुण्य का निधानरूप, गुणों का दीपकरूप, मधुर, स्व-पर-पीड़ानाशक, प्रकृति से सौम्य-शीतल, निष्पाप आदि गुणों से युक्त हों, उसी वचन को सत्य जानकर साधक को हित-मित-प्रिय वचन कहना चाहिए। इस प्रकार सत्य वचन कहनेवाला मनुष्य सुखी रहता है, समाधि प्राप्त करता है, प्रमोद-गुण से युक्त प्रीतिपरायण, प्रशंसनीय एवं शुभ प्रकृति आदि से परिजनों का प्रिय बनता है। इस तरह सत्य की हमेशा जीत होती है। सत्य में तप है, सत्य में संयम है और सत्य में ही सर्व गुण रहे हुए हैं, इसलिए हे क्षपक! सत्य एवं असत्य के गुण-दोष को जानकर असत्यवचन का त्याग कर एवं सत्यवचन का उच्चारण कर। इस प्रसंग में वसुराजा और नारद की कथा कही गई है।⁵⁰⁴

⁵⁰³ संवेगरंगशाला, गाथा ५६८०-५६८४.

⁵⁰⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ५६६७-५७२०.

३. अदत्तादान :- संवेगरंगशाला के अनुसार जैसे कीचड़ जल को मलिन करता है, मैल दर्पण को मलिन करता है और धुँआ दीवार के चित्रों को मलिन करता है, वैसे ही परधन लेने का भाव भी चित्तरूपी रत्न को मलिन करता है। इसमें परधन के प्रति आसक्ति रखनेवाले जीव की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है- जिस प्रकार मृग को संगीत में आसक्ति, पतंग को दीपक में आसक्ति, मत्स्य को लोहे के कांटे पर स्थित मांस पर आसक्ति, भ्रमर को कमल पर आसक्ति एवं हाथी की हथिनी पर आसक्ति होने से वे अपने ही प्राणों का नाश करते हैं, उसी प्रकार जो परधन (अदत्त) पर आसक्ति करता है, वह मनुष्य उसी भव (जन्म) में हाथ, पैर, कान, आदि अंगों में छेदन-भेदन को प्राप्त होता है और इस तरह वह तीव्र वेदना से दुःखी होता है।⁵⁰⁵

साथ ही इसमें कहा गया है-अन्य अपराध करनेवाले अपराधी को तो एक बार स्वजन अपने घर में रहने को स्थान दे देते हैं, किन्तु परधन की चोरी करने से स्वयं की माता भी घर में रहने का स्थान नहीं देती है। यदि उसे किसी तरह किसी के घर में आश्रय मिलता भी है, तो वह उसे बिना कारण ही अपयश, दुःख एवं महासंकट में फंसा देता है। संसार में प्राणी अत्यन्त कठिनाई से धन का संग्रह करता है एवं उसकी प्राणों से भी अधिक रक्षा करता है। ऐसे प्राणों से भी प्रिय उस धन की चोरी का जो पाप करता है, तो उससे अधिक बड़ा पाप और क्या होगा? उसके धन की चोरी करनेवाला पापी जीव दूसरों को जीते जी मार डालता है। इस तरह अदत्तादान (चोरी) करनेवाला जीव प्राणी का वध करता है, झूठ भी बोलता है, इससे वह अनेक प्रकार के संकटों एवं मृत्यु को प्राप्त करता है।

इस प्रकार चोरी के पाप से जीव जन्मान्तर में दरिद्रता, भीरुता एवं माता, पिता, पुत्र, स्त्री, आदि के वियोग, इत्यादि दोषों को प्राप्त करता है। जो परधन आसक्ति का त्याग करता है, उसकी दुर्गति टलती है और वह देवसुख को प्राप्त करता है, फिर वहाँ से उत्तम कुल में जन्म लेकर तथा शुद्ध धर्म को प्राप्त कर आत्महित में प्रवृत्ति करता है।⁵⁰⁶

४. मैथुन :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार चतुर्थ पापस्थानक का विस्तार से विवेचन करते हुए कहता है- कामी पुरुष स्त्री के सौन्दर्य का विचार करते हुए स्त्री को ही सर्वस्व मानता हुआ कहता है कि जिसका चिन्तन-स्मरण भी शत

⁵⁰⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ५७५३-५७५७.

⁵⁰⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५७६०-५७८१.

मूल्यवाला है, दर्शन सहस्र मूल्यवाला है, वार्तालाप कोटि मूल्यवाला है, तो अंग का सम्भोग तो अमूल्य होगा ही। ऐसा विचार करते हुए उसकी विवेक-चेतना नष्ट हो जाती है, वह दिन-रात, भूख-प्यास, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, योग्य-अयोग्य, आदि किसी भी वस्तु का ख्याल नहीं रखता है। मुख छिपाकर लम्बे निःश्वास लेता है, पश्चात्ताप करता है, कम्पायमान होता है, विलाप करता है, रोता है, सोता है और जम्हाई (उबासी) लेता है। इस तरह अनन्त चिन्ता की परम्परा से खेद करते हुए कामी-पुरुष के विकारों को देखकर मैथुन का, द्रव्य से देव, मनुष्य और तिर्यच के सम्बन्ध में, क्षेत्र से उर्ध्व, अधो एवं तिर्यक्-लोक में, काल से दिन अथवा रात्रि में, और भाव से राग एवं द्वेषपूर्वक त्याग करना चाहिए। मैथुन-दोष को महापाप एवं सर्व कष्टों का कारण जानकर मन से भी कभी इसकी इच्छा नहीं करना चाहिए। मैथुन भय से वाचा को व्याकुल करने वाला है, निर्लज्ज है और निन्दनीय है, इसी कारण वह गुप्त रूप से सेवन करने योग्य है, इस प्रकार मैथुन विविध प्रकार की व्याधियों का कारण और अपथ्य भोजन के समान शक्ति को घटानेवाला, प्रारम्भ में सुख एवं अन्त में दुःख देनेवाला, किंवा फल के समान है। तुच्छ नृत्यकार के नृत्य के समान एवं गंधर्व नगर के समान भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है एवं तीनों लोक में तिरस्कार को प्राप्त करनेवाले श्वान, आदि अधम प्राणियों के समान है।⁵⁰⁷

इस प्रकार मैथुन सेवन से परलोक में धर्म-अर्थ का अभाव होता है। जैसे- पानी में लोहे का गोला डालने से सीधे नीचे जाता है, वैसे ही मैथुन-पाप के भार से भारी बना मनुष्य नरक में जाता है। आगे ब्रह्मचर्य के गुणों का निरूपण किया गया है- जो अखण्ड ब्रह्मचर्य का फलन करता है, वह पुण्यशाली जीव इच्छामात्र से प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला होता है और देवत्व को प्राप्त करता है। वहाँ से च्यवनकर मनुष्यलोक में विशिष्ट कुल, जाति, सुन्दर शरीर, अटूट समृद्धि, आदि को प्राप्त करता है। साथ ही, वह सौभाग्यशाली, दीर्घायुषी, विवेकी, तेजस्वी, ब्रह्मचारी, मधुरभाषी तथा निरोगी होता है एवं अन्य अनेक गुणों को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार चौथे पापस्थानक में प्रवृत्ति के दोष एवं निवृत्ति के गुण के विषय में तीन सखियों की कथा का निरूपण किया गया है।⁵⁰⁸

५. परिग्रह :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने परिग्रह को सभी पापस्थानकों के महलों की मजबूत बुनियाद एवं संसाररूपी गहरे कुएँ के अनेक स्रोतों का प्रवाह कहा है। परिग्रह, पण्डितों के द्वारा भी अनेक कुविकल्परूपी अंकुरों को उगानेवाला वसन्तोत्सव है, एकाग्रचित्तरूपी बावड़ी को सुखाने वाली

⁵⁰⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ५७०८-५७३१,

⁵⁰⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ५७३२-५८४१.

ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी के सदृश है, ज्ञानादि निर्मल गुणरूपी राजहंसों के समूह के लिए विघ्नभूत वर्षा-ऋतु है, महा-आरम्भरूपी अत्यधिक अनाज उत्पन्न करने के लिए शरद-ऋतु का आगमन है, साथ ही यह परिग्रह विशिष्ट सुखरूप कमलिनी के वन को जलाने वाली हेमन्त-ऋतु है, विशुद्ध धर्मरूपी वृक्ष के पत्तों का नाश करने वाली शिशिर-ऋतु है, मूर्च्छारूपी लता का अखण्ड मण्डप है, दुःखरूपी वृक्षों का वन है, सन्तोषरूपी शरद-ऋतु के चन्द्र को क्षीण करनेवाला राहू का मुख है, अत्यन्त अविश्वास का पात्र है एवं कषायों का घर है। ऐसे परिग्रह की इच्छा करना भी महापाप है, क्योंकि इच्छा को किसी भी तरह से पूर्ण नहीं किया जा सकता है। जैसे संसार में जीव सौ से हजार की इच्छा करता है, हजार से लाख की, लाख से करोड़ की, करोड़ से राज्य सुख की, राज्यसुख से देव के सुख की और फिर इन्द्र के सुख की इच्छा करता है, इस तरह इन्द्र की ऋद्धि मिलने पर भी जीव को सन्तोष नहीं होता है। चूँकि इच्छा तो आकाश के समान अनन्त होती है, इसलिए वह अपूर्ण ही रहती है।⁵⁰⁹

इसमें कहा गया है कि इच्छा को अधिक बढ़ाना सद्गति को लात मारकर दुर्गति का पथिक बनना है। अल्प पुण्यवाला जीव यदि परिग्रह बढ़ाने की इच्छा करता है, तो वह अपने हाथ से आकाश-तल को पकड़ने की इच्छा करता है, अर्थात् वह मूढात्मा धन की इच्छा से अघूरे मनोरथ से ही मृत्यु को प्राप्त करता है। चूँकि धन-सम्पत्ति आत्मा को कभी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं कर सकती है, इसलिए इच्छा के विच्छेद के लिए सन्तोष को धारण करना ही सर्वोत्तम मार्ग है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में लोभानन्दी और जिनदास श्रावक की कथा का उल्लेख है।⁵¹⁰

६. क्रोध :- संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने क्रोध की व्याख्या इस प्रकार की है- क्रोध दुर्गन्धयुक्त वस्तु से उत्पन्न हुई दुर्गन्ध ही है। इस दुर्गन्धमय क्रोध से उद्वेग उत्पन्न होता है, इसलिए महापुरुषों ने इसका दूर से ही त्याग किया है। क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से ग्रसित अविवेकी पुरुष स्व और पर को पहचान नहीं पाता है। जैसे- अग्नि जहाँ उत्पन्न होती है, उसे ही पहले जलाती है, उसी तरह क्रोधाग्नि भी जिसमें उत्पन्न होती है, उस पुरुष को ही पहले जलाती है। क्रोध दूसरों को जलाए अथवा नहीं जलाए- यह नियम नहीं है, किन्तु स्वयं को अवश्य जलाता है। क्रोधी पुरुष इहलोक-परलोक के सुखों को नष्ट करता है। दुश्मन एक ही जन्म में अहित करता है, किन्तु क्रोध दोनों जन्मों में अहित करनेवाला होता

⁵⁰⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ५८६५-५८७७.

⁵¹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ५८७८-५८८७.

है। क्रोध से बुद्धि का नाश होता है और इसमें वह सर्व पापस्थानकों का सेवन करता है, इसलिए हे मुनि! तू क्षमास्वरूपी तीक्ष्ण तलवार से महापापी मल्लरूपी क्रोध को चतुराई से समाप्त करके उपशमरूपी विजयलक्ष्मी को प्राप्त कर। क्रोध दुःखों का मूल है, इसलिए उसका उपशम करना ही श्रेष्ठ उपाय है। इस प्रसंग पर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा दी गई है।⁵¹¹

७. मान :- संवेगरंगशाला में मान को लघुता का मूल कहा है तथा यह भी कहा गया है कि मान से यश, कीर्ति एवं प्रिय बन्धुजनों का विनाश होता है। अभिमानी पुरुष में विनय नहीं होता है, इसलिए विनय से रहित व्यक्ति में ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती एवं ज्ञान के बिना चारित्र्य की प्राप्ति नहीं होती, चारित्र्य के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती एवं निर्जरा के अभाव में मोक्ष नहीं होता है। इस तरह मोक्ष के अभाव में शाश्वत सुख कैसे प्राप्त कर सकता है? मानी पुरुष स्वयं को त्यागी, गुणी एवं ज्ञानी मानता है एवं अन्य गुणवान्, त्यागी महापुरुषों का अपमान करता है। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि स्व-पर के घातक एवं उभयलोक में दुःख देनेवाले इस मान का विवेकी पुरुष सर्वथा त्याग कर देते हैं, इसलिए हे क्षपक! यदि तू निर्दोष आराधना की इच्छा करता है, तो सर्वप्रथम मान का त्याग कर, क्योंकि प्रतिपक्ष का क्षय करने से पक्ष की सिद्धि होती है। जैसे- बुखार के जाने से शरीर में स्वस्थता प्रकट होती है, वैसे ही मान के जाने ही आत्मा का क्षमा-गुण प्रकट होता है। इस सन्दर्भ में बाहुबली का दृष्टान्त दृष्टव्य है।⁵¹²

८. माया :- संवेगरंगशाला में कहा गया है कि माया से उद्वेग एवं पाप उत्पन्न होता है एवं धर्म का नाश होता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य एवं तप में की गई प्रवृत्ति यदि मायासहित हो, तो वे गुण भी नष्ट हो जाते हैं। माया से मनुष्य आकड़ों की रस्सी से भी तुच्छ होता है, अविश्वास का पात्र बनता है, इसलिए हे सुविहित! माया गुणों को नष्ट करनेवाली है एवं दोषों को बढ़ानेवाली है- ऐसा विचार कर तुझे भी उसका त्याग करना चाहिए। माया के परित्याग से सरलता-गुण प्रकट होता है। क्योंकि सज्जन पुरुष की सर्वत्र प्रशंसा होती है, इसलिए गुणीजनों को माया का त्याग करने का प्रयत्न करना ही योग्य है। इस ग्रन्थ में माया-पापस्थानक पर पण्डरा आर्या का दृष्टान्त दिया गया है।⁵¹³

९. लोभ :- संवेगरंगशाला के अनुसार लोभ बादल की तरह प्रकट होता है और बादल की ही तरह हर समय वृद्धि करता रहता है। लोभ के बढ़ने

⁵¹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ५६०६-५६२३.

⁵¹² संवेगरंगशाला, गाथा ५६४६-५६७१.

⁵¹³ संवेगरंगशाला, गाथा ५६६६-६००५

से मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार से रहित हो जाता है, तथा मृत्यु भी उसके लिए नगण्य हो जाती है। लोभ के वशीभूत मनुष्य पर्वत की गुफा में एवं समुद्र की गहराई में भी प्रवेश कर लेता है, युद्धभूमि में भयंकर युद्ध करता है, अपने एवं स्वजनों के प्राण- त्याग का कारण बनता है। इस प्रकार इच्छित धन की प्राप्ति होने पर भी लोभी जीव की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती है, बल्कि वह तृष्णा आकाश को छूने दौड़ती है। लोभ अखण्ड व्याधिरूप है, सर्व-विनाशक है, परिवार में भेदभाव करानेवाला है, सर्व-आपत्तियों को उत्पन्न करनेवाला है तथा दुर्गति में ले जानेवाला राजमार्ग है, इसलिए ऐसे लोभ का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए, क्योंकि “सन्तोषी सदा सुखी”,— कहा गया है। जो सन्तोष धारण करता है, वही सच्चे सुख को प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में कपिल ब्राह्मण की कथा उपलब्ध है।⁵¹⁴

१०. राग :- इसमें ग्रन्थकार राग (प्रेम) का अर्थ बताते हुए कहते हैं— राग (प्रेम) पुरुष के शरीर में बिना अग्नि की भयंकर जलन है। यह बिना विष की मूर्च्छा है, शक्ति, आदि के होने पर भी व्यक्ति का निर्बल होना, आँखें होने पर भी अन्धा होना एवं कान होने पर भी बहरा होना है, परवश एवं व्याकुलता होना है। इस प्रकार ज्वर एवं राग में अल्प भी लक्षण-भेद नहीं है। जिस प्रकार ज्वर होने पर शरीर में परितप, कम्पन, दुर्बलता, निद्रा का अभाव, अप्रसन्नता, आदि दोष उत्पन्न होते हैं, वैसे ही राग में भी शरीर में ये दोष उत्पन्न होते हैं। राग के कारण कुलीन मनुष्य भी अकार्य करता है। पण्डित पुरुषों ने जिसे अशुचिमय, दुर्गन्धमय एवं वीभत्स जानकर त्याग दिया है, उसी के साथ यह मूढ़ात्मा राग करता है। दुःख की बात तो यह है कि फिर वह किसमें राग नहीं करता होगा? वह धन, धान्य, सोना, चाँदी, क्षेत्र, वस्तु, आदि सभी में राग करता है और उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए विदेश-गमन करता हुआ दुःख को प्राप्त करता है एवं उनके दुर्ध्यान से वह इहलोक एवं परलोक में दुःखी होता है। इस प्रकार राग (आसक्ति) ही संसार का मूल कारण होने से साधक को राग का त्याग करना चाहिए।⁵¹⁵

११. द्वेष :- अति क्रोध एवं मान से उत्पन्न हुए अशुभ आत्म-परिणाम को यहाँ द्वेष कहा है, क्योंकि इससे परस्पर मनुष्यों में द्वेष उत्पन्न होता है। द्वेष अनर्थ का घर है, भय है, कलह है, दुःख एवं अन्याय का भण्डार है, अशान्ति एवं द्रोह उत्पन्न करने वाला है, सर्व गुण-विनाशक है। द्वेषी व्यक्ति सदैव दूसरों के

⁵¹⁴ सविमर्गशाला, गाथा ६०२३-६०३२

⁵¹⁵ सविमर्गशाला, गाथा, ६०६६-६१२०

द्वारा कहे गए धर्मोपदेश को भी दोषयुक्त मानता है। द्वेषी व्यक्ति द्वेषरूपी दावानल के योग से बार-बार जलता है एवं समतारूपी वर्षा के जल से पुनः नया संजीवन प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ में धर्मरुचि अणगार के उदाहरण से यह समझाया गया है कि द्वेष से चारित्र्य अशुद्ध होता है एवं संवेग से चारित्र्य शुद्ध होता है।⁵¹⁶

92. कलह :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने कलह की परिभाषा में कहा है कि क्रोधाविष्ट मनुष्य के वाग्युद्धरूप वचन ही कलह है। यह शारीरिक एवं मानसिक-सुखों का शत्रु है। कलह मन को क्लृप्ति करनेवाला है, वैर-परम्परा को बढ़ाने वाला है, धन का विनाश कर दरिद्रता प्रदान करनेवाला है एवं अविवेक का फल है। कलह से जीव अनेक भवों में अति दुःसह दुर्भाग्य को प्राप्त करता है एवं धर्म का नाश करते हुए पाप का विस्तार करता है। व्याकरणों में इसे इस प्रकार कहा है- “कलं हनन्ति इति कलहः”, अर्थात् जो सौन्दर्य, आरोग्य, सन्तोष एवं बुद्धि का नाश करे, वह कलह है। यह शरीर में उत्पन्न हुए फोड़े के समान दुःख प्रकट करनेवाला है, इसलिए हे धीर! कलह को त्याग कर, शुभ से राग कर एवं परस्पर कलह न हो, वैसा कार्य कर। इस सन्दर्भ में यहाँ हरिषेण की कथा वर्णित है।⁵¹⁷

93. अभ्याख्यान :- दोष के अभाव में भी दोष का आरोपण करना ही अभ्याख्यान है। अभ्याख्यान स्व, पर एवं उभय के मन में द्वेष पैदा करता है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि अभ्याख्यान के परिणामवाला पुरुष कौन-कौन से पापों का बन्ध नहीं करता है, अर्थात् वह पुरुष पूर्व में कहे गए सभी दोषों का बन्ध करता है। यद्यपि अभ्याख्यान देने का पाप अति अल्प हो, तो भी एक बार भी दिया हुआ जघन्य से दस गुना फल देनेवाला होता है एवं तीव्र-तीव्रतर प्रद्वेष करने से तो सौ गुना, हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना आदि विपाक देनेवाला होता है। इसलिए सर्वसुखों का नाश करने में शत्रु के समान एवं सर्व दुःखों का कारणभूत इस अभ्याख्यान के पाप को जानकर इसका त्याग करना चाहिए। इस सन्दर्भ में रुद्र और अंगारि की कथा का निरूपण किया गया है।⁵¹⁸

94. अरति-रति :- संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार कहते हैं-अरति एवं रति-दोनों ही पाप स्थानक हैं, जिस प्रकार इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने पर अरति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर रति होती है और उसका नाश होने पर रति अरति में बदल जाती है। इस प्रकार इनके

⁵¹⁶ संवेगरंगशाला, गाथा, ६१११-६१२०.

⁵¹⁷ संवेगरंगशाला, गाथा, ६१२५-६१३०.

⁵¹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६२४३-६२५२.

आधीन बना जीव आलसी, व्याकुल एवं गृध्र बनता है, इहलोक एवं परलोक के कार्य करने में प्रमादी बनता है। ऐसे जीव को किसी भी कार्य में उत्साहित करने पर भी वह उत्साही नहीं बनता है। इस तरह संसार भावना का चिन्तन करते हुए जीव को असंयम में अरति एवं संयम में रति पैदा करना चाहिए। इस प्रसंग में क्षुल्लक कुमार की कथा वर्णित है।⁵¹⁹

१५. पैशुन्य :- गुप्त बात को प्रकाशित करना अर्थात् किसी की सत्य या असत्य बात की चुगली करना पैशुन्य कहलाता है। चुगली करनेवाले को इस लोक में 'यह चुगलखोर है'—ऐसा कहा जाता है। मित्रता तब तक ही टिकती है, जब तक बीच में चुगलखोर नहीं आता है अर्थात् चुगलखोर चुगली करके मित्रता का सम्बन्ध खत्म कर देता है। चुगलखोररूपी भयंकर कुत्ता रुके बिना लोगों के पीठ पीछे भौंकता हुआ हमेशा कान को खाता है, अर्थात् दूसरे के कान को भरता है। चुगलखोर व्यक्ति सज्जनों के संयोग से भी गुणवान् नहीं होता है।

सविगर्गशाला में कहा गया है कि इस जन्म में मात्र एक पैशुन्य दोष हो, तो अन्य दोष-समूह से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि यह अकेला ही उभयलोक को निष्फल करने में समर्थ है। पैशुन्य-दोष से जीव माया, असत्य, दुर्जनता, निर्धनता आदि अनेक दोषों का भी सेवन करता है। दूसरे के मस्तक का छेदन करना एक बार हितकर होगा, किन्तु दूसरों की चुगली करना जीव के लिए हितकर नहीं है, क्योंकि मस्तक-छेदन से एक भव में ही दुःख सहन करना पड़ता है, किन्तु पैशुन्य-दोष से अनेक भवों में दुःख सहना पड़ता है, इसलिए आत्मार्थी को पैशुन्य-दोष का त्याग करना चाहिए। इस सन्दर्भ में इस ग्रन्थ में सुबन्धु और चाणक्य की कथा वर्णित है।⁵²⁰

१६. पर-परिवाद :- ईर्ष्यावश अन्य के दोषों को लोगों के समक्ष प्रकट करना ही पर-परिवाद कहलाता है। मत्सर (ईर्ष्या) के कारण मनुष्य दूसरों के द्वारा किए गए उपकार, स्नेह, सज्जनता, सत्कर्म, आदि की अवमानना करता है और हमेशा दूसरा कैसे चलता है? कैसा व्यवहार करता है? क्या विचार करता है? क्या कहता है, अथवा क्या करता है? इस तरह दूसरे के छिद्र देखता रहता है। मनुष्य जैसे-जैसे पर-परिवाद करता है, वैसे-वैसे नीचता को प्राप्त करता है, तिरस्कार का पात्र बनता है, गुणों का नाश करता है। इस तरह पर परिवाद अनर्थ एवं अमंगल

⁵¹⁹ सविगर्गशाला, गाथा ६२७०-६२८५.

⁵²⁰ सविगर्गशाला, गाथा ६३२७-६३४०.

का कारण है। जिनेश्वर भगवान् ने तंदुलवयालिय ग्रन्थ में कहा है - जो सदा पर-निन्दा करता है;

आठ मर्दों में अति प्रसन्न होता है, अन्य की लक्ष्मी को देखकर ईर्ष्या करता है, वह सकषायी हमेशा दुःखी होता है। कुल, गण एवं संघ से बाहर किए गए ऐसे साधु को देवलोक में देवों की सभाओं में बैठने का स्थान नहीं मिलता है। संयम में उद्यमशील साधु को भी १. आत्म-प्रशंसा २. परनिन्दा ३. जीभ की लोलुपता ४. जननेन्द्रिय-लोलुपता और ५. कषाय-ये पांचों संयम से भ्रष्ट करते हैं, इसी कारण से मोक्षाभिलाषियों को पर-परिवाददोष का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इस प्रसंग पर ग्रन्थ में सुभद्रा की कथा निर्देशित की गई है।⁵²¹

१७. माया-मृषावाद :- संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि माया-मृषावाद की परिभाषा को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं-अत्यन्त क्लेश के परिणाम से उत्पन्न हुए वचन को माया कहते हैं एवं कुटिलता से युक्त मृषावचन को माया-मृषावाद या माया-दोष कहते हैं। यद्यपि दूसरे एवं आठवें पापस्थानक में मृषा एवं माया दोष का वर्णन किया गया है, फिर भी मनुष्य दूसरों को ठगने में चतुर, वाणी द्वारा पाप में प्रवृत्ति करता है, इस कारण इस पापस्थान को अलग से कहा गया है। माया मृषावचन बोलने से मनुष्य अपकीर्ति को प्राप्त करता है, विनय का नाश करता है, इसलिए बुद्धिशाली मनुष्य मायामृषादोष का सदैव त्याग करता है। यहाँ जीव को समझाते हुए यह कहा गया है कि मस्तक से पर्वत को तोड़ना, आत्मा को करवत से काटना, यम के मुख में प्रवेश करना, आदि कार्य करना, परन्तु निमेषमात्र काल जितना भी माया-मृषावाद मत करना। क्योंकि माया से युक्त मृषावाद अनन्त भवों तक भँयकर फल देनेवाला होता है, इसलिए जीव को इस पापस्थानक का त्याग करना चाहिए। इस प्रसंग पर कूट तपस्वी की कथा मिलती है।⁵²²

१८. मिथ्यादर्शनशल्य :- विपरीत दृष्टि या विपरीत दर्शन होना। जैसे एक साथ दो चन्द्र के दर्शन होना मिथ्यादर्शन है, वैसे ही विपरीत दृष्टि को मिथ्यादर्शन कहा है। यह शल्य के समान दुःख देनेवाला होने से मिथ्यादर्शनशल्य कहा जाता है। शल्य दो प्रकार के होते हैं- १. द्रव्य शल्य - तलवार, भाला, आदि शस्त्र एवं २. भावशल्य-मिथ्यादर्शनशल्य। यह मिथ्यादर्शनशल्य दिग्भ्रमित करनेवाला है, आँखों पर बंधी हुई पट्टी के समान है, जन्म से अन्धे के सदृश है, जगत् में परिभ्रमण कराने वाला चक्र है। अनादिकाल से मिथ्यात्व-भावना से मूढ़ बना जीव

⁵²¹ संवेगरंगशाला, गाथा ६३७७-६३६६.

⁵²² संवेगरंगशाला, गाथा ६४३८-६४५३.

मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने पर भी मुश्किल से (दुःख से) सम्यक्त्व से प्रीति करता है। मिथ्यात्व संसार-परिभ्रमणरूप वृक्ष का बीज है, इसलिए आत्मार्थी को उसका त्याग करना चाहिए। हे सुविहित! यह मिथ्यादर्शनशतक्य वस्तु का विपरीत बोध करानेवाला है, सद्धर्म को दूषित करनेवाला और संसार-अटवी में परिभ्रमण करानेवाला है, इसलिए मन-मन्दिर में सम्यक्त्वरूप दीपक को प्रकाशित कर, जिससे मिथ्यात्वरूप प्रचण्ड पवन तुझे विचलित न कर सके, तेरे ज्ञानरूपी दीपक को बुझा न सके। इस प्रसंग पर इसमें जमाली की कथा उपलब्ध होती है।⁵²³

स्थानांगसूत्र,⁵²⁴ आराधनासार या पर्यन्ताराधना⁵²⁵ एवं प्रवचनसारोद्धार⁵²⁶ में अठारह पापस्थानकों के नामों का उल्लेख मिलता है। प्रवचनसारोद्धार में अरति-रति को पापस्थानक में नहीं माना है, परन्तु उसके स्थान पर रात्रिभोजन को पापस्थानक माना है, जबकि संवेगरंगशाला एवं स्थानांगसूत्र-दोनों में रात्रिभोजन को पापस्थानक नहीं माना है एवं अरति-रति को पापस्थानक माना है।

इससे यह फलित होता है कि संवेगरंगशाला में निर्यापक आचार्य क्षपक मुनि को इन अठारह पापस्थानकों का स्वरूप बताते हुए इन पापों के सेवन से बचने के लिए कहते हैं। जो मुमुक्षु उपर्युक्त अठारह पापस्थानकों का त्याग करता है एवं गुणों का चिन्तन और मनन करता है, वह मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्तकर आत्मा में स्वानुभव करने लगता है। इस प्रकार ऐसा मुमुक्षु पवित्र मन और वचन को धारण कर अन्त में सम्यग्दर्शन आदि उत्कृष्ट गुणों के द्वारा निर्वाण-पद प्राप्त करता है।

प्राचीन आचार्यविरचित आराधनापताका के सत्ताइसवें पापस्थान व्युत्सर्जनद्वार में भी अठारह पापस्थानों के त्याग का निरूपण एवं अठारह पापस्थानों के त्याग के सम्बन्ध में अठारह दृष्टान्तों का निरूपण मिलता है।⁵²⁷

समाधिमरण में की जाने वाली तप-आराधना की विधि :-

संवेगरंगशाला के संलेखना-द्वार में समाधिमरण के साधक के लिए आराधना करने की विधियाँ बताई गई हैं। वह आराधना भावों की शुद्धि के बिना नहीं होती है। भावों की शुद्धि रागादि के नाश के बिना नहीं होती है। रागादि का

⁵²³ संवेगरंगशाला गाथा ६४७३-६५०८.

⁵²⁴ स्थानांगसूत्र स्थानप्रथम/६१-१०८.

⁵²⁵ पर्यन्ताराधना/आराधनासार, पृ. १७२/२२-२३.

⁵²⁶ प्रवचनसारोद्धार, १३५१-१३५३.

⁵²⁷ प्राचीन आचार्य विरचित आराधनापताका, ५२२-५३५.

नाश प्रायः शारीरिक-वासनाओं और कषायों के कृश करने से सम्भव है और रागादि में यह कृशता तपादि से होती है और तप की पूर्णता संलेखना का अनुसरण करने से होती है, इसलिए प्रस्तुत कृति में संलेखना नामक पन्द्रहवें द्वार में आराधना-विधि का विस्तार से उल्लेख किया गया है।⁵²⁸

संवेगरंगशाला के अनुसार जिनेश्वरदेव ने संलेखना को तप कहा है, क्योंकि इसके द्वारा काया और कषाय को कृश किया जा सकता है। सामान्यतः तो सभी तप कषायों को क्षीण करनेवाले होते हैं, फिर भी अन्त समय में स्वीकार की गई संलेखना एक ऐसा विशिष्ट तप है, जो कषायों को क्षीण कर मुक्ति को प्रदान करता है।

इस कृति में आगे यह भी बताया गया है कि साधु अथवा श्रावक को इस संलेखनारूपी तप को असाध्य-व्याधि, उपसर्ग अथवा दुष्काल, आदि अन्य कारणों के उपस्थित होने पर ही करना चाहिए। अनेक श्रावकों एवं मुनियों ने जीवनपर्यन्त साधना करते हुए भी अन्त समय में संलेखना ग्रहण करके तप के द्वारा शरीर को और भावों के द्वारा कषायों को कृश किया है। कषायों की समाप्ति होने पर ही मुक्ति होती है।⁵²⁹

ऋषभदेव, आदि तीर्थकर जो लोक के तिलक समान, केवलज्ञान की किरणों से ज्ञान का प्रकाश करनेवाले तथा अवश्यमेव सिद्धि प्राप्त करनेवाले होते हैं; वे भी निर्वाण के समय सविशेष तप करके ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसलिए मोक्ष की इच्छावाली भवभीरु आत्मा को आराधना करते हुए अन्त में संलेखनारूपी तप करना चाहिए।⁵³⁰

संवेगरंगशाला के प्रस्तुत द्वार में संलेखना के उत्कृष्ट और जघन्य-इस प्रकार दो भेद करके पुनः इन्हें द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा दो-दो भागों में बाँटा है। इसमें द्रव्य से शरीर को एवं भावों से कषायों को क्षीण करते हुए उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की और जघन्य संलेखना छः मास की बताई गई है।⁵³¹

यहाँ उत्कृष्ट संलेखना-काल की विधि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि साधक विविध अभिग्रह सहित एक, दो या तीन उपवास आदि विविध तपों में सरस आहार से पारणा करते हुए चार वर्ष पूर्ण करे। इसके पश्चात् पुनः चार

⁵²⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३६८३-३६८७.

⁵²⁹ संलेखना य एतत् तपकिरिया जिणवरेहि पन्नता। जं तीए संलिहिज्जह देहकसायाऽऽ नियमेण॥ संवेगरंगशाला, गाथा ३६८८-३६९५.

⁵³⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३६९६-३६९९.

⁵³¹ संवेगरंगशाला, गाथा ४००४-४००५.

वर्ष तक विशिष्ट तप करे, फिर दो वर्ष तक पारणे में आर्यबिलपूर्वक एकान्तर उपवास का तप करे। इस तरह दस वर्ष पूर्ण हुए। अब ग्यारहवें वर्ष में पहले छः मास में क्लिष्ट तप न करके परिमित-आहार लेते हुए आर्यबिल करे और अन्तिम छः मास में पुनः क्लिष्ट तप करके पारणे में शरीर को टिकाने के लिए आर्यबिल में आवश्यकतानुसार भोजन ग्रहण करे।⁵³²

अन्तिम बारहवें वर्ष में उत्कृष्ट आर्यबिल तप करे। अन्त के शेष चार मास में साधक को लम्बे समय तक मुख में तेज भरकर कुल्ला करने को कहा गया है। ऐसा करने से साधक का मुख वायु से बन्द नहीं होता है तथा मृत्युकाल में भी वह नमस्कार-महामन्त्र का स्मरण बिना कष्ट के कर सकता है। अन्त में यह कहा गया है कि अन्तिम समय में इस संलेखना को छः मास अथवा चार मास में पूर्ण किया जाए, तो वह जघन्य संलेखना कहलाती है।⁵³³

संवेगरंगशाला में समाधिमरण के उत्कृष्ट और जघन्य-दो भेद किए गए हैं। संवेगरंगशाला और उत्तराध्ययनसूत्र⁵³⁴ - दोनों ही ग्रन्थों में उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की तथा जघन्य संलेखना छः मास की बताई गई है, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में मध्यम संलेखना को एक वर्ष की कहा गया है। पुनः, दोनों ही ग्रन्थों में बारह वर्ष से उत्कृष्ट संलेखना की विधि बताई गई है। उस विधि में यह बताया गया है कि किन-किन वर्षों में किस-किस प्रकार का तप करना चाहिए। इस चर्चा में बारह वर्ष की जो संलेखना-विधि है, उसमें चार-चार वर्ष के तीन विभाग किए गए हैं। पुनः, तीसरे विभाग में दो वर्ष, एक वर्ष, छः माह, पाँच माह, और एक माह की विशिष्ट तप-विधि बताई गई है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जहाँ उत्तराध्ययनसूत्र में प्रथम चार वर्ष में विगय त्याग का उल्लेख किया है, वहीं जिनघन्द्रसूरी ने संवेगरंगशाला में प्रथम चार वर्ष तक विविध प्रकार के तप करने का उल्लेख किया है तथा उनके पारणे में विगयों के सेवन की अनुमति भी दी। दूसरे चार वर्षों में उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार विविध तप करने का उल्लेख है, जबकि संवेगरंगशाला में विविध तप करने का उल्लेख होते हुए भी उनके पारणे में विगय-त्याग का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् नौवें और दसवें वर्ष में दोनों ही ग्रन्थों में एकान्तर-तप और पारणे में आर्यबिल करने का निर्देश है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में आर्यबिल करे और विकृष्ट-तप न करे- ऐसा निर्देश है।

⁵³² संवेगरंगशाला, गाथा ४००६-४०११.

⁵³³ संवेगरंगशाला, गाथा ४०१२-४०१६.

⁵³⁴ उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३६/गा. २५१-२५५.

पुनः, ग्यारहवें वर्ष के अन्तिम छः मास में विकृष्ट-तप करते हुए आर्यबिल से पारणा करे- ऐसा निर्देश है। अन्तिम बारहवें वर्ष में प्रथम छः मास में कोटिसहित आर्यबिल तप करे, फिर बारहवें वर्ष के अन्तिम चार अथवा पाँच महीने तक आर्यबिल करते हुए भी तेल, आदि मुँह में भरकर कुल्ला करता रहे। यहाँ उत्तराध्ययनसूत्र और संवेगरंगशाला में हमें अन्तर परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययन में तैलादि से कुल्ले करने का कोई उल्लेख नहीं है, उसमें केवल इतना ही उल्लेख है कि बारहवें वर्ष में कोटिसहित आर्यबिल करे और अन्त में एक पक्ष या मास का अनशन करे।

संलेखना के मध्यम प्रकार को लेकर भी उत्तराध्ययनसूत्र और संवेगरंगशाला में अन्तर परिलक्षित होता है। संवेगरंगशाला में मध्यम संलेखना का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि उत्तराध्ययनसूत्र में मध्यम संलेखना एक वर्ष की बताई गई है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में जघन्य संलेखना छः मास की बताई गई है। संवेगरंगशाला में छः मास, चार मास, आदि की जघन्य संलेखना का उल्लेख है। यद्यपि सैद्धान्तिक-दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में संलेखना के प्रकारों की चर्चा में कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु विधि को लेकर दोनों में जो आंशिक अन्तर है, उसका हमने यहाँ निर्देश कर दिया है।

संवेगरंगशाला में भाव-संलेखना के विवेचन में कहा है कि स्व-स्व विषयों में आसक्त इन्द्रियों, कषायों और योगों (मानसिक, वाचिक और कायिक) की गतिविधियों के निग्रह को भाव-संलेखना कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य और भाव-संलेखना की चर्चा करके जिनघन्द्रसूरि ने आगे संलेखना विधि की चर्चा करते हुए उसके अन्तर्गत- १. अनशन २. उणोदरिका ३. वृत्ति-संक्षेप ४. रस-त्याग ५. कायक्लेश ६. संलीनता आदि छः प्रकार के तप करने का उल्लेख किया है।⁵³⁵ वस्तुतः, संलेखना तप की आराधना ही है, इसलिए यहाँ संलेखना विधि की चर्चा के अन्तर्गत तपों की चर्चा की गई है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि जिनघन्द्रसूरि ने यहाँ मात्र छः प्रकार के बाह्य-तपों का ही उल्लेख किया है। इन बाह्य-तपों की विस्तृत विवेचना हम दूसरे अध्याय में मुनि-जीवन की सामान्य आराधना के प्रसंग में कर चुके हैं, अतः यहाँ मात्र नाम-निर्देश किया है।⁵³⁵

बाह्यतपों से शरीर कृश होता है, शरीर के कृश होने से कषाय कृश होते हैं, इसलिए कहा गया है कि तपस्या से व्यक्ति के कषाय इतने निर्बल हो जाते हैं कि बाह्य-निमित्तों के द्वारा कषायों को जाग्रत करने का अवसर होने पर भी उनमें कषाय प्रकट नहीं होते हैं। कषायों का निग्रह करने से होनेवाले लाभ का

निरूपण करते हुए कहा गया है कि इससे सुन्दर रूप, उच्च गोत्र, अविषादी एवं एकान्तिक सुख, आदि अनेक लाभ होते हैं, इसीलिए कषायरूपी दावानल के उत्पन्न होते ही उसे शीघ्र ही क्षमाभावरूपी पानी से बुझा देना चाहिए। साथ ही, यहाँ तक भी बताया गया है कि जो अपनी मति से इस विधि से विपरीत क्रिया में प्रवृत्ति करता है, वह गंगदत्त के समान विराधक होता है।⁵³⁶ वस्तुतः, बाह्य-तप से शरीर कृश होता है, किन्तु शरीर के कृश होने पर कषाय भी कृश होते हैं।

फिर भी समाधिमरण के साधक को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा अपनी शारीरिक-परिस्थिति को जानकर ही तप करने को कहा गया है, जिससे वात-पित्त-कफ का प्रकोप न हो, मन में अनिष्ट का चिन्तन न हो तथा संयमी-जीवन की आवश्यक क्रियाओं का सम्यक् सम्पादन हो सके। यदि ऐसे तप करने की शक्ति न हो, तो उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित अनुक्रम से आहार को कम करते हुए शरीर की संत्तीनता करे। क्षपक अध्यवसायों की शुद्धि हेतु सदैव प्रत्यन करे, क्योंकि अध्यवसायों की विशुद्धि बिना जो क्लिष्ट तप करता है, उसकी विशुद्धि कदापि नहीं होती है। कषायों की विशुद्धि हेतु साधक को प्रेरणा देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं- तू शीघ्र ही क्रोध पर क्षमा से, मान पर मार्दव से, माया पर आर्जव से और लोभ पर सन्तोष से विजय प्राप्त कर। कषाय करके मनुष्य कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक जो चारित्र्य की साधना की है, उसे एक मुहूर्त में ही समाप्त कर देता है। कषायरूपी अग्नि समग्र चारित्र्यरूपी धन को जलाकर भस्म कर देती है और अन्त में जीव के सम्यक्त्व को नष्ट कर उसे अनन्त संसारी बना देती है,⁵³⁷ इसलिए समाधिमरण के साधक को द्रव्य-तप से शरीर को और भाव-तप से कषाय को कृश करना चाहिए।

तपाराधना क्यों?

श्रमण-संस्कृति तपः प्रधान संस्कृति है। तप श्रमण-संस्कृति का प्राणतत्त्व है, जीवन जीने की सम्यक् कला है, आत्मा की अन्तःस्फूर्त पवित्रता है, जीवन का दिव्य आलोक है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया है। तप की महिमा और गरिमा का जो गौरव-गान श्रमण-संस्कृति ने गाया है, वह अपूर्व है, अनूठा है।

‘श्रमण’ शब्द ‘श्रम’ धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- ‘श्रम करना’, अतः जो मोक्षमार्ग अथवा आत्मशुद्धि हेतु परिश्रम करता है, वही श्रमण है। आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकवृत्ति में तप का अपर नाम ‘श्रमण’ दिया

⁵³⁶ सविगरंगशाला, गाथा ४०८५-४०८३.

⁵³⁷ सविगरंगशाला, गाथा ४०७०-४०८४

है।⁵³⁸ “जो साधक साधना में श्रम करता है, तप करता है, तप से शरीर को क्षीण करता है, जो अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करता है, वह श्रमण है।⁵³⁹ वस्तुतः, श्रमण शब्द तपस्वी का वाचक है।

जैन-श्रमण कठिन तप का जीवन्त प्रतीक है, तप ही उसका धर्म है, वह आत्मसाधना के लिए, अन्तरात्मा से परमात्मा बनने के लिए और जन से जिन बनने के लिए कठोर श्रम करता है। भगवान् ऋषभदेव ने छद्मस्थ-अवस्था में एक हजार वर्ष तक और भगवान् महावीर ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक उत्कृष्ट तप की साधना की थी।⁵⁴⁰

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त-पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना और साधना से तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद की भी उपलब्धि होती है। शब्द-रचना की दृष्टि से तप शब्द ‘तप्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ ‘तपना’ है। जो आठ प्रकार के कर्म को तपाता हो, उन्हें नष्ट करने में समर्थ हो, वह तप है।⁵⁴¹ समाधिमरण के आराधक का मुख्य लक्ष्य तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा या क्षय कर मुक्ति प्राप्त करना है।

तप के प्रकार :-

जैन-आगम-साहित्य में तप को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम बाह्य-तप एवं दूसरा आभ्यन्तर-तप। जिस तप में शारीरिक-क्रिया की प्रधानता होती है और जो अपने बाह्य-रूप में दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य-तप है। जिस तप में मानसिक-क्रिया की प्रधानता होती है, अन्तर्वृत्तियों की विशेष परिशुद्धि होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को दिखाई नहीं देता है, वह आभ्यन्तर-तप है, किन्तु बाह्य और आभ्यन्तर- दोनों ही प्रकार के तपों का लक्ष्य आत्मशोधन ही है। बाह्य-तप एवं आभ्यन्तर-तप दोनों के छः-छः प्रकार हैं, जिनमें बाह्य तप के छः प्रकार निम्न हैं :-

१. अनशन - आहार का त्याग।

२. ऊनोदरी - आहारादि की मात्रा में कमी।

538 दशवैकल्यकृत्युक्ति - १/३

539 संवत्सर्ग १/१/६/१ रीतांगटीका पत्र २६३.

540 (क) आवश्यकनियुक्ति ५२६-५३५, (ख) महावीरचरित (गुणचन्द्र), ७/१-८, पृ. २५०.

541 (क) आवश्यक (मलयगिरि) खण्ड २, अध्याय १, (ख) निशीथचूर्णि ४६.

३. भिक्षाचारी - अभिग्रह, आदि के साथ विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना।
४. 'रस-परित्याग - प्रणीतः स्निग्ध, एवं स्वादिष्ट भोजन का त्याग।
५. कायक्लेश - शरीर को विविध आसन, आदि के द्वारा कष्ट-सहिष्णु बनाकर साधना करना तथा उसकी चंचलता कम करना।
६. संलीनता - शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन तथा कषाय आदि का संयम करने हेतु एकान्तस्थान में रहना।

आभ्यन्तर-तप के छः प्रकार निम्नानुसार हैं :-

१. प्रायश्चित्त - दोष-विशुद्धि हेतु सरल हृदय से प्रायश्चित्त करना।
२. विनय - गुरुजनों के प्रति भक्ति, आदर एवं बहुमान प्रदर्शित करना।
३. वैयावृत्य - गुरु, संघ, रोगी, बाल, आदि की सेवा करना।
४. स्वाध्याय - शास्त्रों का अध्ययन, अनुचिन्तन एवं मनन करना।
५. ध्यान - मन को एकाग्र करके शुभध्यान में लगाना।
६. व्युत्सर्ग - कषाय आदि का त्याग करना, शरीर की ममता को छोड़कर उसे साधना में स्थिर करना तथा संलेखना के समय स्वगण, आदि का भी परित्याग करना।

इस तरह जैन धर्म में तप का सही स्वरूप वर्णित किया गया है। साधक को अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार तप करना चाहिए। उत्तराध्ययन,⁵⁴² भगवतीसूत्र,⁵⁴³ स्थानांगसूत्र,⁵⁴⁴ आदि अनेक ग्रन्थों में तप के विविध भेदों की चर्चा की गई है।

⁵⁴² उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/८.

⁵⁴³ भगवतीसूत्र २५/७.

⁵⁴⁴ स्थानांगसूत्र दशमस्थान/सूत्र ७०

क्षपक की आराधना का मूल कर्तव्य आलोचना और प्रायश्चित्त :-

पूर्व में तप के दो भेद कहे गए हैं, उनमें से आभ्यन्तर-तप का प्रथम उपविभाग प्रायश्चित्त कहा गया है। धर्मसंग्रह में प्रायश्चित्त का अर्थ बताते हुए कहा है- “प्रायः पापविनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्।”

अर्थात् पाप का विशोधन करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। ‘प्रायः’ अर्थात् अपराध एवं ‘चित्तं’, अर्थात् शुद्धि। जिस प्रक्रिया से अपराध की शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त है।⁵⁴⁵ प्राकृत-भाषा में प्रायश्चित्त के लिए “पायच्छित्त” शब्द आता है, वहाँ “पाय” का अर्थ पाप होता है। जो पाप का छेदन करता है, वह पायच्छित्त है।⁵⁴⁶

वैसे जैनधर्म में प्रायश्चित्त शब्द का जो अर्थ है, वह अर्थदण्ड शब्द से भिन्न है। प्रायश्चित्त और दण्ड के स्वरूप में भिन्नता है। प्रायश्चित्त में साधक अपने दोषों को अपनी इच्छा से गुरु के समक्ष प्रकटकर उनकी शुद्धि हेतु दण्ड की याचना करता है। इसके विपरीत दण्ड को व्यक्ति अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत के प्रति किसी भी प्रकार ग्लानि नहीं होती है। सामान्य अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं, किन्तु दूसरों के दबाव में स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से आरोपित किया जाता है, जबकि प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से ग्रहण किया जाता है, इसलिए राजनीति में दण्ड का विधान है, तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।

संसार में व्यक्ति अनेक प्रकार की गलतियाँ करता है। गलतियों (भूलों) एवं उनकी परिस्थितियों के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध भेद किए गए हैं। भगवतीसूत्र⁵⁴⁷ एवं स्थानांगसूत्र⁵⁴⁸ में प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताए गए हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र⁵⁴⁹ में पाराचिक को छोड़कर प्रायश्चित्त के नौ भेद किए गए हैं। प्रायश्चित्त के दस भेद इस प्रकार हैं :-

१. आलोचनाह २. प्रतिक्रमणह ३. तदुभयार्ह ४. विदेकार्ह ५. व्युत्सर्गाह ६. तपार्ह ७. छेदार्ह ८. मूलार्ह ९. अनवस्थाप्यार्ह और १०. पाराचिकार्ह।

⁵⁴⁵ (क) धर्मसंग्रह अधिकार-३, (ख) राजवार्तिक ६/२२/१.

⁵⁴⁶ पंचाशक सटीक विवरण, १६/१३.

⁵⁴⁷ भगवतीसूत्र २५/७.

⁵⁴⁸ स्थानांगसूत्र स्थान १०.

⁵⁴⁹ तत्त्वार्थसूत्र ६/२२.

आलोचना :- अपने दोषों को अत्यन्त सरलता से आचार्य के समक्ष प्रकट करना ही आलोचना है। आलोचना स्व निन्दा है। पर निन्दा करना सरल है, परन्तु स्वयं के दुष्कृत्यों को जानकर उनकी निन्दा करना कठिन ही नहीं, बल्कि कठिनतम है। “जिसका मन बालक के सदृश सरल होता है, वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है।”⁵⁵⁰ संवेगरंगशाला⁵⁵¹ के आलोचनाविधानद्वारा में जिनचन्द्रसूरि लिखते हैं- रत्नत्रयी की साधना हेतु क्षपक परगण में आचारवान् आदि गुणों से युक्त निर्यापक की शरण को स्वीकार करता है। इस तरह वह परगणसंक्रमण कर वहाँ आलोचना करके शल्यरहित होकर अन्तिम आराधना द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कारणवश वह क्षपक निर्यापक-आचार्य के पास अपने दुष्कृत्यों की आलोचना नहीं करता है, तो अपनी आत्मा को शुद्ध नहीं कर पाता है और परिणामस्वरूप संसार से भी मुक्त नहीं हो पाता है।

अतः, साधक के भावों की विशेष शुद्धि के लिए आलोचना-विधान में यह निरूपित किया गया है कि आए हुए क्षपक को निर्यापक-आचार्य अपने मधुर वचनों से गण के समक्ष इस प्रकार कहते हैं- हे भद्र! जिनाज्ञा के अनुरूप संयम (चारित्र) को ग्रहण करके तूने काय एवं कषाय को कृश किया है, सर्व कर्तव्यों का भलीभाँति पालन किया है, गुरुसेवा में सदैव तत्पर रहा है। इस तरह तू चारित्रिक गुणों का आकर (खान) है। ऐसा दुर्लभ चारित्र बिना पुण्य के प्राप्त नहीं होता है। उस चारित्र को तूने प्राप्त किया है।

अतः हे सुविहित क्षपक! अब तुझे इस देह के प्रति ममत्वभाव एवं अभिमान का विशेष रूप से त्याग करना है। इन्द्रिय, कषाय, गारव एवं मोहरूपी सैन्य का पराभव करना है। हे आत्महितेच्छु! यदि तेरे भीतर अल्प भी दुष्कृत्तरूप दोष रहा हुआ हो, तो उस दोष की शीघ्र आलोचना कर ले। इसमें ही तेरी आत्मा का कल्याण है।

संवेगरंगशाला में आलोचना के दस द्वारों का विवरण किया गया है, जो इस प्रकार है - १. आलोचना कब और किसके समक्ष की जाए, जिसके समक्ष आलोचना की जाए, वह कैसा हो २. आलोचना करनेवाले का स्वरूप ३. आलोचना के दस दोष ४. आलोचना नहीं करने से होनेवाले दोष ५. आलोचना के गुण ६. आलोचना दूसरे की साक्षी में करें ७. आलोचना की विधि ८. आलोचना की सात मर्यादाएँ ९. प्रायश्चित्त-विधि एवं १०. आलोचना का फल।

⁵⁵⁰ ओषनियुक्ति, ८०१

⁵⁵¹ संवेगरंगशाला, गद्या ४८७७-४८७६.

9. आलोचना कब करना चाहिए? :- जिसके पैर में कांटा लगा हो, वह मार्ग में जिस तरह सावधान या अप्रमत्त होकर चलता है, उसी तरह साधक को भी अप्रमत्त होकर यतनापूर्वक सम्पूर्ण क्रियाएँ करना चाहिए। वैसे तो साधक अप्रमत्त होकर ही संयम आराधना करता है, फिर भी कर्मोदय वश मुनि-आचार, अथवा व्रतों में दोष लग जाते हैं। उन दोषों की शुद्धि हेतु आलोचना (मिथ्या-दुष्कृत्य) करना चाहिए। यदि किसी कारणवश कोई अपराध कहना भूल गया हो, तो उस अपराध की आलोचना भी पाक्षिक अथवा चातुर्मासिक या वार्षिक-प्रतिक्रमण के दिन अवश्य कर लेना चाहिए। इस तरह आलोचना का अवसर प्राप्त होने पर प्रमत्त एवं अप्रमत्त- दोनों प्रकार के साधुओं को अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहिए।⁵⁵²

आलोचना किसकी :- संवेगरंगशाला में कहा गया है कि आराधना में उद्यमशील बने उत्तम साधक को दुर्ध्यान के अधीन बनकर ऐसा चिन्तन नहीं करना चाहिए कि मैंने अनेक आचार्यों के पास अपने पापों की आलोचना कर ली है एवं उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त भी कर लिए हैं, सर्वक्रियाओं को सावधानीपूर्वक आचरण करने से अब मुझे आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ-उपासक को भी अपने व्रतों में लगे हुए सूक्ष्म अतिचारों की भी आलोचना करना चाहिए। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि देशचारित्र स्वीकार करनेवाले श्रावक को दोष लगते ही हैं, क्योंकि वह सर्वविरति नहीं है, जैसे-प्रथम व्रत में वह छःकाय जीवों की विराधना से विरत नहीं होता है, मात्र त्रसकाय के जीवों की हिंसा से विरत होता है। एकेन्द्रिय जीवों की सम्यक् यतना नहीं कर पाने से इन जीवों को परिताप, दुःख, आदि देने से जो अतिचार लगा हो, उसे आचार्य के पास प्रकट करे। इसी तरह दूसरे व्रत मृषावाद विरमण में अभ्याख्यान, आदि, अदत्तादान-विरमण में दृष्टिबन्धन, आदि, मैथुन विरमण में स्वप्न में भी परस्त्री के संग क्रीड़ा या अंगस्पर्श या प्रेम, विवाह, आदि जो कुछ हुआ हो, उन सभी अतिचारों की आलोचना करे। परिग्रह-विरमण में धन-धान्यादि नौ प्रकार के परिग्रह, परिमाण में दिशिपरिमाणव्रत में मर्यादा से अधिक भूमि में स्वयं जाने से या दूसरों को भेजने से या क्षेत्रादि का उल्लंघन करने से, उपभोग-परिभोग-व्रत में अनन्तकाय, बहुबीज, आदि का भोजन करने से तथा कर्मादानों में अंगारकर्म, आदि पापकर्म करने से, अनर्थदण्डव्रत में पाँच प्रकार के प्रमाद-सेवन, पापोपदेश, हिंसक शस्त्रादि प्रदान किया हो, या दुर्ध्यान किया हो, तो उनकी सम्यक् आलोचना करना चाहिए।

⁵⁵² संवेगरंगशाला, गाथा ४८७७-४८८३.

सामायिक-व्रत में सचित्तादि का स्पर्श करना, मन-वचन-काया के दुष्प्रणिधान आदि से छेदन-भेदन करना, चरवले की दण्डी से कौतूहल-वृत्ति करना, अनुकूलता होने पर भी सामायिक नहीं करना, इत्यादि दोष लगने पर; देशावगासिक-व्रत में योग-संवर नहीं करने से, असावधानी से कपड़े, आदि धोने इत्यादि से, पौषधव्रत में संस्तारक स्थण्डिलभूमि आदि का प्रतिलेखन नहीं किया हो, अथवा अविधि से किया हो, इत्यादि तथा अतिथिसंविभाग-व्रत में साधु-साध्वी आदि को अशुद्ध आहार-पानी दिया हो एवं शुद्ध कल्प्य-आहारादि होते हुए भी नहीं दिया हो आदि, इन सभी अतिचारों की आलोचना श्रावक को स्वीकार करना चाहिए।⁵⁵³

इस तरह संवेगरंगशाला में बारह अणुव्रतों की आलोचना के पश्चात् तप, वीर्य एवं दर्शन सम्बन्धी आलोचना का वर्णन किया गया है। उत्तम श्रावक को इन सभी अतिचारों की सम्यक् आलोचना करने के पश्चात् जैन-आगमों के विरुद्ध जो कुछ भी कार्य किया हो या करने योग्य कार्य न किए हों, अथवा करते हुए भी उन्हें सम्यक् प्रकार से नहीं किया हो तथा जिनवचन में श्रद्धा नहीं की हो- इन सबकी सम्यक् रूप से आलोचना करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में श्रावक की आलोचना के पश्चात् मुनि की आलोचना का उल्लेख है। उसमें अनेक स्थानों पर अष्टप्रवचनमाता, अर्थात् पाँच समिति एवं तीन गुप्ति का उल्लेख मिलता है, साथ ही आलोचना-विधानद्वार में मुनि को किन-किन अतिचारों की आलोचना करना चाहिए? इसका स्पष्ट उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्य-इन पाँच प्रकार के आचारों में जो भी विरुद्ध प्रवृत्ति के हों, तो उन अतिचारों की मुनि आलोचना करे। ज्ञान एवं दर्शन के अतिचारों का उल्लेख करने के पश्चात् चारित्र्याचार में पाँच महाव्रतों एवं छठवें रात्रिभोजन-त्याग के अन्तर्गत जिन अतिचारों का सेवन किया हो, उन सभी की गुरु के समक्ष आलोचना करना चाहिए, साथ ही इसके अतिरिक्त बारह प्रतिमाओं, बारह भावनाओं, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, पात्र, उपधि अथवा बैठते-उठते आदि अन्य किसी क्रिया में जिस किसी अतिचार का सेवन किया हो, उसकी आलोचना मुनि को करना चाहिए।⁵⁵⁴

इसी प्रकार ईर्यासमिति में सावधानी बिना चलने-फिरने से, भाषा-समिति में सावद्य या अवधारणी भाषा बोलने से, एषणा-समिति में अशुद्ध आहार-पानी

⁵⁵³ संवेगरंगशाला, गाथा ३०२७-३०४६.

⁵⁵⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ५०४५-५०६२.

लेने से, आदानभण्डमत्त निक्षेपणा-समिति में प्रतिलेखन, प्रमार्जन बिना पात्र, उपकरण, आदि लेने-रखने से एवं पारिष्ठापनिका-समिति में उच्चार, प्रश्रवण, आदि को अशुद्ध भूमि में वैसे-तैसे परठने से- इस तरह पाँच समिति में तथा तीन गुप्ति में प्रमाद के कारण जो कोई भी अतिचार लगा हो, उन सबकी आलोचना अवश्य करना चाहिए।⁵⁵⁵

इस प्रकार तपाचार एवं वीर्याचार में भी जो अतिचार लगे हों, उनकी सम्यक् रूप से आलोचना करना चाहिए। इस प्रकार मुनि को भी अपनी मुनिचर्या में जो दोष लगे हों, उनकी आलोचना करने के पश्चात् ही समाधिमरण स्वीकार करना चाहिए।

२. आलोचना किसके समक्ष करना चाहिए? :- जिस प्रकार रोगी पुरुष अपने रोगों को किसी कुशल चिकित्सक के समक्ष ही प्रकट करता है, उसी तरह साधक को भी अपने दोष कुशल आचार्य के समक्ष ही प्रकट करना चाहिए। प्रायश्चित्तदाता को शास्त्रों का जानकार, अप्रमादी, समदृष्टिवान् एवं दीर्घदृष्टा होना चाहिए। ऐसे आचार्यादि के समक्ष अपने भावशल्य को बाहर निकालना चाहिए। सवेगरंगशाला में प्रायश्चित्त देने के दो आधार कहे गए हैं - १. आगमव्यवहार एवं २. श्रुतव्यवहार।⁵⁵⁶ परवर्तीकाल में आज्ञा-व्यवहार, धारणा-व्यवहार एवं जीतव्यवहार को भी प्रायश्चित्त का आधार माना गया। इसी तरह प्रवचनसारोद्धार में भी प्रायश्चित्त के पाँच आधार बताए गए हैं।⁵⁵⁷

आलोचना के पाँच आधार (व्यवहार) :-

१. टागम-व्यवहार :- आगम, यानी वस्तु-स्वरूप का बोध करानेवाला ज्ञान एवं व्यवहार, अर्थात् प्रवृत्ति। आगम के अनुसार प्रवृत्ति आगम-व्यवहार है। १. केवलज्ञानी २. मनःपर्यवज्ञानी ३. अवधिज्ञानी ४. चौदहपूर्वी ५. दसपूर्वी और नौपूर्वी-ये छः आचार्य आगम-व्यवहारी कहे जाते हैं।

२. श्रुत-व्यवहार :- महानिशीथ, जीतकल्प, आचारप्रकल्प, आदि छेदसूत्रों के आधार पर होनेवाला व्यवहार श्रुत-व्यवहार है, इन्हें धारण करनेवाले श्रुत-व्यवहारी हैं। वे इन ग्रन्थों को आधार मानकर प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।

⁵⁵⁵ सवेगरंगशाला, गाथा ५०६३-४०६६.

⁵⁵⁶ सवेगरंगशाला, गाथा ४८८५-४८८६.

⁵⁵⁷ प्रवचनसारोद्धार, गाथा ८५४, द्वार १२६.

३. **टाङ्गा-व्यवहार :-** अन्यत्र विराजमान गीतार्थ के पास गूढ़ कथन के द्वारा आलोचना करना आज्ञा-व्यवहार है। जंघाबल क्षीण होने पर अन्य देशों में रहे हुए आचार्यों के पास अगीतार्थ मुनि द्वारा गुप्त रूप से सूचना भेजकर गीतार्थ आलोचनादाता से शुद्ध प्रायश्चित्त लेना ही आज्ञा व्यवहार है।

४. **धारणा-व्यवहार :-** आचार्य आदि ने किसी अपराध में अन्य को जिस प्रकार प्रायश्चित्त दिया गया था, उसका अवधारण कर, अर्थात् गुरु द्वारा दिए गए प्रायश्चित्तों को स्मृति में रखते हुए शिष्य द्वारा तथानिध अग्राध में उसी प्रकार का प्रायश्चित्त देना ही धारणा व्यवहार है।

५. **जीत-व्यवहार :-** निर्युक्तिपूर्वक सूत्रार्थ को गम्भीरता से जाननेवाला गीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जो प्रायश्चित्त प्रदान करता है, वह जीत-व्यवहार कहलाता है।⁵⁵⁸

उपर्युक्त पाँच प्रकार के व्यवहार को जाननेवाले ही प्रायश्चित्त देने के अधिकारी हैं। इन पाँचों व्यवहारों में से किसी एक व्यवहार के आधार पर गीतार्थ ही प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है, अगीतार्थ को प्रायश्चित्त देने का सर्वथा निषेध है।

संवेगरंगशाला में आगे अयोग्य के पास आलोचना लेने से होनेवाली हानि का वर्णन दृष्टान्त द्वारा किया गया है-जिस तरह अकुशल चिकित्सक के द्वारा की गई चिकित्सा से रोगी पुरुष के रोग में अभिवृद्धि होती है, साथ ही वह मृत्यु का कारण भी बनता है, उसी तरह अकुशल आचार्य के द्वारा दी गई मिथ्या-आलोचना से साधक के दोष में अभिवृद्धि होती है, उससे चारित्र नष्ट होता है और आराधना समाप्त हो जाती है। इस तरह साधक विराधक हो, अन्य जन्मों में निन्दा का पात्र बनता है, कुयोनि में उत्पन्न होता है तथा दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। कहा है कि अगीतार्थ आचार्य व्यवस्थित प्रायश्चित्त नहीं दे सकता, न्यूनाधिक देता है। इससे प्रायश्चित्त देनेवाले और लेनेवाले-दोनों ही संसार में डूबते हैं।⁵⁵⁹

३. **आलोचना करनेवाले का स्वरूप :-** आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है, जो जाति, कुल एवं विनय से सम्पन्न हो। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र

⁵⁵⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ४८८७-४८८७.

⁵⁵⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ४८८८-४८८८.

(रत्नत्रयी) के गुणों से युक्त हो, क्षमा, दान को धारण करनेवाला हो एवं मायाचार से रहित तथा अपश्चातापी हो।

१. जाति-कुलसम्पन्न :- निन्दित कार्य करते नहीं हैं और किसी समय करते भी हैं, तो उसकी सम्यक् आलोचना करते हैं।

२. विनयसम्पन्न :- स्वभाव से विनीत होने से पापों की स्वयं यथार्थ रूप में आलोचना करते हैं।

३. ज्ञानसम्पन्न-ज्ञानी पुरुष अपने अपराधों के घोर विषाक्तों को जानकर प्रसन्नता से आलोचना करते हैं।

४. दर्शनसम्पन्न :- अपराधों की आलोचना करके "मैं दोषों से शुद्ध हुआ"- ऐसी श्रद्धा करते हैं।

५. चारित्रसम्पन्न :- चारित्रगुणसम्पन्न जीव दोबारा दोषों का सेवन नहीं करते हैं तथा 'आलोचना किए बिना मेरे चारित्र शुद्ध नहीं हो सकते हैं'- ऐसा समझकर सम्यक् आलोचना करते हैं।

६. क्षमाशील :- आचार्य के कठोर वचनों को श्रवण करके भी आवेश नहीं करते हैं एवं उनके द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त की प्रसन्नतापूर्वक पूर्ण करते हैं।

७. दान्त :- इन्द्रियविषयों के विजेता होते हैं।

८. अमायाचारी :- पापों को छिपाते नहीं हैं।

९. अपश्चातापी :- अपने दोष को स्वीकार करके पश्चाताप नहीं करनेवाले होते हैं।⁵⁶⁰

सवेरंगशाला की तरह स्थानांगसूत्र एवं भगवतीसूत्र में भी दस स्थानों से सम्पन्न अनगार ही अपने दोषों की आलोचना करने के योग्य होता है- ऐसा कहा गया है,⁵⁶¹ इसलिए संवेगी, अपश्चातापी, आदि गुणों से युक्त साधु को ही आलोचना देना चाहिए। प्रायश्चित्त लेकर मन में ऐसा विचार आना चाहिए कि मैं धन्य बना हूँ कि जिससे इस जन्म में ही आचार्यश्री ने मेरे दोषों को विशुद्ध कर दिया, अन्यथा परलोक में इन दुष्कृत्यों के भयंकर परिणाम (कष्ट) सहन करने

⁵⁶⁰ सवेरंगशाला, गाथा ४६०१-४६१०.

⁵⁶¹ (क) सवेरंगशाला, गाथा ४६११. (ख) स्थानांगसूत्र १०, ७ (ग) भगवतीसूत्र २५/१०७.

पड़ते, अतः प्रायश्चित्त लेकर मैं निर्भय बना और पुनः दोषरहित जीवन-यापन करने के लिए उद्यमी बनूँ।

आलोचना के दोष :- संवेगरंगशाला में आलोचना के दस दोष कहे गए हैं :- १. आकम्प्य-आकम्पित-दोष २. अनुमान्य या अनुमानित-दोष ३. दृष्ट-दोष ४. बादर-दोष ५. सूक्ष्म-दोष ६. छत्र-दोष ७. शब्दाकुलित-दोष ८. बहुजन-दोष ९. अव्यक्त-दोष एवं तत्सेवी-दोष।

संवेगरंगशाला में आलोचना के दस दोषों की प्राप्तेपादक जो गाथा दी गई है, वही गाथा स्थानांगसूत्र⁵⁶² में भी मिलती है।

१. आकम्प्य या आकम्पित दोष :- आलोचना करनेवाले के मन में ऐसा चिन्तन होना कि “मैं गुरु की ऐसी सेवा, भक्ति, आदि करूँ, जिससे गुरु प्रसन्न होकर मुझे अल्प प्रायश्चित्त दें। इस तरह अल्प प्रायश्चित्त से सम्पूर्ण पापों का प्रक्षालन कर लूँ”- ऐसी भावना से आहार, जल, उपकरण, आदि की सेवा से गुरु को अधीन करके फिर आलोचना करूँ, तो वह आलोचना का प्रथम दोष है, जैसे जीविकाकांक्षायुक्त मनुष्य अहित को भी हित मानता है, वैसे ही इस दोष को समझना चाहिए।

२. अनुमान्य या अनुमानित-दोष :- इसमें शिष्य अपनी दुर्बलता प्रकट करके तदनुसार गुरु के समक्ष दोष निवेदन करता है, जिससे कि गुरु अधिक प्रायश्चित्त न दे, अर्थात् गुरु अल्प प्रायश्चित्त दें-इस भाव से वह अनुनय कर आलोचना करता है। इस दोष को, सुख की चाह से, अहितकर भोजन को भी हितकारी मानकर खाने के समान कहा गया है।

३. दृष्ट दोष :- इसमें गुरु आदि के द्वारा जो दोष देख लिए जाते हैं, शिष्य (साधक) उन्हीं दोषों की आलोचना करता है, अन्य अदृष्ट दोषों की आलोचना नहीं करता है। इस दोष को खोदे हुए कुएँ में फिर से मिट्टी भरने के समान कहा गया है।

४. बादर-दोष :- इसमें शिष्य (साधक) केवल स्थूल या बड़े दोष की आलोचना करता है, सूक्ष्म दोष की आलोचना नहीं करता है। जिस प्रकार काँसे की थाली बाहर से उज्ज्वल तथा भीतर से श्यामवर्ण की होती है, उसी

⁵⁶² आकम्पयित्ता अणुमायित्ता, जं दिहं बापरं वसुहं वा। छण्णं सहाउलमं, बहुजणं अव्यक्तं तत्सेवी।। स्थानांगसूत्र, दशमस्थान, पृ. ७८७.

प्रकार सशल्य आत्मा बाहर से निर्दोष एवं भीतर से सदोष, अर्थात् काले परिणामोवाली होती है।

५. सूक्ष्म-दोष :- इसमें शिष्य (साधक) केवल छोटे-दोषों की आलोचना करता है, अर्थात् भय, माया, अभिमान, आदि से जो केवल सूक्ष्म (सामान्य) दोष हैं, उन दोषों की आलोचना करता है, लेकिन स्थूल दोषों को गुप्त रखता है। ऐसे आलोचना के पाँचवें दोष को पीतल पर सोने का झोल चढ़ाने के समान कहा गया है।

उपर्युक्त दोनों दोषों में यह विचारधारा रही होती है कि जो बड़े-से-बड़े दोषों की आलोचना कर सकता है, वह छोटे दोषों की आलोचना क्यों न करेगा? यहाँ बड़े या छोटे दोषों की आलोचना कर बड़े दोषों को छिपाने की भावना रहती है। इस तरह यह मन में धूर्तता रखकर आलोचना करना है।⁵⁶³

६. छत्र-दोष :- किसी साधक के पाँच महाव्रत में से कोई भी व्रत के खण्डित होने पर उसे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसे जानकर आचार्य के समक्ष आलोचना लिए बिना ही वह स्वयं उस प्रायश्चित्त को स्वीकार कर लेता है।

इसी प्रकार वह लज्जा का प्रदर्शन करता है और एकान्त-स्थान में ले जाकर इतने धीरे और अस्पष्ट शब्दों में आलोचना करता है कि जिससे प्रायश्चित्त देनेवाले एवं अन्य सुन न सकें। जो दोषों को कहे बिना शुद्धि की इच्छा रखता हो, उसे मरीचिका के जल के आभास के समान जानना चाहिए। जैसे उस (मृग) की इच्छा पूर्ण नहीं होती है, वैसे ही अपने दोषों को कहे बिना आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती है।

७. संदुल्लयं या शब्दाकुलित-दोष :- इस दोष में साधक पाक्षिक, आदि प्रतिक्रमण के समय कोलाहलपूर्ण वातावरण में अपने दोषों को इस तरह से कहता है कि जिससे किसी को सुनाई नहीं दे। इस दोष को फूटे घड़े के समान कहा है। जैसे फूटे घड़े में पानी नहीं टिकता है, वैसे ही आलोचना का फल उसे प्राप्त नहीं होता है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार इस दोष में उच्च स्वर से बोलकर आलोचना करना, जिससे कि दूसरे अगीतार्थ साधु सुन लें- ऐसा उल्लेख है।

८. बहुजन दोष :- इसमें साधक गुरु के पास आलोचना करके, फिर शंकाशील हो, उसी दोष की अन्य अनेक आचार्यों के पास जाकर आलोचना

करता है। “मैं कितना पापभीरु हूँ, लोग मेरी प्रशंसा करें”- इस भाव से भी अनेक आचार्यों के पास आलोचना करता है, उसे बहुजन नाम का आठवाँ दोष कहा गया है। जैसे- अन्दर शल्य रह जाने पर रोगी को भयंकर वेदना होती है, वैसे ही यह प्रायश्चित्त भी भयंकर दुःखदायी है।

६. अव्यक्त-दोष :- शिष्य ऐसे अगीतार्थ गुरु के पास आलोचना करता है, जिसे यह भी ज्ञात नहीं कि किस दोष का क्या प्रायश्चित्त आता है। जैसे- दुर्जन से की गई मैत्री अन्त में अहितकर होती है, वैसे ही इस तरह से लिया हुआ प्रायश्चित्त लाभदायक नहीं होता है।

१०. तत्सेवी-दोष :- जिस दोष की आलोचना करनी है, उसी दोष का जिसने सेवन किया हो, उसके पास आलोचना करना, जिसमें गुरु एवं शिष्य-दोनों का समान अपराध हो, उसे तत्सेवी-दोष कहते हैं। इस दोष में, गुरु मुझे अधिक प्रायश्चित्त नहीं देगा- ऐसा विचार कर वह आलोचना करता है। जो मूढात्मा रक्त से सने कपड़े को रक्त से साफ करता है, वह उस वस्त्र को शुद्ध नहीं कर पाता है, उसी तरह इस आलोचना के दोष को जानना चाहिए।⁵⁶⁴

आलोचक को आलोचना के इन दसों दोषों से बचना चाहिए। जब स्वयं को शुद्ध करने का निश्चय कर लिया है, तब आचार्य भगवन् कितना प्रायश्चित्त देंगे, आदि के विकल्प को छोड़कर जो भी प्रायश्चित्त मिले, उसे स्वीकार करना चाहिए।

४. आलोचना नहीं करने से होनेवाले दोष :- लज्जा, गारव अथवा बहुश्रुतज्ञान, आदि के अभिमान से जो अपना दुश्चरित्र (दोष) गुरु के सम्मुख प्रकट नहीं करता है, वह निश्चय से आराधक नहीं होता है, अतः किंचित् भी भूल हो जाए, तो साधक को गुरु के पास आकर बिना लज्जा उन दोषों को कहना चाहिए। लज्जा हमेशा अकार्य करने में होना चाहिए। इस विषय में एक युवराज का उदाहरण कहा गया है। एक युवराज प्रतिदिन मैथुन का सेवन करता था, जिससे उसे रोग उत्पन्न हुआ, किन्तु लज्जावश वह अपना रोग वैद्य के समक्ष प्रकट नहीं करता था। इससे उसका रोग और बढ़ने लगा, जिससे वह भोग से वंचित हुआ एवं अन्त में तीव्र वेदना से मृत्यु को प्राप्त हुआ।

इससे यह फलित होता है कि जिस प्रकार लज्जावश युवराज ने अपने प्राणों को खोया, उसी प्रकार आलोचना करते समय लज्जा रखने से साधक असंयम में वृद्धि करता हुआ अपने संयम को खो देता है।⁵⁶⁵

५. आलोचना के गुण :- स्वयं के दोषों की आलोचना करने से साधक को आठ गुण प्रकट होते हैं। वे अनुक्रम से इस प्रकार कहे गए हैं :-

१. लघुता २. प्रसन्नता ३. स्व-परदोष-निवृत्ति ४. माया का त्याग ५. आत्मा की शुद्धि ६. दुष्कर-क्रिया ७. विनय की प्राप्ति एवं ८. निःशल्पता। जो साधक सरल हृदय से अपराधों को प्रकट करता है, वह उपर्युक्त इन आठ गुणों को प्राप्त करता है।

१. लघुता :- जब व्यक्ति अपने कर्मों के समूह से इतना भारी हो जाता है कि उस भार से थका हुआ शिवपुरी जाने में असमर्थ हो जाता है, तब वह संक्लेश को छोड़कर शुद्ध भाव से आलोचना करके कर्मबन्ध के महान् भार को हटका करता है। इस तरह मोक्ष का कारणभूत चारित्र्य गुण की अपेक्षा द्वारा परमार्थ से महान् कर्मों की लघुता प्राप्त करता है।

२. प्रसन्नता :- मुनि जैसे-जैसे अपने अपराधों को गुरु के समक्ष प्रकट करता है, वैसे-वैसे उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। वह विचार करता है कि मैं धन्य हूँ कि मुझे अति दुर्लभ उत्तम वैद्यरूप निर्यापक-आचार्य प्राप्त हुए हैं, अतः लज्जा, भयादि को छोड़कर शुद्ध भाव से आलोचना करूँ एवं संसार के दुःखों को नष्ट करने हेतु अनशन, तप, आदि स्वीकार करूँ- इस तरह वह प्रसन्नता व्यक्त करता है कि शुभभावपूर्वक आलोचना करके वह अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकता है।

३. स्व-परदोष-निवृत्ति :- उत्तम गुणों से युक्त आचार्य के सान्निध्य में रहने से उनके भय से एवं लज्जा के वशीभूत होकर शिष्य दुष्कृत्य करने से बचता है, क्योंकि एक मुनि को चारित्रवान् देखकर अन्य मुनिजन भी पाप के भय से अकार्य करने से भयभीत होते हैं। इस तरह अपने और दूसरे के दोषों की निवृत्ति होने से स्व-पर का उपकार होता है, क्योंकि स्व-पर के कल्याण से महान् दूसरा कोई उपकार नहीं है।

४-५. माया त्याग एवं आत्मशुद्धि :- मायाचार (कपट) से रहित, शुद्ध भावों से आलोचना करने से संसार का भय नष्ट होता है, एवं जीव परम निवृत्ति

को प्राप्त करता है- ऐसा तीर्थकरों का कहना है, क्योंकि माया से रहित सरल जीवों की आत्मा ही शुद्ध होती है। शुद्ध आत्मा में ही धर्म स्थिर रहता है, किन्तु मायावी जीव तो क्लिष्ट कर्मों का बन्ध करते हैं एवं उन कर्मों को भोगते समय पुनः पापकर्मों का ही उपार्जन करते हैं। इस तरह परस्पर कार्य-कारणरूप में संसार की वृद्धि करते रहते हैं, इसलिए माया को सर्व दुःखों का मूल कहा है और आलोचना करने से माया का उन्मूलन होता है। इससे सरलता प्रकट होती है और आत्मा की शुद्धि भी होती है।

६. दुष्कर-क्रिया :- कर्मदोष से अथवा प्रमाद से जीव दोषों का सेवन सुखपूर्वक करता है एवं यथास्थित आलोचना करने में उसे दुःख उत्पन्न होता है। क्योंकि आलोचना करना अति दुष्कर है, अतः कर्म-दोष से अनेक भवों में पाप-दोष का सेवन करता हुआ भी यदि लज्जा, अभिमान को छोड़कर जो आलोचना करता है, वह दुष्कर-कारक कहलाता है एवं वहीं निष्कलंक शुद्ध आराधना को भी प्राप्त कर सकता है।

७. विनय :- जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए सम्यक् आलोचना करना आज्ञा-विनय कहलाता है। इससे गुरु का विनय होता है एवं ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। कहा भी गया है कि विनय धर्म का मूल है, अतः संयतमुनि विनीत होते हैं। अविनीत को धर्म की प्राप्ति असंभव है। क्योंकि चतुर्गति से मुक्ति के लिए अष्टकर्मों का ध्येय भी विनय से ही होता है, इसलिए वीतराग परमात्मा ने विनय को संसार से मुक्ति प्राप्त कराने में श्रेष्ठ कहा है।

८. निःशल्यता :- सम्यक् आलोचना करने से ही व्यक्ति शल्यरहित एवं शुद्ध हो सकता है, अन्यथा शुद्ध नहीं हो सकता है। इस कारण आलोचना का अन्तिम गुण निःशल्यता कहा गया है। आत्मा गारवरहित होकर ही मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य एवं निदानशल्यरूपी पाप की जड़ को मूल से उखाड़ सकती है। जिस तरह मजदूर अपने कन्धे से भार को उतारकर अपने को हल्का अनुभव करता है, उसी प्रकार साधु भी आचार्य या गुरु के पास जाकर अपने दुष्कृत्यों की आलोचना, निन्दा करके तथा अन्तःशल्यों को बाहर निकालकर कर्मों के भार से मुक्त होता है, यानी हल्का होता है।⁵⁶⁶

६. आलोचना दूसरों की साक्षी में करें :- मेरे जैसा प्रायश्चित्तदाता अर्थात् जानकार दूसरा कोई नहीं है, अथवा मुझसे अधिक ज्ञानवान् दूसरा कौन है- इस तरह अभिमानवश जो अपने अपराधों को प्रकट नहीं करता है, वह

महात्मा, प्रमादादि से रोग की औषध नहीं करनेवाले रोगी-वैद्य (चिकित्सक) के समान आराधनारूपी आरोग्यता को प्राप्त नहीं करता है। जैसे- कोई वैद्य रोग से ग्रसित हो एवं अभिमानवश अपने रोग को अन्य वैद्य के समक्ष प्रकट नहीं करता हो, तो वह सैकड़ों औषध करने पर भी रोग की पीड़ा से मर जाता है, उसी तरह जो अपने अपराधरूपी रोगों को आचार्य के निकट प्रकट नहीं करता है, उस ज्ञानी पुरुष का ज्ञान नष्ट होता है, क्योंकि व्यवहार में कुशल, छत्तीस गुणों से सुशोभित आचार्य को भी सदैव पर की साक्षी में ही आलोचना करना चाहिए। जैसे-कुशल वैद्य अपने रोग की चिकित्सा दूसरे उत्तम वैद्य से करवाता है, तो उसकी श्रेष्ठ चिकित्सा होती है, वैसे ही प्रायश्चित्त-विधि में कुशल आचार्य को भी अपने दोष अथवा शल्य को अन्य उत्तम आचार्य के समक्ष ही निकालना चाहिए। साधु यदि अन्य आलोचनाचार्य के समक्ष आलोचना किए बिना ही, “वे तो आलोचना कराते नहीं”- ऐसा मानकर स्वयं ही प्रायश्चित्त कर लेता है, तो वह आराधक नहीं कहलाता है, इसलिए प्रायश्चित्त लेने के लिए गीतार्थ की खोज क्षेत्र से सात सौ योजन एवं काल से बारह वर्ष तक (उत्कृष्ट से) करना चाहिए।⁵⁶⁷

७. आलोचना की विधि एवं मर्यादाएँ :- साधक को आलोचना करते समय किस विधि का पालन करना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए संवेगरंगशाला में बताया गया है कि आलोचना करते समय सात मर्यादाओं का पालन करना चाहिए, जो इस प्रकार हैं- १. अव्याक्षिप्त २. प्रशस्त-द्रव्यादि का योग ३. प्रशस्त दिशा के सम्मुख बैठकर ४. विनयपूर्वक ५. सरल भावपूर्वक ६. आसेवन, आदि क्रमपूर्वक और ७. छः श्रवण के मध्य आलोचना करना।

१. अव्याक्षिप्त :- साधु को प्रत्येक विषय-वस्तु के प्रति सदैव अव्याक्षिप्तता, अर्थात् अनासक्तता के भाव होना चाहिए एवं आलोचना करते समय साधु को विशेष रूप से व्याक्षिप्तता से रहित होना चाहिए। साधक को दो या तीन दिन में आलोचना ले लेना चाहिए। अपने पूर्व-जन्मों के कर्म का छेदन-भेदन करने के लिए सर्वप्रथम साधक को स्थिर मन एवं सरलतम भावों से अपने दोषों को पुनः-पुनः स्मरण करना चाहिए, उसके पश्चात् गुरु के चरणों में आकर संवेग (वैराग्य) भावों से अपने दोषों को इस तरह प्रकट करना चाहिए, जिससे इस लोक तथा परलोक- दोनों जन्मों के कर्मों का क्षय हो जाए।

२. प्रशस्त-क्षेत्रादि का योग होने पर :- संवेगरंगशाला में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के, प्रशस्त एवं अप्रशस्त-ऐसे दो भेद किए गए हैं। साधक को

आलोचना सदैव प्रशस्त-क्षेत्रादि में ही करना चाहिए, अप्रशस्त-क्षेत्रादि में नहीं, जैसे-

अप्रशस्त-द्रव्य - तुच्छ वृक्ष, तुच्छ धान्य के ढेर, आदि.

अप्रशस्त-क्षेत्र - दग्ध घर, उजाड़ भूमि, आदि.

अप्रशस्त-काल - दग्धातिथि अमावस्या, दोनों अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी एवं एकादशी.

सन्ध्या, रविवार, कुनक्षत्र, अशुभ योग-इन्हें अप्रशस्तकाल जानना चाहिए।

अप्रशस्त भाव- राग, द्वेष, प्रमाद, मोह, आदि के अप्रशस्तभाव जानना चाहिए। ये सभी स्वदोष हैं, इन अप्रशस्त द्रव्यक्षेत्रादि में आलोचना नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत (प्रतिपक्षी) प्रशस्तद्रव्यादि में आलोचना करना चाहिए।

प्रशस्त-द्रव्य :- क्षीरयुक्त वृक्ष, आदि के योग में।

प्रशस्त-क्षेत्र :- गन्ने का क्षेत्र, अक्षत (चावल) का क्षेत्र, जिनमन्दिर, आदि स्थान में।

प्रशस्त-काल:- पूर्व में कही गई तिथियों के अतिरिक्त शेष तिथियों एवं सुनक्षत्र आदि में।

प्रशस्त-भाव :- प्रसन्न मन, ग्रह, लग्न, आदि सभी उच्च स्थान में हों, तब प्रशस्तभावों से युक्त होकर साधक को आलोचना करना चाहिए।

३. प्रशस्त-दिशा :- पूर्व अथवा उत्तर-दिशा में एवं तीर्थकरादि जिस दिशा में विचरण करते हैं, अथवा जिस दिशा में जिनमन्दिर है, उस दिशा को आलोचना करने के लिए उत्तम जानना चाहिए। यदि आचार्य भगवन् पूर्वाभिमुख करके बैठे हों, तो आलोचनाकारक को उत्तराभिमुख होकर दाहिनी ओर बैठना चाहिए। यदि आचार्य उत्तराभिमुख बैठे हों, तो साधक को पूर्वाभिमुख करके बाईं ओर बैठना चाहिए। इसी तरह उपकारी आचार्य को पूर्व अथवा उत्तर-दिशा में सम्मुख बैठ कर आलोचना सुनना चाहिए।

४. विनय :- अटूट श्रद्धा-भक्तिभाव से पूरित होकर गुरु को उत्तम आसन पर विराजमान करे, पश्चात् वन्दना करके दोनों हाथों को जोड़कर गुरु के सम्मुख आकर खड़ा हो जाए, फिर अपने दोषों को स्पष्ट उच्चारण से प्रकट करे। यदि साधु रोगादि से पीड़ित हो, अथवा अपने दोषों को कहने में अधिक समय

लगाता हो, तो गुरु की आज्ञा से आसन पर बैठकर फिर विनम्रतापूर्वक दोषों को यथार्थ रूप से निवेदन करे।

५. ऋजुभाव (सरलता) :- सदैव बालक के सदृश सरल हृदयवाला होकर साधक को आचार्य के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना चाहिए।

६. क्रमपूर्वक :- संवेगरंगशाला में आसेवनक्रम एवं आलोचनाक्रम-ऐसे दो प्रकार के क्रम कहे गए हैं। आसेवनक्रम, अर्थात् जिस क्रम से दोषों का सेवन किया, उसी क्रम से आलोचना करना चाहिए। आलोचनाक्रम, अर्थात् प्रथम सूक्ष्म (छोटे) दोष कहना, बाद में बड़े अपराधों की आलोचना करना। जिस प्रकार प्रायश्चित्त में वृद्धि हो, उस क्रम से कहना, अकुटिलता (अकपट) द्वारा दोषों का सेवन किया हो, कपट द्वारा, प्रमाद द्वारा, कल्पना से, यतनापूर्वक (कारण के उपस्थित होने पर जयणापूर्वक) कोई भी अपराध का सेवन किया हो, तो उन सर्व दोषों को यथाप्रकार से सेवन किया हो, तथाप्रकार से आलोचना करना चाहिए।

७. छःश्रवण :- संवेगरंगशाला में कहा गया है कि साधु को छः कानों में सुनाई दे, इस प्रकार आलोचना करना चाहिए। प्रायश्चित्त करनेवाले (क्षपकमुनि) के दो कान, प्रायश्चित्त देनेवाले (निर्यापक-आचार्य) के दो कान एवं जिसकी साक्षी में प्रायश्चित्त करे, उसके दो कान- इस तरह कुल मिलाकर छः कानों में श्रवण-योग्य आलोचना करना चाहिए। यदि साधु युवावस्था में आलोचना स्वीकार करता है, तो उसे आठ कानों में आलोचना करना चाहिए एवं वृद्धावस्था में साधु चार कानों के में आलोचना कर सकता है।⁵⁶⁸

८. प्रायश्चित्त की विधि :- पूर्व में आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, आदि प्रायश्चित्त के दस भेद कहे गए हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया गया है। इसमें जो अतिचार जिस प्रायश्चित्त से शुद्ध होता हो, उसे उसके योग्य जानना चाहिए। जैसे-कोई अतिचार आलोचनामात्र से शुद्ध होता है, तो कोई प्रतिक्रमण करने से शुद्ध होता है। आलोचनारूप प्रायश्चित्त की चर्चा पूर्व में कर चुके हैं, अब प्रायश्चित्त के अन्य रूपों की चर्चा करते हैं।

९. प्रतिक्रमणार्ह :- प्रायश्चित्त का दूसरा भेद प्रतिक्रमण है। साधक जिस क्रिया के द्वारा आत्म-निरीक्षण एवं पश्चात्ताप के द्वारा अपने किए हुए अपराधों एवं पापों का प्रक्षालण करता है, वह प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है- “पुनः आना”। प्रमादवश साधक का मन यदि शुभयोग से अशुभयोग में चला जाए, तो अशुभयोग से पुनः शुभयोग में आना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण से साधक

पाप से निवृत्त होता है। उसके मन में पाप के प्रति घृणा होती है। असावधानी से जो भी स्खलना हुई हो, उन भूलों का वह परिमार्जन करता है।

२. तदुभयार्ह :- प्रायश्चित्त का तीसरा भेद तदुभयार्ह है। जिस दोष की आलोचना एवं प्रतिक्रमण-दोनों करने से शुद्धि होती है, वह तदुभयार्ह है, जिस प्रकार पञ्चेन्द्रिय आदि जीवों का संघट्ट (स्पर्श) आदि हो जाने पर उसका प्रतिक्रमण भी किया जाता है एवं आलोचना भी की जाती है।

३. विवेकार्ह :- विवेक, यानी त्याग अथवा छोड़ना। आधाकर्म, आदि आहार आ जाने पर उस आहार को सविधि परठना पड़ता है, तभी उस पाप से मुक्त हो सकते हैं।

४. व्युत्सर्गार्ह :- नदी, आदि को पार करने में तथा मार्ग, आदि में चलने से असावधानी के कारण यदि कोई दोष लग गया हो, तो कायोत्सर्ग कर उस दोष की विशुद्धि की जाती है।

५. तपार्ह :- जिस दोष की विशुद्धि के लिए आगमोक्त-विधि के अनुसार तप किया जाता है, वह तपार्ह है। इसमें आंयबिल आदि षण्मासिक तप का विधान है।

६. छेदार्ह :- छेद, अर्थात् काटना या कम करना। जिस प्रायश्चित्त में दोष की विशुद्धि के लिए दीक्षा-पर्याय का छेदन किया जाता है, वह छेदार्ह है। दोष की गुरुता व लघुता के अनुसार इसमें प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसमें मासिक, चातुर्मासिक व षण्मासिक तक प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रस्तुत प्रायश्चित्त के व्यवहार में यह परिणाम आता है कि जितने समय का छेद किया जाता है, उस अवधि में जो दीक्षित होता है, उसको वह नमन, आदि करता है। इस प्रायश्चित्त में प्रायश्चित्त लेने वाले के अहं पर सीधा प्रहार होता है, इसलिए यह प्रायश्चित्त अन्य तपों में कठिन है।

७. मूलार्ह :- छद्मस्थ-श्रमण कभी-कभी गुरुतर दोष का सेवन कर लेता है, जिससे उसका चरित्र नष्ट हो जाता है। ऐसे दोष की शुद्धि आलोचना, तप और छेद से नहीं हो सकती, अतः उसके लिए पुनः महाव्रत आरोपित किए जाते हैं, दीक्षा-पर्याय का पूर्ण छेदन कर नई दीक्षा दी जाती है। महाव्रत मूल है, इसलिए इस प्रायश्चित्त को मूल योग्य कहा गया है।

८. अनवस्थाप्यार्ह :- जिस गुरुतर दोष की विशुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता है, श्रमण-संघ से पृथक् होकर गृहस्थ-वेश धारण किया

जाता है और तप किया जाता है तथा उसके बाद पुनः नई दीक्षा दी जाती है, वह अनवस्थाप्यार्ह-प्रायश्चित्त कहलाता है।

६. पारांचिकार्ह :- जिस महादोष की विशुद्धि हेतु साधक श्रमण-वेश का और क्षेत्र का भी परित्याग कर छः महीने से लेकर बारह वर्ष तक गण, साधुवेश और अपने क्षेत्र को छोड़कर जिनकल्पिक श्रमण की तरह उग्र तपस्या करता है, उस अवधि के पूर्ण होने पर नई दीक्षा लेकर श्रमण-संघ में सम्मिलित होता है, वह पारांचिकार्ह-प्रायश्चित्त कहलाता है।⁵⁶⁹

यह प्रायश्चित्त उन साधकों को आता है, जो गण (समुदाय) में फूट डालते हैं, फूट की योजना बनाते हैं, श्रमण को मारने के भाव रखते हैं, मारने की योजना बनाते हैं एवं उस योजना को सफल बनाने के लिए समय, आदि का अन्वेषण करते हैं।

टीकाकार का अभिमत है कि दसवाँ प्रायश्चित्त विशेष सामर्थ्यवान् आचार्य को दिया जाता है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का विधान है एवं अन्य सामान्य श्रमणों के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का ही विधान है।

प्रायश्चित्त के जो उपर्युक्त प्रकार बताए गए हैं, उनसे यह फलित होता है कि प्रायश्चित्त वही साधक ग्रहण करता है, जिसका हृदय सरल हो और जिसमें दोषमुक्त होने की भावना हो। दोष चाहे कितना ही बड़ा या छोटा हो, अप्रमत्त-भाव से पापों की शुद्धि (प्रायश्चित्त) करनेवालों को दोष से मुक्त बनाया जा सकता है, क्योंकि मूलतः आत्मा दोषी नहीं है। दोष, प्रमाद व कषाय के कारण होता है, इसलिए दोष से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता रहती है।

६. आलोचना का फल :- राग-द्वेष से रहित सर्वज्ञ परमात्मा ने सर्व दुःखों का क्षय होने से शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति को ही आलोचना का फल कहा है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्षमार्ग का हेतु कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में भी मोक्षमार्ग के यही हेतु बताए गए हैं।⁵⁷⁰

“सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः”

चारित्र के साथ सम्यक् ज्ञान और दर्शन-दोनों अवश्य होते हैं, किन्तु चारित्र-व्रत स्वीकार करके भी प्रमादवश साधक महाव्रतों एवं मुनि-आचार में दोष लगाते हुए अपने लाखों भवों के चारित्र का नाश कर लेता है। अतः साधक उन

⁵⁶⁹ सविगर्गशास्त्र, गाथा ५०८५-५०८९।

⁵⁷⁰ तत्त्वार्थसूत्र १/१।

महान् दोषों की भी शुद्धि आलोचना के द्वारा कर सकता है, क्योंकि शुद्धचारित्र का पालन करते हुए अप्रमत्त धीर-वीर साधु अपने शेषकर्मों का क्षय करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करता है तथा केवलज्ञान प्राप्त करके उसी भव में शाश्वत सुख, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस तरह प्रायश्चित्त के फल को जानकर क्षपकमुनि अहंकार का त्याग कर, निरभिमानी हो, उत्कृष्ट आराधना-विधि के अनुसार आराधना करने की इच्छा करे। “हे धीर पुरुष! बैठते-उठते, चलते आदि क्रियाओं में जो भी अतिचार लगे हों, उसकी तू सम्यक् प्रकार से आलोचना कर, क्योंकि जैसे जहर का प्रतिकार नहीं करने से जहर का एक कण भी अवश्य प्राण ले सकता है, वैसे ही अल्प भी अतिचार प्रायः अनेक अनिष्ट फल को देनेवाला होता है।” इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सूरतेजराजा का उदाहरण उपलब्ध होता है।⁵⁷¹

90. आलोचनीय दोषों का निर्देश :- साधक को ज्ञानाचार, आदि पाँच आचार सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े अतिचारों की अच्छी तरह आलोचना करना चाहिए। आचार के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य-ये पाँच भेद हैं। ज्ञानाचार के काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय- ये आठ प्रकार हैं। जैसे- स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करके अकाल में किया ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि की उपचाररूप से विनय, बहुमान नहीं करना, तपपूर्वक अध्ययन नहीं करना, श्रुत का अपलाप, अर्थात् सत्य को छिपानेरूप कार्य करना, सूत्र व अक्षर जिस रूप में हों, उसी रूप में उन्हें नहीं लिखना या नहीं पढ़ना, सूत्रादि का अन्य अर्थ करना एवं सूत्र-अर्थ को अशुद्ध बोलना अथवा लिखना - इनमें से जो कोई भी अतिचार सूक्ष्म या स्थूल रूप से लगा हो, तो उनकी आलोचना करना चाहिए।

दर्शनाचार के निम्न आठ प्रकार - निःशक्ति, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना, जैसे- कभी प्रमादवश जिनवचनों में शंका की हो, अन्य दर्शन अथवा कर्मफल की आकांक्षा की हो, सदाचार के फल के प्रति शंका की हो, अन्य धर्मों का चमत्कार देखकर भ्रमित हुआ हो, स्वधर्मी भाइयों के गुणों की प्रशंसा न की हो, साधर्मिक को धर्म में स्थिर नहीं किया हो, साधर्मिक का प्रेमपूर्वक कार्य नहीं किया हो एवं श्रुतज्ञानादि से जैन-शासन की प्रभावना नहीं की हो आदि दर्शनाचार सम्बन्धी जो भी अतिचार लगे हों, तो उनकी आलोचना करना चाहिए।

⁵⁷¹ संवेगरंगशाला, गाथा ५०६२-५१००.

चारित्राचार- महाव्रत, आदि मूलगुण एवं पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणरूप तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप चारित्राचार में जो अतिचार लगा हो, उनकी आलोचना करना चाहिए।

साधु के मूलगुण धर्मरूपी कल्पवृक्ष के मूल (जड़) के समान हैं और उत्तरगुण उनकी शाखाओं के समान हैं।

१. प्राणातिपातविरमणव्रत - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, सम्बन्धी-संघटन, परिताप और विनाश- ये प्रथम मूलगुण के अतिचार हैं।

२. मृषावादविरमण-व्रत - क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य अथवा भय से असत्य वचन बोलना- ये दूसरे मूलगुण के अतिचार हैं।

३. अदत्तादानविरमणव्रत - मालिक द्वारा नहीं दिए जाने पर सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्य का हरण करना।

४. मैथुनविरमणव्रत - देव, तिर्यच या मनुष्य की स्त्रियों के भोग की मन से अभिलाषा करना, वचन से प्रार्थना करना और काया से स्पर्श, आदि करना।

५. परिग्रहविरमणव्रत - देश, कुल, स्वजन तथा वस्तुओं पर ममत्व रहा हो।

६. रात्रिभोजनविरमणव्रत - दिन में लाया हुआ भोजन रात में, रात में लाया हुआ दिन में और पूर्व दिन में लाया हुआ दूसरे दिन में- इस तरह चार प्रकार के रात्रिभोजन के अन्दर जो अतिचार सेवन किया हो, उन सबकी सम्यक् रूप से आचार्य के पास आलोचना करना चाहिए।

उत्तरगुण के अतिचार - अकल्य भोजन को ग्रहण करना, एषणा के सिवाय चार समितियों में प्रयत्न का अभाव, महाव्रतों की रक्षा करनेवाली पच्चीस भावनाओं अथवा बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुभावन न करना। इस प्रकार रागादिवश होकर विवेक नष्ट होने से पिण्ड-विशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, अभिग्रह और तपरूप उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की चारित्रविशुद्धि हेतु आलोचना करना चाहिए।

अनशन आदि छः प्रकार के बाह्यतप एवं प्रायश्चित्त आदि छः प्रकार के आभ्यन्तर-तप में शक्ति होने पर भी जो प्रमाद के कारण अनाचरण किया हो, तो उन अतिचारों की आलोचना भी करने योग्य होती है।

वीर्याचार में शिवगति के कारणभूत कार्यों में अपने वीर्य-पराक्रम को छिपानेरूप जिन अतिचारों का सेवन किया हो, उन्हें भी आलोचना करने के योग्य जानना चाहिए।⁵⁷²

जिनचन्द्रसूरिकृत संवेगरंगशाला में वर्णित आलोचनाविधान द्वार में एवं आचार्य हरिभद्रसूरिकृत पंचाशकप्रकरण⁵⁷³ में वर्णित आलोचना-विधि में समानता पाई जाती है, फिर भी पंचाशकप्रकरण में प्रायश्चित्त-विधि की विस्तृत चर्चा की गई है, जबकि संवेगरंगशाला में प्रायश्चित्त-विधि की अधिक चर्चा नहीं की गई है।

समाधिमरण में आसक्ति-विमुक्ति का उपाय-भावनाएँ :-

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने प्रथम परिकर्मद्वार के चौदहवें उपद्वार में भावना का विवेचन करते हुए यह कहा है कि भावों की श्रेणी में चढ़ने के पश्चात् यदि भावों में स्थिरता नहीं रहे, तो पुनः जीव का पतन सम्भव है, इसलिए भावों में दृढ़ता लाने के लिए भावनाओं का पुनः-पुनः चिन्तन आवश्यक है।

संवेगरंगशाला में भावना के दो प्रकार बताए गए हैं :-

१. अप्रशस्त-भावना और २. प्रशस्त भावना। उसके बाद पुनः अप्रशस्त-भावना के निम्न पाँच विभाग किए गए हैं -

१. कन्दर्प २. कित्विषिक ३. आभियोगिक ४. आसुरी और ५. सम्मोह।⁵⁷⁴

१. कन्दर्प-भावना :- अप्रशस्त भावना का प्रथम प्रकार कन्दर्प-भावना है। इसमें यह कहा गया है कि कामुक हास्यादि कर्दप-भावना के अन्तर्गत आते हैं। कौत्कुच्य, विस्मय, बड़ी आवाज से हँसना, दूसरों को हँसाना, कामवर्द्धक शब्द कहना, कामयाचना, कामुक उपदेश और कामवृत्ति की प्रशंसा, आदि कन्दर्प-भावना के भेद हैं।⁵⁷⁵

कौत्कुच्य-भावना :- नेत्र, भृकुटी एवं अन्य अंगोपांग द्वारा स्वयं हंसे बिना दूसरों को हँसाना।

दुतशीलत्व-भावना :- अहंकारवश सर्वकार्य शीघ्र-शीघ्र करना।

⁵⁷² संवेगरंगशाला, गाथा ५०४५-५०७२.

⁵⁷³ पंचाशकप्रकरण, पृ. २५७.

⁵⁷⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ३८४५-३८४८.

⁵⁷⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ३८४६-३८५३.

हास्यक्रिया-भावना :- विचित्र वेशभूषा एवं विकारी वचनों द्वारा स्व-पर को हँसना।

परविस्मयकर-भावना :- मंत्र-तंत्र, आदि से जगत् को आश्चर्यचकित करना।

२. कित्विषिक-भावना :- संवेगरंगशाला में देव-आयुष्य का बन्ध करनेवाली दूसरी कित्विषिक-भावना को भी पाँच भागों में बाँटा गया है- १. श्रुतज्ञान की अवज्ञा २. केवली भगवन्त की अवज्ञा ३. धर्माचार्य की अवज्ञा ४. साधुओं की अवज्ञा और ५. गाढ़ माया करना।⁵⁷⁶ इसके भी अनेक रूप हैं-

१. व्रत, प्रत्याख्यान, आदि की जो चर्चा एक ग्रन्थ में है, वही चर्चा दूसरे ग्रन्थों में भी है- ऐसा कहकर श्रुत का अपमान करना ही श्रुतज्ञान की अवज्ञा कहा जाता है।

२. यदि वे सच्चे वीतराग हैं, तो पक्षपातयुक्त होकर केवल भव्य जीवों को ही धर्मोपदेश क्यों देते हैं?- इस तरह वीतरागियों की निन्दा करना केवली की अवज्ञा है।

३. धर्माचार्यों के जाति, कुल, ज्ञान आदि की निन्दा करना, धर्माचार्य की अवज्ञा कही जाती है।

४. साधुओं को एक क्षेत्र से सन्तोष नहीं होता है, इसलिए गाँव-गाँव घूमते हैं, इत्यादि अपशब्द कहकर सर्व साधुओं की निन्दा करना साधुओं की अवज्ञा है।

५. कपटवृत्ति, जीवन में दोहरापन, कथनी और करनी में अन्तर गाढ़ माया है। यह कित्विषिक-भावना का ही एक रूप है।⁵⁷⁷

३. आभियोगिक-भावना :- विषयासक्ति के कारण वशीकरण-मन्त्र, आदि से स्वयं को भावित करना आभियोगिक-भावना है। यह भावना भी पाँच प्रकार की है। वे पाँच प्रकार निम्न हैं - १. कौतुक-भावना २. भूमिकर्म-भावना ३. प्रश्न-भावना ४. प्रश्नाप्रश्न-भावना और ५. निमित्त-भावना। अग्नि के अन्दर होम करके, औषधादि द्वारा अन्य को वश में करके, रक्षासूत्र से दूसरों की रक्षा करके, अंगूठे आदि में देव उतारकर दूसरों के प्रश्नों का उत्तर देकर, स्वप्न-विद्या,

⁵⁷⁶ सुयनाण केवलीणं क्षमावरियाणं सब्बसाहूणं। अब्बन्न भासणं तह य गाढमाइल्लया इत्ति। संवेगरंगशाला, गाथा ३८५५.

⁵⁷⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ३८५५-३८५६.

घंटाकर्ण, पिशाचादि की विद्या से पर के अर्थ का निर्णय करके, निमित्तशास्त्र द्वारा दूसरों को लाभ-हानि आदि बताकर आजीविका चलाना आभियोगिक-भावना है।⁵⁷⁸

४. आसुरी-भावना :- संवेगरंगशाला में असुर-निकाय के देवों की सम्पत्ति देनेवाली आसुरी-भावना का वर्णन निम्न पाँच प्रकार से किया गया है- १. बार-बार झगड़ा करना २. आसवित्सहित तप करना ३. निमित्त-कथन करना ४. करुणा का अभाव और ५. अनुकम्पा का अभाव। इन पाँचों का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि पहली भावनावाला हमेशा लड़ाई-झगड़े करने में रुचि रखता है, दूसरी भावना वाला आहारादि प्राप्त करने के लिए तप करता है, तीसरी भावनावाला अभिमान अथवा दूसरों के प्रति द्वेषवश गृहस्थ को भूत-भविष्य बतलाता है, चौथी भावनावाला त्रसदि जीवों पर करुणा नहीं करता है और पाँचवी भावनावाला दूसरों को दुःख से पीड़ित एवं भयभीत होते देखकर भी निष्ठुर हृदयवाला होता है।⁵⁷⁹

५. सम्मोह-भावना :- संवेगरंगशाला के भावनाद्वार में स्व-पर को मोहित करनेवाली सम्मोह नामक अप्रशस्त-भावना का उल्लेख किया गया है। इसके भी पाँच भेद किए गए हैं, जो निम्न हैं -

१. उन्मार्ग-देशना :- सम्यग्ज्ञानादि को दोषपूर्ण बताकर उससे विपरीत मोक्षमार्ग का उपदेश करना उन्मार्ग-देशना है।

२. मार्गदूषण :- मोक्षमार्ग, अर्थात् सम्यक् ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र में स्थित मनुष्यों के दोषों को बताना मार्गदूषण-भावना कहलाता है।

३. मार्ग-विप्रतिपत्ति :- अपने स्वच्छन्द वितर्कों से मोक्षमार्ग को दूषित मानकर उन्मार्ग का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति का अनुमोदन मार्ग-विप्रतिपत्ति-भावना है।

४. मोह (मूढ़ता) :- अन्य धर्म एवं दर्शनों की पूजा-प्रतिष्ठा को देखकर मोहित होना मूढ़ता कहा गया है।

५. मोहजनन-भावना :- गैरिक, तापस, शाक्याभिक्षु, आदि के धर्म में श्रद्धा रखना, अथवा लोक में जिनकी पूजा और सत्कार होता है, उन धर्मदर्शनों के प्रति आदरभाव मोहजनन-भावना है।⁵⁸⁰

⁵⁷⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ३८६१-३८६६.

⁵⁷⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ३८६७-३८७२.

⁵⁸⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ३८७३-३८८०.

संवेगरंगशाला में कहा गया है कि संयतचारित्रवान् मुनि या समाधिमरण का साधक भी यदि इन अप्रशस्त-भावनाओं में से किसी भी प्रकार की भावना में प्रवृत्ति करता है, तो वह भवान्तर में देवयोनि में उत्पन्न होता है और वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके संसार में परिभ्रमण करता है, अतः चारित्र की मलिनता में हेतुभूत और दुर्गति को देनेवाली इन पाँचों अप्रशस्त भावनाओं से समाधिमरण के साधक को दूर रहना चाहिए।

प्रशस्त-भावना :- संवेगरंगशाला में इसी प्रसंग में आगे प्रशस्त-भावना के पाँच भेदों का वर्णन निम्न रूप से प्रस्तुत किया गया है-१. तप-भावना २. श्रुत-भावना ३. सत्त्व-भावना ४. एकत्व-भावना और ५. धीरज-भावना।

१. तप-भावना :- संवेगरंगशाला के अनुसार जिसने अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में कर लिया है- ऐसे जितेन्द्रिय साधक इन पाँचों इन्द्रियों को समाधिमरण ग्रहण करने में साधनरूप बनाते हैं। जिसने अपनी इन्द्रियों को दमन नहीं किया, अर्थात् जो इन्द्रिय-सुखों में आसक्त है तथा परीषहों से पराजित हुआ है- ऐसा साधक आराधनाकाल में व्याकुल बनता है। आचार्य यहाँ घोड़े के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस घोड़े का लम्बे समय तक सुख से लालन-पालन किया हो और करने योग्य अभ्यास को नहीं सिखाया गया हो, ऐसा घोड़ा युद्ध के मैदान में अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, उसी तरह पूर्व-अभ्यास से रहित जीव अन्त समय में समाधि की इच्छा होने पर भी परीषहों को सहन करने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह विषय-सुख को छोड़ नहीं पाता है।⁵⁸¹

२. श्रुत-भावना :- श्रुत का गहन ज्ञान होने से साधक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रमण करते हैं। साधक विवेकपूर्वक तीनों योग से जिनाज्ञा का अनुसरण करता है और घोर परीषहों को भी हँसते-हँसते सहन कर लेता है तथा पथ-भ्रष्ट नहीं होता है।⁵⁸²

३. सत्त्व-भावना :- सत्त्व-भावना की चर्चा करते हुए संवेगरंगशाला में यह कहा गया है कि शारीरिक और मानसिक-दुःख जब एक साथ आ जाते हैं, तब सत्त्व-भावना से युक्त जीव 'नरकादि पूर्व भवों में अनके बार भीषण दुःखों को भोगा है तथा इस जीव ने अनन्त बार बालमरण को प्राप्त किया है'- ऐसा विचारकर दुःखी नहीं होते हैं तथा मृत्यु आने पर घबराते नहीं हैं। जैसे- सुभट

⁵⁸¹ संवेगरंगशाला, भाषा ३८८५-३८८६.

⁵⁸² संवेगरंगशाला, भाषा ३८८६-३८८७.

अपने निरन्तर अभ्यास के द्वारा रणभूमि में घबराता नहीं है, वैसे ही सत्त्व-भावना से युक्त मुनि उपसर्गों से घबराते नहीं हैं।⁵⁸³

४. एकत्व-भावना :- इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है- एकत्व-भावना में वैराग्य को प्राप्त करनेवाला जीव काम-भोगों में आसक्त नहीं होता है, अपितु श्रेष्ठ धर्म का पालन करता है। एकत्वभाव वाला जिनकल्पी मुनि विपत्तियों से घबराता नहीं है, क्योंकि वह जानता है- मेरी आत्मा के अतिरिक्त कोई भी मेरा-अपना नहीं है।⁵⁸⁴

५. धैर्यबल-भावना :- मुनि की धैर्यता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि परीषहों एवं उपसर्गों की सेना चढ़कर आ भी जाए, तो धीर-वीर साधक अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पीड़ा को समभाव से सहन करता है। वह अनाकुल नहीं बनता और अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणों में उत्कृष्टता से रमण करता है। इस सम्बन्ध में धैर्यवान् आर्य महागिरि का दृष्टान्त दिया गया है।⁵⁸⁵

भावना :- जैनधर्म में वैराग्योपादक एवं तत्त्वपरक चिन्तन को अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है, इसलिए समाधिमरण की साधना में व्यक्ति को अपना मन शुभचिन्तन में लगाना चाहिए। जैनदर्शन में भावना मन का वह भावनात्मक पहलू है, जो साधक को उसकी वस्तुस्थिति का बोध कराता है। “जैन-परम्परा में भावनाओं के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- दान, शील, तप एवं भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है। प्रत्येक धर्म का अपना अलग-अलग महत्व है, लेकिन जहाँ तक प्रभाव की बात है, तो इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही अधिक प्रभावशाली है। संसार में जितने भी सुकृत्य हैं, धर्म हैं, उनमें केवल भावना ही प्रधान है। भाव ही धर्म का साधक कहा गया है और तीर्थकरों ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूल मन्त्र बताया है।⁵⁸⁶

संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने भावना को समाधिमरण का आवश्यक अंग कहा है। जैसे- नमक के मिश्रण से भोजन रसयुक्त बनता है तथा पारे के रस के संयोग से लोहा स्वर्णमय बनता है, वैसे ही धर्म के जो दानादि चार अंग हैं, वे भी भावना के संयोग से वांछित फल प्रदान करनेवाले बनते हैं। संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने भावना से इच्छित फल को प्राप्त करनेवालों का दृष्टान्त देते हुए

583 संवेगरंगशाला, गाथा ३८६२-३८६४.

584 संवेगरंगशाला, गाथा ३८६६-३८६७.

585 संवेगरंगशाला, गाथा ३६०७-३६१२.

586 प्राकृतसूक्ति सरोज, भावनाधिकार, ३, १६.

साधक को भावों की शुद्धि करने के लिए पुरुषार्थ करने को कहा है। भावनारहित कार्य को निष्फल बताया गया है, जैसे- अभिनव सेठ का भावनारहित दान एवं कण्डरिक की भावनारहित कठिन तपस्या एवं अखण्ड शील का पालन निष्फल गया, इसके विपरीत बलदेव को पारणा कराने की भावना से हरिण ने जो दान की प्रेरणा दी तथा भगवान् महावीर को पारणा कराने की भावना से जिरण सेठ ने महापुण्य प्राप्त किया तथा शील और तप के अभाव में भी केवल शुद्ध परिणामों से मरुदेवा माता सिद्ध हुई। इसी प्रकार अल्प तप एवं शील का पालन करनेवाले अवन्तिकुमार ने भी शुभभावना से देव-पद प्राप्त किया। आगे यहाँ बताया गया है कि दान में धन की अपेक्षा होती है और तप एवं शील में संघयण की, किन्तु भावना तो शुभ चित्त से ही प्रकट होती है। इसमें किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती है। अतः भावों को शुद्ध करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।⁵⁸⁷

“कहा भी गया है चाहे कोई व्यक्ति विपुल सम्पत्ति दान करे, चाहे समग्र जिन-प्रवचन को कण्ठस्थ कर ले, चाहे उग्र से उग्र तपस्या करे, भूमि पर शयन करे, दीर्घकाल तक मुनिधर्म का पालन करे, लेकिन यदि उसके मानस में शुभ भावों की उद्भावना नहीं होती है, तो उसकी समस्त क्रियाएं उसी प्रकार निष्फल हैं, जिस प्रकार से धान्य के छिलके का बोना निष्फल है।”⁵⁸⁸

“संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जिस प्रकार दानादि में वस्तुओं की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार भावना में भी बाह्य कारणों या निमित्तों की अपेक्षा रहती है। उद्धिन्न मनवाला व्यक्ति अपेक्षित सामग्री के बिना शुभध्यान में समर्थ नहीं होता है, किन्तु यह कथन मन का निरोध करने में असमर्थ मुनि की अपेक्षा से ही सत्य है। जिसने कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो, तथा जिसने मन के आवेशों को रोक लिया हो, उन्हें समाधि हेतु बाह्य-कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। यहाँ स्कन्दकमुनि के शिष्यों का दृष्टान्त देते हुए समझाया गया है कि दूसरों के द्वारा शरीर को अत्यधिक पीड़ा देने पर भी कषायों से मुक्त बनें वे शिष्य अपने शुभध्यान से जरा भी चलायमान नहीं हुए। इससे यह स्पष्ट होता है कि शुभध्यान या शुभ भावनाओं के लिए बाह्य-निमित्त से कोई प्रयोजन नहीं है।⁵⁸⁹

“आचार्य कुन्दकुन्द ने भावप्राप्त में कहा है कि व्यक्ति चाहे श्रमण हो अथवा गृहस्थ, भाव ही उसके विकास में कारणभूत होता है। भावरहित श्रवण एवं

⁵⁸⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ८५४७-८५५०.

⁵⁸⁸ सूक्तिसंग्रह - ४१.

⁵⁸⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ८५५३-८५५५.

अध्ययन का क्या लाभ?"⁵⁹⁰ संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने शुभ एवं अशुभ- दोनों प्रकार के भावों को स्वाधीन बताते हुए कहा है- संसार में ऐसा कौन पण्डित व्यक्ति होगा, जो स्वाधीन शुभरूपी अमृत को छोड़कर अशुभरूपी जहर को स्वीकार करेगा, अतः कहा भी गया है, जो निश्चय से एकान्त शुभभाव है, वही भावना है और जो भावना है, वही एकान्त शुभभाव है।⁵⁹¹

जैन-आचार्यों ने भावनाओं को मोक्ष का सोपान कहा है। अनेक जैन-ग्रन्थों में भावनाओं पर चर्चा की गई है, जिनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं- उत्तराध्ययनसूत्र⁵⁹², भावप्राभृत⁵⁹³, भगवतीआराधना⁵⁹⁴, योगशास्त्र⁵⁹⁵, बारस्स-अणुवेक्खा⁵⁹⁶, कार्तिकेया-अनुप्रेक्षा,⁵⁹⁷ आदि।

संवेगरंगशाला में बारह भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख किया गया है- वे भावनाएँ निम्न हैं - १. अनित्य-भावना २. अशरण-भावना ३. संसार-भावना ४. एकत्व-भावना ५. अन्यत्व-भावना ६. अशुचि-भावना ७. आश्रव-भावना ८. संवर-भावना ९. कर्मनिर्जरा-भावना १०. लोक भावना ११. बोधिदुर्लभ भावना और १२. धर्मगुरु-दुर्लभता-भावना।⁵⁹⁸

इन बारह भावनाओं का चिन्तन करने से संवेग (वैराग्य) प्रकट होता है। चिन्तन-धारा का सम्यक् नियमन ही बारह भावनाओं का मूल प्रतिपाद्य है, क्योंकि इस प्रकार के चिन्तन से ही वैराग्योत्पादक सम्यक् दिशाबोध प्राप्त हो सकता है। यदि हम वैराग्योत्पादक एवं तत्त्वपरक-दृष्टि से अध्ययन करें, तो सहज ही पाएंगे कि उपर्युक्त बारह भावनाओं में से आरम्भ की छः भावनाएँ वैराग्योत्पादक और अन्त की छः भावनाएँ तत्त्वपरक हैं। इनके क्रम में भी एक सहज विकास दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ हमें भाव और भावना के अन्तर को समझ लेना होगा। भाव एक विचार है, मन की तरंग है। वह जल की बून्द की तरह है। जब भाव प्रवाहरूप

⁵⁹⁰ भावप्राभृत, गाथा ६६.

⁵⁹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ८५५६-८५५६.

⁵⁹² उत्तराध्ययनसूत्र . १६ अ

⁵⁹³ भावप्राभृत. गाथा ६४

⁵⁹⁴ भगवतीआराधना, १७१०.

⁵⁹⁵ योगशास्त्र, ४/५५-५६.

⁵⁹⁶ बारस्स अणुवेक्खा, गाथा-६०.

⁵⁹⁷ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १/२.

⁵⁹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ८५६०-८५६२.

में प्रवाहित होता है, तब वह भावना के रूप में परिणत हो जाता है। भावना में अखण्ड प्रवाह होता है, जिससे मन में संस्कार स्थाई हो जाते हैं। भाव पूर्वरूप है, तो भावना उत्तररूप, अतः हम कह सकते हैं कि भाव बीजरूप है, जबकि भावना उससे विकसित वृक्ष। भावना मनुष्य के विचारों को परिष्कृत करने की प्रणाली है, जो सुस्थिर संस्कारों का निर्माण करती है। समाधिमरण की साधना में भावना एक अंग का एक पक्ष है, जिसके द्वारा आत्मा में गहरे जमे हुए विकृत संस्कारों का शोधन कर उन्हें परिष्कृत किया जाता है, ताकि मनुष्य अपने ममत्व-भाव को अल्प कर सके। आगे हम भावनाओं के स्वरूप पर विचार करेंगे।

9. अनित्य-भावना :- संवेगरंगशाला में संसार की वस्तुओं की अनित्यता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि संसार के सभी पदार्थों की अस्थिरता एवं क्षणभंगुरता का वैराग्यपरक चिन्तन ही अनित्य-भावना है। पुनः, सभी पदार्थों की अस्थिरता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यौवन बिजली के समान अस्थिर है और रूप, बल, आरोग्य- ये सभी भी अस्थिर हैं। सुख-सम्पदाएँ सन्ध्या के बादल के समान शीघ्र विलुप्त होनेवाली हैं। जीवन पानी के बुलबुले के समान शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है। इसी तरह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवों के शरीर, रूप, आदि भी स्थाई नहीं हैं। इस लोक और परलोक की जो भी संयोगिक उपलब्धियाँ हैं, वे सभी भी क्षणिक हैं। माता, पिता, पत्नी, पुत्र, मित्र एवं स्वजनों के साथ जो संयोग है, उसका वियोग निश्चित है। मकान, दुकान, बाग-बगीचे, यान और वाहन एक दिन यहीं छूट जाएंगे। इस तरह सर्वगत अनित्यता को जानकर जो उत्तम पुरुष धर्म में उद्यम रहता है, वहीं अपना कल्याण कर सकता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में नग्गति राजा का कथानक उपलब्ध होता है।⁵⁹⁹

जगत् में सभी पदार्थ कालक्रम में परिवर्तित होते रहते हैं। संसार का जो स्वरूप प्रातःकाल था, वह मध्याह्नकाल में नहीं रहता है और जो मध्याह्नकाल में था, वह अपराह्नकाल में नहीं रहता है, इसलिए व्यक्ति को इस शरीर एवं संसार की वस्तुओं के प्रति होनेवाले ममत्व-भाव का त्याग करना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में समग्र सांसारिक-वैभव, इन्द्रियाँ, रूप, यौवन, बल, आरोग्य, आदि सभी इन्द्रधनुष के समान क्षणिक हैं, संयोगजन्य हैं, इसलिए व्यक्ति को समग्र सांसारिक-उपलब्धियों की अनित्यता एवं संयोगजन्यता को समझकर उनके

⁵⁹⁹ दिङ्मुक्त्वा जौल्वणं संपन्था वि संक्षम्भरागरेहव्य। जलधुब्बुओ व्य जीवियं - मऽच्चतमऽणिच्चमेवऽ हो॥
संवेगरंगशाला, गाथा ८५६४-६६.

प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए।⁶⁰⁰ भगवतीआराधना के अनुसार व्यक्ति का शरीर फेन के बुलबुले के समान नश्वर है। जिस प्रकार फेन के बुलबुले नष्ट होते हैं, उसी प्रकार शरीर भी अवश्य नष्ट होता है।⁶⁰¹

इसलिए कहा गया है कि “व्यक्ति को इस शरीर के नष्ट होने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि जिस प्रकार पक्षी दिन निकलने पर वृक्ष को छोड़कर अपने-अपने रास्ते की तरफ चल पड़ते हैं; उसी प्रकार प्राणी भी अपनी आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अन्य योनियों में उत्पन्न होते हैं।”⁶⁰² उत्तराध्ययन में भी कहा गया है कि व्यक्ति का यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और इसकी उत्पत्ति अशुचि से हुई है। इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत है।⁶⁰³

इस तरह संवेगरंगशाला के समान ही अनेक जैन-ग्रन्थों में भी अनित्य-भावना का उल्लेख किया गया है। अनित्य-भावना के चिन्तन से व्यक्ति के मन में सांसारिक-वस्तुओं एवं शरीर की नश्वरता, आदि का ज्ञान होता है, इसके द्वारा व्यक्ति का उनके प्रति रहा हुआ राग-भाव समाप्त होता है और वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्रचित्त होकर आगे बढ़ता है।

२. अशरण-भावना :- “व्यक्ति को मृत्यु के मुख से बचाने में कोई समर्थ नहीं है”- इस प्रकार की भावना को अशरण-भावना कहते हैं। संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने अशरण-भावना का चित्रण करते हुए कहा है- सर्व जीवों का रक्षण करने में समर्थ (करुणावत्सल) वीतराग परमात्मा ही शरणभूत है। इनको छोड़कर जन्म, जरा, मरण, उद्वेग, शोक, दुःख और व्याधियों से ग्रस्त इस भयंकर संसार-अटवी में प्राणियों के लिए कोई भी शरण नहीं है।⁶⁰⁴ इसमें आगे यह भी कहा गया है कि जिन-वचन पर श्रद्धा रखनेवाली आत्माओं के द्वारा या नीतिबल के द्वारा अथवा पुरुषार्थ बल के द्वारा न तो पूर्व में मृत्यु पर विजय प्राप्त की, न वर्तमान में विजय प्राप्त की है और न भविष्य में विजय प्राप्त कर सकेगा। साथ ही यह कहा गया है कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, अल्पन्त स्नेही स्वजन और धन-सम्पत्ति- इनमें से कोई भी रोग से पीड़ित मनुष्य को (रोग शान्त करने में) अल्प भी शरण देने में समर्थ नहीं है। इससे यह फलित होता है कि मनुष्य अपने

600 बारसागुप्रेक्षा, गाथा ३ से ५

601 भगवतीआराधना १७/११.

602 भावनायोग-५

603 उत्तराध्ययनसूत्र १६/१२.

604 संवेगरंगशाला, गाथा ८२८८-८५८६.

कर्मों का भोक्ता स्वयं है। उसके समस्त बन्धु, बान्धव, स्वजनादि उसे उसके कर्मों के भोग से बचा नहीं सकते हैं।⁶⁰⁵

सवेगरंगशाला में आगे यह भी कहा गया है कि व्यक्ति यदि अनेक मन्त्रों के मन्त्रित जल से स्नान करे, अथवा मन्त्रित चूर्णादि का सेवन करे, किन्तु वे मन्त्र एवं औषधियाँ उस व्यक्ति की मृत्यु से रक्षा करने में असमर्थ हैं, इसलिए साधक को संसारी वस्तुओं में राग-भाव का त्याग करके एकाग्रचित्त से उनकी अशरणता की भावना का चिन्तन करना चाहिए - संसार में कोई भी शरणभूत नहीं है। मात्र धर्म की ही शरण सत्य एवं शाश्वत है, अन्य सभी शरण असत्य एवं अशरणरूप हैं। इस ग्रन्थ में अनाथीमुनि के कथानक द्वारा संसार की इस अशरणता का प्रतिपादन किया गया है।⁶⁰⁶

उत्तराध्ययन में भी कहा गया है कि जिस प्रकार वन में मृग को सिंह पकड़कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। माता-पिता, भाई-बहन या कोई भी उसे मृत्यु के पंजे से मुक्त नहीं करा पाता है।⁶⁰⁷

“मरणविभक्ति के अनुसार जन्म-जरा-मरण से कोई नहीं बच सकता है। विविध प्रकार के मांगलिक-कार्य, मन्त्र, तन्त्र, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव भी जीव को मृत्यु से नहीं बचा सकते हैं।⁶⁰⁸

इससे यही फलित होता है कि मनुष्य मृत्यु से बचने के लिए अगणित प्रयत्न करता है, किन्तु वे सभी प्रयास कभी भी सफल नहीं हुए हैं, न होंगे, अतः इन निरर्थक प्रयासों में मनुष्य को उत्तझना नहीं चाहिए और इस अशरण-भावना के द्वारा सांसारिक-जीवन से विरक्त होना चाहिए।

“भगवती आराधना में भी अशरण-भावना पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है कि व्यक्ति को कर्मों के विपाक के भोग से कोई भी नहीं बचा सकता है। यह आत्मा अपने कर्मों के कारण ही बन्धन में पड़ती है। जीव के कषायरूप

⁶⁰⁵ सवेगरंगशाला, गाथा ८५६०-८५६२

⁶⁰⁶ सवेगरंगशाला गाथा, ८५६३-८५६५.

⁶⁰⁷ जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेई हु अन्तकाले। न तस्स माया व पिआ व भाया कलामि ताम्पिऽसहरामवन्ति। उत्तराध्ययन, १३/२२.

⁶⁰⁸ जन्म-जरा-मरणमए अभिदुए विविह बाहि संतो। लोगाम्पि नत्थि सरणं जिणिंद वरसासणं मृतु। मरणविभक्ति ५७६, एवं गाथा ५८१-५८२.

परिणामों के निमित्त से कर्मों का बन्ध होता है। जब वे कर्म अपना अशुभ फल देते हैं, तो उससे व्यक्ति को कोई नहीं बचा पाता है।⁶⁰⁹

“आत्मा पर कर्मों का आवरण रहने के कारण व्यक्ति संसार को अपना शरणस्थल समझने लगता है। वह नाना प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ भी इस संसार में रहने की कामना करता रहता है, लेकिन व्यक्ति को ऐसा विचार करना चाहिए कि असातावेदनीय-कर्मों को नष्ट करने में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ही समर्थ हैं, अतः ये ही मेरे लिए रक्षक और शरणरूप हैं।”⁶¹⁰

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि अशरणभावना समाधिमरण में सहायकरूप है। एकाग्र मन से इस भावना का चिन्तन करने से व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता वह स्वयं है, अतः वह अपने कषायों को कृशकर मोह का त्याग करता है, तथा रागादि भावों को दूर करता है और इस प्रकार मुक्ति-पथ पर अग्रसर होता है।

३. संसार-भावना :- संसार की दुःखमयता का विचार करना ही संसार-भावना है। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि इस संसार में जो वीतराग परमात्मा की आज्ञा को शिरोधार्य नहीं करता है, वह मोहरूपी जाल में फँसकर पराभव को प्राप्त करता है तथा विकारों से विकृत होकर एकेन्द्रिय, आदि विभिन्न तिर्यच योनियों में भ्रमण करता है तथा देव, मनुष्य, तिर्यच एवं नरक-योनि में परिभ्रमण करता हुआ वह जीव बार-बार जन्म मरण करता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक योनि में जन्म लेकर विविध प्रकार के बन्ध-बन्धन, अपमान, महारोग, शोक और क्लेश को प्राप्त करता है।⁶¹¹

यहाँ ग्रन्थकार के कहने का तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वलोक, तिर्यचलोक और अधोलोक-इस प्रकार इन तीनों लोकों में ऐसा कोई एक भी आकाश-प्रदेश नहीं होगा, जहाँ जीव ने अनेक बार जन्म-जरा-मरण को प्राप्त नहीं किया हो।⁶¹²

संवेगरंगशाला में आगे कहा गया है कि जिस भोग-सामग्री को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति दुःखी हो रहा है, उस भोग-सामग्री को यह जीव पूर्व में अनेक बार प्राप्त कर छोड़ चुका है, इसलिए उस जीव के साथ अन्य जीवों के

609 भगवतीआराधना, १७२६.

610 भगवतीआराधना, १७४१.

611 संवेगरंगशाला, गाथा ८६२३-८६२४.

612 संवेगरंगशाला, गाथा ८६२६.

सम्बन्ध को लेकर इस ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया गया है कि इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने प्रत्येक जीव के साथ स्वजन, मित्र, स्वामी, सेवक, शत्रु, आदि विविध रूपों में अनेक बार सम्बन्ध बनाए हैं।⁶¹³

इस संसार में माता मरकर पुत्री हो जाती है और पिता मरकर पुत्र होता है। इसी जगत् में जीव अपने शरीर के रूप एवं यौवन का अभिमान करता है। कालान्तर में मरकर पुनः अपने ही शरीर में कीड़ों के रूप में उत्पन्न हो जाता है। यहाँ माता मरकर पशु, आदि योनि में जन्म लेकर अपने ही पुत्र के शरीर के माँस को खाती है।

इस संसार से महाकष्टकारक और क्या हो सकता है? जहाँ स्वामी सेवक बनता है और सेवक मालिक बनता है। पिता पुत्र बनता है और पूर्व वैरभाव के कारण पिता पुत्र के हाथों मारा जाता है। अन्त में संसार-भावना के सन्दर्भ में एक तापस की कथा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसे संसार के स्वरूप को धिक्कार हो, जहाँ जीव लम्बी अवधि तक दुःखों को प्राप्त करता है।⁶¹⁴

संसरण ही संसार है और चतुर्गति में परिभ्रमण ही संसरण है। ये चारों गतियाँ दुःखी जीवों से भरी पड़ी हैं। इन गतियों में कहीं भी सुख (सार) नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में संसार की दुःखमयता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जन्म दुःखमय है, रोग और मरण दुःखमय हैं, यह सम्पूर्ण संसार दुःखमय है, जिसमें प्राणी को क्लेश प्राप्त हो रहा है। यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात-दिनरूपी शस्त्र धारा से त्रुटित है।⁶¹⁵ मरणविभक्ति के अनुसार यह संसार दुःखमय है। यहाँ जीव अनेक प्रकार के बन्धनों से बन्धा हुआ दुःख भोगता है। जीव अपने बन्धु-बान्धव, मित्र-पुत्र, धन-वैभव, भोग-विलास के साधनों आदि का विनाश होने पर एवं शरीर में रोगादि होने पर दुःखी होता है। इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ व्यक्ति जन्म-जरा-मरण, आदि के क्लेशों से मुक्त हो।⁶¹⁶

613 सविगर्गशाला, गाथा ८६२७-८६२८.

614 सोहगस्वगन्धं, समुब्धंते शुवा वि भरिऊण। तथेव नियसरीरे, जायई जम्म किमित्तेण।। सविगर्गशाला, गाथा ८६३०-८६३३.

615 जम्म दुक्खं जरा दुक्ख रोगाय मरणाणिय। अहो! दुक्खो हु संसारो जत्थकीसन्ति जन्तवो।। उत्तराध्ययन १८/१५.

616 सो नत्थि इहोणसो लोए वाल्लगकोडिमित्तो वि। जम्मण मरणा बाहा अणेणसो जत्थ न य पत्ता।। मत्तविभक्ति-५६५.

भगवतीआराधना के अनुसार भी यह संसार-समुद्र अनन्त और अथाह दुःखरूपी जल से भरा पड़ा है।⁶¹⁷ इस संसार में दुःखों का साम्राज्य है, जहाँ जीव अनन्तकाल से परिभ्रमण करता आ रहा है तथा अन्य जीवों के साथ माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, आदि विविध सम्बन्धों को जोड़कर दुःखी होता रहा है।⁶¹⁸

समाधिमरण की दृष्टि से देखा जाए, तो साधना के क्षेत्र में संसार-भावना की उपयोगिता यही है कि इसके चिन्तन के द्वारा व्यक्ति संसारजनित तृष्णा को त्यागकर भव-परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

४. एकत्व-भावना :- संवेगरंगशाला में एकत्व-भावना के स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित किया गया है कि जीव अकेला जन्म लेता है, वह अकेला कर्मों को बाँधता है, अकेला ही भोगता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है। यह जीव अकेला ही परलोक को जाता है और वहाँ अपने शुभाशुभ कर्मों का उपभोग भी अकेला ही करता है। मृत्यु के आगमन पर सम्पूर्ण सांसारिक-वैभव तथा परिवार का परित्याग करके शोक करते स्वजनों के मध्य से वह अकेला ही प्रयाण करता है। उस समय पिता, पुत्र, स्त्री, मित्रादि कोई भी उसके साथ नहीं जाते हैं।⁶¹⁹

संवेगरंगशाला में आगे यह भी निरूपण किया गया है कि कौन, किसके साथ जन्मा है? कौन, किसके साथ परभव में गया है? कौन, किसका क्या हित करता है? और कौन, किसका क्या बिगाड़ता है? कहने का तात्पर्य यही है कि कोई भी व्यक्ति किसी का साथ नहीं देता है। सभी जीव अकेले ही सुख-दुःख को सहन करते हैं, अतः जीव को यह विचार करना चाहिए कि न कोई मेरा है और न मैं किसी का हूँ। फिर भी अज्ञानी जीव, जो परभव चले गए उन मनुष्यों के लिए शोक करता है, किन्तु संसार में स्वयं अकेला दुःखों को भोग रहा है- इसकी चिन्ता नहीं करता है। जब जीव नरक में अकेला दुःख सहन करता है, तब वहाँ कोई नौकर या स्वजन नहीं होते हैं और जब स्वर्ग में अकेला सुख भोगता है, तब भी स्वजनादि उसके साथ नहीं होते हैं। इस तरह समस्त स्वजनों एवं पदार्थों को छोड़कर इहलोक से परलोक में जीव अकेला ही जाता है। अन्त में कहा गया है कि जीव संसाररूपी कीचड़ में फंसा हुआ अकेला ही दुःखी होता है, उस समय

⁶¹⁷ भगवतीआराधना, १७६४.

⁶¹⁸ ज्ञानार्णव - संसारभावना.

⁶¹⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ८६५२-८६५४.

उसके साथ दुःख भोगने के लिए कोई नहीं आता है, इसलिए कठोर उपसर्गों में भी मुनि को दूसरे से सहायता की इच्छा नहीं करना चाहिए।⁶²⁰

उत्तराध्ययन-सूत्र में एकत्व-भावना की चर्चा करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है, भोक्ता है और यही आत्मा कर्मों का क्षय करनेवाली है। श्रेष्ठ आचार से युक्त आत्मा अपना ही मित्र तथा दुराचार से युक्त आत्मा अपनी ही शत्रु है। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अधिक अनिष्ट करती है, उतना अनर्थ उसका गला काटनेवाला शत्रु भी नहीं करता, अतः अपने पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए।⁶²¹

मरणविभक्ति में एकत्व-भावना पर विचार करते हुए कहा गया है कि जीव अकेले ही कर्म करता है और अकेले ही अपने कर्मों का फल भी भोगता है। जीव अकेले ही सद्गति (मृत्यु) को प्राप्त करता है। मरणोपरान्त वह अकेले ही परलोक-गमन करता है। उसके साथ उसके स्वजन परलोक नहीं जाते हैं।⁶²²

भगवतीआराधना में एकत्व-भावना का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि इस लोक में जो हमारे बन्धु-बान्धव हैं, वे परलोक में हमारे बन्धु-बान्धव नहीं होंगे। इसी प्रकार धन, शरीर, शयन, आसनादि समस्त परिग्रह इसी लोक में काम आते हैं, परलोक में साथ नहीं जाएंगे। कभी-कभी तो ये परिग्रह इस लोक में ही व्यक्ति का साथ छोड़ देते हैं, अतः यह आशा करना व्यर्थ है कि ये समस्त स्वजन एवं परिग्रहादि परलोक में हमारे साथ रहेंगे।⁶²³

इस प्रकार समाधिमरण की साधना के समय जो साधक एकत्व-भावना का चिन्तन करता है उसके मन में आत्मविश्वास जगता है और उसकी पराङ्मुखता समाप्त होती है। एकत्व-भावना से व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है, क्योंकि कल्याण और अकल्याण-दोनों व्यक्ति के अपने ही हाथों में है।

५. अन्यत्व-भावना :- जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों से स्वयं को भिन्न समझना और इस भिन्नता का पुनः-पुनः विचार करना ही अन्यत्व-भावना है। सवेगरंगशाला में कहा है कि जीव स्वयं ही अपने किए कर्मों का फल भोगता है,

⁶²⁰ सवेगरंगशाला, गाथा ८६५६-८६६१.

⁶²¹ न तं अरी कंठेत्ता करेई जं से करे अण्णिया दुरण्णा। से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो। उत्तराध्ययन, २०/४८.

⁶²² इको करेई कम्मं फलमवि तस्सकओ समणुहवइ। इको जायइ मरइय, परलोयं इक्काओ जाइ। मरणविभक्ति, ५८६.

⁶²³ इहलोग बंधा ते णियया परस्स होति लोगस्स। तह चेव घणं देशे संगं सयणासया दी। भगवतीआराधना, १७४६.

इस संसार में कौन किसका स्वजन है? अथवा कौन किसका परजन है? अर्थात् सभी पराए या अन्य हैं। यह जीव स्वयं शरीर से भिन्न है, वैभवादि से भिन्न है, प्रिया, पुत्र, मित्र, पितादि से भी भिन्न है, इसलिए अपना हित व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए।⁶²⁴

मरणविभक्ति के अनुसार आत्मा से यह शरीर भिन्न है, बन्धु-बान्धव तथा संसार के समस्त भौतिक पदार्थ और रिश्ते-नाते, सभी हमसे भिन्न हैं। साथ ही हम (आत्मा) भी उन पर पदार्थों से भिन्न हैं। साधक को इस भिन्नता का बोध करना चाहिए।⁶²⁵

अन्यत्वभावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं- आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है और शरीरादिक सभी बाह्य-पदार्थ इससे भिन्न हैं- इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्वभावना है।⁶²⁶

आचार्य शिवार्य का कथन है कि उपकार और उपकार करने के कारण ही कोई किसी का स्वजन या परिजन होता है, यथा - माता-पिता पुत्र का पालन इस आशय से करते हैं कि वृद्धावस्था में पुत्र उनका सहायक होगा। पुत्र माता-पिता का आदर-सत्कार इस विचार से करता है कि इन्हीं के कारण मेरा जन्म हुआ है, अर्थात् इन्हीं की कृपा से इस लोक में मेरा आगमन हुआ है, किन्तु यदि किसी कारणवश इन सम्बन्धों में परस्पर कोई तनाव उत्पन्न हो जाता है, तो वही माता-पिता, पुत्र, आदि एक दूसरे को पराया समझने लगते हैं।⁶²⁷ आचार्य अभितगति भी जीव से भिन्न देहादि संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं- जिस आत्मा का शरीर के साथ भी ऐक्य नहीं है, उसका पुत्र, पत्नी और मित्र के साथ ऐक्य कैसे हो सकता है? ठीक ही है, क्योंकि शरीर से चमड़ी दूर कर देने पर रोमछिद्र कैसे रह सकते हैं?⁶²⁸

आचार्य कार्तिकेय का मत है कि माता-पिता, बन्धु-बान्धव एवं पुत्रादि सभी इष्टजन मेरे नहीं हैं। यह आत्मा उनसे सम्बन्धित नहीं है। वे सभी कर्मवशात्

624 सदेनरंगशाला, गाथा ८६८३-८६८६.

625 अन्नं इमं सरीरं अन्नं, बन्धवा वि मे अन्ने। एवं नाउणं खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं। मरणविभक्ति, ५६०.

626 अण्णं इमं सरीरादिगं, पि जं होज्जं बाहिरं दव्वं। णणं दंसणमादा एवं चित्तेहि अण्णत्तां। बारस्स अणुवेक्खा गाथा, २३.

627 भावा पोसेइ सुयं आत्मारो मे अविस्सदि इमोत्ति। पोसेदि सुदो मादं गम्मे धरियो इमाएत्ति। भगवतीआराधना, १७५५.

628 एणे पण्हिय-जणानं जह संजोओ हवेइ खणमित्ता। बंधु जणानं च तथा संजोओ अणुओ होइ। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ११८.

संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और पथिक की भांति मिलते एवं बिछुड़ते हैं।⁶²⁹ सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। अभेद प्रतीत होने पर भी लक्षण के भेद से मैं अन्य हूँ और शरीर अन्य है, मैं शरीर ऐन्द्रिक हूँ, मैं अतीन्द्रिय हूँ; शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ; शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनन्त हूँ; संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गए, मैं उससे भिन्न नहीं हूँ; इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ, तो इसमें क्या आश्चर्य?

“आत्मा और शरीरादि संयोगों की परस्पर भिन्नता और अभिन्नता की वास्तविक स्थिति क्या है? इसका सोदाहरण चित्रण करते हुए पण्डित-प्रवर दौलतरामजी लिखते हैं- यद्यपि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भांति मिले हुए हैं, तथापि वे अभिन्न नहीं हैं, पूर्णतः भिन्न ही हैं। जब (एकक्षेत्रावगाही) शरीर भी जीव से भिन्न है, तो फिर धन, मकान, पुत्र, पुत्री, पत्नी, जीव के अपने कैसे हो सकते हैं?”⁶³⁰

इसी प्रकार के भाव पद्मनन्दिकृत पंचविंशति में भी व्यक्त किया गया है। पण्डित दीपचन्दजीकृत बारह भावना में यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से कही गई है।

समयसार की २७वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने साफ-साफ लिखा है- व्यवहारनय से जीव और शरीर एक ही है, पर निश्चय से तो जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।⁶³¹

इससे यह फलित होता है कि पर से स्व की भिन्नता का ज्ञान ही भेद-विज्ञान है और पर से भिन्न निज चेतन आत्मतत्त्व को जानना, मानना और अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्म-साधना है, आत्म-आराधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जैन-अध्यात्म का सार इसमें समाहित है। अन्यत्व-भावना के चिन्तन की चरम परिणति भी यही है, अतः चिन्तन-मनन के विकल्पों से विरत होकर मात्र निज को ही जानते रहना है। पर से अन्तर स्थापित करने पर अनन्तवीर्य उल्लासित होगा, आनन्द का सागर तरंगित हो उठेगा, देह-देवल भी उसकी तरंगों से तरंगापित हो रोमांचित हो उठेगा, तेजोदीप्त हो उठेगा। जब यह सब अन्तर में

629 सर्वार्थसिद्धि : अध्याय ६ सूत्र ७ की टीका.

630 जल-पथ ज्यों जिय-तन मेला, पै मित्र-मित्र नहीं मेला।

तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों हो तवै इक मिली सुत रामा।। छह ढाला, पंचम ढाल, छन्द ७.

631 समयसार गाथा २७. प्रा. हुकमचन्द भारित्तल, बारह भावना एक अनुशीलन.

घटित होगा, तभी पर से एकत्व और ममत्व विघटित होगा, तभी अन्यत्व-भावना का चिन्तन सफल होगा, सार्थक होगा।

६. अशुचि-भावना :- अशुचि का “अपवित्रता” अर्थ करते हुए संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार ने जीव की पवित्रता एवं देह की अपवित्रता का विवेचन किया है। जीव एवं शरीर- दोनों पृथक्-पृथक् हैं, अतः मुक्त जीव पवित्र है और संसारी जीव अपवित्र है, क्योंकि संसारी जीव सशरीरी है और शरीर सदैव अशुचि से युक्त होता है और सिद्ध जीव अशरीरी होते हैं, अतः वे पवित्र हैं। यदि दोनों, अर्थात् जीव और शरीर में भिन्नता नहीं होती, तो जीवों का पवित्र होना सम्भव नहीं होता।⁶³² आगे, शरीर की अशुचिता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि शरीर का विकास गर्भावास में होता है, जहाँ वह नौ महीनों तक मल, मूत्र, आदि अशुचि पदार्थों से विकसित होता है। उसके पश्चात् भी प्रतिपल शरीर के पसीने आदि की दुर्गन्ध से; मॉस, मज्जा, आदि से युक्त होने से, रोगों से ग्रस्त होने से, विष्टा एवं मूत्र के संग्रह से एवं नौ छिद्रों से निरन्तर अशुद्ध पदार्थों के झरते रहने से यह शरीर अपवित्र ही रहता है।⁶³³

साथ ही इसमें यह भी निरूपित किया गया है कि अनेक उपायों के द्वारा भी शरीर की अपवित्रता को दूर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह शरीर अशुचि से भरे हुए घड़े के समान है, इसको चाहे समस्त तीर्थों के पवित्र जल से जीवन भर धोया जाए, अथवा स्नान कराया जाए, फिर भी इसकी थोड़ी भी शुद्धि नहीं होती है। संवेगरंगशाला में शरीर की अशुचिता का बोध कराकर इसके प्रति ममत्व का त्याग करने को कहा गया है।⁶³⁴

यह शरीर अशुचि का भण्डार है, अतः शरीर-सम्बन्धी मोह को नष्ट करने के लिए अनेक जैन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अशुचि-भावना का विधान किया है। संवेगरंगशाला में अशुचि-भावना के विवेचन में शरीर की अशुचिता एवं अशाश्वतता पर जैसा प्रकाश डाला गया है, वैसा ही उत्तराध्ययनसूत्र⁶³⁵, मरणविभक्ति,⁶³⁶ भगवतीआराधना,⁶³⁷ ज्ञानार्णव,⁶³⁸ आदि ग्रन्थों में भी समान रूप से मिलता है।

⁶³² एतदस्मि मणिमय - मउडोणमियासिरो सुरो एइ। बंदइयचारुदत्तं, पद्धम पच्छा तवस्सिं पि। संवेगरंगशाला गाथा, ८११५.

⁶³³ संवेगरंगशाला, गाथा ८११७-८११८.

⁶³⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ८१२०-८१२१.

⁶³⁵ उत्तराध्ययनसूत्र, १६/१३.

⁶³⁶ मरणविभक्ति, ६०६.

देह-सम्बन्धी रागात्मक विकल्पों के शमन के लिए देह की अशुचिता का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। पण्डित दौलतरामजी कहते हैं- “कफ और चर्बी, आदि से मैली यह देह माँस, खून एवं पीपस्वी मल की धैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह, आदि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ ही बहते रहते हैं। हे आत्मन्! तू ऐसी घृणास्पद इस देह से स्नेह क्यों करता है?”⁶³⁹ “जीवों का यह शरीर अस्थियों से बना और चर्मों के आवरण से ढंका है। कई तरह की विकृतियों एवं दुर्गन्धों से युक्त यह सभी रोगरूपी सर्पों का घर है, इसके प्रति राग रखना व्यर्थ है।”⁶⁴⁰ इसी बात को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने इस प्रकार व्यक्त किया है- “अपनी आत्मा अत्यन्त निर्मल है और यह देह अपवित्रता का घर है। हे भव्य जीवों! इस प्रकार इस देह से स्नेह छोड़ो और निजभाव का ध्यान करो।”⁶⁴¹

इन सबका तात्पर्य यही है कि यह शरीर स्वयं तो अशुचिमय है ही, इसके संसर्ग में आनेवाले प्रत्येक पदार्थ भी इसके संयोग से अपवित्र हो जाते हैं। प्रातः साफ, स्वच्छ वस्त्र पहनते हैं, तो शाम तक मैले हो ही जाते हैं, पसीने की गन्ध आने लगती है, शुद्ध सात्विक-भोजन इसके संसर्ग में आते ही उच्छिष्ट (अपवित्र) हो जाता है। निर्मल जल से स्नान करने पर शरीर के संयोग से वह जल भी मैला हो जाता है। इस बात की चर्चा करते हुए स्नानाष्टक में कहा गया है-

“जिस शरीर की समीपता के कारण उत्तम माला, आदि पदार्थ छूने के योग्य नहीं रहते हैं, जो मल-मूत्रादि से भरा हुआ है, रस-रुधिरादि सप्त धातुओं से रचा गया है, भयानक दुर्गन्ध से युक्त है तथा जो निर्मल आत्मा को भी मलिन करता है, समस्त अपवित्रताओं के संग्रहस्थल के समान यह मनुष्यों का शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है?”⁶⁴²

उक्त सम्पूर्ण कथनों का सार यही है कि स्वभाव से ही अशुचिमय देह के ममत्व में इस दुर्लभ नरभव को समाप्त कर देना उचित नहीं है। इस देह से अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले परम पवित्र आत्मा की साधना-आराधना करना ही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

637 भगवतीआराधना, १८०७.

638 ज्ञानार्णव (अशुचिभावना)

639 छह ढाला, पंचम ढाल, छन्द ८.

640 ज्ञानार्णव (अशुचिभावना)

641 बारह भावना.

642 पद्मनन्दि पंचविंशतिः अध्याय २५, छन्द १.

७. आश्रव-भावना :- बन्धन के कारणों पर विचार करना आश्रव-भावना है। संवेगरंगशाला में आश्रव-भावना के सम्बन्ध में कहा गया है कि संसार में जीव जिन दुःखों को प्राप्त करते हैं, वे उनके पूर्व-पापों के ही परिणामस्वरूप होते हैं। जिस प्रकार सरोवर में जल आने के अनेक मार्ग होते हैं, जिससे वह विशाल जल का संचय करता है, उसी प्रकार हिंसादि अनेक दुष्प्रवृत्तियों से जीव पापकर्म का संचय करता है। यदि जल आने के सर्व मार्ग को बन्द नहीं किया जाएगा, तो मलिन जल का सरोवर में प्रवेश होता रहेगा और वह सरोवर के स्वच्छ जल को भी गन्दा कर देगा। यदि हिंसा, चोरी, आदि दुष्प्रवृत्तियों का त्याग नहीं किया जाएगा, तो आत्मा में पापकर्मों का प्रवेश होता रहेगा और पापकर्म में डूबा जीव दुःखों को प्राप्त कर संसार में परिभ्रमण करता रहेगा, अतः अहिंसादि व्रतों को स्वीकार करके आश्रव-द्वारों को बन्द कर लेना चाहिए। समाधिमरण की साधना द्वारा इन व्रतों का पालन करते हुए व्यक्ति इच्छित फल को प्राप्त कर सकता है।⁶⁴³

यही बात मरणविभक्ति में भी कही गई है- “ईर्ष्या, द्वेष, विषाद, क्रोध, मान, लोभ, आदि आश्रव के द्वार हैं। इन आश्रव-द्वारों के माध्यम से कर्मों का आगमन होता है। कर्मों का यह आगमन जीवों के गुणों के विनाश का कारण बनता है। जिस प्रकार समुद्र या नदी में रही हुई छिद्रयुक्त नौका जल भर जाने के कारण डूब जाती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म-पुद्गलों के भार से संसार-समुद्र में डूब रहा है।”⁶⁴⁴

योगशास्त्र⁶⁴⁵, भगवतीआराधना⁶⁴⁶, मोक्षमार्ग-प्रकाशक⁶⁴⁷, समयसार, आदि अनेक जैन-ग्रन्थों में भी कर्मबन्ध के मूल कारण को आश्रव कहा गया है, तथा प्रथम अशुभ-आश्रव का और फिर शुभ आश्रव का भी त्याग करने का उल्लेख किया गया है। निश्चयनयवादियों की मान्यता है कि आश्रवतत्त्व में जो पापाश्रव हैं, जीव उन्हें हेय जानता है और जो पुण्याश्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है, परन्तु ये दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। इनमें पुण्याश्रव को उपादेयता मानना मिथ्यादृष्टि है। समयसार के बन्धाधिकार में यही कहा है- “सर्व जीवों के सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव के इन कार्यों का कर्ता हो, वह

⁶⁴³ संवेगरंगशाला, भाषा ८७५३-८७५६.

⁶⁴⁴ मरणविभक्ति, ६११

⁶⁴⁵ योगशास्त्र - ४/७६.

⁶⁴⁶ भगवतीआराधना, १८१६.

⁶⁴⁷ मोक्षमार्ग-प्रकाशक, पृ. २२६.

मिथ्याध्यवसाय-बन्ध का कारण है, वहीं अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो, तो वह पुण्यबन्ध का कारण है और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो, तो वह पापबन्ध का कारण है। इस प्रकार अहिंसाव्रत सत्यादिक तो पुण्यबन्ध के कारण हैं और हिंसाव्रत असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं, इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना।⁷⁶⁴⁸

योगसार में कहा गया है- “पाप को पाप तो सारा जगत् मानता है, ज्ञानी तो वह है, जो पुण्य को भी पाप जाने। तात्पर्य यह है कि जो पापाश्रव के समान पुण्याश्रव को भी हेय मानता है, वही ज्ञानी है।”⁷⁶⁴⁹

समयसार में तो यहाँ तक कहा है- “जब तक व्यक्ति आत्मा और आश्रव-इन दोनों में परस्पर भेद नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिकरूप आश्रव-भावों में ही प्रवर्तित रहता है।”⁶⁵⁰ अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम आत्मा की ही पर्याय में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप पुण्य-पापरूप आश्रव-भावों की परस्पर भिन्नता को भलीभाँति जानें तथा आत्मा के उपादेयत्व एवं आश्रवों के हेयत्व का निरन्तर चिन्तन करें, विचार करें। यही चिन्तन-विचार आश्रव-भावना है। इस भावना के परिणामस्वरूप आत्मा बन्ध के हेतुओं से मुक्त होती है।

८. संवर-भावना :- संवर भावना के बार-बार चिन्तन से जीव सर्वदुःखों से मुक्त हो सकता है- ऐसा उल्लेख करते हुए संवेगरंगशाला में कहा गया है- “सर्व जीव आत्मवत् हैं।” ऐसा स्वीकार करनेवाला जीव आश्रवद्वारों को संवरभावना के द्वारा बन्द कर देता है, अर्थात् जीवरूपी सरोवर में पापरूपी जल के आगमन को बन्द कर देता है। आगमन के द्वार बन्द किए हुए सरोवर में जिस प्रकार नवीन जल का प्रवेश नहीं होता है, वैसे ही आश्रवरूपी द्वारों को बन्द कर देने से जीव में नवीन पापकर्मों का प्रवेश नहीं होता है। आगे कहा गया है कि जिन्होंने मिथ्यात्वादिक पाँचों आश्रवद्वारों को संवरभावना के चिन्तन से बन्द कर दिए हैं, वे मुनि धन्य हैं। साधक को आश्रव का विरोध करने के लिए संवरभावना का चिन्तन करना चाहिए। इससे जीव शरीर के प्रति अनासक्त और कषायों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।⁶⁵¹

⁶⁴⁸ समयसार, गाथा २५२-२६०.

⁶⁴⁹ जोहन्दु योगसार - दृष्टा ७१.

⁶⁵⁰ समयसार, गाथा ६६.

⁶⁵¹ सच्चिजि अष्टतुल्लो, संवरियाऽसेस आसवदुवारो।

जिन-जिन कारणों से आश्रव की उत्पत्ति होती है, उन-उन कारणों का निरोध करना ही संवर है। संवर के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना संवरभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार- “आश्रव का निरोध संवर है और वह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह, जय और पाँच प्रकार के चारित्र के पालन से होता है।”⁶⁵² इस प्रकार संवरभावना और संवरतत्त्व में कारण - कार्य सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट नजर आता है, क्योंकि बारह भावनाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है तथा संवरभावना भी बारह भावनाओं में एक भावना है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संवरभावना कारण है और संवरतत्त्व कार्य है। अभेद-दृष्टि से देखें, तो दोनों एक ही सिद्ध होते हैं। मरणविभक्ति के अनुसार जीव को कर्म-आश्रवों का निरोध करना चाहिए। इसके लिए उसे मन, वचन, काय से इंद्रियों का निरोध एवं कषायों का नाश करना चाहिए।⁶⁵³ “संवर की प्राप्ति के लिए उद्यम करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध का, नम्रता से मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का निवारण करे।”⁶⁵⁴

हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में संवरभावना के चिन्तन में किन-किन आश्रवों का किन-किन उपायों से निरोध किया जा सकता है- उसका निरूपण करते हुए कहा है कि संयम की साधना के द्वारा इंद्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को बलवान् बनने वाले विष के समान विषयों का तथा विषयों की कामना का निरोध करें। तीन गुप्तियों द्वारा तीनों योगों का, अप्रमाद से प्रमाद का और सावध-योग के त्याग से अव्रत का निवारण करें। सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को तथा शुभ-भावना से अशुभ-भावना का निरोध कर चित्त को स्थिर करके आर्त-रौद्रध्यान को परास्त करें।⁶⁵⁵

इस प्रकार आचार्य ने आश्रव के हेतुओं के निरोध का उपाय बताकर साधक की साधना को सरल बना दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि संवरभावना के चिन्तन में संवर के उपायों का जानना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उनको आचरण में लाना भी आवश्यक है।

जीवो न तलागो इन, पूरिण्णइ पावसलिलेहिं। सविगमशाला, गाथा ८७६०-८७६३.

⁶⁵² आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र १-२.

⁶⁵³ मरणविभक्ति - ६२०.

⁶⁵⁴ ज्ञानार्णव (संवरभावना), ६.

⁶⁵⁵ योगशास्त्र - ४/८१.

संवरभावना की चिन्तन-प्रक्रिया में भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति की मुख्यता है। यहाँ समिति, गुप्ति, आदि के भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। पण्डित दौलतरामजी का कहना है- “जिन्होंने पुण्य-पापरूप आश्रवभावों को न करके आत्मा के अनुभव में चित्त को लगाया है, उन्होंने ही आते हुए द्रव्यकर्मों को रोक दिया है। इस प्रकार द्रव्याश्रव व भावाश्रव के अभावपूर्वक जिन्होंने द्रव्य व भाव-संवर को प्राप्त किया है, उन्हीं ने सुख का अनुभव किया है, अर्थात् सुख प्राप्त किया है।”⁶⁵⁶

यहाँ आत्मानुभव को संवर एवं उसकी भावना को संवरभावना कहा है। यह अनुभव भेद-ज्ञान से होता है। इस तरह संवर-भावना में भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति की भावना ही प्रधान है। सम्पूर्ण संसार को स्व और पर में विभाजित करके पर से विमुख होकर स्व के सम्मुख होना ही भेद-विज्ञान है, आत्मानुभूति है, संवर है, संवरभावना का फल है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रागादि भाव आश्रव हैं और इनके अभाव में होनेवाला वीतराग भाव-संवर है। यह संवर ही मुक्ति-मार्ग का प्रथम प्रवेश द्वार है। इस संवर की उत्पत्ति भेद-विज्ञानपूर्वक हुई आत्मानुभूति के समय ही होती है।

६. निर्जरा-भावना :- संवेगरंगशाला में कहा गया है- आश्रव को संवर की सहायता से रोककर तप की सहायता से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। निर्जरा के विषय में चिन्तन करना निर्जरा-भावना है। व्यक्ति हिंसात्मक भावों से हिंसा की क्रिया करके जो कर्मबन्ध करता है। उसे निकाचित कर्मबन्ध कहते हैं, इन कर्मों से मुक्ति इनके फल भोगने से ही होती है। अहिंसात्मक भावों से हिंसा करके जो कर्मबन्ध होता है, उसे निकाचित-कर्म कहते हैं। सामान्यतः, कर्मों की निर्जरा (मुक्ति) शुभ अध्यवसायों (भावों) से होती है, किन्तु इस तरह पूर्वकृत निकाचित-कर्मों की निर्जरा विविध तपों के द्वारा भी होती है।⁶⁵⁷ तप की परिभाषा करते हुए कहा गया है- जो काया एवं कषायों को तपाता है, उसे तप कहते हैं। अनेक नरक एवं तिर्यच के जीव भी दुःखों को सहन करते हुए शुभ अध्यवसायों से कर्मों को क्षीणकर, मनुष्यभाव को प्राप्तकर, अन्त में मुक्त हुए हैं। शाम्ब, प्रद्युम्न, आदि महापुरुषों ने विविध तपादि के द्वारा अपने कर्मों की निर्जरा की है।⁶⁵⁸ प्रस्तुत कृति में भावों की विशुद्धता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि नरकादि में जीवों की अशुभभावना के कारण कष्टों को सहन करते हुए भी

⁶⁵⁶ पण्डित दौलतरामजी - छःउल्लाःपंचमदाल, छन्द १०.

⁶⁵⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ८७६४-८७६६.

⁶⁵⁸ तावेइ तयसुहिराऽऽ-धाउणो तह य सव्वकम्माणि।

तेण ततो वि निरुत्तं, तवस्स समयन्नुणो विति।। संवेगरंगशाला, गाथा ८७६७.

कर्मों की अल्पनिर्जरा होती है, जबकि शुभभावों से युक्त जीवों के कर्मों की अधिक निर्जरा होती है।

अन्त में, जलाशय के दृष्टान्त के द्वारा यह बताया गया है कि जिस प्रकार नवीन जल का प्रवेश बन्द कर देने से जलाशय में रहा हुआ पुराना जल गर्मी आदि के ताप से सूख जाता है, उसी प्रकार आश्रव के द्वारों के बन्द कर देने से जीव में रहे हुए पूर्व कर्म तप, त्याग, ध्यान एवं स्वाध्याय, आदि से क्षय हो जाते हैं।⁶⁵⁹

निर्जराभावना सम्बन्धी उपलब्ध समग्र चिन्तन को पण्डित दौलतरामजी ने अपनी कृति छः ढाले में इस प्रकार प्रतिपादित किया है-“समय आने पर जो कर्म निर्जरित होते हैं, उनसे आत्महित का कार्य सिद्ध नहीं होता; तप के द्वारा कर्मों का जो क्षय किया जाता है, उससे ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।”⁶⁶⁰ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में निर्जरा के कारणों की चर्चा इस प्रकार की गई है- “अहंकार और निदानरहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य-भावना से निर्जरा होती है। जो साम्यभावरूप सुख में लीन होकर बार-बार आत्म का स्मरण करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है; उसकी उत्कृष्ट निर्जरा होती है।”⁶⁶¹ निर्जराभावना के स्वरूप और प्रकारों की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा में इस प्रकार करते हैं : “कर्मबन्ध के प्रदेशों का गलना निर्जरा है और जिन कारणों से संवर होता है, उन्हीं से निर्जरा होती है - ऐसा जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है। वह निर्जरा दो प्रकार की होती है। प्रथम तो स्वसमय में (कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर) होनेवाली सविपाक-निर्जरा और दूसरी तप के द्वारा निष्पन्न होनेवाली अविपाक निर्जरा। पहली सविपाक-निर्जरा तो चतुर्गति के सभी जीवों को होती है और दूसरी अविपाक-निर्जरा सम्यग्ज्ञानी व्रतधारियों को ही होती है।”⁶⁶²

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि आश्रव निरोध और संवर-मात्र से ही कर्मों का क्षय नहीं हो जाता है। पूर्व के कर्मों के क्षय के लिए तप की आवश्यकता होती है। कहा भी गया है- सुरक्षित रखा गया धन तब तक खर्च नहीं होता है, जब तक कि उसका उपयोग नहीं किया जाए। आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट रूप से कहते हैं- “शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तप करता है, वह नियम से अनेक कर्मों

659 सवेगारंगशाला, गाथा ८७६६-८७७५.

660 पण्डित दौलतरामजी : छहढाला: पंचम ढाल, छन्द ११.

661 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १०२, १०४.

662 द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ६६-६७.

की निर्जरा करता है।⁶⁶³ यही बात मरणविभक्ति,⁶⁶⁴ भगवतीआराधना,⁶⁶⁵ आदि ग्रन्थों में भी कही गई है।

संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है तथा निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय किया जाता है। संवर मोक्षमार्ग का आरम्भ है और निर्जरा मोक्षमार्ग की यात्रा है; अतः संवरपूर्वक निर्जरारूप परिणमन ही मोक्ष-मार्ग में आखड़ होना है। इस तरह निर्जरा-भावना में निरन्तर प्रयत्नशील रहने से व्यक्ति सर्वकर्मों को क्षय करके कषायों से मुक्त हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है।

१०. लोकस्वरूप भावना :- सवेगरंगशाला में लोकस्वरूप-भावना का चित्रण करते हुए कहा गया है कि लोक की रचना, आकृति, स्वरूप, आदि पर विचार करना लोकस्वरूप-भावना है। इसमें उर्ध्व, तिर्यक् और अधोलोक की स्थिति एवं उनमें रहे हुए सर्व पदार्थों के स्व-पर उपयोगपूर्वक विचार करना होता है। उर्ध्वलोक में देवविमान, तिर्यक्लोक में असंख्यात द्वीप तथा समुद्र और अधोलोक में सात नरक भूमि-संक्षेप में यही लोक का स्वरूप है। ग्रन्थकार ने आगे यह कहा है कि लोक-स्थिति के यथार्थस्वरूप को नहीं जानने वाले जीव स्वकार्य को सिद्ध नहीं कर पाते हैं एवं जो लोक में यथार्थस्वरूप के सम्यग्ज्ञाता होते हैं, वे ही स्वकार्य को सिद्ध करते हैं। इस प्रसंग में सवेगरंगशाला में शिवराजर्षि की कथा दी गई है।⁶⁶⁶

उत्तराध्ययनसूत्र में लोक का अर्थ बताते हुए कहा गया है- “धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव- ये छः द्रव्य जहाँ पाए जाते हैं, उस स्थानविशेष को, अथवा इन छः द्रव्यों के समुच्चय को ही लोक कहते हैं। लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ ये छः द्रव्य न हों। षड्द्रव्यों में से आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है और अन्य द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त है। आकाश के जितने भाग में छः द्रव्य स्थित हैं, उतने आकाश-खण्ड को ही लोक कहते हैं। जिस आकाश-खण्ड में षड्द्रव्य न हों, सिर्फ आकाश हो, वह अलोक है।”⁶⁶⁷ इस लोक की रचना किसी ने नहीं की है, बल्कि यह अनादिकाल से चला आ रहा है। इस विषय की पुष्टि करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं- “इन छः द्रव्यों के

663 पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १४४.

664 मरणविभक्ति गाथा ६२८.

665 भगवतीआराधना १८४०.

666 सवेगरंगशाला, गाथा ८७७८-८७७९.

667 उत्तराध्ययनसूत्र २८/७.

समुदायरूप लोक को न तो किसी ने बनाया है, और न ही कोई इसे धारण किए हुए है और न कोई इसका विनाश ही कर सकता है। इस लोक में यह आत्मा अनादिकाल से भ्रमण करती हुई अनन्त दुःख सह रही है।⁶⁶⁸ सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है; जहाँ इस आत्मा का जन्म न हुआ हो। हे आत्मन्! तू इस में ही क्यों रच-पच रहा है। यदि कर्मों के बन्धन से बचना है, तो इससे अपनत्व तोड़ो, राग छोड़ो, इसी में ही भला है।⁶⁶⁹

“इस जगत् में तेरा कुछ भी नहीं है। जगत् अलग है और तू अलग है—यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है, क्योंकि जगत् षड्द्रव्यों का आवास है, षड्द्रव्यमयी है और तू चैतन्यमूर्ति भगवान् आत्मा है।⁶⁷⁰

इस प्रकार लोक-भावना की विषयवस्तु का चित्रण तत्त्वार्थसूत्र,⁶⁷¹ कार्तिकेयानुप्रेक्षा,⁶⁷² ज्ञानार्णव⁶⁷³, भगवतीआराधना⁶⁷⁴, वृहद्द्रव्यसंग्रह,⁶⁷⁵ आदि अनेक जैन-ग्रन्थों में किया गया है। लोक-भावना में सम्पूर्ण लोक के स्वरूप का चिन्तन समाहित है, किन्तु इस चिन्तन की दिशा भेदविज्ञानपरक और वैराग्य प्रेरक होना चाहिए। भगवतीआराधना में इस बात को सिद्ध करते हुए कहा गया है— “यद्यपि लोक अनेक प्रकार का है, अर्थात् लोक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; तथापि यहाँ लोक शब्द से जीवद्रव्य को ही लोक कहा जा रहा है।⁶⁷⁶

वृहद्द्रव्यसंग्रह में लोक-भावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है— “जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं, उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त-रहित शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में सभी पदार्थ आलोकित होते हैं; दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं — इस कारण यह आत्मा ही निश्चयलोक है, अथवा इस निश्चयलोकरूप निजशुद्धात्मा का अवलोकन ही निश्चय से लोक-भावना है।⁶⁷⁷

लोकभावना में लोक के स्वरूप एवं जीवादि पदार्थों का चिन्तन करते हुए मुख्यतः चैतन्यलोक का चिन्तन करना है। षड्द्रव्यों में यह आत्मा ही लोक का

⁶⁶⁸ पण्डित दौलतरामजी, छहदाला, पंचमढाल, छन्द १२.

⁶⁶⁹ कविवर बुधजनकृत बारह भावना.

⁶⁷⁰ मैया भगवतीदासकृत बारह भावना.

⁶⁷¹ तत्त्वार्थ सूत्र ३/१.

⁶⁷² कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २८३.

⁶⁷³ ज्ञानार्णव (लोकभावना), २.

⁶⁷⁴ भगवतीआराधना गाथा १७६२ की उत्पानिका, पृष्ठ ७६८.

⁶⁷⁵ वृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ १६२-१६३.

ज्ञाता है। इस तरह लोक के यथार्थस्वरूप को जानकर साधक को आत्मा में रमण करना चाहिए, क्योंकि लोकभावना के चिन्तन का असली उद्देश्य तो आत्मासाधना ही है।

बोधिदुर्लभ-भावना :- बोधिदुर्लभ-भावना के द्वारा यह चिन्तन किया जाता है कि सन्मार्ग का जो बोध प्राप्त हुआ है, उसका सम्यक् आचरण करना अत्यन्त दुष्कर है- इस दुर्लभ बोध को पाकर भी यदि सम्यक् आचरण के द्वारा आत्मविकास नहीं किया, तो पुनः ऐसा बोध प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

सवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने बोधिदुर्लभता का विवेचन करते हुए कहा है- कर्म की परतन्त्रतावश जीव संसाररूपी अटवी में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। इस भवसागर में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्हें अभी तक त्रसपर्याय भी प्राप्त नहीं हुआ, अतः जिस प्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिक्ता की कणिका का मिलना दुर्लभ है, उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अत्यन्त दुर्लभता से ही कुछ जीवों को त्रसपर्याय मिलती भी है, तो भी वे बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि पर्यायों में ही भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु पंचेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त नहीं हो पाते हैं। जिस प्रकार गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अति दुर्लभ है, उसी प्रकार त्रसपर्याय से पंचेन्द्रियपर्याय सम्प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। अति दुर्लभता से पंचेन्द्रियपर्याय को प्राप्त करने के पश्चात् भी वह जलचर, नभचर, स्थलचर, खेचर, आदि पर्यायों में उत्पन्न होता रहता है, किन्तु जिस प्रकार चौराहे पर खोई हुई रत्नराशि का पुनः प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना भी अति कठिन है।

सवेगरंगशाला में मनुष्यपर्याय मिलना कितना दुष्कर है, उसे एक उदाहरण द्वारा बताया गया है। स्वयंभूरमण समुद्र में पूर्व-दिशा के किनारे से एक जुआ पानी में तैर रहा था और पश्चिम किनारे से एक कीली। क्या कभी हवा के झोंकों से लहरों पर तैरती हुई कीली जुएँ के छेद में अपने-आप आकर लग सकती है? यह असम्भव है। फिर भी, यदि यह मान लें कि ऐसा कभी सम्भव हो भी सकता है, तो भी एक बार मनुष्य-भव को खो देने पर पुनः प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन है।

पुरुषार्थ के द्वारा अथवा पुण्य के द्वारा या भान्य के योग से येनकेन-प्रकारेण जीव मनुष्यभव को अत्यन्त कठिनता से प्राप्त करता है, किन्तु मनुष्यपर्याय मिल जाने से ही सम्पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। एक बार

मनुष्यपर्याय मिल भी जाए, किन्तु मनुष्यभव में पुनः उत्तम देश, कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए।⁶⁷⁶

मान लीजिए बमुश्किलये सभी प्राप्त भी हो जाएं, किन्तु जिस प्रकार आँखों के बिना मुख व्यर्थ है, उसी प्रकार सद्धर्म के बिना मनुष्य-जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है।

संवेगरंगशाला में यह भी वर्णन किया गया है कि लोक में मनुष्य का आवास (निवास) तीन स्थानों पर ही है, उनमें से अकर्मभूमि और अन्तरद्वीपों में धर्म का अभाव है, अतः वहाँ बोध प्राप्त करना असम्भव है। कर्मभूमि में भी छःखण्ड में से पाँच खण्ड सर्वथा अनायदेश हैं; और भरत में जो छठवाँ खण्ड है, वही श्रेष्ठ है। उसमें भी अयोध्या के मध्य से साढ़े पच्चीस देश ही आर्य हैं, शेष सभी अनाय हैं। इसमें मगधदेश में राजगृही, अंगदेश में चम्पानगरी, बंगदेश में ताप्रलिप्ति, कलिंगदेश में कंचनपुर, आदि साढ़े पच्चीस देशों के नामों का उल्लेख किया गया है। इन्हीं देशों में तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, आदि के जन्म होते हैं तथा इनमें साधु-साध्वी भगवन्तों का विचरण होने से इन क्षेत्रों को ज्ञानादिक गुणयुक्त रत्नों का निधान कहा गया है।⁶⁷⁷

साथ ही इसमें यह भी उल्लेख है- हे देवानुप्रिय! तू बोधि की अति दुर्लभता को जानकर प्राप्त हुई बोधि की प्राप्ति का विचार (चिन्तन) करना, क्योंकि एक बार बोधि खो देने के पश्चात् उसे किसी भी मूल्य में पुनः प्राप्त नहीं कर सकेगा। तूने नरक एवं तिर्यचों के दुःखों को सहन किया तथा परोपदेश से उनके दुःखों को श्रवण किया फिर भी अमूल्य बोधि को ग्रहण नहीं करता है। जैसे रत्न की परीक्षा को नहीं जाननेवाला चिन्तामणि को फेंक देता है, वैसे ही मूढात्मा मुश्किल से मिले हुए उत्तम बोधिरत्न को शीघ्र छोड़ देता है, इसलिए साधक को यह प्रयास करना चाहिए कि जो अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, वह पुनः हाथ से न निकल जाए।⁶⁷⁸

बोधिदुर्लभता के सम्बन्ध में यही बात तत्त्वार्थसूत्र की सवार्थसिद्धि टीका में भी मिलती है।⁶⁷⁹ बोधिदुर्लभता का सन्देश देते हुए परमात्मा महावीर कहते हैं-

676 संवेगरंगशाला, गाथा ८७६७-८८००.

677 संवेगरंगशाला, गाथा ८८०१-८८१०.

678 संवेगरंगशाला, गाथा ८८१५-८८१७, ८८२०-८८२२.

679 सवार्थसिद्धि, ६/७.

हे सुज्ञ! बोध को प्राप्त करें, क्योंकि मृत्यु के बाद बोध प्राप्त होना कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ पुनः नहीं लौटती और फिर से मनुष्य-जन्म मिलना भी दुर्लभ है।⁶⁸⁰

जैन-दर्शन में चार वस्तुओं की उपलब्धि अत्यन्त कठिन (दुर्लभ) कही गई है- (१) संसार में प्राणी को मनुष्यत्व की प्राप्ति (२) धर्मश्रवण (३) शुद्धश्रद्धा और (४) संयममार्ग में पुरुषार्थ। “मरणविभक्ति के अनुसार जीव मानवपर्याय, अच्छा वंश, सुन्दर रूप, बल, श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान, आदि प्राप्त कर सकता है, लेकिन बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।⁶⁸¹

इस तरह हम देखते हैं कि एक बार मानवपर्याय कठिनता से प्राप्त भी हो जाए, लेकिन उत्तम बोधि-बीज को प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। बोधि को प्राप्त किए बिना साधक की मुक्ति असम्भव है, अतः साधक को बोधि या ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए।

१२. धर्माचार्य-दुर्लभ-भावना :-

संवेगरंगशाला में धर्म एवं धर्माचार्य (धर्म के दाता) की दुर्लभता का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार जगत् में रत्नादिक और उसके दातार अल्प होते हैं, उसी प्रकार धर्मार्थी और उस धर्म के दाता, अर्थात् उपदेशक भी अल्प होते हैं। इसमें कषायरहित, विशिष्ट ज्ञान से युक्त साधु को ही निश्चय से भाव साधु एवं इन गुणों से रहित साधु को असाधु कहा गया है। इसमें साधु को स्वर्ण के समान उपमा देकर बताया है कि जैसे स्वर्ण १. विषघातक २. रसायन ३. मंगलरूप ४. विनीत ५. प्रदक्षिणावर्त ६. भारी ७. अदाह्य और ८. अकुत्सित-इन आठ गुणों से युक्त होता है, उसी प्रकार साधु भी- (१) मोहरूपी विष का घात करनेवाला (२) मोक्षरूपी रसायन का उपदेश करनेवाला (३) गुणों से मंगलस्वरूप (४) मन-वचन-काया के योग से विनीत तथा (५) मार्गानुसारी होने से प्रदक्षिणावर्त होता है। पुनः, (६) गम्भीर होने से गुरु (भारी) होता है (७) क्रोधरूपी अग्नि से नहीं जलनेवाला और (८) शील का पालन करनेवाला होने से दोषों से सदा रहित होता है। इस तरह संवेगरंगशाला में स्वर्ण के गुण के समान साधु के गुण कहे गए हैं।⁶⁸²

इसमें धर्मोपदेशक गुरु के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह स्वशास्त्र-परशास्त्र को जानकार हो, संवेगी हो, दूसरों को संवेग प्रकट

⁶⁸⁰ सूत्रकृतांग, २/१/१.

⁶⁸¹ उत्तराध्ययन, ३/१.

⁶⁸² संवेगरंगशाला, गाथा क्र. ८८४४-८८५०

करनेवाला हो, मध्यस्थ हो, कृतकरण हो, ग्राहणकुशल हो, जीवों के उपकार करने में रक्त हो, दृढ़ प्रतिज्ञावाला हो, अनुवर्तक हो और बुद्धिमान् हो; ऐसे आचार्य को ही जिनकथित धर्मोपदेश देने का अधिकार है।⁶⁸³

संवेगरंगशाला में ज्ञानियों ने उसी धर्मगुरु की प्रशंसा की है, जो पृथ्वी के सदृश सर्वभार सहन करनेवाला हो, मेरु के तुल्य धर्म में स्थिर हो और चन्द्र सम सौम्यलेश्यावाला हो, वही धर्मगुरु प्रशंसनीय है तथा देश-काल का जानकार हो, लौकिक, वैदिक लोकोत्तर, अन्यान्य शास्त्रों में पारंगत हो, वही धर्मगुरु प्रशंसा करने योग्य है; किन्तु ऐसे जिनकथित निर्ग्रन्थ प्रवचन (संसार से मुक्त होने के मार्ग) को जाननेवाले धर्मगुरु का मिलना दुर्लभ है। जिस प्रकार एक दीपक से सैंकड़ों दीपक प्रज्वलित होते हैं और प्रदेश को प्रकाशित करते हैं, उसी तरह दीपक के समान ही धर्मगुरु भी स्व और पर को प्रकाशित करते हैं। संवेगरंगशाला में ऐसे गुरु की प्राप्ति को भी दुर्लभ बताया गया है।⁶⁸⁴

उत्तराध्ययनसूत्र में भी धर्म की शरण को ही उत्तम शरण कहते हुए कहा है कि संसार में धर्म ही शरण है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई रक्षक नहीं है। जरा-मृत्यु के प्रवाह के वेग में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्मदीप ही उत्तम स्थान और शरणरूप है।⁶⁸⁵

आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन में धर्म को उत्तम फल प्रदान करनेवाला कहा है, जो इस प्रकार है- “कल्पवृक्ष संकल्प करने पर अथवा मांगने पर मनोकामनाएँ पूर्ण करता है, चिन्तामणि चिन्तन करने पर फल प्रदान करती है, किन्तु धर्म से बिना मांगे ही उत्तम फल की प्राप्ति होती है।”⁶⁸⁶ भगवतीआराधना के अनुसार धर्म में श्रद्धा करने पर, धर्म को सुनने पर, धर्म को जानने पर, धर्म का स्मरण करने पर फल की प्राप्ति होती है तथा धर्म का पालन करने पर मन को शान्ति मिलती है। धर्म से मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय होता है और यशस्वी होता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म है। सर्वज्ञ के द्वारा कथित क्षमा, आदि के भेद से जो दस प्रकार के धर्म बताए गए हैं, वे ही मोक्ष की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं। जिनका संसार में कोई बन्धु नहीं है, उनका धर्म

⁶⁸³ संवेगरंगशाला, पाया क्र. ८६०२-८६०३

⁶⁸⁴ संवेगरंगशाला, पाया क्र. ८६१४-८६२५.

⁶⁸⁵ उत्तराध्ययन १४/४०, २३/६३.

⁶⁸⁶ आचार्य गुणभद्र आत्मानुशासन, छन्द २२.

बन्धु है, जिनका कोई सखा नहीं है, उनका धर्म सखा है, उनका धर्म नाथ है, जिनका कोई नाथ नहीं है। अखिल जगत् में एकमात्र धर्म ही रक्षक है।⁶⁸⁷

इससे यह फलित होता है कि इन सभी ग्रन्थों में धर्म के स्वरूप एवं उसकी आत्मविश्वास की शक्ति का विचार करना ही धर्म-भावना है, इन सब ग्रन्थों में धर्म के वास्तविक स्वरूप का विचार कर उसके पालन करने का ही उल्लेख है, जबकि संवेगरंगशाला में धर्माधी एवं धर्म प्रदान करनेवाले धर्माचार्य की दुर्लभता का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस भावना के स्वरूप के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला का अन्य ग्रन्थों से अन्तर है।

संवेगरंगशाला में अन्त में यह बताया गया है कि इस दुष्कर संसाररूपी दीवार को तोड़ने के लिए, बारह भावनाओंरूपी हाथी की सेना समर्थ है। वैराग्य के उत्कर्ष हेतु इन भावनाओं का चित्त में बार-बार चिन्तन करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्योदय के होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जैसे-जैसे व्यक्ति में वैराग्य उत्पन्न होता है, वैसे-वैसे कर्म क्षय होते हैं। जैसे- अग्नि के सम्पर्क से मोम पिघल जाता है, वैसे प्रतिसमय पूर्ण सद्भावपूर्वक भावनाओं के चिन्तन से भव्यात्मा के चिरसंचित कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, फिर वे नवीन कर्म का बन्ध नहीं करते हैं। इस तरह हे जीव! तू भी इन बारह भावनाओं का प्रतिसमय चिन्तन कर तथा शुभध्यान के द्वारा अपने प्रचण्ड अशुभ कर्मों का क्षय कर।⁶⁸⁸

दुष्कृत-गर्हा :-

संवेगरंगशाला में निर्यापक आचार्य के द्वारा क्षपक को चार शरण स्वीकार करवाने के पश्चात् पूर्वकृत कर्मों के भावी कटु विपाक को रोकने के लिए दुष्कृत्य की गर्हा, अर्थात् पूर्व में किए गए पापों की निन्दा करने का निर्देश किया गया है। निर्यापक-आचार्य क्षपकमुनि से कहते हैं- हे मुनि! तुने यदि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-साध्वी के विषय में वन्दन, पूजन, सत्कार, सम्मान, आदि करने योग्य कार्य नहीं किए हों, माता, पिता, बन्धु, मित्र एवं उपकारियों के विषय में मन-वचन-काया से किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार किया हो, तो उन सबकी त्रिविध-त्रिविध गर्हा कर। पुनः, आठ मदस्थानों तथा अठारह पापस्थानकों में कभी कोई प्रवृत्ति की हो, क्रोधादि कषायों के वश होकर कोई छोटा-बड़ा पाप किया हो, राग-द्वेष, अज्ञानता, अविवेक के वशीभूत होकर इहलोक या परलोक में

⁶⁸⁷ भगवतीआराधना गायी, १८६२.

⁶⁸⁸ संवेगरंगशाला, गायी ८६२६-८६३१.

मर्यादा-विरुद्ध कोई कार्य किया हो, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनागम एवं श्रीसंघ, आदि का मन-वचन-काया से अवर्णवाद, अर्थात् निन्दा की हो, अथवा उनका नाशदि किया हो, सूक्ष्म एवं बादर अथवा त्रस एवं स्थावर जीवों की विराधनारूप आरम्भ-समारम्भ किया हो, श्रावक-जीवन में अणुव्रत, गुणव्रत, आदि में जो कोई अतिचार लगा हो तथा सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् रागादिवश कोई भी जिनाज्ञा-विरुद्ध आचरण किया हो, तो उन सर्वपापों की भी तू सम्यक् प्रकार से गर्हा कर, निन्दा कर।⁶⁸⁹

गृहस्थ-जीवन में पन्द्रह कर्मादानों (निषिद्ध व्यवसाय) का सेवन किया हो, कराया हो या अनुमोदन किया हो, मुनि-जीवन में दसविध सामाचारी, पंचाचार, नियमों, व्रतों का भंग किया हो, इस जन्म में अथवा अन्य जन्म में मिथ्यात्ववश धर्म को अधर्म, तत्त्व को अतत्त्व, सुदेव को कुदेव माना हो, गृहस्थ एवं मुनि के मूलगुणों एवं उत्तरगुणों में छोटे-बड़े अतिचारों का सेवन किया हो, आहार, भय, मैथुन, आदि संज्ञाओं के वशीभूत कोई पाप-आचरण किया हो, नारक-जीवन में नरक के अन्य जीवों को उत्तर वैक्रियरूप शरीर से कठोर दुःसह वेदना दी हो, तिर्यच जीवन में एकेन्द्रिय-योनि प्राप्त कर पृथ्वीकाय, आदि एकेन्द्रिय जीवों की अन्योन्य मिलनरूप शस्त्र से किसी प्रकार की विराधना की हो, इसी तरह द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की विराधना की हो, तो उन सबकी अवश्यमेव त्रिविध-त्रिविध रूप से गर्हा कर।⁶⁹⁰

मनुष्य-जीवन में किसी समय राजा या मंत्री आदि अवस्था प्राप्त कर अन्य मनुष्य को फांसी पर लटकाया हो, कटुवचन बोला हो, अन्याय किया हो, ताड़न, मारण तथा पीड़ा दी हो, परस्त्री का सेवन किया हो, गर्भ को गलाया, टुकड़े-टुकड़े करके निकाला हो, नाश किया हो, पति का घात किया हो, बालक का हरण किया हो, भूत, आदि निम्न जाति के देवों को मन्त्र-तन्त्रादि की शक्ति के प्रयोग से आज्ञा देकर या अपना इष्ट बनाकर कष्ट दिया हो, अथवा किसी व्यक्ति में उनका प्रवेश करवाया या उनको निकाला हो, इत्यादि अन्य जो भी घोर पाप किए हों, हे क्षपक मुनि! पुनः संवेग प्राप्त करके वांछित फल की प्राप्ति, अर्थात् निर्विघ्न आराधना के लिए उनकी त्रिविध-त्रिविध रूप से गर्हा कर, निन्दा कर।⁶⁹¹

भवनपति, वाणव्यन्तर और वैमानिक आदि देव का जीवन प्राप्त कर तूने यदि नारक, तिर्यच, मनुष्य अथवा देवों को दुःखी किया हो, पूर्व वैर का बदला

689 सविमर्गशास्त्र, गाथा ८३२४-८३४३.

690 सविमर्गशास्त्र, गाथा ८३४४-८४३२.

691 सविमर्गशास्त्र, गाथा ८४३३-८४५८.

लेने हेतु मनुष्य आदि का अपहरण किया हो, उन्हें बन्धन, वध, छेदन, भेदन, आदिरूप भयंकर कष्ट दिए हों, देवत्व में भी अन्य देवों से जबरदस्ती आज्ञा-पालन करवाई हो, तो नारक, तिर्यच, मनुष्य एवं देवों से त्रिविध-त्रिविध रूप से क्षमायाचना कर। पांच महाव्रतों के प्रत्येक अतिचार का त्याग नहीं किया हो, जगत् के सूक्ष्म या बादर सर्वजीवों को इस जन्म या अन्य जन्मों में जो भी अल्पमात्र दुःख दिया हो, तो उन सभी की निन्दा कर। इस तरह सर्वपापों को सम्यक् रूप से जानकर दुःखों का सर्वथा नाश करने हेतु अरिहन्त, सिद्ध, गुरु एवं श्रीपंथ की साक्षी में उन सर्व की सर्वप्रकार से सम्यक् निन्दा कर, गर्हा कर और प्रतिक्रमण कर। आराधना में चित्त को रमानेवाले, संवेग की वृद्धिवाले हे क्षपकमुनि! समस्त पापों की शुद्धि के लिए मुख्य अंगभूत 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द भावपूर्वक बोल! पुनः-पुनः मिच्छामि दुक्कडं का उच्चारण कर और अन्त में पुनः मिच्छामि दुक्कडं बोलकर इन पापों को पुनः कभी नहीं करने का निश्चय कर। इस प्रकार अपने दुष्कृतों की आलोचना-निन्दा करके साधक सुकृत का अनुमोदन करे।⁶⁹²

सुकृत-अनुमोदना :-

सवेगरंगशाला के सुकृत अनुमोदना नामक तेरहवें द्वार में निर्यापक-आचार्य द्वारा क्षपकमुनि को सुकृतों की अनुमोदना करने का निर्देश दिया गया है। इसके अनुसार- जिस प्रकार रोगी पुरुष कुशल वैद्य के कथनानुसार पथ्य का सेवन करता है, उसी प्रकार मुनि भी भाव-आरोग्यता के लिए जिनेश्वर भगवान् ने जिन शुभक्रियाओं का कथन किया है, उनका आसेवन करे, उनकी सम्यक् अनुमोदना करे। जन्म से मति, श्रुत और अवधिज्ञानवाले, जन्मादि पंचकल्याणक के समय चार-निकाय के देवों द्वारा पूजे जानेवाले, सर्वोत्कृष्ट गुण एवं सर्वोत्तम पुण्यवाले, सर्वातिशयों से युक्त राग-द्वेष-मोहादि से रहित, लोकालोक-प्रकाशक, केवलज्ञानरूप लक्ष्मी से युक्त, आठ प्रतिहायों से सुशोभित, जन्म-जरा-मरणरहित शाश्वत-सुख के स्थान मोक्ष का प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर-भगवान् के गुणों की तू त्रिविध-त्रिविध रूप से सम्यक् अनुमोदना कर।⁶⁹³

इसी तरह सिद्ध परमात्मा के सभी गुणों का भी अनुमोदन कर, जैसे - वे समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धशिला के ऊपर शाश्वत रूप से रहने वाले हैं, उन्होंने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है, वे सर्व दुःखों से रहित,

⁶⁹² सवेगरंगशाला, गाथा ८४६०-८४६७.

⁶⁹³ सवेगरंगशाला, गाथा ८४६६-८४७१.

पाप-रहित, क्लेशरहित, राग-द्वेष से रहित, क्रियारहित तथा सर्व अपेक्षाओं से रहित हैं, वे तीन लोक में चूड़ामणि के समान हैं, इस तरह तीन लोक में वन्दनीय, सर्व सिद्ध भगवन्तों के गुणों की भी त्रिविध-त्रिविध रूप से सम्यक् अनुमोदना करना चाहिए।⁶⁹⁴

जो स्वयं पाँच आचार का सम्यक् रूप से पालन करनेवाले हैं और सर्व भव्यजीवों को उन आचारों का सम्यक् उपदेश देनेवाले तथा उनका पालन कराने वाले हैं, ऐसे आचार्य के सर्व गुणों की भी तू सम्यक् प्रकार से अनुमोदना कर।

संवेगरंगशाला में उपाध्यायों को रत्नों की पेटी के समान कहा गया है। जो अंग, उपांग और प्रकीर्णक, आदि जिनप्रणीत सूत्रों को स्वयं सूत्र-अर्थ एवं तदुभय रूप से पढ़नेवाले और दूसरों को पढ़ानेवाले हैं, ऐसे उपाध्याय के गुणों को, हे क्षपक मुनि! तू सदा त्रिविध-त्रिविध रूप से अनुमोदन कर।

इसी प्रकार हे मुनि! चारित्र-चूड़ामणि, धीर, वीर, गम्भीर, गुणरूपी रत्नों के भण्डारस्वरूप जगत् के प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाले, ममत्वरहित, समचित्त, अग्रमत्त, अध्ययनशील, प्रशमरसी, एकलक्ष्य, परमार्थ-गवेषक, संसारदशा की निर्गुणता का विचार रखनेवाले साधुओं के गुणों का तू त्रिविध-त्रिविध रूप से अनुमोदन कर।

जिन धर्म के प्रति श्रद्धावान् जीव, अजीव, आदि नव पदार्थों को जानने में परम कुशल, देवादि द्वारा भी निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति क्षोभ, आदि को प्राप्त नहीं करने वाले और सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के साधक गुणों का अति दृढ़ता से पालन करने वाले साधुओं का अनुमोदन कर। अन्य भी जो भद्रिक, परिणामी, अल्प-संसारी, लघुकर्मी, देव, मनुष्य अथवा तिर्यक हैं, उन सर्वजीवों के मार्गानुसारी जीवन का तू सम्यक् अनुमोदन कर। इस प्रकार अरिहन्त, आदि के सद्गुणों का प्रतिक्षण सम्यक् रूप से स्मरण करते हुए तुझे अपने गुणों को शिथिल नहीं करना है, बल्कि उन गुणों की रक्षा करना है। इसी तरह सर्व गुणों का अनुमोदन करने से ही, हे सुविहित मुनि! तेरी आराधना सफल होगी।⁶⁹⁵

आराधनाकुलक⁶⁹⁶, मिथ्यादुष्कृतकुलक⁶⁹⁷, आत्मविशोधिकुलक⁶⁹⁸, चतुःशरण⁶⁹⁹, आतुरप्रत्याख्यान⁷⁰⁰, कुशलानुबन्धि-अध्ययन⁷⁰¹, पर्यन्ताराधना⁷⁰²,

⁶⁹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ८५१२-८५२०.

⁶⁹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ८४२१-८४३६.

⁶⁹⁶ आराधनाकुलक, गाथा ५, ६.

⁶⁹⁷ मिथ्यादुष्कृतकुलक, गाथा १-१२.

आराधनापताका,⁷⁰³ आदि समाधिमरण सम्बन्धी प्रकीर्णकों में दुष्कृत-गर्हा एवं सुकृत-अनुमोदन का उल्लेख मिलता है।

क्षमापना :-

सवेगरंगशाला के क्षमापना-द्वार में सर्वप्रथम गुरु एवं शिष्य के द्वारा परस्पर क्षमा मांगने का निर्देश किया गया है। इसमें कहा गया है कि समाधिमरण के इच्छुक आचार्य को अपने मुनि-समुदाय को बुलाकर मधुर वाणी में इस प्रकार कहना चाहिए- हे देवानुप्रिय! त्रिफल साथ रहनेवालों के साथ निश्चय से पूष्म या स्थूल रूप से अप्रीति होना स्वाभाविक है। आहार, पानी, वस्त्र, पात्र तथा अन्य कोई कल्पनीय धर्मोपकरण मेरे पास विद्यमान होने पर भी मैंने तुम्हें नहीं दिए हों तथा उसे दूसरों को देने से रोका हो, तुम्हारे द्वारा पूछने पर भी सूत्र एवं अर्थ का सम्यक् प्रकार से अध्ययन नहीं करवाया हो, या भली प्रकार से समझाया न हो, कठोर वचन से बारम्बार प्रेरणा तथा तर्जना की हो तथा सद्गुणों की प्राप्ति हेतु किसी कारणवश उस समय तुम्हारे उत्साह में वृद्धि न की हो, तो शल्य एवं कषायरहित होकर मैं उन सर्व अपराधों की तुमसे क्षमायाचना करता हूँ। मुनि-जीवन में इससे अधिक क्या कहा जाए? फिर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से मेरे द्वारा जो कुछ भी अनुचित हुआ हो, उन सबकी त्रिविध-त्रिविध रूप से क्षमा मांगता हूँ।

इस तरह गुरु को क्षमा-याचना करते हुए देखकर शिष्यों को अपनी आँखों से आँसू गिराते हुए गद्गद् स्वर में इस प्रकार कहना चाहिए-हे स्वामी! सर्वप्रकार के कष्टों को सहन करते हुए भी आपने हमेशा हमारा सम्यक्-चारित्र्य द्वारा पालन-पोषण किया है, इस तरह आप हमारे उपकारी होते हुए भी “तुम सब मुझे क्षमा करना”- ऐसा यह वचन क्यों कहते हो? आप तो हमारे पिता के तुल्य हो, अप्राप्त गुणों को प्राप्त कराने वाले हो, एकान्तहित करनेवाले हो, मुक्तिपुरी ले जानेवाले एक श्रेष्ठ सार्थवाह हो, प्रिय बन्धु हो, संयम में सहायक हो, जगत् के जीवों के रक्षक हो तथा भयभीत को निर्भय बनानेवाले हो, फिर आप उपयोग के अभाव में तथा प्रमादवश किसी का अनुचित चिन्तन भी कैसे कर सकते हो? एकान्तहित करनेवाले आपको भी क्षमा मांगने योग्य कुछ नहीं हो

⁶⁹⁸ आत्मविशोधिमूलक, गाथा १-२४.

⁶⁹⁹ चतुःशरण, गाथा ७-२५.

⁷⁰⁰ आतुरप्रत्याख्यान, गाथा, २-३.

⁷⁰¹ कुशलानुबन्धि-अध्ययन, गाथा ५५-६३.

⁷⁰² पर्यन्ताराधना, गाथा ३०-३०६.

⁷⁰³ आराधनापताका, गाथा २७२-३४६.

सकता है, फिर भी “ऐसा कहने से हमे लाभ होगा”- ऐसा मानकर आपने जो कुछ भी कठोरतापूर्वक हमसे कहा, वह भी एक उत्तम वैद्य की कड़वी औषध के समान परिणाम की अपेक्षा हमारे लिए हितकर ही था, अपितु हमारे द्वारा आपके प्रति किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार हुआ हो, तो उनकी क्षमायाचना करना हमारे लिए उचित है। अतः हे भगवन्! अज्ञानवश, कषाय के वशीभूत होकर, उपयोग बिना मन-वचन-काया से जो भी अपराध किया हो, कराया हो, अथवा करनेवाले को अच्छा कहा हो, तो उन सर्वदोषों की हम भी आपसे क्षमा-याचना करते हैं।⁷⁰⁴

इसके पश्चात् शिष्य भी अपने द्वारा हुए अपराधों का कथन करते हुए गुरु से क्षमायाचना करते हैं-हे स्वामी! आपके द्वारा सदैव हित करने पर भी हमने मन से विपरीत कल्पना की हो, आपकी पीठ पीछे निन्दा की हो, अपशब्द कहे हों, अविनय आशातना की हो तथा आपके द्वारा सारणा, वारणा, आदि करते हुए कोई वस्तु या शिक्षा प्रेम से देने पर भी उसे अविनय से स्वीकार किया हो, तो उन सभी अपराधों की मन-वचन-काया से क्षमायाचना करते हैं। इस तरह शिष्य को भी आँसू बहाते हुए मस्तक झुकाकर अपनी सर्व भूलों की यथायोग्य क्षमा माँगना चाहिए।⁷⁰⁵

साथ ही संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि निर्यापक आचार्य को, क्षपक को, श्रीसंघ से एवं सर्वप्राणियों से अपने सर्वपापों की क्षमायाचना करने के लिए कहना चाहिए। फिर, क्षपक दोनों हाथों से अंजली बनाकर मस्तक नमामकर श्रीसंघ से क्षमायाचना करते हुए कहता है- आप निश्चय से लोक के समग्र जीवों के माता-पितातुल्य हो, इसलिए आपसे क्षमा माँगने से विश्व के साथ क्षमायाचना हो जाती है। अन्त में क्षपक कहता है-आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक-कुल तथा गण के प्रति मैंने कषाय किया हो, अथवा कराया हो, या अनुमोदित किया हो, उन सभी की सम्यक् प्रकार से क्षमायाचना करता हूँ एवं वे सभी भी मुझे क्षमा प्रदान करें।⁷⁰⁶

भगवतीआराधना के अनुसार क्षमायाचना करना क्षमापना है। क्षपक-संघ के समस्त सदस्यों से क्षमायाचना करता है। यदि क्षपक सबके पास क्षमा माँगने नहीं जा सकता है, तो उसकी तरफ से सबकी ओर से क्षमायाचना का संदेश लेकर आचार्य जाते हैं। वे अपने साथ उस क्षपक की पिच्छिका लेकर जाते हैं

⁷⁰⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ४२४३-४२६७.

⁷⁰⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ४२६८-४२७८.

⁷⁰⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५४८०-५४८८.

और संघ के समस्त सदस्यों को उसकी पिच्छिका दिखाकर कहते हैं कि वह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है।⁷⁰⁷

सागारधर्माभूत में कहा गया है कि राग या द्वेष से अथवा ममत्वभाव से जिसे भी दुःख दिया हो, या कष्ट पहुँचाया हो, उससे मन-वचन-काया से क्षमा माँगे तथा जिसने अपने से वैर किया हो, अपने को कष्ट पहुँचाया हो, उसे भी मन-वचन-काया से क्षमा प्रदान करे।⁷⁰⁸

समाधिमरण में चार शरण की स्वीकृति :

सवेगरंगशाला में निर्यापक-आचार्य छः व्रतों का सम्यक् परिपालन करने वाले क्षपक को कहते हैं- हे सुविहित! अब तू अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म-इन चार की शरण को स्वीकार कर। इसमें अरिहन्त का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं- जिन्होंने ज्ञानावरणीय आदि चार घातीकर्मों को क्षय कर दिया है और कभी नष्ट नहीं होनेवाले अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन को प्राप्त किया है तथा संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण के कारणों को समाप्त करके अरिहन्त-पद को प्राप्त किया है, ऐसे जन्म-मरण से रहित एक हजार आठ लक्षण से युक्त, सर्वगुणों से शोभित, सर्वजीवों के हितस्वी, परमबन्धु, परमपुरुष, परमात्मा एवं परमेश्वर, परम मंगलभूत, तीन लोक के भूषणरूप अरिहन्त परमात्मा हैं।

हे मुनि! वे तीन लोक की लक्ष्मी के तिलक के सदृश हैं, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को मिटाने में वे सूर्य के समान हैं, मोहमल्ल को जीतने में महामल्ल के तुल्य हैं। वे महासत्त्व, तीनों लोकों में पूज्य, अप्रतिहत, अजेय एवं अतुल तेज के धारक हैं। ऐसे परम कारुणिक एवं प्रकृष्ट जयवाले अरिहन्तों की तू शरण स्वीकार कर।⁷⁰⁹

इसी प्रकार सिद्धों के स्वरूप को जानकर उनकी शरण स्वीकार कर। जो मनुष्य-जन्म में संयम-जीवन स्वीकार कर आश्रवों को रोककर, पण्डितमरण से मृत्यु प्राप्तकर, संसार-पारेभ्रमण को दूर कर कृतकृत्य हो सिद्ध पद को प्राप्त है, जो निर्मल केवलज्ञान से युक्त है, संसार से मुक्त है और जिन्होंने सुखरूपी लक्ष्मी का वरण कर सर्व दुःखों का अन्त कर दिया है, ऐसे वे सिद्ध परमात्मा हैं।

हे मुनि! जिनके सर्वकर्मों के आवरण नष्ट हो गए हैं, जो जन्म-जरा-मरण से पार हो गए हैं, तीन लोक के मस्तक के मुकुटरूप एवं सर्व

707 भगवतीआराधना - ७०४.

708 सागारधर्माभूत, गाथा ३२.

709 सवेगरंगशाला, गाथा ८२४७-८२६१

जीवों के श्रेष्ठ शरणभूत, पूजनीय, शाश्वत सुखस्वरूप, मंगल का धर एवं मंगल के कारणभूत, ज्ञानमय (ज्ञानात्मक शरीरवाले) ऐसे सिद्ध भगवन्तों का शरण स्वीकार कर, क्योंकि वे अरूपी, अनन्त, अक्षय, अचिन्त्य, अजय, अव्याबाध, अछेद्य, अभेद्य, पुनः संसारी नहीं होनेवाले परमेश्वर शरण स्वीकार करने के योग्य हैं।⁷¹⁰

साधु का स्वरूप एवं उनकी शरण स्वीकारने का निर्देश देते हुए संवेगरंगशाला में कहा गया है- जिन्होंने जीव आदि नौ तत्त्वों को जाना है, जो शुद्ध क्रिया में परायण तथा सारणा, वाएणा, आदि करने में कुशल हैं, पुनः जो प्रतिलेखन, प्रमार्जना, आदि क्रियाओं तथा दसविध सामाचारी के प्रति अत्यन्त रागी है, विविध तप करनेवाले हैं, जो पाँच समिति का पालन करनेवाले तथा पाँच आचारों को धारण करनेवाले हैं, जो पापों का उपशमन करनेवाले, विषय-कषायों को जीतनेवाले, निद्रा, मत्सर एवं मद के विजेता और परीषहों को सहन करनेवाले हैं, हे मुनि! तू ऐसे साधु भगवन्तों की शरण स्वीकार कर। पुनः, आगे लिखा गया है- मान-अपमान, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र में समान चित्तवाले, स्वाध्याय में तत्पर, आश्रवद्वार को बन्द करनेवाले, मन-वचन एवं काय से गुप्त प्रशस्त लेश्यावाले-ऐसे श्रमण भगवन्तों की शरण कल्याणकारण है।⁷¹¹

जिनधर्म का स्वरूप एवं उसकी शरण स्वीकार करने का निर्देश :-

सर्व अतिशयों का निधानरूप, अन्य मत के समस्त धर्मशास्त्रों में मुख्य, निरुपम सुख का कारण, दुःख से पीड़ित जीवों को दुन्दुभिनाद सदृश आनन्द देनेवाला, रागादि का नाश करनेवाला, स्वर्ग और मोक्ष के सुख का प्रदाता - ऐसे धर्म का जिनेश्वर भगवन्तों ने मुनिजनों को उपदेश दिया है। वह जिनधर्म मोह का नाश करनेवाला है, आदि-अन्त से रहित, शाश्वत, सर्व जीवों का हितकर, अमूल्य, अमित, अजित, महार्थवाला, महामहिमावाला, महाप्रकरणयुक्त, शुभ-आशय का कारण, समस्त क्लेशों का नाशक, पदार्थों के विषय में हेय, उपादेय का विवेक कराने में सपर्य है।

वह दीन-दुःखी को आश्वासन देने में आशीर्वादतुल्य, संसार-समुद्र में डूबते जीवों के लिए द्वीप के समान, इच्छा से अधिक देनेवाला होने से चिन्तामणि से भी अधिक मूल्यवान्, पिता के समान हितकारी, माता के समान वात्सल्यकारी, बन्धु के समान गुणकारक, मित्र के समान द्रोह नहीं करनेवाला, विश्वसनीय एवं लोक में अति दुर्लभ, अंग-प्रविष्ट, अनंग-प्रविष्ट- उभय प्रकार के श्रुतरूप धर्म का

⁷¹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ८२६२-८२७५.

⁷¹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ८२७६-८२८६.

यथार्थबोध करानेवाला, कर्म के समूह को नाश करनेवाला, लोकोत्तम गुणवाला, सर्वश्रेष्ठ फल देनेवाला, केवली भगवन्तों के द्वारा कथित और सिद्धान्तरूप में गणधरों द्वारा रचित- ऐसे धर्म की तू सम्यक् प्रकार से शरण स्वीकार कर।⁷¹²

इस प्रकार हे क्षपक! इन चार शरण को स्वीकार करके कर्मरूपी शत्रु से निर्भय बनकर तू शीघ्र ही इच्छित अर्थ, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।

समाधिमरण में इन्द्रिय-दमन की आवश्यकता :-

संवेगरंगशाला में जीव को ज्ञानादि गुणरूपा लक्ष्मी के क्रोडा-भवन सदृश तथा इन्द्रिय को उस भवन के झरोखे या द्वार, आदि के सदृश कहा है। इसमें शब्दादि विषयरूपी दरवाजों से प्रवेश करते हुए अनेक कुविकल्पोरूपी पापरज के समूह से जीव मलिन होता है, अथवा इन्द्रियरूपी द्वार बन्द नहीं होने से जीवरूपी प्रसाद में प्रवेश करके, दुष्ट विषयरूपी प्रचण्ड लुटेरे ज्ञानादि गुण को लूट लेते हैं। अतः, हे धीर पुरुष! तुझे ज्ञानादि गुणों के संरक्षण के लिए इन्द्रियरूपी द्वार को अच्छी तरह से बंद करके रखना चाहिए।⁷¹³

आगे ग्रन्थकार कहते हैं- स्वशास्त्र तथा परशास्त्र के ज्ञान के अभ्यासी महान पण्डित पुरुष भी इन्द्रिय-विषयों के वेग से पराजित हो जाते हैं, चाहे वे ब्रती हों, तपस्वी हों, गुरु की शरण स्वीकार करते हों, सूत्र और अर्थ का स्मरण करते हों, किन्तु जितेन्द्रिय न हों, तो उनके वे सभी गुण धान्य के छिलके को कूटने के समान निष्फल होते हैं। व्यक्ति की कीर्ति या प्रतिष्ठा तब तक ही होती है, जब तक इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं, परन्तु जब मनुष्य इन्द्रियों के वश में हो जाता है, तो वह अपने कुल, यश, धर्म, संघ, माता-पिता, गुरुजनों आदि को अवश्य कलंकित करता है। इन्द्रिय-विषयों का समूह अति बलवान् है, व्यक्ति शास्त्रों में कथित इन्द्रिय-दमन के विविध उपायों को जानते हुए भी उन्हें दमित कर नहीं पाता है।⁷¹⁴

इस जगत् में जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, वही शूरवीर है, गुणी है, वही कुल का दीपक है, यशस्वी है, मतिमान् है एवं उसे ही समाधि-सुख की प्राप्ति होती है। देवताओं से पूजित इन्द्र स्वर्ग में आनन्द करता है। वह सब इन्द्रियों को आंशिक रूप से दमन करने का ही फल है। जो इन्द्रिय-विजेता है, वही सुदेव है, सुगुरु है, उसको नमस्कार करना चाहिए तथा उसकी शरण स्वीकार

⁷¹² संवेगरंगशाला, गाथा ८२६७-८२२१.

⁷¹³ संवेगरंगशाला, गाथा ८६६४-८६६८.

⁷¹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ८६६६-८६७३.

करना चाहिए। जिसने इन्द्रियों के विकार को रोका है, उसी ने पुण्य से मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उसी का जीवन सफल है, इसलिए हे देवानुप्रिय! तेरे ही हित की बात कहता हूँ कि तू भी ऐसा विशिष्ट वर्तन कर कि जिनसे तेरी इन्द्रियाँ निर्विकारी एवं आत्मरागी बनें। जो इन्द्रियजन्य सुख दिखाई देता है, वह सुख नहीं सुख की भ्रान्ति है, कर्मों की वृद्धि के लिए है। जो जीव शील एवं गुणरूपी दोनों पंख से रहित होता है, वह कटे पंखवाले पक्षी के समान संसाररूपी भयंकर गुफा से निकल नहीं पाता है। जैसे- भीषण गर्मी के तेज ताप से घबराकर पुरुष तुच्छ वृक्ष की अल्प छाया में ही सुख मान लेता है, वैसे ही इन्द्रियजन्य सुख को जानना चाहिए।⁷¹⁵

समाधिमरण का मुख्य लक्ष्य कषायजय :-

संवेगरंगशाला में चारों कषायों का विस्तृत विवेचन अठारह पापस्थानकों के अन्तर्गत किया गया है। कषायों का त्याग करना अत्यन्त दुष्कर होने से निर्यापक-आचार्य क्षपक से कहते हैं- हे सत्पुरुष! क्रोधादि कषायों के विपाक को जानकर कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर। तीनों लोक में जो अत्यधिक विषम दुःख एवं जो श्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है, वह क्रमशः कषायों की वृद्धि एवं क्षय के कारण ही होता है। शत्रु, सिंह एवं व्याधि भी मुनि का जितना अपकार नहीं करते हैं, उससे ज्यादा अपकार क्रोध, आदि चार कषायरूपी शत्रु करते हैं। कषाययुक्त आत्मा जिनेश्वर परमात्मा के वचनों का भी अनादर करती है और अनन्तकाल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करती रहती है।⁷¹⁶

डॉ. सागरमल जैन कषाय की परिभाषा करते हुए लिखते हैं- वे मनोवृत्तियाँ या मानसिक-आवेग, जो हमारी आत्मा को कलुषित करते हैं, हमारे आत्मीय-सद्गुणों को कृश करते हैं, जिनसे आत्मा बन्धन में आती है और उससे संसार-परिभ्रमण, अर्थात् जन्म-मरण में वृद्धि होती है, उन्हें कषाय कहते हैं।⁷¹⁷ संवेगरंगशाला में भी कहा गया है कि राग-द्वेष के अधीन तथा कषायों से व्यामूढ़ बनी आत्मा जिन आज्ञा का पालन नहीं कर पाती है। ये कषाएँ राग-द्वेषजन्य हैं।⁷¹⁸ विशेषावश्यकभाष्य में विभिन्न नयों या अपेक्षाओं के आधार पर राग-द्वेष से कषायों के सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा की गई है। संग्रहनय की अपेक्षा से क्रोध और मान द्वेषरूप हैं; जबकि माया और लोभ रागरूप हैं, क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की

⁷¹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ८६८४-८६६६.

⁷¹⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ७०२२-७०२६.

⁷¹⁷ कषाय-एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ७.

⁷¹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ७०२७.

अहित-भावना है, अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ-साधना का लक्ष्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध, मान और माया-तीनों द्वेषरूप हैं, केवल लोभ अकेला रागात्मक है, ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से क्रोध ही द्वेषरूप है, शेष तीनों कषाय को एकान्तरूप से न रागप्रेरित, न द्वेषप्रेरित कहा जा सकता है, वे रागप्रेरित होने से रागरूप एवं द्वेषप्रेरित होने से द्वेषरूप होती हैं।⁷¹⁹ इस प्रकार राग-द्वेष से कषायों का जन्म होता है, और राग-द्वेष का मूलभूत कारण मोह है। इसे हम अज्ञान अथवा अविवेक भी कह सकते हैं, अतः मोह, अज्ञान, अविवेक, आदि मिथ्यात्वरूप हैं।

कषायों के दो मुख्य भेद हैं- कषाय एवं नोकषाय। तीव्र आवेगों को कषाय एवं मन्द आवेगों को नोकषाय कहा जाता है। अन्य अपेक्षा से कषाय के चार भेद भी हैं- १. क्रोध २. मान ३. माया और ४. लोभ। नोकषाय (उपकषाय) के नौ भेद इस प्रकार हैं :- १. हास्य २. रति ३. अरति ४. शोक ५. भय ६. घृणा ७. स्त्रीवेद ८. पुरुषवेद और ९. नपुंसकवेद। यहाँ वेद का अर्थ कामवासना है।

१. क्रोध : संवेगरंगशाला में क्रोध को अपूर्व अग्नि की उपमा दी गई है, क्योंकि अग्नि मात्र शरीर को जलाती है, जबकि क्रोध देह एवं चित्त- दोनों को जलाता है। क्रोध एक वैरी या शत्रु है, क्योंकि शत्रु तो एक जन्म में अनिष्ट करता है, लेकिन क्रोध जन्म-जन्मान्तर में अनिष्ट करता है। क्रोध एक ऐसा मानसिक-उत्तेजक आवेग है, जिसके उत्पन्न होते ही व्यक्ति का शारीरिक एवं मानसिक-संतुलन बिगड़ जाता है, उसकी विचार-क्षमता एवं तर्क-शक्ति शिथिल हो जाती है।⁷²⁰ कर्मग्रन्थ में क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार भेद किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं⁷²¹:-

१. अनन्तानुबन्धी-क्रोध (तीव्रतम) :- पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध, जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवनपर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो।

२. अप्रत्याख्यानी-क्रोध (तीव्रतर)-सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी-क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता है, समझाने पर शान्त हो जाता है।

⁷¹⁹ विशेषावश्यकभाष्य, २६६८-२६७१.

⁷²⁰ संवेगरंगशाला, गाथा - ५६१०-५६१२.

⁷²¹ कर्मग्रन्थ - १/१६.

३. प्रत्याख्यानी-क्रोध (तीव्र)-बालू की रेखा जैसे हवा के झोंकों से जल्दी ही मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानी-क्रोध चार मास से अधिक स्थाई नहीं होता है।

४. संज्वलन-क्रोध (अल्प)-शीघ्र ही मिट जानेवाली पानी में खींची गई रेखा के समान इस क्रोध में स्थायित्व नहीं होता है।

२. मान : संवेगरंगशाला के अनुसार मान-कषाय का अर्थ है- अहंकार करना, फिर चाहे वह अहंकार कुल का हो या धन का, ज्ञान का हो या बल का। मान-कषाय पराभव का मूल है एवं अक्खड़ता के दोष से अपने यश एवं कीर्ति को नाश करनेवाला है। अभिमानी व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यताओं का बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शन करता है, जैसे- हम ही त्यागी एवं श्रुतवान् हैं, हम ही गुणी एवं उग्र क्रिया करनेवाले हैं, अन्य तो कुत्सित, मात्र वेशधारी हैं। इस तरह मनुष्य मानरूपी अग्नि से पूर्व में किए तप एवं विद्यमान गुणरूपी वन को जल देता है, स्वयं जीवों की हिंसा करता है, सदैव शास्त्रविरुद्ध कर्मों को करता है और तिस पर भी गर्व करता है कि इस जगत् में धर्म का पालन करनेवाला केवल वह ही है।⁷²²

अहंकार की तीव्रता एवं मन्दता से मान के भी चार भेद हैं -

१. अनन्तानुबन्धी-मान :- पत्थर के खम्भे के समान जो झुकता नहीं? अर्थात् जिसमें विनय-गुणनाम मात्र भी नहीं है।

२. अप्रत्याख्यानी-मान :- हड्डी के समान कठिनता से झुकनेवाला, अर्थात् जो विशेष परिस्थितियों में बाह्य-दबाव के कारण विनम्र हो जाता है।

३. प्रत्याख्यानी-मान :- लकड़ी के समान प्रयत्न से झुक जानेवाला, अर्थात् जिसके अन्दर विनम्रता तो होती है, लेकिन जिसका प्रकटन विशेष स्थिति में ही होता है।

४. संज्वलन-मान :- बेंत के समान अत्यन्त सरलता से झुक जानेवाला, अर्थात् जो आत्मगौरव को रखते हुए भी विनम्र बना रहता है।⁷²³

३. माया : संवेगरंगशाला में कहा है- माया विवकेरूपी चन्द्र को निगलनेवाले राहू ग्रह के समान है, कुटिलता की बोधक है।⁷²⁴ योगशास्त्र में कहा

⁷²² संवेगरंगशाला, गाथा ५६५५-५६५७.

⁷²³ कर्मग्रन्थ, १/अ, गाथा १६.

है- माया का आश्रय कभी नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ये असत्य की जननी, शील वृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी, मिथ्यात्व और अज्ञान की जन्मभूमि तथा दुर्गति का कारण है।⁷²⁵ माया के चार भेद इस प्रकार हैं⁷²⁶ :-

१. अनन्ताबनुबन्धी-माया - बांस की जड़ के समान कुटिल.
२. अप्रत्याख्यानी-माया - भैंस के सींग के समान कुटिल.
३. प्रत्याख्यानी-माया - गोमूत्र की धारा के समान कुटिल.
४. संज्वलन-माया - बांस के छिलके के समान कुटिल.

४. लोभ : संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार कहते हैं- लोभ से तृष्णा बढ़ती है तथा स्वप्न में भी उसकी तृप्ति नहीं होती है। लोभ अखण्ड व्याधि है, स्वयंभूरमण समुद्र के समान किसी तरह शान्त नहीं होनेवाला है। जैसे- ईंधन से अग्नि बढ़ती है, वैसे- लाभ से लोभ बढ़ता जाता है। मोहनीयकर्म के उदय से चित्त में जो तृष्णा या लालसा उत्पन्न होती है, वही लोभ कहलाती है।⁷²⁷

लोभ के चार प्रकार हैं :-

१. तानुबन्धी-लोभ - मजीठिया रंग के समान; जो छूटे नहीं, वैसा लोभ.
२. अप्रत्याख्यानी-लोभ - गाड़ी के पहिए के औगन के समान, मुश्किल से छूटने वाला लोभ.
३. प्रत्याख्यानी-लोभ - कीचड़ के समान, प्रयत्न करने पर छूटनेवाला लोभ.
४. संज्वलन-लोभ - हल्दी के समान, शीघ्रता से दूर हो जानेवाला लोभ.⁷²⁸

कषायजय :- साधक को अपनी आत्म-साधना या आत्म-विकास के लिए वासनाओं एवं कषायों का त्याग करना या उनसे ऊपर उठना अनिवार्य होता है। जब तक व्यक्ति कषायों को त्यागकर इनसे ऊपर नहीं उठता है, तब तक वह

⁷²⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ५६६७

⁷²⁵ योगशास्त्रप्रकाश/४, गाथा-१४.

⁷²⁶ कर्मग्रन्थ, १/अ, गाथा - २०.

⁷²⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ६०२६-६०२७.

⁷²⁸ कर्मग्रन्थ, १/अ, गाथा २०.

नैतिक-प्रगति नहीं कर सकता है। आध्यात्मिक-विकास की साधना के लिए इन कषायों को क्यों छोड़ना चाहिए? इस तर्क के उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि मान-विनय, श्रुत, शील-सदाचार एवं त्रिवर्ग का घातक है, वह विवकेरूपी नेत्रों को नष्ट करके मनुष्य को अन्धा बना देता है। क्रोध जब उत्पन्न होता है, तो आग की तरह प्रथम उसी को जलाता है, जिसमें वह उत्पन्न होता है। माया, अविद्या और असत्य की जनक है और शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करने में कुल्हाड़े के समान है तथा अधोगति का कारण है। लोभ समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण है, समस्त सद्गुणों को निगल जानेवाला राक्षस है, सारं दुःखों का मूल कारण है और धर्मकार्य में पुरुषार्थ का बाधक है।⁷²⁹

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चारों कषायों में भी लोभ को सर्व सद्गुणों के विनाश का कारण कहा गया है। लोभ एक ऐसी मनोवृत्ति है, जिसके वशीभूत होकर मनुष्य पापों के दलदल में पांव रखने के लिए तैयार हो जाता है। लोभ-कषाय के सन्दर्भ में मम्मणसेठ का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है।

संवैग्यरंगशाला में कषाय पर विजय प्राप्त करनेवाले धन्य पुरुषों का उल्लेख अनेक उपमाओं सहित किया गया है, जैसे- धन्य पुरुषों में भी वह पुरुष धन्य है, जो कषायरूप गेहूं और जौ के कणों को पूर्णतया चूर्ण करने के लिए चक्की में पिसते हैं, इसलिए हे देवानुग्रिय! क्रोधादि कषायों का निरोध करके तू भी उसी तरह विजय प्राप्त कर कि जिससे तेरी आराधना सम्यक् हो सके।⁷³⁰

लेश्या :-

चित्त में उठनेवाली विचार-तरंगों को लेश्या कहा गया है। जैसे- हवा का झोंका आने पर सागर में लहरों पर लहरें उठनी प्रारम्भ हो जाती हैं; वैसे ही आत्मा में भाव-कर्म के उदय होने पर विषय-विकार, विचारों के बवण्डर उठने लगते हैं, यही लेश्याएँ हैं। जिनके द्वारा आत्मा कर्म-लिप्त होती है, उन्हें स्थानांग-वृत्ति में लेश्या कहा गया है।⁷³¹ प्रज्ञापना के अनुसार लेश्या कषाय का परिणाम है।⁷³²

729 योगशास्त्र, ४/१०, १८.

730 संवैग्यरंगशाला, गाथा ७०३४-७०३५.

731 स्थानांगवृत्ति, पत्र २६.

732 प्रज्ञापना-पद, १७/ मलयगिरि टीका।

आराधनापताका ⁷³³ एवं भगवतीआराधना ⁷³⁴ के अनुसार कषाय से अनुरक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

संवेगरंगशाला के अनुसार मनोभावों की विविधता के परिणाम ही लेश्या हैं। लेश्या छः प्रकार की होती है-१. कृष्णलेश्या २. नीललेश्या ३. कापोत-लेश्या ४. तेजोलेश्या ५. पद्मलेश्या और ६. शुक्ललेश्या। ये छःहों लेश्याएँ विविध मनोभावों वाली होती हैं तथा कर्मदल के सान्निध्य से स्फटिकमणि के सदृश निर्मल स्वभाववाले जीव को भी मलिन कर देती हैं। ⁷³⁵ इनमें प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ और अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ मानी गई हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र ⁷³⁶ में इन सभी लेश्याओं के दो-दो भेद किए गए हैं। १. द्रव्यलेश्या एवं २. भावलेश्या। सागारधर्मामृत ⁷³⁷ में भी लेश्या के द्रव्य एवं भाव-ऐसे दो भेद करके दोनों के छः-छः भेद किए गए हैं।

१. द्रव्य-लेश्या : शरीर के रंग को द्रव्य-लेश्या कहते हैं। आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए जो पुद्गल-परमाणु लेश्यारूप में परिणमन करते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं।

लेश्या	वर्ण	गन्ध	रस	स्पर्श
१. कृष्ण	काजल सम काला	मृत कुत्ते जैसी दुर्गन्ध	अति कटु	अति कर्कश
२. नील	वैदूर्यमणि सम नीला	मरी गाय समान दुर्गन्ध	अति तीखा	खुरदरा
३. कापोत	कबूतर की ग्रीवा जैसा	सड़ी लाश जैसी दुर्गन्ध	कसैला	कम खुरदरा
४. तेजस्	नवोदित सूर्य सम लाल	गुलाब-पुष्प जैसी सुगन्ध	खट्टा-मीठा	कोमल
५. पद्म	कमल-पुष्प जैसा	कमल-पुष्प जैसी सुगन्ध	मीठा	मृदु
६. शुक्ल	शंख के समान श्वेत	केवड़ा जैसी सुगन्ध	अति मधुर	अति मृदु

⁷³³ आराधनापताका, ८३६-८४५.

⁷³⁴ भगवतीआराधना, गाथा १६००-१६०४.

⁷³⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ६६६६-६६६७.

⁷³⁶ उत्तराध्ययन, ३१/३४, गाथा ४-७.

⁷³⁷ सागारधर्मामृत, पृ. १२१.

लेश्या की विशुद्धि के माध्यम से क्षपक समस्त प्रकार के कषायों से मुक्त होकर समताभाव को प्राप्त करता है और भाव-विशुद्धिपूर्वक क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल-इन तीन शुभ लेश्याओं में परिणमन करता हुआ, उपशम या क्षपक-श्रेणी पर आरोहण करता है। इन शुभ लेश्याओं की सहायता से क्षपक समस्त पापों का सर्वथा के लिए त्याग कर देता है, जिससे उसकी चित्तवृत्ति विशुद्ध हो जाती है।

२. भाव लेश्या : कषायों के उदय से रंगीन बनी मन-वचन-कया की प्रवृत्ति को भाव-लेश्या कहते हैं। कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार भाव-लेश्या में वैविध्य होता है। प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ कषायों की तीव्रता के कारण होती हैं, इसलिए ये तीनों अधर्म या अशुभ लेश्या कहलाती हैं। इनके कारण नारक, आदि अशुभ योनियों की प्राप्ति होती है। शेष तीन लेश्याएँ कषाय की मन्दता के कारण होती हैं, इसलिए ये तीनों लेश्या धर्म या शुभ लेश्याएँ कहलाती हैं। इसके कारण जीव को स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संवेगरंगशाला में छः लेश्याओं के भावों को जामुन खाने की इच्छावाले छः पुरुषों के परिणामों, अर्थात् मनोभावों की विभिन्नता से समझाया गया है।

किसी एक जंगल में भूख से व्याकुल छः पुरुष भ्रमण कर रहे थे। वहाँ उन्हें फलों से लदा जामुन का एक विशाल वृक्ष दिखा, जिस पर पके हुए जामुन के फल लगे थे, जिसकी अनेक छोटी-बड़ी टहनियाँ विस्तार से फैली हुई थीं। सम्पूर्ण वृक्ष जामुन के गुच्छों से लका हुआ था। पवन के कारण पके फल नीचे गिरे हुए थे। इस प्रकार यह वृक्ष उन पुरुषों के लिए मानो साक्षात् कल्पवृक्ष ही था। उस वृक्ष को देखकर सबके मन में उन अमृतफलों को खाने की इच्छा हुई, परन्तु फलों को किस प्रकार खाया जाए? इस विचार से एक पुरुष ने कहा- “वृक्ष के ऊपर चढ़ने से प्राण जाने का सन्देह हो सकता है, अतः वृक्ष को मूल से काट दिया जाए।” तब दूसरे ने कहा- “इस सम्पूर्ण वृक्ष को काटने से क्या लाभ? हमें फल ही खाने हैं, तो इसकी सिर्फ बड़ी-बड़ी शाखाएँ काटी जाएँ।” तीसरे ने कहा- “बड़ी शाखाओं को तोड़ने से भी क्या प्रयोजन? छोटी शाखाओं से ही फल प्राप्त हो सकते हैं।” चौथे ने कहा- “नहीं! नहीं। फल के गुच्छे तोड़ लेना ही पर्याप्त होगा।” पाँचवे ने कहा- “हमें तो केवल पके फल खाने हैं, तो गुच्छे तोड़ने से क्या लाभ? इसमें तो कच्चे एवं पके- सभी फल होंगे, इसलिए हमें केवल पके हुए फलों को ही तोड़ना चाहिए।” तब अन्त में छठवाँ पुरुष करुणार्द्र होकर कहने लगा- “कच्चे अथवा पके फल को तोड़ने की आवश्यकता ही क्या है? जितने

फलों की हमें आवश्यकता है, उत्तने पके फल जमीन पर गिरे पड़े हैं, अतः इन्हें उठाओ और खाओ। इन्हीं से अपने प्राणों का निर्वाह हो जाएगा।”

इस दृष्टान्त के माध्यम से यह फलित होता है कि छहों के विचारों में कितनी भिन्नता है और इन विभिन्न परिणामों का कारण लेश्या है। इसमें प्रथम-पेड़ को मूल से काटनेवाला पुरुष कृष्णलेश्यावाला है, दूसरा- नीललेश्यावाला है, तीसरा- कापोत लेश्यावाला है, चौथा- तेजस्-लेश्यावाला है, पांचवा- पद्मलेश्यावाला है और छठवाँ- नीचे गिरे फलों को ग्रहण करने का उपदेश देनेवाला शुक्ल-लेश्यावाला है।⁷³⁸

इसी तरह संवेगरंगशाला में एक और दृष्टान्त का उल्लेख करते हुए क्षपकमुनि को अप्रशस्त-लेश्या का त्याग करने एवं प्रशस्त-लेश्या को प्राप्त करने का निरूपण किया गया है। एक बार छः चोर एक गाँव को लूटने के लिए आए। तब एक चोर कहता है- “मनुष्य अथवा पशु, जिन्हें देखो, तुम सबको मारो,” अतः वह चोर कृष्णलेश्यावाला है। दूसरे चोर ने कहा- “पशुओं को क्यों मारें? केवल मनुष्यों को ही मारो,” अतः वह चोर नीललेश्यावाला है। तीसरे चोर ने कहा- “स्त्री, आदि को छोड़कर केवल पुरुषों को ही मारो।” अतः वह चोर तेजस्-लेश्यावाला है। पांचवे चोर ने कहा- “जो शस्त्रधारी हमारे ऊपर प्रहार करें, केवल उन्हें ही मारो।” अतः वह चोर पद्मलेश्यावाला है और अन्तिम छठवे चोर ने कहा- “एक तो हम निर्दयी-पापी बनकर उनका धन लूट रहे हैं और दूसरे मनुष्य को भी मार रहे हैं। अहो! यह कैसा महापाप है? इसलिए ऐसा करें, किसी को मारो मत, मात्र धन की ही चोरी कर लो।” अतः इस अन्तिम चोर को शुक्ल-लेश्यावाला जानना चाहिए,⁷³⁹ क्योंकि उसमें हिंसा के भाव का अभाव है। इस दृष्टान्त को हिंसा की तरतमता के आधार पर समझना चाहिए, चोरी के आधार पर नहीं।

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध भाववाले तथा संवेग (वैराग्य) प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को कृष्ण, नील एवं कापोत-लेश्या को छोड़ना चाहिए और तेजस्, पद्म एवं शुक्ल-लेश्या को ग्रहण करना चाहिए। संवेगरंगशाला में कहा गया है कि जीव को लेश्याओं की शुद्धि, परिणामों की शुद्धि से होती है, परिणामों की शुद्धि मन्द कषायवालों को होती है, कषायों की मन्दता बाह्य-वस्तुओं के प्रति राग को छोड़ने से होती है, इस प्रकार समाधिमरण प्राप्त करनेवाले देहासक्ति से रहित जीव को शुद्धलेश्या प्राप्त होती है। जैसे छिलके के सहित धान

⁷³⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६६६८-६६७६.

⁷³⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ६६८०-६६८४.

अशुद्ध होता है, वैसे ही लेश्यासहित जीव शुद्ध नहीं होता है, इसलिए जो जीव शुद्धलेश्या से देह का त्याग करता है, तो वह विशुद्ध आराधना को प्राप्त करता है। जीव जिस लेश्या में मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी लेश्या में पुनः उसका जन्म होता है, इसलिए प्रत्येक जीव को अपनी लेश्या को शुद्ध करने के लिए अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार लेश्यारहित जीव कषायों को नष्ट करके अक्षय सुख-समृद्धिरूप मोक्ष (सिद्धि) को प्राप्त करते हैं।⁷⁴⁰

ध्यान :

संवेगरंगशाला में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने समाधिमरण के साधक के लिए ध्यान-साधना को आवश्यक माना है। उन्होंने ध्यान को मन की एकाग्रता अथवा चित्तनिरोध कहा है। किसी एक विषय या वस्तु पर एकाग्रता ध्यान है। व्यक्ति के मस्तिष्क में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और वे विचार शुभ और अशुभ-दो प्रकार के हो सकते हैं। ध्यान में शुभ एवं अशुभ-दोनों प्रकारों के विचारों की एकाग्रता पाई जाती है। इसी अपेक्षा से संवेगरंगशाला में ध्यान के चार भेद बताए गए हैं। वे निम्न हैं :-

१. आर्तध्यान २. रौद्रध्यान ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान.

१. आर्तध्यान : आर्त अर्थात् शोकावस्था, दुःखी होने का ध्यान। इसे अप्रशस्त एवं अशुभध्यान भी कहते हैं। इसके ध्यान से कर्मों की निर्जरा नहीं होती, अपितु कर्म-बन्धन अवश्य होते हैं। आर्तध्यान इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनुराग के कारण होता है। ग्रन्थकार ने इसके चार भेद बताए हैं-

१. अनिष्ट-संयोग - अप्रिय व्यक्ति अथवा वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना।

२. इष्ट-वियोग - प्रिय व्यक्ति या किसी पदार्थ का वियोग होने पर या उसकी कल्पना से आर्तनाद एवं करुण क्रन्दन करना।

३. व्याधि या रोग की चिन्ता - शरीर के रोगों के निवारण हेतु निरन्तर चिन्तन करना।

४. परलोक की लक्ष्मी की अभिलाषा (निदान) - भोगाकांक्षा अथवा अन्य किसी प्रयोजन से भविष्य के लिए संकल्प, आदि करना।

२. रौद्रध्यान : मन, वचन और काया से हिंसादि के प्रति आसक्तिवाला होकर रौद्रध्यानवाला होता है। इसमें कषायों की तीव्रता होती है। इस ध्यान से भी व्यक्ति दुर्गति में जाता है। इसके भी निम्न चार भेद हैं-

१. हिंसानुबन्धी - द्वेष-बुद्धि से प्रतिशोध लेने के पश्चात् प्रसन्नता का अनुभव करना।

२. मृषानुबन्धी - क्रोधादि के वशीभूत हो असत्य भाषण के पश्चात् हर्षाभिव्यक्ति।

३. स्तेयानुबन्धी - लोक-कषाय के वशीभूत होकर चौर्यकर्म करने के पश्चात् आनन्द-विभोर होना।

४. धनसंरक्षणानुबन्धी - संग्रह-लालसा के परिणामस्वरूप परिग्रह में गाढ़-आसक्ति रखकर उसमें बाधक तथ्यों पर क्रोध करना।

३. धर्मध्यान : इस ध्यान में व्यक्ति कषायों का त्यागकर शुभवृत्तियों में अपना ध्यान एकाग्र करता है। यह ध्यान धर्म या शुभ प्रवृत्तियों के प्रति अनुराग रखनेवाला होता है। कषायों की मन्दता होने से व्यक्ति में शुभ विचार उत्पन्न होते हैं। शुभ विचारों से सद्गति प्राप्त होती है। संवेगरंगशाला में धर्म-ध्यान के निम्न चार भेद कहे हैं-

१. आज्ञा-विचय - इसमें वीतराग प्ररूपित जिनवाणी का चिन्तन करना होता है, जैसे- परमात्मा की आज्ञा है- “न राग करो और न द्वेष करो”, क्योंकि राग और द्वेष- दोनों ही कर्मबन्ध के हेतु हैं, इसलिए त्याग्य हैं। परमात्मा की वाणी निर्दोष, निष्पाप, महान् अर्थवाली, त्रिकाल में अबाधित हितकर, अजेय, सत्य, मोहनाशक, गम्भीर, कर्णप्रिय एवं चिन्त्य महिमावाली होने से ग्रहण (चिन्तन) करने योग्य है।

२. अपायविचय-स्वयं के कषायादि दोषों का अवलोकन कर दोष-मुक्ति के उपायों का चिन्तन करना। इसमें व्यक्ति स्वयं के दुःखों का कारण दूसरों को नहीं मानकर स्वयं के पूर्व कर्मों को मानता है। इसमें इन्द्रिय-विषय, कषाय और आश्रवादि पच्चीस क्रियाओं के सेवन, अव्रतादि में वर्तन तथा नरकादि में जन्म के दुष्परिणामों का चिन्तन किया जाता है।

३. विपाकविचय-कर्मों के विपाक को चिन्तन करना, अर्थात् पूर्व कर्मों के उद्गत सुख-दुःखात्मक विभिन्न परिस्थितियों का चिन्तन करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।

४. संस्थानविचय - धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के स्वरूप का तथा लोक के अधोलोक, उर्ध्वलोक एवं तिर्यक्लोक, आदि विभागों का चिन्तन करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है। इसी प्रकार शरीर के स्वरूप का चिन्तन करना भी संस्थानविचय है। बारह भावनाओं का चिन्तन, मनन करते हुए धर्म-ध्यान पूर्ण कर क्षपक शुक्लध्यान में आरुढ़ होता है।

४. शुक्लध्यान : आत्मस्वरूप में रमण करना शुक्लध्यान कहलाता है। पर-पण्णिति में हटकर स्वभाव में आना, वही शुक्लध्यान है। यह रागादि कषायों से रहित होता है, इसलिए शुक्लध्यानवाली आत्मा ज्ञाता दृष्टा भावरूप अप्रमत्तावस्था में रहती है। शुक्लध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं -

१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार २. एकत्ववितर्क-अविचार ३. सूक्ष्म-क्रिया-अनिवृत्ति ४. व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपत्ति ।

१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार - संवेगरंगशाला में प्रथम शुक्लध्यान का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यहाँ पृथक्त्व का अर्थ विस्तारपूर्वक समझना चाहिए। जड़, चेतन, आदि किसी भी एक द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश, रूपी, अरूपी, आदि विविध पर्यायों का विस्तारपूर्वक नय-निक्षेपों द्वारा विचार करना पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क, अर्थात् पूर्वगत श्रुत के कथन-अनुसार चिन्तन करना। इसका अर्थ यह भी है- अर्थ से व्यंजन में और व्यंजन से अर्थ में संक्रमण करना, यही चिन्तनवितर्क कहलाता है। अर्थ एवं व्यंजन का भावार्थ बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य या पदार्थ को अर्थ कहते हैं और अक्षरों को व्यंजन कहते हैं। यह वस्तुरूप से शब्दरूप में विचार का संक्रमण है। सविचार मन-वचन-काया के योग द्वारा अन्यान्य अवान्तर भेदों या पर्यायों में जो प्रवेश किया जाता है, उसे विचार कहते हैं। विचारसहित को सविचार कहते हैं।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ और उसकी विविध पर्यायों में शब्द अथवा अर्थ के आधार पर मन, आदि विविध योगों के द्वारा पूर्वगत श्रुत के अनुसार जो चिन्तन किया जाए, वह विचार पृथक्त्ववितर्कसविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान कहा जाता है।

२. एकत्ववितर्क-अविचार - इसमें वस्तुतत्त्व की उत्पाद, व्यय और स्थिति में से किसी एक ही पर्याय में ध्यान होता है। इसमें अन्य योगों में संक्रमण नहीं होने से इसे अविचार कहा जाता है। इस तरह यह ध्यान पवनरहित दीपक की ली के समान स्थिर होता है।

३. सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति - केवली को सूक्ष्म काययोग का निरोध करते समय तीसरा सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति ध्यान होता है।

४. अक्रिया (व्युच्छिन्न-क्रिया) - अप्रतिपात्ति, यह चौथा ध्यान है, यह ध्यान योग-निरोध के बाद शैलेशीकरण में होता है।

इस तरह ध्यान के स्वरूप को बताकर निर्यापक आचार्य क्षपकमुनि को कहते हैं- विषय-कषायों को जीतनेवाले, मोहरूपी शत्रु का नाश करनेवाले तथा संसाररूपी वृक्ष को मूल से काटनेवाले हे क्षपकमुनि! इस समय तुझे अपनी कुशल बुद्धि के द्वारा दुःखों के महाभण्डार सदृश आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान को जानकर उनका त्याग करना चाहिए एवं क्लेशों को नष्ट करने में वीर पुरुष की तरह धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान का ही ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए। परीषहों एवं उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी तू आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान-इन दोनों दुर्ध्यान का चिन्तन कभी मत करना, क्योंकि इन अशुभ ध्यान से आत्मा-विशुद्धि का नाश होता है।

शस्त्ररहित सुभट के समान ध्यानरहित क्षपक भी कर्मों को जीत नहीं सकता है। इसी प्रकार ध्यान करते हुए क्षपक जब बोलने में असमर्थ होता है, तब वह इंगित द्वारा अपनी बात कहता है, और निर्यापक उसके द्वारा किए गए इंगित से उसके मन की इच्छा को जान जाता है। इस प्रकार समता को प्राप्त करके प्रशस्तभावना तथा धर्म एवं शुक्लध्यानपूर्वक लेश्या की विशुद्धता को प्राप्त करके वह क्षपकमुनि गुणश्रेणी का आरोहण करता है।⁷⁴¹

आराधनापताका⁷⁴² एवं भगवतीआराधना⁷⁴³ में भी ध्यान के सन्दर्भ में यही उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें भी ध्यान के चार भेदों का निरूपण किया गया है तथा कहा गया है कि ध्यान की सहायता से ही क्षपक कषायों का नाश करता है, क्योंकि कषायों के संहार (नाश) करने में ध्यान आयुध का कार्य करता है। ध्यान द्वारा समस्त कषायों का नाश करके क्षपक भक्तप्रत्याख्यान करने को तत्पर होता है और जब वह बोलने में असमर्थ हो जाता है, तब अपनी बातों को वह इशारे से बताता है, जैसे- हाथों की अंजुलि बनाकर, भी में गति देकर, मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर, आदि। इसमें आचार्य को यह ज्ञान हो जाता है कि क्षपक अपनी समाधिमरण की प्रक्रिया में रत है।

⁷⁴¹ सविमर्गप्रज्ञा, गाय ८६३३-८६६४.

⁷⁴² आराधनापताका, ८०३-८३५.

⁷⁴³ भगवतीआराधना, गाय ७५३.

इसी तरह उत्तराध्ययन⁷⁴⁴ एवं तत्त्वार्थसूत्र⁷⁴⁵ में भी उत्तम संहननवाले के एकाग्रचित्त निरोध को ध्यान कहा गया है तथा उनमें भी ध्यान के इन्हीं चार भेदों का वर्णन किया गया है। इनमें स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के चार लक्षण बताए गए हैं- (क) परीषह, उपसर्ग आदि से व्यथित न होना (ख) किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न होना (ग) भेद-ज्ञान (घ) शरीरादि के प्रति ममत्वभाव का पूर्ण त्याग। वस्तुतः, समाधिमरण की साधना हेतु क्षपक में शुक्लध्यान के इन चारों लक्षणों का होना आवश्यक है। इन चारों लक्षणों से युक्त शुक्लध्यान का साधक क्षपक अन्त में शुक्लध्यान के व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपत्ति नामक चतुर्थ चरण को प्राप्त कर उसके माध्यम से मोक्षलक्ष्मी का वरण करता है।⁷⁴⁶



⁷⁴⁴ उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/३५.

⁷⁴⁵ तत्त्वार्थसूत्र, ८/२६ २७.

⁷⁴⁶ स्थानांगसूत्र ४/६०.

अध्याय - ५

आराधना-सम्बन्धी कथाओं का तुलनात्मक-अध्ययन

संवेगरंगशाला मूलतः आराधना से सम्बन्धित ग्रन्थ है, किन्तु इसके कर्त्ता आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने ग्रन्थ की विषय-वस्तु जनसामान्य को सम्यक् रूप से समझ में आ जाए, इस दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रसंग पर पूर्व-परम्परा में उल्लेखित विभिन्न कथाएँ प्रस्तुत की हैं। कथा के दो लाभ होते हैं- एक तो साधक को उस आराधना के सम्बन्ध में एक दृढ़निष्ठा होती है। वह यह मानने लगता है कि पूर्व में भी आराधकों ने इस प्रकार की साधना की है, अतः मुझे भी इस साधना से विचलित नहीं होना चाहिए। कथा का दूसरा लाभ यह होता है कि कथा के माध्यम से सामान्य पाठक भी उस साधना के महत्व और मूल्य को सम्यक् प्रकार से समझ लेता है। यही कारण है कि संवेगरंगशाला में साधनापरक विषय-विवेचन के साथ-साथ कथाओं का अति विस्तार से उल्लेख हुआ है।

जहाँ संवेगरंगशाला की पूर्व कृतियों, जैसे- मरणविभक्ति, भगवतीआराधना, प्राचीन आचार्यकृत आराधनापताका, वीरभद्रकृत आराधनापताका, आदि ग्रन्थों में हमें मात्र कथाओं के संकेत मिलते हैं, वहीं इस संवेगरंगशाला में विस्तार से कथाएँ वर्णित की गई हैं। संवेगरंगशाला के ८० प्रतिशत भाग में कथाएँ वर्णित हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हमने जो कथाएँ प्रस्तुत की हैं, उसका उद्देश्य कथा से परिचित कराना नहीं, क्योंकि हम यह मानते हैं कि एक शोधकार्य में कथा-वर्णन अधिक महत्व नहीं रखता है; इसीलिए सर्वप्रथम तो हमने कथाओं की अपने सन्दर्भ के साथ अत्यन्त संक्षिप्त में ही उल्लेखित किया है। दूसरे, शोध की अपेक्षा से हमने कथाओं के मूल स्रोतों को देखने का प्रयास किया है। इसमें भी विशेष रूप से यह जानने का प्रयास किया है कि ये कथाएँ आगम और आगमिक-व्याख्याओं तथा समाधिमरण से सम्बन्धित ग्रन्थों में किस रूप में

उल्लेखित हैं। गवेषणात्मक-दृष्टि से ऐसा करते हुए हमें यह ज्ञात हुआ है कि संवेगरंगशाला में वर्णित इन कथाओं में से अधिकांश कथाएँ पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उल्लेखित हैं, यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते समय हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि जिनचन्द्रसूरि ने संवेगरंगशाला में इन कथाओं को जितना विस्तार दिया है, उतना विस्तार पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं दिया गया है। ऐसा लगता है कि श्रुत-परम्परा से आई इन कथाओं को जिनचन्द्रसूरि ने अधिक विस्तृत किया है, अतः इस अध्याय में हमने प्रत्येक कथा के अन्त में यह बताने का प्रयास किया है कि प्रस्तुत कथा पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ उपलब्ध है। यद्यपि यहाँ हम कथाओं का तुलनात्मक-विवेचन ही करना चाहते थे, किन्तु प्रथम तो विस्तारभय से और दूसरे अधिकांश पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कथा का मात्र नाम-निर्देश होने से हम कथा के तुलनात्मक-विवेचन के सम्बन्ध में अधिक विस्तार में नहीं गए। कहीं-कहीं अवश्य ही हमें घटनाक्रम में अन्तर भी देखने को मिला है। कुछ कथाओं में जिनचन्द्रसूरि व्यक्ति के नाम का निर्देश भी न करके मात्र श्रावकपुत्रों की कथा, ब्राह्मणपुत्र की कथा जैसे संकेतों का ही प्रयोग किया गया है। हमें ऐसा लगता है कि कथाओं के विवेचन में जिनचन्द्रसूरि ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा परम्परा से प्राप्त अनुश्रुति को ही महत्व दिया है। ग्रन्थ का कथापक्ष शोध की दृष्टि से उपेक्षित न रहे, इसे लक्ष्य में रखकर ही प्रस्तुत अध्याय में सन्दर्भ का निर्देश करते हुए कथा को प्रस्तुत किया है और उसके पश्चात् वह कथा पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कहाँ उपलब्ध होती है, इसका निर्देश भी किया गया है। हमें आशा है कि प्रस्तुत विवेचन कथा-साहित्य के विषय में शोध करनेवालों के लिए अधिक उपयोगी होगा। इसी विश्वास के साथ अग्रिम पृष्ठों पर क्रमशः कथाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ कथाओं के क्रम के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला को ही आधार मानकर, उसमें जिस क्रम से कथाएँ मिलती हैं, उसी क्रम का अनुसरण किया गया है।

मधु राजा की कथा

संक्षिप्त आराधना के स्वरूप के विषय में संवेगरंगशाला में मधुराजा का दृष्टान्त उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है⁷⁴⁷ :-

मधुरा नगरी में मधु नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन, राजा क्रीड़ा कर रहा है। ऐसा जानकर शत्रु राजा ने अपनी विशाल सेना द्वारा राज्य को घेर लिया तथा मधु राजा को युद्ध के लिए ललकारा। उसकी ललकार सुनकर

⁷⁴⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ६४२-६६७.

क्रोधित बना राजा हाथी पर बैठकर युद्ध करने लगा। युद्ध में अनेक प्राणी घायल हुए और बहुत-से मर भी गए।

शत्रुओं से घायल हुआ मधु राजा युद्धभूमि से बाहर निकल गया। वहाँ से चलते-चलते वह मन में संसार की असारता का चिन्तन करने लगा। इस तरह संसार से वैरागी बना राजा मन में विचार करने लगा-‘चाहे मैं बाह्य दृष्टि से राज्य करता रहा हूँ, पर मेरा मनोरथ यही था कि मैं जिनकथित प्रव्रज्या को ग्रहण करके विशेष आराधना के द्वारा संलेखना ग्रहण करूँ।’

अब ज्यादा विचार न करके मुझे शीघ्र ही हाथी की पीठ पर ही संधारा कर लेना उचित होगा- ऐसा चिन्तन कर उसने संधारा ग्रहण कर लिया और सभी सावध-प्रवृत्तियों का त्रिविध-त्रिविध रूप से त्याग कर सभी जीवों से क्षमायाचना की। तत्पश्चात् अनशन-व्रत ग्रहण कर राजा ने पंचपरमेष्ठि को नमस्कार किया और भक्तिपूर्वक नमस्कार करते ही उसके प्राण पखेरू उड़ गए। इस कथा का सार यही है कि अन्त समय में शुभभावपूर्वक संलेखना ग्रहण करने से व्यक्ति स्वर्ग-सुख अथवा मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार अकस्मात् मृत्यु उपस्थित होने पर समाधिभरण की संक्षिप्त आराधना के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में मधु राजा का दृष्टान्त उपलब्ध होता है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत इस दृष्टान्त के संकेत हमें ऋषिभाषित (अध्याय-१५) में उपलब्ध होते हैं। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से चतुर्विध आहार का सागर और अनागर-प्रत्याख्यान करके शरीर के प्रति रागभाव का भी त्याग करने का निर्देश है तथा अन्त में शुभध्यान में आरूढ़ होते हुए देहत्याग करने का उल्लेख किया गया है।



सुकौशल मुनि की कथा

संवेगरंगशाला में संक्षिप्त आराधना के सम्बन्ध में सुकौशल मुनि की कथा कही गई है⁷⁴⁸ :-

साकेतनगर में कीर्तिधर नामक राजा राज्य करता था। उसके सहदेवी नाम की रानी तथा सुकौशल नामक पुत्र था। एक दिन राजा को तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ और सुकौशल का राज्याभिषेक करके स्वयं आचार्यश्री के पास जाकर उसने संयम स्वीकार कर लिया। वहाँ से विहार कर मुनि अन्य ग्राम एवं नगरों में

⁷⁴⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६६६-७०७.

विचरने लगे। एक दिन कीर्तिधर मुनि विचरते हुए साकेतनगर में पधारे। एकदा रानी ने मुनि को भिक्षा के लिए नगर में भ्रमण करते हुए देखा। इससे वह विचार करने लगी- 'कहीं यह मुनि मेरे पुत्र को भी दीक्षा न दे दे!' ऐसा विचार कर रानी ने अपने सेवकों से कहकर मुनि को नगर से बाहर निकलवा दिया।

उसी समय धायमाता को रोते हुए देखकर सुकौशल ने उससे पूछा- "हे माता! आप इस प्रकार क्यों रो रही हो?" धायमाता ने राजा को सर्व सत्य वृत्तान्त बता दिया। धायमाता की बात सुनकर राजा सुकौशल वहाँ से निकलकर शीघ्र अपने पिता मुनि को वन्दन करने के लिए चल दिया। जंगल में वह अपने पिता मुनि को खोजने लगा। अचानक एक वृक्ष के नीचे ध्यान में स्थित एक मुनि को देखकर, उसने तुरन्त अपने पिता को पहचान लिया और भावपूर्वक उनके चरणों में गिरकर उन्हें वन्दन किया और बोला- "हे भगवन्! क्या अपने प्रिय पुत्र को इस तरह अग्नि से जलते हुए घर में छोड़कर पिता को दीक्षा लेना योग्य है। हे भगवन्! अभी भी आप मुझे दीक्षारूपी हाथ का आलम्बन देकर बचा लीजिए।" मुनि ने 'पुत्र को तीव्र वैराग्यभाव उत्पन्न हुए है'- ऐसा जानकर उसे दीक्षा प्रदान की।

रानी को अपने पुत्र की दीक्षा का समाचार मिला, जिसे सुनकर उसे अत्यन्त दुःख और क्रोध उत्पन्न हुआ और क्रोधावेश में वह महल से गिरकर मर गई। रानी वहाँ से मरकर मोंगिल नामक पर्वत पर शेरनी के रूप में उत्पन्न हुई। इधर मुनि भी विचरते हुए उसी पर्वत पर पहुँचे। वहाँ मुनि ने चार महीने ध्यान-साधना की। तत्पश्चात् शरदकाल में जब विहार करने लगे, तब मुनि को देखकर पूर्व वैर से क्रोधित बनी शेरनी ने उन पर छलांग लगाई। मुनि ने 'शेरनी का तीव्र उपसर्ग उपस्थित हुआ है'- ऐसा जानकर सागार-प्रत्याख्यान किया तथा कायोत्सर्ग में खड़े हो गए। शेरनी ने मुनि को पृथ्वी पर गिराकर उनका भक्षण करना प्रारम्भ किया। उस समय मुनि उस पीड़ा को समता से सहन करते हुए चिन्तन करने लगे ... 'इस संसार में दुःख तो पग-पग पर हैं, परन्तु जैन-धर्म मिलना दुर्लभ है। यह धर्म मुझे पुण्योदय से प्राप्त हुआ है, इसलिए मेरा जन्म भी सफल है; लेकिन बस एक ही चिन्ता है कि मैं इस शेरनी के कर्मबन्धन में निमित्त बना हूँ। मुझे मेरी आत्मा का शोक नहीं है, बल्कि दुःख-समुद्र में पड़ी हुई इस शेरनी का शोक है, इसलिए जिन महापुरुषों ने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है, उनको मैं भाव से नमन करता हूँ। ऐसा चिन्तन-मनन करते हुए सर्व कर्ममल को धोकर धर्म-ध्यान से शुक्ल-ध्यान में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अन्तकृत-केवली होकर सुकौशल राजर्षि ने सिद्धगति को प्राप्त किया।

श्रेष्ठ परिणामों से युक्त व्यक्ति एक लक्ष्यवाला हो, तो उसके लिए क्या दुःसाध्य है, अर्थात् कठिन परिस्थितियों में भी उत्तम भावों से संलेखना ग्रहण करने से व्यक्ति मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है।

आकस्मिक रूप से मृत्यु के सामने उपस्थित होने पर सागारी संधारा ग्रहण करने के सम्बन्ध में प्रस्तुत कृति में सुकौशलमुनि की कथा दी गई है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत यह कथानक हमें मरणसमाधि, संस्तारक और भक्तपरिज्ञा नामक प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कथानक आवश्यकसूत्र में भी उपलब्ध होता है। हमारी दृष्टि में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कथानक को सम्भवतः समाधिमरण से सम्बन्धित संस्तारक, मरणसमाधि, भक्तपरिज्ञा, आदि प्राचीन ग्रन्थों से ही ग्रहण किया होगा। जैन-परम्परा में यह कथानक विशेष रूप से प्रचलित रहा है, यही कारण है कि परवर्तीकाल में उत्तराध्ययन-सूत्र की कमलसंयम की वृत्ति में भी इस कथानक का उल्लेख मिलता है।

जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है, प्रस्तुत कथानक हमें भगवतीआराधना में भी उपलब्ध होता है, यद्यपि भगवतीआराधना में यह कथानक अति संक्षिप्त रूप में मात्र एक गाथा में दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि सिद्धार्थ राजा के प्रिय पुत्र सुकौशलमुनि को पोग्गिलगिरि नामक पर्वत पर अपनी पूर्वजन्म की माता व्याघ्री के द्वारा खाए जाने पर भी वे उत्तम अर्थ (समाधिमरण) को प्राप्त हुए। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में इस कथा के सम्बन्ध में यह अन्तर देखा जाता है कि जहाँ जिनचन्द्रसूरि ने सुकौशलसूरि के पिता का नाम कीर्तिधर बताया है, वहीं भगवतीआराधना में उनका नाम सिद्धार्थ बताया गया है। दूसरे, भगवतीआराधना के फलटन से प्रकाशित पूर्व संस्करण में पोग्गिलगिरि का ही उल्लेख है, अतः फलटन वाले संस्करण में जो पोग्गिलगिरि पाठ दिया गया है, वह अशुद्ध प्रतीत होता है। इन उल्लेखों से यह निश्चित होता है कि जैन-परम्परा में प्रस्तुत कथानक ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व भी प्रचलित रहा है और जिनचन्द्रसूरि ने उसे ही प्रस्तुत कृति में विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है।



क्षुल्लक मुनि की कथा

सवेरंगशाला में आराधना-विराधना के विषय में क्षुल्लकमुनि की कथा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।⁷⁴⁹

ज्ञानादि गुणरूपी रत्नों के भण्डाररूप श्री धर्मघोषसूरिश्वरजी महाराज अपने निर्मल गुण वाले पाँच सौ मुनि-मण्डल के साथ महीमण्डल नगर के उद्यान में पधारे। उन शिष्यों में दुराचार और क्रूरमतिवाला एक रुद्र नाम का क्षुल्लक साधु था। अन्य साधु द्वारा मधुर शब्दों से समझाने पर भी क्षुल्लकमुनि अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों का त्याग नहीं करता था, तब आचार्य ने उसे कठोर शब्दों में कहा- “हे दुःशिक्षित! हे दुष्टाशय! यदि अब दुष्ट प्रवृत्ति करेगा, तो तुझे गच्छ से बाहर निकाल दिया जाएगा।” इस प्रकार सुनकर उस रुद्र नामक क्षुल्लक ने रोष में आकर सभी मुनियों को मारने की इच्छा से साधुओं के पीने के पानी में जहर मिला दिया। जैसे ही सभी साधु पानी पीने लगे, तभी उनके चरित्र, आदि गुणों से प्रसन्न होकर देवी प्रकट हुई। देवी ने सबको पानी पीने से रोका और कहा कि इसमें दुष्ट शिष्य ने जहर मिलाया है। इस प्रकार जानकर उन सभी ने उस पानी का और उस दुष्ट शिष्य का त्याग किया।

साधुओं को मारने के अध्यवसाय से दुष्ट शिष्य ने भयंकर पाप का उपाजन किया तथा उसी जन्म में तीव्र रोग से ग्रसित बना। आर्त, रौद्र-ध्यान से मरकर उसने अनुक्रम से सातों नरक के उत्कृष्ट आयुष्य का बन्धन किया तथा बीच-बीच में तुच्छ एवं निन्दनीय तिर्यच योनियों की आयु का भी बन्ध किया। इस प्रकार चौरासी लाख योनियों में अनन्तकाल तक अनन्तभवों में भ्रमण करते हुए महादुःखों को सहनकर बार-बार मृत्यु के मुख में गया।

क्षुल्लकमुनि के जीव ने अनेक जन्मों तक दुःखों को सहन किया, तत्पश्चात् पापकर्म के अल्प होने एवं कषायों के कम होने पर चम्पापुर नगर में वैश्रमण सेठ के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लिया, जिसका ‘गुणाकर’ नामकरण किया गया।

चम्पापुर नगर में एक दिन तीर्थंकर परमात्मा पधारे। उनके उपदेश से अनेक लोगों ने विरतिधर्म ग्रहण किया और अनेक लोग प्रतिबोधित होकर मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए। सेठपुत्र गुणाकर ने भी जगत्प्रभु को नमस्कार करके कहा- “हे भगवन्! पूर्वजन्म में मैं कौन था? इसे जानने की मेरी

⁷⁴⁹ सवेरंगशाला, गाथा ७४८-७६७.

तीव्र इच्छा है, अतः आप कहिए।” जगत्प्रभु ने उसे हितकर जानकर रुद्र नामक क्षुल्लक साधु से लेकर उसके पूर्व के सारे भवों का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहा। उसे सुनकर गुणाकर गाढ़ पश्चाताप करते हुए बोला- “इस महापाप का प्रायश्चित्त क्या होगा?” जगत्प्रभु ने कहा-“आदरपूर्वक साधुजनों की सेवा करने से इन पापों से छुटकारा मिलेगा।”

उसी समय गुणाकर ने पाँच सौ साधुओं को वन्दन करने का अभिग्रह लिया। इस तरह छः महीने तक अभिग्रह का पालन कर, अन्त में संलेखनापूर्वक मरकर पांचवे ब्रह्मदेवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

वहाँ भी अवधिज्ञान से भूतकाल का वृत्तान्त जानकर उसने तीर्थकर और साधुओं को वन्दन करते हुए देवभव पूर्ण किया। वहाँ से च्यवकर चन्द्रराजा का पुत्र हुआ। उसका नाम प्रियसाधु रखा गया। युवावस्था में संयम ग्रहण कर तपस्वी साधुओं की सेवा करके अन्त में जीवनपर्यन्त संलेखना करके अनुक्रम से सहस्रार आदि देवलोक के सुखों का अनुभव करते हुए अन्त में सर्वार्थसिद्ध-विमान में सर्वोत्कृष्ट सुखों को भोगकर, यहाँ मनुष्य-जन्म प्राप्तकर दीक्षा अंगीकार की, फिर मोहरूपी योद्धाओं को परास्त करके, कर्मों के समूह को समाप्त कर उज्ज्वल शिवपुर को प्राप्त किया।

इस तरह इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि जो प्रत्येक जन्म में श्रेष्ठ साधु-जीवन का पालन करते हुए मुनि की सेवा करता है, वह आराधना के द्वारा मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है।

इस कथानक के माध्यम से यह बताया गया है कि पूर्व में शुभयोग के अभ्यास बिना वह मुनि उग्र परीषह के संकटों से युक्त मृत्युकाल में आराधना की निर्मल विधि को प्राप्त नहीं कर सकता है; क्योंकि निपुण अभ्यासी भी अत्यन्त प्रमादी होने के कारण स्वकार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है, तो वह मृत्यु के समय कैसे सिद्ध कर सकेगा? इस विषय में संवेगरंगशाला में संयम से भ्रष्ट हुए क्षुल्लकमुनि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। यही दृष्टान्त हमें आवश्यकवृत्ति (भाग-२, पृ. १६९), आवश्यकवृत्ति (पृ. ७०९) में भी इसी रूप में उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत दृष्टान्त इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों से ग्रहण किया होगा।



चिलातीपुत्र की कथा

संवेगरंगशाला में आराधक की अर्हता बताते हुए उस प्रसंग में चिलातीपुत्र की कथा प्रस्तुत की गई है।⁷⁵⁰

पृथ्वी प्रतिष्ठित नगर में पण्डित यज्ञदेव नाम का एक अभिमानी ब्राह्मण रहता था। एक दिन किसी विद्वान् मुनि ने उसे वाद में पराजित करके दीक्षा दे दी, परन्तु पत्नी से गाढ़ प्रेम होने से उसे दीक्षा त्यागने की इच्छा उत्पन्न हुई। तब देवी ने उसे निषेध किया। इससे वह धर्म में तो निश्चल बना, किन्तु शरीर एवं वस्त्र पर मैल जम जाने पर वह मन में घृणा करता रहा। एक दिन वह मुनि अपनी पत्नी द्वारा दिए गए दूषित आहार को ग्रहणकर मृत्यु को प्राप्त हुआ और मरकर देव बना। पति (मुनि) की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर पत्नी ने भी दीक्षा ले ली, लेकिन वह भी बिना आलोचना किए मृत्यु को प्राप्त हुई और मरकर देवलोक में उत्पन्न हुई।

साधुत्व से घृणा करने के कारण यज्ञदेव का वह जीव स्वर्ग से च्युत होकर धनसार्थवाह की चिलाती नामक दासी का पुत्र बना, इसलिए वह चिलातीपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञदेव की पत्नी भी धनसार्थवाह के पाँच पुत्रों के बाद सुषमा नाम की पुत्री के रूप में पैदा हुई। उस पुत्री की देखभाल चिलातीपुत्र करता था। बड़ा होने पर अति उद्दण्डता करने से सार्थवाह ने चिलातीपुत्र को घर से निकाल दिया।

इस तरह वह घूमता-फिरता एक पल्ली में गया। वहाँ के लोगों ने उसे पल्लीपति बना दिया। एक समय वह चोरो के साथ राजगृह नगरी में गया। वहाँ के लोगों को अवस्वापिनी-निद्रा देकर उसने धनसार्थवाह के घर में प्रवेश किया। तब चोरो ने वहाँ से धन लूटा और चिलातीपुत्र सुषमा को लेकर जल्दी ही अन्य स्थान को चला गया।

सूर्योदय होते ही पिता अपने पुत्र और सुभटों सहित पुत्री की खोज में निकला। उन्हें आते देख चोर भय से धन छोड़कर भाग गए और सुभट लोग धन को लेकर चले गए। सार्थवाह और उसके पाँचों पुत्र जैसे ही चिलातीपुत्र के पास पहुँचे, वैसे ही उसने 'मेरी नहीं तो यह सुषमा किसी की भी न हो'- ऐसा सोचकर उसका गला काट दिया और उसके मस्तक को लेकर भाग गया। आगे जंगल में उसने मुनि को देखकर कहा- "अहो महामुनि मुझे संक्षेप में धर्म

⁷⁵⁰ संवेगरंगशाला, गाथा 99३9-99६६.

समझाओ, अन्यथा मैं तुम्हारा भी मस्तक कबीटफल के समान काट दूंगा।” निर्भीक मुनि ने एक क्षण विचार कर ‘उपकार होनेवाला है’- ऐसा जानकर तुरन्त कहा- “उपशम, विवेक और संवर-इन तीन पदों में ही धर्म का सर्वस्व है।” चिलातीपुत्र इन पदों को धारणकर एकान्त में सम्यक् रूप से चिन्तन करने लगा- ‘क्रोधादिक कषायों का उपशम क्षमा, नम्रता आदि गुणों का सेवन करने से हो सकता है। अब तलवार और मस्तक से क्या लाभ? ऐसा विचार करना विवेक है एवं मन और इन्द्रिय के विषयों की निवृत्ति ही संवर है।’ इस प्रकार वह बार-बार तीनों पदों का चिन्तन करता हुआ उसकी गहराई में डूब गया और दहीं मेरुपर्वत के समान निश्चल कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़ा हो गया।

उसके शरीर पर लगे खून की दुर्गन्ध से असंख्य चीटियाँ आकर चारों ओर से उसका भक्षण करने लगीं तथा उसके शरीर को छलनी कर दिया। इस तरह ढाई दिन तक घोर कष्ट को समभावपूर्वक सहनकर उत्तम चारित्रवाले उस महात्मा ने सहस्त्रार नाम के आठवें देवलोक का सुख प्राप्त किया।

इस प्रकार अत्यन्त उग्र मन, वचन और काया द्वारा पाप करनेवाला नरक का अधिकारी भी आराधना के द्वारा स्वर्ग-सुख का अधिकारी बन सकता है। इस प्रकार संवेगरंगशाला में सामान्यतः वैराग्यगर्भित (संवेगयुक्त) जीवों को समाधिमरण की आराधना के योग्य बताते हुए इस सन्दर्भ में चिलातीपुत्र की कथा प्रस्तुत की गई है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा रचित संवेगरंगशाला में वर्णित यह कथा हमें - आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ४६७-६८), आचारांगचूर्णि (पृ. १३६), आवश्यकनिर्युक्ति (गा. ७३), व्यवहारसूत्रभाष्य (१०-५६४), ज्ञाताधर्मकथा (गा. १३६-४०), संस्तारक (गा. ८६), जीतकल्पभाष्य (गा. ५३२), विशेषावश्यकभाष्य (गा. ३३४१-४४) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।



कुलबालक मुनि की कथा

सवेगरंगशाला में साधु के विशेष लिंग की चर्चा करते हुए साधु को निरतिचारपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाला, संयम में स्थिरता रखनेवाला - इत्यादि गुणों से युक्त होना चाहिए- ऐसा वर्णन है। इस सन्दर्भ में इसमें कुलबालक मुनि की कथा उपलब्ध होती है।⁷⁵¹

आचार्य संगमसिंह के अनेक शिष्य थे। उनमें से एक शिष्य प्रकृति से उद्दण्ड था। वह अपनी कल्पना से दुष्कर तपस्या करता, किन्तु गुरु की आज्ञानुसार चारित्र-धर्म का पालन नहीं करता था, इसलिए आचार्यश्री उसे प्रेरणा करते- इस तरह तू शास्त्र-विरुद्ध कष्ट सहन करके आत्मा को क्यों निरर्थक संताप दे रहा है? जिन-आज्ञा के पालन में ही चारित्र है। इस प्रकार बार-बार शिक्षा देने से वह गुरु के प्रति उग्र वैरभाव रखने लगा। किसी एक दिन आचार्यश्री उसे साथ लेकर निषेधिका को वन्दन करने के लिए एक पर्वत पर चढ़े। वहाँ से वन्दन कर जब उतरने लगे, तब उस दुर्विनीत शिष्य ने विचार किया कि मुझे यह अच्छा मौका मिला है। मैं इन आचार्य को यहीं मार दूँ। ऐसा सोचकर उसने पीछे से एक पत्थर की शिला को धक्का देकर गिरा दिया। संयोगवश गुरु ने पीछे देखा और शीघ्र वहाँ से हट गए और उससे कहने लगे- “हे गुरु के शत्रु! तू क्यों यह महापाप करता है। इस पाप-निवृत्ति के कारण तू निश्चय ही स्त्री के निमित्त से चारित्र का त्याग करेगा।” ऐसा श्राप देकर आचार्यश्री वापस आ गए।

आचार्यश्री के वचन को असत्य करने के लिए वह कुशिष्य अधिक उग्र तप करने लगा। उसके तप के प्रभाव से देवी प्रसन्न हुई एवं वर्षाकाल में नदी के प्रवाह में मुनि बह न जाए, इसलिए उसने नदी का प्रवाह दूसरी दिशा में बदल दिया। लोगों ने भी उसके गुणों के अनुरूप उसका नाम कुलबालक रख दिया।

इधर चम्पानगरी में श्रेणिक नाम का राजा रहता था। उसने अपने बड़े पुत्र को चम्पानगरी का राज्य दिया तथा छोटे पुत्र हल्ल और विहल्ल को श्रेष्ठ हाथी और हार प्रदान किए एवं अभयकुमार ने भी उन्हीं दोनों को रेशमी वस्त्र और कुण्डल दिए। इससे वे दोनों छोटे भाई उन वस्त्रों को धारणकर, हार एवं कुण्डलों से सुशोभित होकर हाथी पर बैठकर नगर में क्रीड़ा करते थे। देव के समान उनको क्रीड़ा करते देखकर ईर्ष्या से रानी ने अशोकचन्द्र (कुणिक) राजा से कहा- “हे देव! राजलक्ष्मी तो आपके भाइयों को ही मिली है, जिससे वे आनन्द

का अनुभव करते हैं। आप उनसे हाथी, हार, आदि क्यों नहीं मांग लेते।” राजा ने कहा- “हे मृगाक्षी! पिताजी द्वारा दी गई उन वस्तुओं को उनसे माँगना उचित नहीं है।” रानी ने कहा- “आप उनके बदले इन्हें दूसरे हाथी आदि दे दीजिए।” रानी की बात सुनकर राजा ने हल्ल-विहल्ल को बुलाकर कहा- “हे भाइयों! राज्य में अन्य बहुत से हाथी, घोड़े एवं रत्न, आदि हैं, अतः इनके बदले तुम श्रेष्ठ हस्ति तथा हार हमें दे दो।” तब, “आपकी इस बात पर हम विचार करेंगे”- ऐसा कहकर वे दोनों हाथी पर बैठकर चेटक राजा (मामा) के पास चले गए। अशोकचन्द्र ने चेटक मामा से दूत के द्वारा भाइयों को शीघ्र भेजने का निवेदन किया। जब चेटक राजा ने भाइयों को नहीं भेजा, तब अशोकचन्द्र ने चेटक राजा पर चढ़ाई कर दी। युद्ध के प्रारम्भ में ही चेटक राजा ने अशोकचन्द्र (कुणिक) के काल आदि दस सौतेले भाइयों को दस दिन में मार दिया। ग्यारहवें दिन ‘अब मेरी बारी है’- ऐसा जानकर अशोकचन्द्र ने अट्टम-तप की आराधना की। तप द्वारा देवता को प्रसन्न कर उसने देवता से चेटक राजा को मारने के लिए कहा। देव ने कहा- “चेटक राजा सम्यग्दृष्टि श्रावक है, उन्हें मारने के बजाय, मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ।” इस तरह युद्ध में अनेक सैनिक मारे गए, परन्तु ऊँचे किले में शोभित वह नगर किसी तरह से खण्डित नहीं हुआ। तब देव ने आकर राजा से कहा- “जब कुलबालक नामक साधु मागधिका वेश्या का सेवन करेगा, तब ही तुम वैशाली नगरी पर अधिकार कर पाओगे।” राजा ने मागधिका वेश्या को बुलाकर कहा- “हे भद्रे! तू किसी भी तरह से कुलबालक मुनि को यहाँ ले आ।” वेश्या ने अत्यन्त विनय से राजा की आज्ञा को स्वीकार कर लिया।

वह वेश्या कपटी श्राविका बनकर मुनि को वन्दन कर कहने लगी- “हे मुनिवर! आप मेरे हाथों से भिक्षा ग्रहणकर मुझे कृतार्थ करें।” इस प्रकार उसने मुनि को दूषित लड़खूँ दिए, जिससे वे मुनि अतिसार-रोग से ग्रस्त हो गए। वेश्या द्वारा सेवा करने से जब मुनि स्वस्थ बने, तब वेश्या ने मुनि से कहा- “हे नाथ! हम जब तक जिएं, तब तक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन करें।” इस तरह उसकी कोमल वाणी के प्रभाव से मुनि ने संयम-जीवन का त्याग कर दिया।

एक दिन वेश्या उसे अपने साथ लेकर राजा के पास पहुँची और कहने लगी- “हे देव! यह कुलबालक मेरा प्राणनाथ है। इसके द्वारा जो कार्य करवाना है, उसकी आज्ञा दीजिए।” राजा ने कहा- “हे भद्र! तू ऐसा कार्य कर जिससे यह नगर नष्ट हो जाए।” तब मुनि त्रिदण्डी का रूप धारण कर नगर में गया और मुनि सुव्रतस्वामी का स्तूप देखकर नगरवासियों से कहने लगा- “यदि नगरी की सुरक्षा चाहते हो, तो इस स्तूप को हटा दो।” लोगों ने परस्पर विचार किया और

जैसे ही उस स्तूप को तोड़ा, वैसे ही राजा ने उस नगरी पर हमला कर उसे अपने अधिकार में कर लिया।

इस प्रकार गुरु के प्रति द्वेष करने से कुलबालक मुनि ऐसे महापाप का भागी बना, अतः आराधक को सदैव ही गुरु आज्ञा का पालन करना चाहिए।

प्रस्तुत कथा में कहा गया है कि गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने में तत्पर एवं अपने अल्पतम अपराधों की भी निन्दा एवं सविशेष आराधना में तल्लीन मुनि सद्गति को प्राप्त करता है एवं इससे विपरीत आचरण करनेवाला मुनि दुर्गति को प्राप्त करता है। इसी सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में उपर्युक्त कुलबालकमुनि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत दृष्टान्त हमें आवश्यकचूर्णि (भाग २, पृ. ७४), आवश्यकवृत्ति (पृ. ६८५), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. ५), बृहत्कल्पभाष्य (२१६४५) तथा स्थानांगवृत्ति (पृ. १८५) में भी उपलब्ध होता है।



अज्ञदत्त और सुरेन्द्रदत्त की कथा

ज्ञान से ही मनुष्य विश्व में गौरव प्राप्त करता है। इस विषय पर संवेगरंगशाला में इन्द्रदत्त के पुत्र अज्ञदत्त और सुरेन्द्रदत्त की कथा प्रस्तुत की गई है।⁷⁵²

इन्द्रपुर नगर में इन्द्रदत्त नाम का एक राजा रहता था। उसकी बाईस रानियाँ तथा बाईस पुत्र थे। एक समय उस राजा ने घर पर क्रीड़ा करती हुई रति के समान एक सुन्दर बाला को देखकर अनुचर से पूछा- “यह किसकी पुत्री है?” अनुचर ने कहा- “यह मन्त्रीश्वर की पुत्री है।” उसके प्रति रागी बने राजा ने मन्त्री से उस बाला की याचना कर उससे विवाह किया और उसे अपने अन्तःपुर में दाखिल कर लिया। तत्पश्चात् अन्यान्य स्त्रियों के साथ भोग-विलास में रत होकर वह उसे भूल गया। एक दिन उसे खिड़की में बैठी देखकर राजा ने कंचुकी से पूछा- “यह कमल के समान नेत्रोंवाली सुन्दर स्त्री कौन है?” कंचुकी ने कहा- “यह तो मन्त्री की पुत्री है, जिसको आपने पूर्व में विवाह कर छोड़ दिया है।” उसी रात्रि में राजा उसके साथ रहा और वह गर्भवती बनी।

मन्त्री द्वारा उसके गर्भवती होने का कारण पूछने पर उसने सारा वृत्तान्त कहा। मन्त्री ने वह वृत्तान्त भोजपत्र पर लिखकर रख दिया। समय पूर्ण होने पर

⁷⁵² संवेगरंगशाला, गाथा १३६५-१४२३.

रानी ने एक स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया तथा उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा। मन्त्री ने उसे कलाचार्य के पास पढ़ने भेजा। वहाँ अन्य राजपुत्रों के साथ रहते हुए उसने विविध कलाएँ सीखीं, परन्तु श्रीमाली आदि अन्य बाईस पुत्र कुछ पढ़ते नहीं थे तथा उपाध्याय के अल्प भारने पर भी रोते और माता से कहते कि उन्होंने हमें इस तरह से मारा है। अतः, क्रोधित बनी हुई रानियों ने उपाध्याय का कठोर वचनों द्वारा तिरस्कार किया, जिससे उपाध्याय ने उन सभी पुत्रों की उपेक्षा कर दी। फलतः, अन्य राजपुत्र अत्यन्त मूर्ख रहे, परन्तु राजा अपने मन में अपने सभी पुत्रों को अत्यन्त कुशल मानता रहा।

एक समय मथुरा नगरी के पर्वतराज नामक राजा ने अपनी पुत्री से कहा- “तुझे जो भी वर पसन्द हो, वह मुझे बता देना।” पुत्री ने कहा- “इन्द्रदत्त राजा के पुत्र कला कुशल एवं अच्छे रूपवाले सुने जाते हैं, आप कहो तो वही जाकर राधावेध द्वारा उनकी परीक्षा लेकर उनमें से किसी एक को वरण करूँ।” पिता की आज्ञा पाकर वह कन्या राजनृद्धि सहित इन्द्रपुरी नगरी पहुँची तथा राजा से निवेदन करने लगी कि तुम्हारा जो भी पुत्र राधावेध को बीधेगा, वही मुझसे शादी करेगा। परिणामतः, उचित स्थल पर राधावेध का बड़ा स्तम्भ लगाया गया। राजा ने अपने सभी पुत्रों को बुलाकर राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए राधावेध को साधने के लिए कहा। तब अपनी असमर्थता को जानते हुए श्रीमाली ने लज्जित होते हुए धनुष को उठाया और उसके ऊपर अति कठिनाई से बाण चढ़ाकर बिना लक्ष्य के ही बाण छोड़ दिया। वह बाण स्तम्भ से टकराकर टूट गया। इससे सब लोग गुप्त रूप से हंसने लगे। इस तरह कलारहित शेष इक्कीस राजपुत्रों ने भी जैसे-तैसे बाण फेंका, किन्तु एक भी लक्ष्य का भेदन नहीं कर पाया।

इस कारण राजा निराश एवं लज्जित होकर शोक करने लगा। तब मन्त्री ने आकर कहा- “आपके एक अन्य पुत्र की भी परीक्षा ले लो।” राजा ने कहा- “जिस प्रकार ये कार्य सिद्ध नहीं कर सके, उसी तरह वह भी ऐसा ही करेगा। फिर भी यदि तुम्हारा आग्रह है, तो उस पुत्र की योग्यता भी देख लेते हैं।”

राजा ने कहा- “हे पुत्र! राधावेध कर मेरी इच्छा पूर्ण कर और इस राज कन्या से विवाह कर तथा राज्य को प्राप्त करा।” सुरेन्द्रदत्त ने उठकर अत्यन्त विनम्रता से राजा एवं गुरु को प्रणाम किया तथा योद्धा की मुद्रा बनाकर धनुष-दण्ड ग्रहणकर, तेल से भरे कुण्ड में प्रतिबिम्ब को देखा, जिससे वह स्थिर दृष्टिवाला बना और उसने शीघ्र राधा का वेधन कर दिया। राधावेधन से प्रसन्न हुई राजपुत्री ने उसके गले में वरमाला पहनाई। इससे राजा आनन्दित हुआ। सुरेन्द्रदत्त

की सर्वत्र जय-जयकार होने लगी। राजा ने उसका विवाह-महोत्सव किया और राज्य भी उसे ही दे दिया। इस तरह सुरेन्द्रदत्त ने ज्ञान से ही गौरव प्राप्त किया।

ज्ञान इस लोक और परलोक में सुख देनेवाला है, अतः शिक्षा ग्रहणकर ज्ञान-अभ्यास में उद्यम करना चाहिए, क्योंकि शिक्षा के बिना व्यक्ति मूढ़ रहता है तथा श्रीमाली आदि राजपुत्रों के समान जनसमूह में आदर का पात्र नहीं बनता है।

इस प्रकार संवेगरंगशाला की प्रस्तुत कथा में ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है। इसमें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्न करने का निर्देश है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने ज्ञान के अभाव में इन्द्रदत्त के अन्य पुत्रों की स्थिति एवं ज्ञान से युक्त उसके ही पुत्र सुरेन्द्रदत्त की स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है। इन्द्रदत्त के अज्ञपुत्रों और सुरेन्द्रदत्त की यह कथा हमें आवश्यकवृर्णि (भाग १, पृ. ४४७), आवश्यकवृत्ति (पृ. ३४४, ४०४, ७०२), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. १४८-१५०) तथा व्यवहारसूत्रभाष्य (६/२१३) में भी प्राप्त होती है।



श्रेणिक राजा की कथा

विद्या विनय से प्राप्त होती है। दुर्विनीत को विद्या प्राप्त नहीं होती है। संवेगरंगशाला में श्रेणिक राजा की कथा में यही बताया गया है कि श्रेणिक राजा ने विनीत बनकर ही विद्या प्राप्त की थी।⁷⁵³

राजगृह नगरी में श्रेणिक नामक राजा राज्य करता था। उसकी सभी रानियों में चलना मुख्य रानी थी। चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त अभयकुमार नामक उसका पुत्र मन्त्री था। एक समय रानी ने राजा से कहा- “हे राजन्! आप मेरे लिए एक स्तम्भवाला महल बनवा दीजिए।” राजा ने रानी की बात स्वीकार कर अभयकुमार को यह कार्य करने का आदेश दिया।

अभयकुमार सुतार को लेकर जंगल में गया। वहाँ बड़ी शाखाओंवाला एक वृक्ष देखा और वहीं तपपूर्वक वृक्ष के देवता की आराधना करने लगा। रात्रि में देव ने आकर अभयकुमार से कहा- “तुम इस वृक्ष को मत काटो। मैं तुम्हें सर्वऋतुओं के फल और पुष्पों से युक्त वृक्षों के मनोहर बाग से सुशोभित एक

⁷⁵³ संवेगरंगशाला, गाथा १६१८-१६६०.

स्तम्भवाला महल बना दूंगा।” तब अभयकुमार सुतार को लेकर वापस चला गया। देव ने तुरन्त आरामदायक एक स्तम्भवाला महल बनाया। उसी महल में रानी के साथ विविध क्रीड़ा करते हुए राजा के कई दिन व्यतीत हुए।

किसी दिन उस नगर में चाण्डाल की पत्नी ने गर्भ-धारण किया। गर्भ के प्रभाव से उसे एक दिन आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ, परन्तु उसका दोहद पूर्ण नहीं हुआ। उसके सर्व अंग क्षीण होते देखकर चाण्डाल ने पूछा- “हे प्रिया! तुम सर्व अंग से क्षीण क्यों हो रही हो?” तब उसने अपने परिपक्व आम्रफल का दोहद बताया। चाण्डाल ने कहा- “यद्यपि आम्रफल का काल नहीं है, फिर भी हे सुतनु! मैं तुझे कहीं से भी आम्रफल लाकर दूंगा।” राजा का बाग सर्वऋतुओं के फलों वाला है, ऐसा मैंने सुना है- ऐसा विचारकर वह चाण्डाल बाग में लगे वृक्षों को देखने चला गया। रात्रि में उसने अवनामिनी-विद्या से शाखा को अपनी ओर झुकाया तथा आम्रफल लेकर उत्तम प्रत्यवनामिनी-विद्या से शाखा को पुनः अपने स्थान पर पहुँचा दिया। इस तरह प्रसन्न होते हुए, उस चाण्डाल ने उन फलों को अपनी पत्नी को दिया। इससे अपना दोहद पूर्ण कर गर्भ की रक्षा करते हुए पत्नी सुखपूर्वक रहने लगी।

इधर राजा ने आम्रवृक्ष को फल के बिना देखकर बागवान से पूछा- “इस पेड़ का फल किसने लिया?” उसने कहा- “निश्चय ही यहाँ कोई मनुष्य नहीं आया। यह आश्चर्य है।” श्रेणिक राजा ने अभयकुमार को कहा- “ऐसा कार्य करने में समर्थ चोर को जल्दी पकड़ो, क्योंकि आज जैसे फलों की चोरी की है, वैसे ही वह किसी दिन मेरी रानी का भी हरण करेगा।”

राजा की आज्ञा को शिरोधार्य कर अभयकुमार चोर की खोज करने लगा। कई दिन बीत गए, परन्तु चोर का कोई पता नहीं लगा। कुछ समय पश्चात् राज्य में एक नट आया। उसने कई तरह के नाटक प्रस्तुत किए। उसके नाटक की कीर्ति राज-दरबार तक पहुँची। राजा ने अभयकुमार से राजसभा में नाटक प्रस्तुत करने को कहा। अभयकुमार ने नाटककार को राजसभा में नाटक प्रस्तुत करने का आदेश दिया। नट तुरन्त राजसभा में हाजिर हुआ और नाटक प्रारम्भ करने लगा। तभी चिन्तातुर बने अभयकुमार ने लोगों से कहा- “नाटक प्रारम्भ हो, उसके पहले आप लोगों को मैं एक कथा सुनाता हूँ।” यह कहकर अभयकुमार ने एक कहानी सुनाकर लोगों से प्रश्न पूछा- “भाइयों पति, चोर, राक्षस और माली-इन चारों में से दुष्कर कार्य किसने किया?” ईर्ष्यालुओं ने कहा- “पति ने अति दुष्कर कार्य किया है।” परदारिक बोले- “माली ने दुष्कर कार्य किया है।” चाण्डाल ने कहा- “कोई कुछ भी कहे, परन्तु चोर ने दुष्कर कार्य

किया है।” ऐसा कहने से अभयकुमार ने ‘यह चोर है’- ऐसा निर्णय करके चाण्डाल को पकड़वाकर पूछा- “तुमने बाग में से आम की चोरी किस प्रकार की।” उसने कहा- “मैंने विद्या के बल से आम की चोरी की है।” फिर अभयकुमार ने शुरू से अन्त तक का सारा वृत्तान्त श्रेणिक राजा को बता दिया। राजा ने कहा- “यदि वह अपनी विद्या मुझे सिखाता हो, तो उसे छोड़ दो, अन्यथा उसे खत्म कर दो।” चाण्डाल ने विद्या देना स्वीकार किया।

राजा सिंहासन पर बैठे-बैटे विद्या का अभ्यास करने लगा। बार-बार प्रयत्न करने पर भी विद्या प्राप्त नहीं होने से राजा चाण्डाल को उपालम्भ देने लगा। तब अभयकुमार ने कहा- “इसमें इसका कोई दोष नहीं है। विद्या विनय से प्राप्त की जाती है, अतः आप नीचे आसन पर बैठो एवं उसे ऊँचे आसन पर बैठाओ, फिर विद्या की साधना करो।” राजा ने उसी प्रकार अपना आसन परिवर्तन किया और उन्हें विद्या प्राप्त हो गई। फिर चाण्डाल का सत्कारादि करके उसे छोड़ दिया गया। इस कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्या विनय से प्राप्त होती है।

संवेगरंगशाला में विनय को लक्ष्मी, सुख, धर्म और मोक्ष का मूल कहा गया है, साथ ही अविनीत द्वारा किए गए प्रयत्न निरर्थक होते हैं एवं विनीत द्वारा किए गए अनुष्ठान सार्थक होते हैं-यह प्रतिपादित किया गया है। विनयरहित को दी गई विद्या भी निरर्थक हो जाती है, क्योंकि विद्या का फल ही विनय है। प्रस्तुत कृति में अविनय से विद्या का नाश कैसे होता है, इसका निरूपण करते हुए इस सन्दर्भ में श्रेणिक राजा की कथा कही गई है। संवेगरंगशाला के कर्त्ता आचार्य जिनघन्द्रसूरि द्वारा प्रतिपादित प्रस्तुत कथानक हमें दशवैकालिकचूर्णि (पृ. ४४), स्थानांगवृत्ति (पृ. २५६) में भी उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार ने इन कथानकों को प्राचीन ग्रन्थों से ही ग्रहण किया है।



नमि राजर्षि की कथा

जो मोह ममता से रहित उत्तम संयमी साधक श्रेष्ठ समाधि में लीन रहते हैं, वे सर्व पापस्थानों से मुक्त होते हैं। उनका मन मित्र, पुत्र, स्वजन, धन आदि का विनाश होते देखकर भी मेरुपर्वत के समान अडिग रहता है। इस विषय में संवेगरंगशाला में नमि राजर्षि की कथा वर्णित है। वह कथा इस प्रकार है।⁷⁵⁴

धन-धान्य से समृद्ध एवं रमणीय विदेहदेश में मिथिला नामक नगरी थी। उस नगर में न्यायाप्रेय एवं विनय, आदि विंशष्ट गुणों से युक्त नमि नामक राजा राज्य करता था। किसी समय राजा को महाभयंकर दाहज्वर हुआ, जिसके कारण उसके शरीर में असह्य पीड़ा होने लगी। तुरन्त राजकीय वैद्यों को बुलवाया गया। वैद्यों ने अनेक औषधियों का प्रयोग किया तथा लेप लगाया, किन्तु दाह लेशमात्र भी शान्त नहीं हुआ। तब लोक में प्रसिद्ध मान्त्रिकों एवं तान्त्रिकों को बुलवाया गया, परन्तु वे भी रोग को शान्त करने में असफल रहे।

अन्त में, दाहज्वर से पीड़ित राजा के शरीर पर चन्दन का लेप लगाया गया। इससे राजा को आंशिक आराम मिला। पति के दुःख से दुःखित सभी रानियाँ एक साथ सतत चन्दन घीसने लगीं, फलतः उनके स्वर्णकंकणों की टकराहट से उत्पन्न हुई रण-झणकार की ध्वनि सर्वत्र फैल गई। उस ध्वनि को सुनकर राजा को अत्यधिक वेदना होने लगी। राजा ने पूछा- “अहो! यह अत्यन्त अशांताकारी ध्वनि कहाँ से आ रही है?” राजा की पीड़ा को जानकर रानियों ने एक-एक कंकण रखकर अन्य सभी कंकणों को निकाल दिया। एक क्षण पश्चात् पुनः राजा ने पूछा- “अब वह आवाज क्यों नहीं सुनाई दे रही है?” लोगों ने कहा- “केवल एक ही कंकण शेष होने से परस्पर टकराहट के अभाव में वह आवाज नहीं आ रही है।”

इससे अति प्रसन्न होते हुए राजा ने मन में विचार किया- “इस अकेले कंकण में कोई आवाज नहीं है। अकेले में ही शान्ति है। निश्चय से अकेले जीव को किसी प्रकार की अशान्ति नहीं होती है। व्यक्ति जितनी मात्रा में परवस्तु के संग का त्याग करेगा, उतने ही परिमाण में उसको शान्ति मिलेगी, अतः मैं भी संग छोड़कर निःसंग बनूँ।”

इस तरह संसार के प्रति संवेग प्राप्त होने पर राजा को जातिस्मरण-ज्ञान प्रकट हुआ, साथ ही वेदनीयकर्म के क्षयोपशम से दाहज्वर भी दूर हो गया। राजा

⁷⁵⁴ संवेगरंगशाला, गाथा १९१२-१९६६.

ने अपने स्थान पर पुत्र को स्थापित किया और स्वयं मुनि-वेश धारण कर लिया। इस तरह सर्व संग को छोड़कर नगर से बाहर उद्यान में जाकर राजा कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ हो गया।

नमि राजर्षि के भावों की परीक्षा की जाना चाहिए- ऐसा विचार कर इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण किया और मुनि के पास आकर कहा- “हे मुनि! पुंग मिथिला नगरी भयंकर आग में जल रही है। सर्वत्र प्रजा विलाप कर रही है। उन्हें देखो? क्या आपको उनके कुरुण शब्द सुनाई नहीं दे रहे हैं?” इसके प्रत्युत्तर में नमि राजर्षि ने कहा- “जब महल छायावाला तथा फल-फूल देनेवाला वृक्ष तेज पवन से टूट जाता है, तब शरणरहित दुःखी हुए पक्षी विलाप करते हैं, उसी तरह नगर के नष्ट होने पर प्रजाजन विलाप कर रहे हैं।”

इन्द्र ने फिर कहा- “आपका परिवार, प्रियजन एवं महल आदि जल रहे हैं, अन्तःपुर में क्रन्दन करती हुई स्त्रियाँ कह रही हैं, हे नाथ! रक्षा करो! उनकी यह दयनीय स्थिति तो देखो।” मुनि ने कहा- “मित्र, स्वजन और स्त्रियाँ-इन सबको मैंने छोड़ दिया है। आत्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ भी तो नहीं है। मिथिला जलती हो, तो इसमें मेरा क्या जल रहा है।”

पुनः, इन्द्र ने इस प्रकार कहा- “हे मुनि! आप प्रजा के वात्सल्यप्रदाता एवं रक्षक हैं, इसलिए नगर में किले आदि बनवाकर फिर तुम्हें दीक्षा लेना था।” मुनि बोले- “मैंने श्रद्धारूपी नगरी में संवररूपी अर्गला को लगाया है, धर्मरूपी ऊँचा किला बनवाकर कर्मरूपी शत्रु का विनाश करने के लिए तपरूपी बाण तथा पराक्रमरूपी धनुष को तैयार किया है। इस प्रकार मैं अपनी आत्मा की रक्षा कर रहा हूँ।” इन्द्र ने पुनः कहा- “हे मुनि! तुम्हें चोर आदि को पकड़कर एवं शत्रु राजाओं को जीतकर फिर दीक्षा लेना चाहिए थी।” राजर्षि बोले- “हनन तो आन्तरिक शत्रुओं का करना चाहिए, वही आत्मा का अहित करनेवाला है। संसार में अगर कुछ दुर्जेय है, तो वह आत्मा है। जिसने क्रोधादि कषायों एवं पाँचों इन्द्रियों को जीत लिया, उसने जीतने योग्य सर्व राजाओं को जीत लिया है।” इस प्रकार इन्द्र ने भयभीत करने एवं ललचानेवाले अनेक प्रश्नों को पूछकर मुनि की परीक्षा ली, जिसमें मुनि को स्वर्ण के समान शुद्ध स्वरूपवाला जानकर वे अति हर्षित हुए।

अन्त में इन्द्र ने पूछा- “हे राजन्! राज्य-भोगों का त्याग करके पुनः सन्ताप से पीड़ित क्यों होते हो?” मुनि ने उत्तर दिया- “एकदा विष का पान लाभकारी हो सकता है तथा अग्नि में जलकर मरना हितकर हो सकता है, लेकिन

भोग में फंसना अच्छा नहीं है। इनकी तो इच्छामात्र ही नरक का द्वार है। इस तरह विषय कषायों का त्याग करके मैं उत्तम साधुता को ग्रहण कर रहा हूँ।”

अनेक युक्तियों से परीक्षा करने के पश्चात् इन्द्र अति हर्ष से इस प्रकार राजर्षि की स्तुति करने लगा- “हे कषायजयी! हे मुनिवर्य! आप विजयी हों। पुत्र, परिवार, आदि का त्याग करनेवाले आप परम पूज्य हो, उत्तम हो। आप निश्चय से कर्मशत्रुओं को नष्ट करके तीन जगत् में विजय प्राप्तकर सिद्ध-अवस्था को प्राप्त करोगे।” इस प्रकार मुनि की स्तुति कर इन्द्र देवलोक में चला गया। संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथानक के माध्यम से यह कहा गया है कि समाधिमरण के साधक को सर्व वस्तुओं एवं स्वजनों के प्रति ममत्व-भाव का त्याग करना चाहिए तथा दूसरों के द्वारा उपेक्षा करने पर भी समाधिभाव में स्थिर हुए सुख का अनुभव करना चाहिए। इसी सन्दर्भ में इसमें नमि राजर्षि की कथा दी गई है। प्रस्तुत कथानक हमें उत्तराध्ययनसूत्र (अध्याय-६), आवश्यकचूर्णि (भाग १-७५), उत्तराध्ययनचूर्णि (पृ. ७७, १७७) एवं सूत्रकृतांगचूर्णि (पृ. १२०) में भी प्राप्त होता है। सर्वप्रथम इस कथानक के रचनाकार ने उत्तराध्ययन के नौवें अध्याय में जो वर्णित है, उससे ही इस कथा को उद्धृत किया हो।



मन की चंचलता पर वसुदत्त की कथा

संवेगरंगशाला में मन की चंचलता को स्पष्ट करने हेतु वसुदत्त की कथा प्रस्तुत की गई है।⁷⁵⁵

उज्जैन नगर में सुरतेज नाम का राजा रहता था। उसके राज्य में सर्व-दर्शन को जाननेवाला सोमप्रभ नामक ब्राह्मण पुरोहित रहता था। अपने सद्ब्यवहार से वह सबका प्रिय था। सोमप्रभ को वसुदत्त नाम का पुत्र था, जो पढ़ा-लिखा नहीं था, अतः राजा ने सोमप्रभ के स्थान पर अन्य को पुरोहित के पद पर स्थापित किया।

अपना परामर्श होता जानकर वसुदत्त को अत्यन्त खेद हुआ और उज्जैन से निकलकर अध्ययन हेतु वह पाटलीपुत्र चला गया। कुछ काल पश्चात् सर्व विद्याओं का अध्ययन कर इच्छित कार्य को सिद्ध करने के लिए वह उज्जैन पहुँचा। यहाँ आकर वसुदत्त ने अपनी विद्या द्वारा राजा को प्रसन्न किया, जिससे

⁷⁵⁵ संवेगरंगशाला, गथा १६८३-२०४२.

राजा एवं प्रजा- सभी उसका खूब सम्मान करने लगे। अतिसम्मान मिलने से तथा ऐश्वर्य एवं श्रुतमद से मदोन्मत्त होकर वह जगत् के लोगों को तृण के समान मानने लगा।

एक दिन मित्रों के कहने पर वसुदत्त रात्रि में नट का नाटक देखने गया। वहाँ उसने नाटक के प्रारम्भ में एक युवती को विदूषक के साथ इस तरह बोलते हुए सुना- “हे सुभग! आज तेरे दर्शन प्राप्त होने से मुझे कूट पण्डित से छुटकारा मिला। आओ जब तक वह पण्डित अपना समय वहाँ व्यतीत कर रहा है, तब तक हम यहाँ क्रीड़ा कर लें और फिर अपने-अपने घर जाएँ।” इस तरह उसकी स्नेहयुक्त वाणी को सुनकर उस पण्डित के मन में ऐसा विकल्प उत्पन्न हुआ कि यह मेरी ही पत्नी है, जो स्वयं तो पर पुरुष के साथ क्रीड़ा करती है और मुझे कूट पण्डित कहती है। मैं अभी जाकर इसे शिक्षा देता हूँ। ऐसा विचार कर तीव्र क्रोध के वशीभूत हुआ वह शीघ्र अपने घर पहुँचा। उस समय अपनी बहन को घर में प्रवेश करते हुए देखकर, यही मेरी पत्नी है-ऐसा मानकर उसे अपशब्द कहने लगा। अपशब्द सुनते ही बहन ने कहा- “भैया यह क्या बोल रहे हो? मैं कौन हूँ?” परन्तु क्रोध के आवेश में आकर उसने अपनी बहन को भी नहीं पहचाना और लकड़ी से उसके मर्मस्थान पर प्रहार कर दिया, जिससे वह तुरन्त मर गई। मित्रों द्वारा रोके जाने पर वह उन पर भी गलत आरोप लगाने लगा और कहने लगा- “तुम सब मेरी दृष्टि से दूर चले जाओ।” इस प्रकार निर्दोष होते हुए भी तिरस्कारित होने से वे सब मित्र अपने-अपने घर चले गए।

घर के बाहर अत्यधिक कोलाहल होने से तुरन्त उसकी पत्नी अन्दर से बाहर आई और जब वहाँ अपनी ननन्द की ऐसी हालत देखी, तो वह चिल्लाकर कहने लगी- “हे निर्लज्ज! हे निर्दयी! अपनी ही बहन को क्यों मारा? ऐसा अकार्य चाण्डाल भी नहीं करता है।” अति कुविकल्पो से घबराए हुए मनवाले उस वसुदत्त ने यह विचार किया कि मेरी पत्नी दुष्चरित्र वाली ही नहीं, शाकिनी भी है, जो मुझे व्यामूढ़ करके स्वयं तो यहाँ से हट गई और मेरी बहन को मार गई। इसी के छल से मैं अपनी बहन को पहचान नहीं पाया। इसी ने मुझे विभ्रमित कर मेरी बहन का नाश किया है। ऐसी कल्पना करते हुए उसने तलवार निकालकर अपनी पत्नी के दोनों ओठ एवं नाक को काट दिया।

जब राजा ने रात्रि में घटित घटना का सारा वृत्तान्त सुना, तब उसने तुरन्त वसुदत्त को नगर से बाहर निकाल दिया। वहाँ से वसुदत्त वई देश में पहुँचा। वहाँ उसने अपने बुद्धिबल से तारापीठ के राजा को प्रसन्न किया और नौकरी प्राप्त कर वहीं रहने लगा। एक दिन उसके मन में सूर्यग्रहण के दिन

ब्राह्मणों को भोजन कराने का विचार आया और विचारों में उसने यह निर्णय किया कि राजा के गड़रियों से दूध मंगवाऊँगा। यदि बार-बार विनयपूर्वक मांगने पर भी वे नहीं देंगे, तो अपना अपघात कर उन्हें ब्रह्महत्या का पाप दूँगा। ऐसा विचार कर कल्पना में ही जब बहुत समय तक मांगने पर भी गड़रिए ने दूध नहीं दिया, तब वास्तव में क्रोध के वशीभूत होकर वह कहने लगा- “राजा के गड़रिए को ब्रह्महत्या का पाप देने के निमित्त से मैं स्वयं की हत्या कर रहा हूँ।” ऐसा कहते हुए शस्त्र के एक ही प्रहार से उसने अपनी हत्या भी कर ली। इस प्रकार रौद्र-ध्यान के कारण वह मरकर नरक में गया।

व्यक्ति अपनी ही मानसिक-कल्पनाओं के द्वारा अकृत्य करता है और नरक को प्राप्त होता है। वस्तुतः, जो व्यक्ति मनोकल्पना में जीता है, वह अन्त में दुःखी होता है, यही इस कथा का सार है। प्रस्तुत कथा किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती है।



दुर्गता नारी की कथा

यदि किसी व्यक्ति की अकाल मृत्यु हो जाए और तीर्थादि के दर्शन-पूजन की भावना मन में रह जाए, तब शुभध्यान मात्र से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में दुर्गता नारी की कथा उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है-⁷⁵⁶

एक समय की बात है जब महावीर प्रभु काकंदीपुरी नगरी में पधारे। तब देवों ने वहाँ स्वर्ण-सिंहासन से युक्त मनोहर समवसरण की रचना की। उस सिंहासन पर प्रभु पूर्वाभिमुख करके विराजमान हुए। उसी समय देव, विद्याधर, राजा, आदि सभी प्रभु को वन्दन करने के लिए आने लगे। साथ ही नगर के प्रजाजन भी सुन्दर वस्त्रों से सज्जित होकर हाथों में धूप, चन्दन, पुष्प, आदि लेकर जिनपूजन एवं वन्दन करने हेतु क्रमशः जाने लगे। इस तरह लोगों को एकसाथ जाते हुए देखकर एक दरिद्र वृद्धा स्त्री ने लोगों से आश्चर्य से पूछा- “हे भद्र! आप सभी लोग एक ही दिशा में कहाँ जा रहे हो?” तब लोगों ने बताया कि वे सभी तीन लोक के नाथ श्री महावीर प्रभु का वन्दन, पूजन करने तथा धर्मोपदेश सुनने हेतु समवसरण पर जा रहे हैं।

⁷⁵⁶ संवेगरंगशाला, गाथा २०६०-२१३१.

यह सुनते ही पुण्यकर्म के योग से वृद्धा स्त्री के मन में भी शुभभाव उत्पन्न हुए, जिससे उसके मन में भी जिनपूजा करने की भावना पैदा हुई। अपनी दरिद्रावस्था का विचार करती हुई वह कहीं से कुछ पुष्प प्राप्त कर बढ़ते भावों से जिनपूजन हेतु समवसरण की तरफ जाने लगी, किन्तु चलते-चलते अत्यन्त थक जाने से (विशुद्ध भावनावाली) उस वृद्धा स्त्री ने अर्द्धमार्ग में ही प्राण त्याग दिए। उस समय परमात्म-पूजन की शुभभावनामात्र से उसने पुण्य का उपार्जन किया और मरकर सौधर्म-देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। मार्ग में पड़ी उस वृद्धा स्त्री को मूर्च्छित जानकर नगरजन परमात्मा से पूछने लगे- “हे भगवन्! क्या मागे में पड़ी वह स्त्री जीवित है? अथवा मर गई है?” प्रभु ने कहा- “वह वृद्धा तो मर चुकी है, किन्तु उसका जीव देव बनकर अपने अवधिज्ञान से पूर्वभव को जानकर, परम भक्तिभाव से मुझे वन्दन करने के पश्चात् मेरे ही पास बैठा हुआ है।” लोगों ने आश्चर्य से पूछा- “हे भगवन्! उसने ज्ञान, दान, तपादि सुकृत कुछ भी नहीं किए। फिर ऐसी देववर्द्धि किस तरह प्राप्त की।” जगद्गुरु ने लोगों के संशय को दूर करने के लिए उस वृद्धा की उच्च भावना का सारा वृत्तान्त कहा।

पुनः, लोगों ने पूछा- “हे भगवन्! जिसे जिनेश्वर के गुणों का अल्प भी ज्ञान नहीं है, वह जीव मात्र पूजा के भाव से कैसे देवलोक में उत्पन्न हो सकता है।” भगवान् ने कहा- “जिस प्रकार रोगी को मणि आदि रत्नों के गुणों का ज्ञान नहीं होने पर भी वह मणि रोगी के रोगों को नष्ट करती है, उसी तरह परमात्मा अनन्त गुणों से शोभित है-ऐसा नहीं जाननेवाला मनुष्य भी यदि परमात्मा की वन्दना, सत्कार एवं पूजा करता है, तो उसके अशुभकर्म नष्ट होते हैं। इसी कारण जिन-शासन में गृहस्थ उपासकों को परमात्मा की द्रव्यपूजा करने की अनुज्ञा दी गई है। जिनपूजा के अभाव में दर्शनशुद्धि नहीं हो सकती है। जिनपूजा मनोवांछित फल प्रदान करनेवाली होने पर भी कई मूढ़ जीवों को इस चिन्तामणि-रत्न को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती है।

इसीलिए, हे देवानुप्रिय! यह कितने आश्चर्य का विषय है कि पूजादि करने के भाव मात्र से यह आत्मा शिवपद को प्राप्त कर सकती है। सर्वप्रथम उस वृद्धा का जीव देवभव के बाद श्रेष्ठ कुल में जन्म लेगा, वहाँ साधना करके वह पुनः देव होगा, फिर मनुष्यभव प्राप्त करेगा। इस तरह आठवें भव में वह कनकपुर नामक नगर में ध्वज नाम का राजा होगा। एक दिन वह इन्द्र-महोत्सव देखने जाएगा। वहाँ मेंढक को निगलते सर्प को, सर्प को निगलते कुरुरपक्षी को, कुरुरपक्षी को निगलते यम के समान अजगर को देखकर यह विचार करेगा कि पापी जीवों को बड़े अधिकारियों द्वारा, बड़े अधिकारियों को राजा द्वारा, राजा को

यमराज द्वारा दण्डित किया जाता है, इसलिए मानवीय-भोगों को भोगने की इच्छा करना भी मूढ़ता है- ऐसा चिन्तन कर राज्य तथा प्रजाजनों को त्यागकर वह साधु बन जाएगा और सर्वकर्मों को समाप्त करके शिवपद को प्राप्त करेगा।”

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् की पूजा करने की भावनामात्र भी मोक्षदायी बन सकती है। संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का उल्लेख हमें जैन-आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।



वसतिदान पर कुरुचन्द्र की कथा

संवेगरंगशाला में वसतिदान के सम्बन्ध में कुरुचन्द्र की कथा वर्णित है। कुरुचन्द्र द्वारा बिना इच्छा के भी साधुओं को वसति देने से तथा प्रतिदिन साधुओं के दर्शन से, उनके प्रति प्रशस्त-रागभाव होने से कालान्तर में उसे जाति-स्मरण-ज्ञान प्राप्त हुआ और वह स्वयमेव प्रतिबोधित हुआ, जिसकी कथा इस प्रकार वर्णित है-⁷⁵⁷

श्रावस्ती नगरी में आदिवराह नाम का राजा रहता था। उसके ताराचन्द्र नाम का पुत्र था। ताराचन्द्र का एक मित्र था, जिसका नाम कुरुचन्द्र था। राजा अपने अन्य कुमारों में ताराचन्द्र को युवराज-पद के लिए श्रेष्ठ मानता था, इस कारण ताराचन्द्र की सौतेली माँ अपने पुत्र के राज्य-प्राप्ति में ताराचन्द्र को विघ्नरूप मानने लगी और उसने ताराचन्द्र को गुप्त रूप से भोजन में विष मिलाकर खिला दिया। उस भोजन के विकार से ताराचन्द्र को महाव्याधि उत्पन्न हुई तथा उसका रूप, बल और शरीर-सब नष्ट होने लगा। व्याधि से ग्रस्त बना ताराचन्द्र सोचने लगा- अब यहाँ रहना उचित नहीं है और ऐसा सोचकर वह अकेला ही वहाँ से चल दिया। चलते-चलते वह सम्मत नामक महापर्वत के नजदीक एक शहर में पहुँचा। वहाँ के लोगों द्वारा पर्वत की महिमा सुनकर दर्शन करने की भावना से वह ऊपर चढ़ा। ऊपर उसने सभी जिन-प्रतिमाओं की पूजा तथा शुद्ध भावना से स्तुति की। मन में प्रसन्न हुआ वह जर्जरित शरीर का त्याग करने के लिए जब दूसरे ऊँचे पर्वत पर चढ़ने लगा, तब वहाँ उसने कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े साधु को देखा। मरने से पहले ‘मुनि को नमस्कार कर लूँ’- ऐसा विचार कर ताराचन्द्र ने मुनि को नमस्कार किया। उसी समय आकाश-मार्ग से एक विद्याधर युगल नीचे आया और हर्षित मन से मुनि को नमस्कार कर उनके गुणों की स्तुति करने लगा।

⁷⁵⁷ संवेगरंगशाला, गाथा २३१५-२४८२.

ताराचन्द्र के शरीर को रोगों से ग्रसित देखकर विद्याधर ने कहा- “अरे महाशय! तुम इन मुनि के चरणों को स्पर्श करके क्यों नहीं इस रोग को दूर कर लेते हो?” ताराचन्द्र ने उसी क्षण मुनि के चरणों को स्पर्श किया और उसकी काया कंचन के समान निर्मल बन गई। उसे पुनः नया जीवन मिल गया। फिर वह मुनि की स्तुति करते हुए कहने लगा- “हे मुनिश्वर! अब आप ही मेरे माता-पिता हो, अतः मेरे करने योग्य कार्य की आज्ञा दीजिए।” तब मुनि ने उसे श्रावक के बारह व्रतों को समझाते हुए सद्धर्म का परिचय दिया। ताराचन्द्र ने श्रद्धा से शुद्ध धर्म को स्वीकार किया। फिर वे तीनों वहाँ से अन्यत्र चले गए। विद्याधर ने ताराचन्द्र को विष निवारण की औषधि देकर उसे निगल जाने को कहा। तत्पश्चात् वह युगल आकाश में उड़ गया। औषधि लेकर ताराचन्द्र रत्नपुर नगर में पहुँचा।

उसी नगरी में मदन-मंजूषा नाम की वेश्या ने ताराचन्द्र को देखा। उसके रूप पर आकर्षित हुई वेश्या ने अपनी माता को कहकर उसे अपने घर में रख लिया। बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् माँ ने ताराचन्द्र को छोड़ने के लिए पुत्री को विविध प्रकार से समझाया, परन्तु वह उसके बिना मर जाने की बात कहने लगी, तब माता ने जहर द्वारा दो बार ताराचन्द्र को मारने का प्रयास किया, पर औषधि के प्रभाव से वह सफल नहीं हो सकी। एक दिन वह अम्मा (वेश्या) दासियों के साथ इधर-उधर टहलती हुई समुद्र-किनारे पहुँची। वहाँ परदेश से आए हुए एक जहाज को देखकर वह विचार करने लगी कि ताराचन्द्र को जहाज में चढ़ा दिया जाए, तो पुत्री प्राण-त्याग नहीं करेगी।

इस प्रकार विचार कर उसने जहाज के मालिक से एकान्त में बातचीत की और दासियों के द्वारा रात्रि में ताराचन्द्र को जहाज में चढ़वा दिया। मंगलरूप वाद्ययन्त्र बजाते हुए जहाज का चलना प्रारम्भ हुआ। उन वाद्यों की ध्वनि से ताराचन्द्र की आँखें खुलीं और वह इधर-उधर देखकर विचार करने लगा- मैं कहाँ हूँ? यह कौन-सा देश है? जब अचानक उसे समुद्र दिखाई दिया, तब उसे उस वेश्या की चालाकी समझते देर नहीं लगी। प्रातःकाल ताराचन्द्र जहाज के स्वामी से मिला। वहाँ कुरुचन्द्र को देखकर ताराचन्द्र अपने मित्र को तुरन्त पहचान गया। मित्र ताराचन्द्र को आलिंगन कर कुरुचन्द्र ने पूछा- “तू जहाज में किस प्रकार आया? श्रावस्ती से निकलकर इतना समय कहाँ व्यतीत किया?” ताराचन्द्र ने उसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया, और घर में पिताजी, माताजी आदि सभी की कुशलक्षेम पूछी। कुरुचन्द्र ने भी ताराचन्द्र को अपने जीवन का सर्व वृत्तान्त कह सुनाया और प्रसन्नचित्त बना वह कहने लगा- “हे मित्र! मेरा रत्नपुर आना कितना फलदायक हुआ है, जिससे तू आज मुझे अचानक मिल गया।”

इधर मदन-मंजूषा ताराचन्द्र को घर में नहीं देखकर रुदन करने लगी। इस पर माता ने उसे कहा- “हे पुत्री! वह तो रत्न-अलंकारों की चोरी करके भाग गया है। उससे तू आज ठगी गई है। मेरे द्वारा बार-बार रोकने पर भी उस निर्धन परदेशी से तूने राग किया।” इस प्रकार कहकर कठोर वचनों से माता उसका तिरस्कार करने लगी, जिससे वह भयभीत होकर चुप हो गई।

इधर दोनों मित्र श्रावस्ती नगरी के बाहर पहुँचे। पुत्र का आगमन जानकर राजा ने उसका धूमधाम से नगर में प्रवेश करवाया। तत्पश्चात् राजा द्वारा पूछने पर कुमार ने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मन में प्रसन्न हुए राजा ने कुरुचन्द्र को मन्त्री पद दिया, ताराचन्द्र को राजसिंहासन पर बैठाया और स्वयं दीक्षा लेकर श्रेष्ठ आत्म-साधना द्वारा देवलोक में जन्म लिया।

ताराचन्द्र निष्पाप जीवन जीने लगा और अनासक्त-भाव से राज्य के भोगों को भोगने लगा। एक दिन आचार्य विजयसेनसूरि का नगरी में आगमन जानकर ताराचन्द्र ने विशेष धर्म सुनने के लिए आचार्यश्री को अपने महल में वसति दी और प्रतिदिन उनसे शास्त्रों का श्रवण करने लगा। इससे ताराचन्द्र ने अन्तिम संलेखना-व्रत तक का सर्व परमार्थ जाना। इस तरह शास्त्र-श्रवण से कुरुचन्द्र के सिवाय अनेक लोग प्रतिबोधित हुए।

परोपकार की दृष्टि से ताराचन्द्र ने कुरुचन्द्र से मुनि को वसति-दान करने के लिए कहा। राजा के आग्रह से उसने मुनि को घर में रहने का स्थान दिया और उनसे उपदेश भी सुनने लगा, परन्तु उसने अपनी सद्भावना से धर्म को स्वीकार नहीं किया।

आगमानुसार, ताराचन्द्र दान, शील, तप और भाव, आदि चार प्रकार के धर्म में प्रवृत्ति करने लगा। उसने मन्दिर-निर्माण करवाकर अष्टाह्निका, आदि महोत्सव करवाए। अपने महल के समीप पौषधशाला बनवाकर वह स्वयं अष्टमी-चतुर्दशी को पौषध करने लगा। इस प्रकार विशेष आराधना का अभिलाषी शुद्ध परिणामवाला वह राजा अपनी मृत्यु के पश्चात् बारहवें देवलोक में देव बना।

कुरुचन्द्र अज्ञान एवं प्रमादवश आर्तध्यान में प्रवृत्ति करने लगा, जिससे उसे मरकर अनेक बार तिर्यचयोनि में जन्म लेना पड़ा। कालान्तर में उसका जीव जंगल में भीतरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ जैन-साधुओं को देखकर उसको जाति-स्मरण-ज्ञान हुआ, जिससे वह अपने पूर्वजन्मों को देखने लगा एवं चिन्तन करने लगा। ‘राजा के द्वारा कितना समझाए जाने पर भी मेरा कल्याण नहीं हो सका। मैं कितना भारीकर्म जीव हूँ। मुझे सद्गति कैसे मिलेगी? अब मुझे शीघ्र

अनशन ग्रहण कर सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म की आराधना करना चाहिए। इससे ही मैं शीघ्र अपना कार्य सिद्ध कर सकूँगा।' ऐसा विचार कर भील ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर निष्कलंक सम्यक्त्व को प्राप्त किया और अन्त में मरकर सौधर्म-देवलोक में उत्पन्न हुआ।

इस तरह कुरुचन्द्र की कथा से यह ज्ञात होता है कि दूसरों के दबाव से भी साधुओं को दिया हुआ वसतिदान परभव में उसके कल्याण का कारण बनता है।

संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथानक के द्वारा वसतिदान का महत्व बताते हुए यह कहा गया है - सुमनोज्ञ-आसन, शय्या तथा आहार के दान से महान् लाभ मिलता है। इसके द्वारा साधु ध्यान-साधना में निराकुल बनता है। यह भी बताया गया है कि जिसके आश्रम में मुनि मुहूर्तमात्र भी विश्राम करता है, वह पुण्यशाली कृतकृत्य बन जाता है। इसी सन्दर्भ में कुरुचन्द्र की इस कथा का निरूपण किया गया है। संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिपादित प्रस्तुत कथानक हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. १६६-१७०) एवं आवश्यकवृत्ति (पृ. २२१) में उपलब्ध होता है।



सेलकसूरि की कथा

संवेगरंगशाला में स्थिरवास और नियतविहार- इन दोनों से क्रमशः प्राप्त होने वाले गुण-दोषों को स्पष्ट करने की दृष्टि से सेलकसूरि का दृष्टान्त उल्लेखित है। वह इस प्रकार है-⁷⁵⁸

सेलकपुर नाम के नगर में सेलक नाम का राजा रहता था। उसकी पद्मावती नाम की रानी थी और मण्डूक नाम का पुत्र था। थावच्यापुत्र सूरि के चरणों में राजा ने जैनधर्म स्वीकार किया। एक बार शुकसूरि विहार करते हुए उसी नगर में पधारे तथा भृगवन नामक उद्यान में ठहरे। आचार्यश्री का आगमन जानकर राजा अपने परिवारसहित उनके वन्दनार्थ आया तथा गुरु-चरणों में नमस्कार कर, हर्षपूर्वक धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठा। आचार्यश्री ने भी उसे योग्य जानकर संसार के विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो- ऐसी धर्मकथा कही।

⁷⁵⁸ संवेगरंगशाला, गाथा २१५१-२१८१.

इस प्रकार प्रतिबोधित हुआ राजा आचार्य को वन्दनकर राजमहल में आया और मण्डूककुमार को राज्य देकर तुरन्त गुरु महाराज के पास आकर मुनि-दीक्षा स्वीकार की। तत्पश्चात् प्रतिदिन धर्म-क्रिया करते हुए उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, फिर दुष्कर तप करते हुए अप्रतिबद्धविहार करने लगा।

एक समय आचार्यश्री ने पन्थक आदि पाँच सौ मुनियों के गुरु सेलक मुनि को सूरिपद पर स्थापित किया और स्वयं एक हजार मुनियों के परिवार सहित विचरण करने लगे। कालान्तर में आचार्यश्री एक हजार मुनियों सहित पुण्डरीक-गिरि पर अनशन करके मोक्ष गए।

इधर सेलकसूरि द्वारा की गई अत्यन्त उत्कृष्ट तप-साधना से उनका शरीर अतिकृश हो गया। एकदा सेलकसूरि व्याधिग्रस्त कृशकाया से अप्रतिबद्ध विहार करते हुए सेलकपुर नगर पहुँचे। वहाँ उन्होंने मृगवन उद्यान में स्थिरता की तथा प्रीति के बन्धन से युक्त मण्डूक राजा ने सेलकसूरिजी को वन्दन किया और धर्मकथा श्रवणकर श्रावकव्रत ग्रहण किया। मण्डूक राजा सूरिजी के शरीर को अत्यन्त दुर्बल एवं रोगग्रस्त देखकर निवेदन करने लगा- “हे भगवन्त! यदि आज्ञा हो, तो मैं बिना निमित्त तैयार किया हुआ निर्दोष आहार और औषधि से आपश्री की चिकित्सा करूँ?” सेलकसूरिजी ने बिना निमित्त का आहार एवं औषधि जानकर उपचार करवाना स्वीकार किया।

प्रतिदिन औषध का सेवन करने से सेलकसूरिजी का शरीर स्वस्थ हो गया, लेकिन वे प्रबल मादक रसयुक्त आहार में रागी हो गए। इससे साधु के गुणों से विमुख बनकर वे वहीं स्थिर होकर रहने लगे तथा पन्थक के सिवाय शेष साधु उन्हें छोड़कर चले गए। एक बार रात्रि में गाढ़ निद्रा में सोए सेलकसूरिजी से चातुर्मासिक-क्षमायाचना करने के लिए किसी ने उनके मस्तक से पादस्पर्श किया। इससे वे जाग गए और क्रोधित होकर कहने लगा- “कौन दुराचारी मस्तक से मेरे पैरों को घर्षण कर रहा है।” मुनि ने कहा- “हे भगवन्! मैं पन्थक नाम का साधु चातुर्मासिक-क्षमायाचना करता हूँ। आप मुझे एक बार क्षमा कर दें, फिर मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा।” शिष्य के वचनों को सुनकर सेलकसूरि संवेग को प्राप्तकर इस प्रकार कहने लगे- “हे पन्थक! श्रसंगारव, आदि के कारण मुझ विपथगामी को तूने जाग्रत किया है। अब मुझे यहाँ पर स्थिरवास के सुख से क्या प्रयोजन है? अब मुझे विहार करना है।” इस प्रकार सेलकसूरि वहाँ से विहारकर अप्रतिबद्ध विचरण करने लगे। उन्हें अनियतविहार करते देखकर उनके सारे शिष्य भी पुनः आकर मिल गए। कालान्तर में कर्म-रज का सम्पूर्ण उन्मूलन करने हेतु उन्होंने शत्रुंजय-गिरि पर संथारा ग्रहण कर अनुत्तर मोक्ष-सुख को प्राप्त किया।

संवेगरंगशाला में इस कथा के द्वारा यह बताया गया है कि जब तक जंघाबल क्षीण नहीं हो, तब तक मुनि को अनियतविहार, अर्थात् अप्रतिबद्ध-विहार करना चाहिए। बलवान् होने पर भी यदि मुनि रसलोलुपता या सुविधावश विहार करने में प्रमाद करता है, तो अन्य मुनिजन उसका त्याग कर चले जाते हैं। यदि वही व्यक्ति शुभभाव से युक्त होकर पुनः विहार करने में उद्यमशील बनता है, तो वह पुनः साधु के गुणों से युक्त बन जाता है। इस कथा में भी यह कहा गया है कि अनियतविहार करने से दर्शनशुद्धि, संवेग तथा निर्वेद द्वारा धर्म में स्थिरीकरण, चारित्र के प्रति अभिरुचि, सूत्रों के विशेष अर्थ की प्राप्ति, कुशलता और विवेक देशों का परिचय-इन छः गुणों की प्राप्ति होती है। इसी सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सेलकसूरि की कथा वर्णित है। प्रस्तुत कथानक हमें ज्ञाताधर्मकथा (अध्याय ५५), आवश्यकचूर्ण (भाग १, पृ. १७३, २०१, ३८६), स्थानांगवृत्ति (पृ. १८२-२१८), समवायांगवृत्ति (पृ. ११८), गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्ति (पृ. ७), आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।



वज्र और केशरी की कथा

प्रतिदिन धर्म आराधना करनेवाला साधक अपने पुत्र को उचित शिक्षा न देता हो और धन के प्रति मूर्च्छादि के कारण अपना धन नहीं बतलाता हो, तो धनासक्तिवश आर्त्त-रौद्रध्यान से वे सभी दुर्गति को प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में वज्र एवं केशरी की कथा दी गई है-⁷⁵⁹

कुसुमस्थल नगर में महाऋद्धि का स्वामी धनसार नामक सेठ रहता था। उसको वज्र नामक एक पुत्र था। वज्र का विवाह विनयवती नाम की कन्या के साथ हुआ। सेठ धनसार जीवन को क्षणभंगुर मानता था, अतः उसने अपने स्थान पर पुत्र को स्थापित किया और वह धर्माराधना करने लगा। कुछ समय पश्चात् धनसार सेठ की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु होने से वज्र खूब विलाप करने लगा। शोक से पीड़ित वज्र ने पिता का अन्तिम-संस्कार किया। स्वजनो द्वारा निरन्तर सांत्वना देने पर जब वज्र अपने पिता के शोक के भार से मुक्त हुआ, तब कुटुम्ब का परिपालन एवं दानादि धर्म-क्रिया में प्रवृत्ति करने लगा।

⁷⁵⁹ संवेगरंगशाला, गाथा २५७०-२६५६.

पापोदय से धीरे-धीरे उसका धन नष्ट होने लगा, साथ ही अनाज के गोदाम भी जल गए और वह सम्पूर्ण निर्धन हो गया। स्वजन भी पराए हो गए। शोकातुर बने वज्र ने मित्र क्षोमिल से अन्य देश में जाने की इच्छा प्रकट की, जिससे मित्र भी साथ चलने को तैयार हुआ। दोनों मित्र अपने नगर से निकलकर स्वर्णभूमि में पहुँचे। वहाँ भाग्योदय से दोनों ने बहुत धन प्राप्त किया। उस धन से उन्होंने आठ बहुमूल्य रत्न खरीदे और घर-परिवार की बहुत याद आने से वापस अपने नगर की ओर चल पड़े।

अर्द्धमार्ग में क्षोमिल की नीयत बिगड़ी। वह वज्र को ठगने के लिए उपाय सोचने लगा। एक बार जब वज्र गांव में गया, तब कपट से क्षोमिल उन आठों रत्नों को एक गठरी में बांधने लगा तथा कुछ पत्थरों को एक दूसरी गठरी में। इतने में वज्र गांव से वापस आ गया। कहीं इसने मुझे देख न लिया हो- इस भय से वह कहने लगा- “मित्र! इस जंगल में चोर न जाने हमें कब लूट लें, इसलिए रत्नों की दो गठरी बना ली है। क्षोमिल ने गलती से असली रत्नों की गठरी वज्र को दे दी और स्वयं नकली गठरी लेकर सो गया। मध्याह्न में क्षोमिल ने उठकर अपनी गठरी ली और मित्र को छोड़कर चल दिया।

सात योजन चलने के पश्चात् जब वह गठरी खोलकर देखने लगा, तो उसमें रत्न की जगह पत्थर निकले। रत्न नहीं मिलने से उसके हृदय में गहरा आघात पहुँचा। क्षोमिल विचारने लगा कि मित्र के साथ ठगाई करने से विधाता द्वारा मुझे इसी भव में पाप का फल प्राप्त हो गया। थके-हारे तथा भूखे-प्यासे क्षोमिल ने भिक्षा के लिए किसी गांव में प्रवेश किया। वहाँ किसी के घर जाकर उसने भिक्षा की याचना की। दयाभाव से गृहस्वामिनी उसे भोजन देने लगी। उसी समय उसका पति वहाँ आया तथा उसे भोजन देते देखकर क्रोध से पत्नी को कहने लगा- “हे पापिनी! दुराचारिणी! मेरे जाने के बाद तू ऐसा पाप करती है।” इस प्रकार उस पति ने अपनी पत्नी को अनेक अपशब्द कहे तथा क्षोमिल को व्यभिचारी बताकर उसे राजपुरुष को सौंप दिया।

राजा ने राजपुरुष को उसके वध का आदेश दिया। राजपुरुषों ने उसे वधस्थान पर ले जाकर एक वृक्ष पर रस्सी से लटका दिया और चले गए, किन्तु क्षोमिल के प्राण निकलने से पहले ही वह रस्सी टूट गई और वह नीचे गिर गया। वन की शीतल हवा से स्वस्थ महसूस कर वह धीरे-धीरे खड़ा हुआ और राजा के भय से शीघ्र भागने लगा।

भागते हुए दूर जंगल में उसे एक मुनि दिखाई दिए। वह मुनि के पास आकर उन्हें नमस्कार करके वहीं बैठ गया। मुनि ने उसे योग्य जानकर धर्मोपदेश

दिया, जिससे प्रतिबोधित होकर क्षोमित ने मुनि के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। इधर वज्र को अपना मित्र नहीं मिलने पर वह अपने नगर में पहुँचा। वहाँ रत्नों को बेचकर उसने खूब धन-सम्पत्ति प्राप्त की। सांसारिक-सुखों का सेवन करते हुए उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम केशरी रखा गया। वज्र ने अल्प समय में अत्यधिक धन प्राप्त किया, जिससे स्वजन भी उसके अनुकूल हो गए। इससे वज्र ने विचार किया- 'इस जगत् में मानव धन के बिना अनादर प्राप्त करता है, इसलिए प्राणों से भी अधिक इसकी रक्षा करना चाहिए।' ऐसा विचार करके उसने पुत्र को बताए बिना ही धन को गुप्त रूप से जमीन में गाढ़ दिया।

कुछ दिन पश्चात् तप से अत्यन्त कृश कायावाले क्षोमितमुनि उसी नगरी में पधारे। वज्र ने कठिनाई से मुनि को पहचानकर वन्दन किया एवं मुनि से पूछा- "आप मुनि कैसे हो गए?" मुनि ने निष्कपटभाव से सर्ववृत्तान्त वज्र को सुनाया। इससे प्रतिबोधित होकर वज्र ने भी जैन-धर्म स्वीकार किया।

वृद्धावस्था आ जाने से वज्र ने अपने स्थान पर केशरी को स्थापित किया और स्वयं विशेष आराधना करने लगा। वज्र धर्म का निरतिचारपूर्वक पालन करने लगा, परन्तु धन के प्रति उसका मोह जरा भी नहीं छूटा। पुत्र द्वारा बार-बार पूछने पर भी मोहवश वज्र धन नहीं बताता। वह सदैव सामायिक-पौषध में स्थिर रहता। ऐसा करते हुए एक दिन वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। धन की मूर्च्छा से दुःखी पुत्र विमूढ़ मनवाला बन गया और कहने लगा- "हे पापी पिता! तू अपने पुत्र का परम वैरी बना? तूने धरती में धन गाढ़कर उस निधान का कोई उपयोग नहीं किया और उसे यूँ ही नष्ट कर दिया, तेरे धर्म को धिक्कार हो।" ऐसा विलाप करता हुआ मरकर वह तिर्य्यगति में गया।

इस तरह आराधक के लिए मूर्च्छाभाव रखकर कर्मबन्धन में निमित्त बनना योग्य नहीं है, ऐसा निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने संवेगरंगशाला में वज्र और केशरी की कथा कही है। यह कथा हमें किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती है।



त्याग पर सहस्त्रमल्ल की कथा

सवेगरंगशाला में त्याग, वैराग्य और आराधना के सन्दर्भ में सहस्त्रमल्ल की कथा प्रस्तुत की गई है, वह इस प्रकार है-⁷⁶⁰

शंखपुर नगर में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। उसकी सेवा में कुशल गुणानुरागी वीरसेन नाम का एक सेवक था। उसके राज्य की सीमा पर कालसेन नामक पल्लिपति रहता था। कालसेन द्वारा अपने राज्य के धन का हरण होते देखकर एक दिन राजा ने अपने सेवको से पूछा- “कालसेन को जीतने में कौन समर्थ है?” तब सामन्त, सैनिक, आदि सभी के द्वारा मना करने पर वीरसेन ने कहा- “हे देव! मैं समर्थ हूँ। आप मुझे अकेले को ही जाने की आज्ञा प्रदान करें।” राजा ने प्रसन्नतापूर्वक अपने हस्तकमल से ताम्बूल देकर उसे भेजा।

वीरसेन राजा को नमस्कार कर नगर में से निकलकर शीघ्र ही पल्लिपति के पास पहुँचा। वीरसेन ने कालसेन को राजा से सन्धि करने को कहा, लेकिन उसने सन्धि नहीं की, अपितु उसे अकेला जानकर उसकी अवगणना की। इससे रुष्ट हो वीरसेन ने शूरवीर की तरह युद्धकर कालसेन की केशराशि पकड़कर उसे बन्दी बना लिया और कनककेतु को सौंप दिया। वीरसेन पर प्रसन्न होकर राजा ने उसे एक हजार गांव दिए और उसका नाम सहस्त्रमल्ल रखा। तत्पश्चात् राजा कनककेतु ने कालसेन के साथ भी सन्धि कर ली और हर्षित मन से उसका सत्कार कर उसे अपने स्थान पर भेज दिया।

एक दिन सहस्त्रमल्ल ने नगर के उद्यान में सुदर्शन नाम के आचार्य को देखा। उसने भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्म-उपदेश सुना। आचार्यश्री ने भी संसार की असारता को बतलानेवाला और मोक्षप्राप्तिरूप फल देनेवाला जिन-कथित धर्म कहा। जैनधर्म का स्वरूप समझकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह गुरु के चरणों में नमस्कार कर कहने लगा- “अब संसार में रहने का मेरा अल्प प्रयोजन भी नहीं है। अब मुझे शीघ्र दीक्षा प्रदान करें।” गुरु ने उसे जन्म-मरण के दुःखों को क्षय करनेवाली भगवती-दीक्षा प्रदान की। त्याग और वैराग्यपूर्वक अनियतविहार करते हुए एक दिन सहस्त्रमल्लमुनि कालसेन के मण्डप में पहुँचे। कालसेन मुनि को देखकर उन्हें तुरन्त पहचान गया। “यह मेरा शत्रु है, अतः इसके अभिमान को नष्ट करो”- ऐसा उसने अपने सेवकों से कहा।

यह सुनकर उन पुरुषों ने विविध शस्त्रों से मुनि पर प्रहार किए। मुनि विचार करने लगे- “हे जीव! इन पर मुझे जरा भी द्वेष नहीं रखना चाहिए। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल प्राप्त करते हैं। हे जीवात्मा! तुझे इन तीक्ष्ण कष्टों को सहन करना है। जिस तरह भगवान् महावीर, आदि ने दुःखों को समताभाव से सहन किया था, वैसा ही तुझे भी करना है। यदि तूने अपनी उपधि तथा गुरुकुलवास के प्रति राग का त्याग किया है, तो इस नाशवान् शरीर पर मोह किसलिए करता है।”- ऐसा विचारकर वे मुनि शुभध्यान में निमग्न हुए। उन पुरुषों ने तलवार की तीक्ष्ण धार से मुनि पर तेज प्रहार कर उन्हें मार दिया। मरणोपरान्त मुनि सर्वार्थसिद्ध में देवरूप में उत्पन्न हुए।

इस प्रकार के त्यागी और निर्मल भावों से युक्त मुनि सहजता से मोक्षरूपी सुख को प्राप्त करते हैं।

सहस्त्रमल्ल की यह कथा जिस रूप में यहाँ प्रस्तुत की गई है, उस रूप में तो हमें उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु दिगम्बर, श्वेताम्बर-विवाद के सम्बन्ध में सहस्त्रमल्ल की कथा मिलती है, परन्तु इस कथा में और उस कथा में नाम को छोड़कर अन्य कोई समरूपता परिलक्षित नहीं होती है।



मिथ्यात्व के विषय पर एक अन्धे पुत्र की कथा

जो व्यक्ति उत्कृष्ट से संयम का पालन करता हो और अनुकूल एवं प्रतिकूल सर्व परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करता हो, लेकिन उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं हो, तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस विषय पर संवेगरंगशाला में एक अन्धे पुत्र की कथा वर्णित है, वह कथा इस प्रकार है^{76f} -

वसन्तपुर नगर में रिपुमर्दन नामक राजा राज्य करता था। उसका प्रथम पुत्र अन्या और दूसरा पुत्र दिव्यचक्षुवाला था। राजा ने उन दोनों को अध्ययन के लिए उपाध्याय को सौंपा। उपाध्याय अन्धे पुत्र को धनुर्वेद-विद्या को छोड़कर संगीत, वाजित्र, आदि अन्य सर्व कलाएँ सिखाने लगे, लेकिन दूसरे पुत्र को धनुर्वेद सहित सभी कलाओं की शिक्षा देने लगे।

अन्धे पुत्र ने इसे अपना अपमान मानकर उपाध्याय से कहा- “मुझे शस्त्रकला, आदि क्यों नहीं सिखाते हो?” उपाध्याय ने अत्यन्त मधुर वचन से उसे

कहा- “अहो महाभाग! तुम परिश्रमी अवश्य हो, लेकिन चक्षुरहित होने के कारण तुम्हें यह कला किस तरह सिखाऊँ?” वह कुमार पुनः कला सिखाने के लिए अति आग्रह करने लगा तथा उसके बार-बार कहने पर उपाध्याय ने उसे धनुर्विद्या का अध्ययन कराया। तीव्र बुद्धि के बल से उसने शब्दवेधी बाण चलाने की कला सीखी। इस तरह दोनों ही पुत्र कलाओं में अति कुशल बनें।

एक समय शत्रु-सेना ने वसन्तपुर राज्य को चारों ओर से घेर लिया, जिससे छोटा पुत्र शत्रु-सेना को जीतने हेतु पिता से आज्ञा लेकर युद्ध के लिए जाने लगा, लेकिन “बड़े भाई के रहते छोटा भाई कैसे जा सकता है”- ऐसा कहकर वह अन्धा पुत्र क्रोधित हुआ। राजा ने कहा- “बुद्धि एवं भुजाओं से बलवान् होते हुए भी चक्षुरहित होने से तुम्हारा युद्ध में जाना योग्य नहीं है।” राजा ने अनेक प्रकार से समझाकर अन्धे पुत्र को रोकना चाहा, परन्तु वह राजा के वचनों को मान न देकर, मजबूत बख्तर से शरीर को सजाकर, हाथी पर बैठकर शीघ्रतापूर्वक नगर से निकल गया।

युद्धभूमि में उसे जिस ओर से शब्द सुनाई देता, उसी ओर वह बाण चलाने लगता। इससे शत्रुओं ने उसे शब्दवेधी जानकर मौन धारण कर लिया। अन्धे पुत्र द्वारा बाण के प्रहार को रुकते हुए देखकर शत्रुओं ने मौनपूर्वक सर्व दिशाओं से उस पर प्रहार किया। बड़े भाई पर प्रहार होते देख छोटे भाई ने उसे बचाने का प्रयत्न किया।

सर्व सम्पत्ति को त्याग करनेवाला, परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करनेवाला मुनि भी यदि सम्यक्त्व से रहित हो, तो अन्धे पुत्र की तरह शत्रु को जीत नहीं सकता है। इस कारण आराधक को सर्वप्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण कर फिर निरतिचारपूर्वक दर्शन-प्रतिमा को स्वीकार करना चाहिए। उसके पश्चात् ही सदाचार का पालन फलप्रद होता है।

प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ।



जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा

आगाड़ उपसर्ग से बचने का कोई अवसर न हो, अथवा दुष्काल हो, तब अविधि से किया हुआ मरण भी शुद्ध माना गया है। सवेगरंगशाला में इसका उल्लेख जयसुन्दर और सोमदत्त की कथा में मिलता है, जिन्होंने विशेष कारणों से वैहानस और गृहपृष्ठमरण को स्वीकार किया था-⁷⁶²

वैदेशात् नगर में सुदर्शन नाम का एक सेठ रहता था। उसके दो पुत्र थे- प्रथम, जयसुन्दर और दूसरा, सोमदत्त। दोनों रूप, कला एवं गुणों से युक्त थे। एक दिन वे दोनों व्यापार हेतु अहिछत्रा नगरी गए। वहाँ जयवर्द्धन सेठ से उनकी मित्रता हो गई। उस सेठ की सोमश्री और विजयश्री नाम की दो पुत्रियाँ थीं। सेठ ने अपनी दोनों पुत्रियों का विवाह उन दोनों भाइयों के साथ कर दिया। वे दोनों भाई वहीं आनन्द से रहने लगे। एक समय वैदेशात् नगरी से आए पुरुषों द्वारा पिताजी की अस्वस्थता को जानकर, वे दोनों अपनी पत्नियों को वहीं छोड़कर अपने घर पहुँचे। वहाँ उन्होंने शोकग्रस्त परिवारजनों को रोते देखा। पिताजी हमें छोड़कर चले गए हैं- ऐसा विचार कर वे भी जोर से रोने लगे। फिर उन्होंने पूछा- “क्या पिताजी ने हमारे लिए कोई सन्देश कहा है?” परिजनों ने कहा- “हमें तो नहीं कहा। मात्र पुत्रदर्शन की आशा में ही उनके प्राण निकल गए।” यह सुनकर वे दोनों फिर से रुदन करने लगे और यमराज को कोसने लगे- “हे निष्ठुर यम! पिता से हमारा मिलाप तो करा देता।” पिता के वियोग से दुःखित हुए भाइयों ने खाना-पीना छोड़ दिया। परिजनों द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर वे अन्यमनस्क होकर कार्य में प्रवृत्ति करने लगे।

किसी एक समय दोनों भाइयों ने दमघोषसूरि के पास सर्वज्ञकथित धर्म का श्रवण किया। इससे उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। दोनों ने हाथ जोड़कर आचार्य से निवेदन किया- “हे भगवन्त! हम आपके पास दीक्षा लेना चाहते हैं।” इनके भविष्य में कुछ विघ्न आएगा-अपने श्रुतज्ञान से ऐसा जानकर आचार्य ने कहा- “हे महानुभावों! भविष्य में तुम्हें स्त्रियों का महान् उपसर्ग होगा। यदि प्राण देकर भी उस उपसर्ग को सम्यक् प्रकार से सहन करोगे, तो दीक्षा स्वीकार करो और मोक्ष के लिए उद्यम करो, अन्यथा चढ़कर गिर जाने की घटना लोक में हास्य का कारण बनती है।” उन्होंने कहा- “संसार के प्रति हमें अल्प भी राग होता, तो सर्वधिरति की भावना नहीं करते, अतः आप तो हमें दीक्षा दे दीजिए।” तत्पश्चात् दीक्षा देकर आचार्य ने उन्हें सर्व सूत्रों के अर्थों का गहन अध्ययन कराया। फिर

लम्बे समय के पश्चात् दोनों मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर अकेले विचरण करने लगे।

अनियत विचरण करते हुए जयसुन्दरमुनि एक समय अहिछत्रा नगरी पहुँचे। इधर वह पापिनी सोमश्री अपने दुश्चरित्र को छिपाने के लिए जयसुन्दरमुनि को चारित्र से पतित करना चाहती थी। इसी कारण से उसने भिक्षा हेतु मुनि को घर बुलाकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और उनसे कहा- “हे प्राणनाथ! आप इस दुष्कर चारित्र का त्याग करें। आपकी दीक्षा की बात सुनकर मुझे वज्र के प्रहार से भी अधिक दुःख हुआ और आज तक मैं मात्र आपके दर्शन की आशा में ही जीवित हूँ। अब मेरा जीना या मरना आपके हाथ है। आपको जो रुचिकर हो, वह करो।” मुनि को आचार्य के वचन याद आए। इस धर्मसंकट से बचने के लिए मुझे कुछ उपाय करना होगा- ऐसा सोचकर मुनि ने कहा- “हे भद्रे! एक क्षण तुम घर के बाहर खड़ी रहो।” ऐसा कहकर मुनि अन्दर गए। संवेगयुक्त भावों से अनशन स्वीकार कर मरण हेतु गले में फांसी लगाकर लटक गए और मरकर वे अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुए।

इधर नगर में यह बात फैल गई कि सोमश्री ने साधु को मार दिया है। इससे पिता ने उसे अपमानित कर घर से निकाल दिया। अत्यन्त स्नेहवश विजयश्री भी उसके साथ चली गईं। प्रसूति-दोष के कारण सोमश्री मार्ग में ही मर गईं। तत्पश्चात् विजयश्री तापसी-दीक्षा स्वीकार कर एक आश्रम में रहने लगीं।

सोमदत्त मुनि विहार करते हुए उसी स्थान पर आए। पैर में तीक्ष्ण कांटा लग जाने से वे आगे चलने में असमर्थता का अनुभव करने लगे और वहीं आश्रम के पास बैठ गए। वहाँ विजयश्री मुनि को देखते ही पहचान गईं। मुनि को देख उसके मन में काम-वासना जाग्रत हो गई। वासना के वशीभूत हो वह मुनि को बार-बार क्षोभित करने लगीं। उस पापिनी से क्षोभित हुए मुनि को आचार्य के वचन स्मरण में आए। यद्यपि मुनि एक कदम भी आगे चलने में असमर्थ थे, परन्तु स्त्री द्वारा उपसर्ग जानकर मुनि ने प्राणघात करने का विचार किया। अन्य कोई उपाय नहीं होने पर मुनि ने गृह्यपृष्ठमरण को श्रेय माना। वहाँ से मुनि धीरे-धीरे चलकर रणभूमि में गए और वहाँ शवों के बीच शव के समान बनकर लेट गए। वहाँ हिंसक पक्षियों द्वारा मुनि के शरीर का भक्षण किया गया। इस प्रकार मुनि भयंकर वेदना को सहन करते हुए समाधिमरण को प्राप्त हुए एवं जयन्त-विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

संवेगरंगशाला में इस कथा के माध्यम से जयसुन्दर और सोमदत्त द्वारा ग्रहण किए गए उत्कृष्ट मरण का उल्लेख किया है। प्रस्तुत कथा हमें

जैन-आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती है। इस कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ।



स्वयम्भूदत्त की कथा

साधक को सम्यक् आराधना करने की प्रबल इच्छा हो, परन्तु परिजनों के मोह में उसका ध्यान विचलित हो जाए, तो वह श्रेणी से पतित हो जाता है एवं उसकी आराधना भी नष्ट हो जाती है। इस विषय पर संवेगरंगशाला में स्वयम्भूदत्त की निम्न कथा वर्णित है :-⁷⁶³

कन्चनपुर नगर में स्वयम्भूदत्त और सुगुप्त नाम के दो भाई रहते थे। वे दोनों अपने कुलाचार के अनुरूप अपनी आजीविका चलाते थे। एक समय नगर में अति भयंकर दुष्काल पड़ा। उस दुष्काल के कारण अत्यन्त क्षुधा से धन एवं स्वजनों का नाश हो जाने से तथा रोग उत्पन्न हो जाने से बहुत लोग मरने लगे। परिणामतः, बचे हुए लोग अन्य देशों में जाने लगे। इधर स्वयम्भूदत्त और सुगुप्त ने भी एक सार्धवाह को जाते हुए देखा और साथ जाने का विचार कर वे दोनों भी उसके साथ चल दिए। चलते-चलते जब वे एक अरण्य में पहुँचे, तब वहाँ भिल्लों का एक समूह आया और उनको लूटने लगा। सार्धपति के सुभटों एवं भिल्लों ने परस्पर युद्ध किया, परन्तु अत्यन्त निर्दयी और प्रचण्ड बलवाले भिल्लों ने सम्पूर्ण सार्ध को लूट लिया। कुछ लोग भय से भाग गए, इससे दोनों भाई भी अलग-अलग हो गए।

भिल्लों ने स्वयम्भूदत्त को पकड़ा, उस पर चाबुक से प्रहार किया और धन माँगने लगे। उसके पास धन नहीं मिलने पर वे लोग बलि के लिए उसे चामुण्डा देवी के मन्दिर ले गए। वहाँ वे लोग तलवार से उसका घात करने लगे। तभी बाहर से आवाज सुनाई देने लगी- “अरे इसे छोड़ो, अपने आपको बचाओ।” ऐसा सुनते ही वे सब स्वयम्भूदत्त को छोड़कर वहाँ से भाग गए। मौका पाकर स्वयम्भूदत्त भी वहाँ से भाग निकला।

इस तरह भागते-भागते मार्ग में भयंकर सर्प ने उसे डंस लिया, जिससे उसे महाभयंकर वेदना होने लगी। तब वह विचारने लगा- ‘अब मैं निश्चय ही मर जाऊँगा। हा!हा! विधि का यह विचित्र विधान है।’ ऐसा विचारकर वह एक वृक्ष के

⁷⁶³ संवेगरंगशाला गाथा, ३७५४-३७६६.

पास गया। वहाँ उसे एक चारण मुनि दिखाई दिए। उन्हें देखकर वह कहने लगा- “हे भगवन्! सर्प के जहर से ग्रसित मुझे बचा लो, अब आप ही मेरे रक्षक हो।” ऐसा कहकर वह मूर्च्छित होकर वहीं नीचे गिर पड़ा। उपकार की दृष्टि से मुनि सम्यक् आराधनापूर्वक मन्त्र-जापादि करने लगे, जिससे वह (स्वयम्भूदत्त) कुछ ही समय में स्वस्थ होता हुआ धीरे-धीरे उठने लगा, फिर उठकर मुनि को देखकर बोला- “हे भगवन्! आप मेरे जीवनदाता हैं एवं उपकारी हैं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ, जिससे मैं इस ऋण से मुक्त हो सकूँ।” मुनि ने कहा- “यदि तू ऋणमुक्त होना चाहता है, तो निष्पाप प्रव्रज्या को स्वीकार करा।” उसने कहा- “हे भगवन्! मैं ऐसा ही करूँगा, परन्तु मुझे मेरे छोटे भाई के प्रति राग होने से मन उससे मिलने को बताव हो रहा है। यदि एक बार उसे देख लूँ, तो फिर मैं दीक्षा शीघ्र स्वीकार कर लूँगा।” मुनि ने कहा- “हे भद्र! यदि तू सर्प के जहर से मर जाता, तो किस तरह अपने छोटे भाई से मिलता? अतः निरर्थक राग को छोड़।” मुनि के ऐसा कहने से स्वयम्भूदत्त ने विनयपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की, फिर विविध तपस्या करने लगा। दुःसह परीषह को सहन करता हुआ वह अपने गुरु के साथ विचरण करने लगा। अन्त में अपनी आयुष्य अल्प जानकर उसने अनशन स्वीकार कराने के लिए गुरु से कहा। इस पर गुरु उसे समझाने लगा- “हे मुने! पुण्यवान् व्यक्ति ही सविशेष आराधना कर सकता है। आराधक को स्वजन, उपधि, कुल और अधिक क्या, अपने शरीर के प्रति भी राग नहीं करना होता है, क्योंकि वह राग ही अनर्थों का मूल है।” गुरु की वाणी से दृढ़ बनकर स्वयम्भूदत्त मुनि ने अनशन स्वीकार किया, जिससे स्वयम्भूदत्त मुनि के दर्शन के लिए नगर के लोग आने लगे।

पूर्व में बिछुड़ा हुआ उसका छोटा भाई भी सुगुप्त परिभ्रमण करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा। जनसमूह को एक ही दिशा में जाते देखकर सुगुप्त ने लोगों से पूछा- “ये सभी लोग कहाँ जा रहे हैं?” किसी एक व्यक्ति ने उससे कहा- “यहाँ प्रत्यक्ष सद्धर्म के भण्डाररूप एक मुनि ने अनशन किया है; उसी के दर्शन करने जा रहे हैं।” ऐसा सुनकर कौतूहलवश सुगुप्त भी वहाँ पहुँचा। वहाँ उसने मुनि के रूप में अपने भाई स्वयम्भूदत्त को देखा और जोर से रुदन करता हुआ कहने लगा- “हे भाई! कपटी साधुओं द्वारा तू किस तरह छला गया। तेरे वियोग से मेरा हृदय फटा जा रहा है।” स्वयम्भूदत्त को भाई पर किंचित् राग होने से उसने उसे अपने पास बुलाकर पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। इससे अन्त समय में मुनि को सर्वार्थ-सिद्धि-विमान की प्राप्ति के योग्य अध्यवसाय होने पर भी स्नेहरूपी दोष हुआ। इस कारण मरकर वह मुनि सौधर्म-देवलोक में मध्यम आयुष्यवाला देव बना।

इस तरह श्रेणी-आरोहण में जो योग बाधक हों, उन्हें आराधक प्रयत्नपूर्वक दूर करे। उसे मात्र आचार्य के साथ ही आलाप-संलाप करने की छूट रखकर मिथ्यादृष्टि लोगों से मौन रखना चाहिए।

अनशन करनेवाले को सर्व सुखशीलता का त्याग करके क्षपक-श्रेणी से आरोहण करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का उल्लेख हमें जैन-आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।



सुन्दरी एवं नन्द की कथा

इस संसार में जन्म लेकर सभी को अवश्य मरना होता है, अतः ऐसे श्रेष्ठ मरण को प्राप्त करना चाहिए कि जिससे पुनः मरना न पड़े। जीव यदि किसी तरह पण्डितमरण को प्राप्त कर ले, तो वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में सुन्दरी व नन्द की कथा का उल्लेख मिलता है-⁷⁶⁴

चम्पानगरी में धन नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसका वसु नाम का एक मित्र था। अपनी मित्रता अखण्ड रखने के लिए सेठ ने अपनी पुत्री सुन्दरी का विवाह वसु सेठ के पुत्र नन्द से किया। दोनों का दाम्पत्य जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। एक दिन नन्द ने विचार किया- 'जो विद्या, पराक्रम, आदि गुणों से युक्त होता है, वह स्वार्जित आजीविका प्राप्त करता है और उसी का जीवन ही प्रशंसनीय होता है। पूर्वजों के धन से आनन्द करने में मेरी क्या महत्ता है?' ऐसा विचारकर नन्द अपने पिताजी से आज्ञा माँगकर धनार्जन हेतु जाने के लिए तैयार हुआ।

नन्द को जाने के लिए अति उत्सुक देखकर सुन्दरी भी साथ चलने के लिए आग्रह करने लगी। धन-धान्य से जहाज को भरकर वहाँ से श्रेष्ठ समय में दोनों ने प्रस्थान किया। कुछ समय बाद वे एक द्वीप में पहुँचे। उस द्वीप में नन्द ने अनाजों का क्रय-विक्रय कर खूब धन कमाया। फिर वहाँ से अन्य द्वीप जाने के लिए जहाज से प्रस्थान किया। समुद्र में कुछ ही समय में अति तेज तूफान आने से उस जहाज के टुकड़े-टुकड़े हो गए। भवितव्यता से उन दोनों को लकड़ी का

एक-एक तख्ता मिला और उसके सहारे संयोग से वे दोनों एक ही द्वीप पर पहुंचे।

विरह से व्याकुल बने दोनों का आपस में मिलन हुआ। नन्द को देखते ही सुन्दरी उससे लिपटकर खूब रोने लगी। तब नन्द सुन्दरी को जिनप्रणीत वचन द्वारा इस प्रकार समझाने लगा- “पूर्व में संचित पुण्य का क्षय होने पर देवेन्द्र भी दुःखी होता है। अतः, हे सुतनु! वृक्ष और छाया के समान दुःख की परम्परा जिसके साथ ही परिभ्रमण करती है, उन जीवों को कर्मों के वश पड़ा जानना चाहिए।” ऐसे वचनों से सुन्दरी को समझाकर दोनों गांव की ओर चले। थोड़ी दूर चलकर सुन्दरी ने कहा- “हे नाथ! परिश्रम से थकी तृषातुर अब मैं एक कदम भी आगे चलने में असमर्थ हूँ।” नन्द ने उसे एक स्थान पर विश्राम करने को कहा और स्वयं जल लेने के लिए चला गया।

वह कुछ ही दूर गया कि दुर्भाग्यवश वहाँ उसने यम के समान मुख फाड़े हुए एक सिंह को अचानक देखा। सिंह के भय से भयभीत हुआ नन्द अन्तिम आराधना करना भूल गया। अन्तिम आराधनारहित उस नन्द को सिंह ने मार दिया। इस प्रकार बालमरण के दोष से वह उसी वन में बन्दररूप में उत्पन्न हुआ। सुन्दरी जंगल में बैठी हुई पूरा दिन पति की प्रतीक्षा करती रही। पति की प्रतीक्षा में सुन्दरी ने पूरा दिन व्यतीत किया। जब नन्द नहीं लौटा, तब ‘किसी हिंसक पशु ने पति को मार दिया होगा’- ऐसा विचार करते ही वह जमीन पर मूर्च्छित होकर गिर गई। कुछ क्षण बाद सुगन्धित मन्द पवन के झोंकों से उसकी मूर्च्छा दूर हुई और वह उठकर जोर से रोने लगी। फिर जिनेश्वर परमात्मा एवं माता-पिता को याद करते हुए वह इस तरह कहने लगी- “हे पापी देव! धन, स्वजन और घर का नाश करने पर भी तुझे सन्तोष नहीं हुआ।”

उसी समय श्रीपुर नगर का प्रियंकर राजा अश्व-क्रीड़ा के लिए वहाँ आया। वहाँ उस सुन्दरी को देखकर विस्मित मन से राजा कहने लगा- “हे सुतनु! तू कौन है? कहाँ से आई है? और इस तरह क्यों रुदन कर रही है?” सुन्दरी ने कहा- “हे महासात्विक! संकटों की परम्परा में खड़ी मुझ दुखियारी की बातों को जानकर क्या करोगे।” उत्तमकुल में जन्म लेनेवाली यह स्त्री अपना वृत्तान्त नहीं कहेगी- ऐसा सोचकर राजा उसे शान्त कर अपने घर ले गया। वहाँ उसे भोजनादि कराया, फिर अनुरागवश राजा उसके मनोवांछित पूर्ण करने लगा।

एक दिन राजा ने सुन्दरी से कहा- “हे चन्द्रमुखी! मन को उद्विग्न करने वाले पूर्व में बने वृत्तान्त को भूलकर, मेरे साथ इच्छानुसार विषयसुख का भोग कर। दीपक की ज्योति से जैसे मालती की माला सूख जाती है, वैसे ही शोक

से तप्त तेरी कोमल काया सूख रही है। तुझे अधिक क्या कहूँ? मेरी प्रार्थना को तू सफल कर।” व्रत-भंग के भय से विषय सुख सेवन करना उचित नहीं है- ऐसा सोचकर सुन्दरी द्वारा मना करने पर भी राजा पुनः आग्रह करने लगा। राजा का अति आग्रह जानकर सुन्दरी ने कहा- “ठीक है। मेरा अभिग्रह जब तक पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक तुम प्रतीक्षा करो।” इस तरह प्रसन्न हुआ राजा सुन्दरी को नाटक, खेलादि दिखाता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

नन्द का जीव जो बन्दर बना, उसे एक मदारी ने पकड़ा। मदारी बन्दर को अनेक कलाएँ सिखाकर तथा गांव एवं शहर में खेल दिखाता हुआ श्रीपुर नगर पहुँचा। खेल का शौक होने से राजा ने मदारी को बुलवाकर खेल दिखाने के लिए कहा। राजमहल में नाचते हुए बन्दर ने सुन्दरी को राजा के पास देखा और विचार करने लगा कि मैंने इसे कहीं देखा है। इस प्रकार वहाँ उसे जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे उसने अपने पूर्वभव को देखा और अपने-आपको धिक्कारने लगा। वह धर्मानुरागी एवं शास्त्रानुसार अनुष्ठान करनेवाला होने पर भी बाल (अज्ञान) मरण को प्राप्त हुआ था, इसलिए ‘मैं तिर्यच जीवन जी रहा हूँ, किन्तु अब मैं क्या कर सकता हूँ?’- ऐसा विचारकर उसने चारों आहारों का त्याग किया और अनशन स्वीकार कर वह पंचपरमेष्ठि का निरन्तर स्मरण करने लगा, जिससे वह मरकर देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ और वहाँ से अवधिज्ञान लगाकर राजा और सुन्दरी को पूर्व वृत्तान्त सुनाकर प्रतिबोध किया, जिससे दोनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

इस प्रकार तिर्यचयोनि को प्राप्त हुआ जीव भी विशेष आराधना के द्वारा संलेखना करके पण्डितमरण प्राप्त कर सद्गति को प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुत कथा में यह बताया गया है कि जिसे मृत्यु से भय लगता है, उसे पण्डितमरण स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि एक बार स्वीकार किया गया पण्डितमरण जन्म-जन्मांतर के मरण को नष्ट कर देता है। इस सन्दर्भ में सवेगरंगशाला में जो सुन्दरी और नन्द की कथा दी गई है, वह कथा हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ५६६), आवश्यकवृत्ति (पृ. ४३६), स्थानांगवृत्ति (पृ. ४७४), नन्दीसूत्रवृत्ति (पृ. १६७), आदि अनेक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।



आर्य महागिरि का प्रबन्ध

जिनकल्प का विच्छेद होने पर भी जिसने जिनकल्प का परिकर्म, अर्थात् आचरण किया था, उन आर्य महागिरि का प्रबन्ध संवेगरंगशाला में इस प्रकार वर्णित है-⁷⁶⁵

कुसुमपुर नगर में नन्द राजा का शकडाल नामक एक मन्त्री था। उस मन्त्री का अत्यन्त विलासी स्थूलभद्र नाम का पुत्र था। जब शकडाल जहर खाकर मृत्यु को प्राप्त हो गया, तब महासात्विक स्थूलभद्र को राजा ने कहा- “हे धीर! तुम्हारे पिता के इस मन्त्री-पद को अब तुम स्वीकार करो”, किन्तु स्थूलभद्र ने गृहवास को मधुर, लेकिन परिणाम से अहितकर जानकर इन्द्रिय-विषयासक्ति को छोड़कर संयम को स्वीकार कर लिया। आचार्य संभूतविजय के पास सूत्र-अर्थ का गहन अभ्यास करके कालान्तर में वह अनुयोगाचार्य बना। स्थूलभद्रमुनि ने प्रथम चातुर्मास पूर्व परिचित कोशा वेश्या के घर किया, जिससे आचार्यश्री ने उत्तम चार मुनियों के समक्ष उनकी अतिदुष्कर, अतिदुष्करकारी-ऐसा कहकर प्रशंसा की। कोशा वेश्या ने भी भक्तिपूर्वक उनके संयम की प्रशंसा की।

स्थूलभद्र महामुनि के आर्य महागिरि तथा आर्यसुहस्ति नाम के दो शिष्य थे। वे भी कामविजेता, सर्व अनुयोगों के समर्थ अभ्यासी थे। आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ति को अपना गण, अर्थात् समुदाय सौंपकर जिनकल्प का विच्छेद हुआ है-“ऐसा जानते हुए भी उसके अनुरूप साधना प्रारम्भ कर दी।

एक समय आर्यमहागिरि विहार करते हुए पाटलीपुत्र नगर में पधारे। वहाँ उन्होंने भिक्षा हेतु नगर में प्रवेश किया। तब वसुभूति सेठ अपने स्वजनों को बोध कराने हेतु आर्यसुहस्तिसूरि को अपने घर ले गया। उसी घर पर आर्य महागिरि भी भिक्षा के लिए पधारे। आर्यमहागिरि को देखकर आर्यसुहस्ति भावपूर्वक वन्दन करने हेतु खड़े हुए। तब सेठ ने पूछा- “क्या आपसे भी बड़े कोई आचार्य हैं, जिसके कारण आप विनय हेतु खड़े हुए।” आर्यसुहस्तिसूरि ने कहा- “जिनकल्प का विच्छेद होने पर भी ये उसकी साधना करते हैं और गृहस्थ द्वारा फेंकने योग्य आहार-पानी को ही ग्रहण करते हैं। मोह-ममता से रहित होकर प्रतिपल ध्यान में स्थिर रहते हैं तथा शून्य गृहों में विविध आसनों एवं मुद्राओं की साधना करते हुए रहते हैं। इस प्रकार आर्यमहागिरि के गुणों की प्रशंसा करके, वसुभूति के स्वजनों को धर्म में स्थिर कर, आर्यसुहस्ति पुनः उपाश्रय में लौटे।

आर्यमहागिरि के चले जाने के बाद वसुभूति ने अपने स्वजनों को समझाया कि ऐसा साधु अगर भिक्षा के लिए आए, तो आहार-पानी निरुपयोगी है- ऐसा कहकर आदरपूर्वक देना। किसी दिन आर्य महागिरि भिक्षा हेतु सेठ के घर पहुँचे। शिक्षा-अनुसार अन्न-पानी देने में सबको तत्पर बना देखकर, मेरुसमान धीरता धारण कर, द्रव्यक्षेत्र का उपयोग लगाकर 'यह कपट-रचना है'- ऐसा जानकर भिक्षा लिए बिना ही चले गए। फिर उन्होंने आर्यसुहस्ति को कहा- "मुझे आते देखकर खड़े होकर विनय करने से तुमने मेरा आहार दूषित किया है।" इसके बाद दोनों वहाँ से एक साथ विहार कर अवन्ती नगरी पहुँचे।

इस तरह जिनकल्प को स्वीकार कर महामुनि आत्मसामर्थ्य को ही प्रकट करते हैं। संवेगरंगशाला में इस कथा के माध्यम से यह बताया गया है कि यदि अत्यन्त दुःसह परीषदों की सेना उपसर्गों सहित चढ़ाई कर दे, तो भी धीरपुरुष उन उपसर्गों को धैर्यता से सहन करता है। इस सम्बन्ध में आर्यमहागिरि की कथा उपलब्ध होती है। यह कथानक हमें आवश्यकचूर्णि (पृ. १५५-१५७) में भी उपलब्ध होता है।



गंगदत्त की कथा

जो द्रव्य-भाव से सम्यक् संलेखना करता है, वह महात्मा समाधिमरण की आराधना से मुक्ति-निलय को प्राप्त करता है, किन्तु जो अपनी मति से इस विधि से विपरीत क्रिया करता है, वह आराधक नहीं होता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में गंगदत्त की निम्न कथा प्रस्तुत की गई है⁷⁶⁶ :-

जयवर्द्धन नाम के प्रसिद्ध नगर में बन्धुप्रिय नाम का एक सेठ रहता था। उसको अति विनीत गंगदत्त नामक एक पुत्र था, जिसका विवाह उसने किसी वणिक् की पुत्री के साथ तय किया। गंगदत्त के हस्तमिलाप के समय वणिक्-पुत्री को दुःसह दाह्रोग उत्पन्न हुआ। इससे वह सोचने लगी- 'अरे क्या मैंने अग्नि का स्पर्श किया, अथवा मेरे शरीर में जहर चढ़ गया है।' ऐसा चिन्तन कर वह रोने लगी। उसे रोते हुए देखकर पिता ने पूछा- 'हे पुत्री! हर्ष के समय तू इस तरह सन्ताप क्यों करती है? यदि तुझे कोई पीड़ा हो रही हो, तो मुझे निःशंक होकर स्पष्ट वचनों से कह, जिससे मैं तेरी पीड़ा दूर कर सकूँ।' पुत्री ने कहा- 'पिताजी! जो कार्य हो चुका हो, उसे अब कहने से क्या प्रयोजन है?

मस्तक-मुण्डन के बाद नक्षत्र देखने से क्या लाभ?" परन्तु पिता द्वारा अतिआग्रह करने पर पुत्री ने अपना सर्ववृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर पिता पर जैसे वज्रपात हुआ, वह निस्तेज हो गया।

विवाह का कार्य पूर्ण होने पर जब पति के साथ जाने का समय आया, तब पति से बचने के लिए अन्य कुछ उपाय नहीं मिलने पर मकान के शिखर से नीचे गिरकर उसने अपने प्राण त्याग दिए। सभी ने इसकी मृत्यु का कारण गंगदत्त को माना। इससे जब गंगदत्त अपने दुर्भाग्य के कारण नगर में लज्जित होने लगा, तब पिता ने उससे कहा- "हे पुत्र! इस विषय में तू जरा भी दुःख मत करना।" पिता ने और अधिक सम्पत्ति खर्च करके पुत्र का दूसरा विवाह कर दिया। दूसरी पत्नी के आने पर उसके साथ भी वैसी ही घटना घटित हुई और वह भी फांसी लगाकर मर गई। इस तरह गंगदत्त को दुःसह कलंक लगा। इससे वह विचारने लगा- 'मैंने ऐसा कौनसा पापकर्म किया है, जिससे मैं स्त्रियों के द्वेष का निमित्तरूप बनता हूँ।' साथ ही वह सनत्कुमार, आदि महात्माओं के त्याग का स्मरण कर अपने-आपको धिक्कारने लगा- 'अहो! निष्फल विषयतृष्णा से मैं मृगतृष्णा सम दुःखी हो रहा हूँ।' तब पिता ने कहा- "हे पुत्र! यहाँ आचार्य गुणसागरसूरि पधारे हैं। चलो, वहाँ चलकर उनको नमस्कार करें।" वहाँ आकर दोनों ने आचार्य भगवन्त को नमस्कार किया तथा अपने योग्य स्थान ग्रहण कर प्रवचन श्रवण करने लगे। अन्त में गंगदत्त ने आचार्य से पूछा- "मैंने पूर्वजन्म में ऐसा कौनसा पापकर्म किया है, जिससे इस भव में मैं स्त्रियों का अतिद्वेषी बना?" आचार्य ने उसे उसका पूर्वभव सुनाना प्रारम्भ किया।

"पूर्वभव में तुम शतद्वार नगर में शेखर नामक राजा की काम-भोगों में अतिआसक्त एवं अतिप्रिय रानी थी। राजा की अन्य और पाँच सौ रानियाँ थीं।

राजा के साथ निर्विघ्न भोग की इच्छा होने से उस प्रियरानी ने उन पाँच सौ रानियों को मन्त्र-तन्त्र से मार दिया। इस पापकर्म से उसने दुर्भाग्य नामकर्म का उपार्जन किया। अन्तकाल में अनेक रोगों से मरकर वह रानी नरक एवं तिर्य्यच-गति में गई। वहाँ अनेक बार दुःखों को भोगकर दुर्लभता से मनुष्यभव को प्राप्त किया। इस तरह पूर्वकर्म के कारण ही इस भव में भी तू दुर्भाग्य का अनुभव कर रहा है।"

सर्ववृत्तान्त सुनकर गंगदत्त धर्म के प्रति श्रद्धावन्त बना और उसने संसार से उद्वेग प्राप्त किया। उसने पिता से आज्ञा लेकर आचार्य के पास दीक्षा स्वीकार की और शास्त्रों का गहन अध्ययन कर पृथ्वीतल पर विचरने लगा। कुछ काल पश्चात् जब उसने अनशन करने का निश्चय किया, तब स्थविरों ने उसे

मना करते हुए यह समझाया कि पुष्ट शरीरवालों को अभी अनशन करना उचित नहीं है, विविध तपस्या करने के पश्चात् ही क्रमशः संलेखना करना चाहिए, अन्यथा विस्त्रोतसिका-दुर्ध्यान आदि से यह अनशन बहुत संकटों को उत्पन्न करनेवाला हो सकता है। स्थविरों द्वारा समझाने पर भी उनकी वाणी का अपमान करके वह अनशन करने हेतु पर्वत की शिला पर एकचित्त होकर बैठ गया। अनशन में स्थिर गंगदत्त मुनि ने वहाँ अनेक स्त्रियों से युक्त एक विद्याधर को देखा, जिससे मुनि का मन चलायमान हुआ। उस समय मुनि विचार करने लगा- 'मेरा कितना दुर्भाग्य है कि मैं अखण्ड देहवाला होकर भी सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सका,' अतः उसने निश्चय किया कि यदि इस साधु-जीवन का कुछ फल हो, तो मैं आगामी जीवन में इसके जैसा ही सौभाग्यशाली बनूँ। ऐसा निदान करके वह महेन्द्रकल्प में श्रेष्ठ देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से आयुष्य पूर्णकर उज्जैन नगर में समरसिंह राजा के यहाँ रणशूर नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

पूर्वनिदान के कारण उसने अमर्यादित सौभाग्य को प्राप्त किया। राजा, महाराजा, सेनापति, बड़े-बड़े धनाढ्य, सामन्त और मन्त्रियों की अनेक पुत्रियों के साथ उसका विवाह हुआ और उसने लम्बे समय तक उनके साथ पाँचों प्रकार के विषयसुखों का भोग किया। वहाँ से मरकर रणशूर अपने दुराचरण के कारण संसाररूपी गर्त में गिरा और अनन्त दुःखों को प्राप्त किया।

इसीलिए कहा गया है कि पहले द्रव्य और भाव-दोनों प्रकार की संलेखना करने के बाद ही भक्तप्रत्याख्यान, अर्थात् अनशन करना चाहिए। आराधक को अपनी आराधना भंग न हो- ऐसी सजगता रखना चाहिए।

संवेगरंगशाला के अनुसार जिस प्रक्रिया अथवा विधि द्वारा शरीर एवं कषाय-वृत्तियों को कृश या क्षीण किया जाता है, उसका नाम है-संलेखना। जैनदर्शन में कर्मबन्ध का मूल कारण माना गया है - योग और कषाय। योग का आधार काया (शरीर) है, अतः इन दोनों कारणों को कृश करना या पतला करना ही कर्म-मुक्ति का उपाय है। संवेगरंगशाला में प्रस्तुत प्रसंग पर ग्रन्थकार ने गंगदत्त की उपर्युक्त कथा का निरूपण किया है। प्रस्तुत कथा के संकेत हमें आवश्यकनिर्मुक्ति (भाग १, पृ. ४७४-४७५), समवायांग (१५८), तीर्थोद्गालिक (गा. ६०५, ६०६), भक्तपरिज्ञा (गा. १३७), आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।



शिवभद्राचार्य का प्रबन्ध

समाधिमरण का इच्छुक आचार्य किसी गुणसम्पन्न साधु को शास्त्रीय विधि से आचार्य-पद पर स्थापित करे, तत्पश्चात् समग्र के समक्ष 'यह गण अब तुम्हारा है'- ऐसा कहकर गण-समर्पण करे। यदि आचार्य अन्य साधु को आचार्य-पद पर स्थापन नहीं करता है; तो आचार्य स्वयं का तथा गच्छ का अहित करता है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में शिवभद्राचार्य की कथा उपलब्ध है :-⁷⁶⁷

कंचनपुर नगर में शिवभद्र नामक आचार्य थे। एक बार वे अपने आयुष्य को जानने के लिए मध्यरात्रि में आकाश देखने लगे। आकाश में उन्हें उज्ज्वल दो चन्द्र समकाल में दिखाई दिए। आचार्य ने 'यह सत्य है, या असत्य'- यह निर्णय करने हेतु विस्मितचित्त से एक मुनि को जाग्रत कर पूछा- "हे भद्र! क्या तुझे आकाश में दो चन्द्र दिखाई दे रहे हैं?" मुनि ने कहा- "मुझे तो एक ही चन्द्र दिख रहा है।" आचार्य ने अनुमान लगाया- अब मेरी आयु अत्यन्त अल्प है, क्योंकि लम्बी आयुष्यवाला व्यक्ति ऐसे उत्पात को नहीं देखता है, अतः अब विकल्प से क्या प्रयोजन है।

'जीवन कुशाग्र जलबिन्दु की तरह अनित्य है, तो उसकी नश्वरता के सन्दर्भ में आश्चर्य क्यों? उत्तम शील का आचरण करनेवालों एवं घोर तपस्या करनेवालों के लिए तो मृत्यु भी मन को आनन्द प्रदान करती है, परन्तु बिना पाथेय के नुसाफिर-समान जो परभव जाने के समय सद्धर्म का उपाजन नहीं करता है, वह दुःखी होता है, इसलिए अब मैं उत्तम गुणवाले साधु को आचार्य पद पर नियुक्त करूँ एवं उत्कृष्ट तपस्या द्वारा काया को कृश करके एकाग्र मन से दीर्घ साधु-जीवन का फल प्राप्त करूँ'- शिवभद्र ऐसा विचार करने लगे।

शिवभद्र को अपने शिष्यों में किसी-न-किसी प्रकार के अवगुण दिखाई दिए। इस तरह शिष्यों में आचार्य-योग्य गुण न पाकर उन्होंने किसी भी शिष्य को गणधर-पद पर नियुक्त नहीं किया। वे विचार करने लगे- "जानते हुए भी जो स्नेहराग के वशीभूत हो आचार्य-पद पर कुपात्र का स्थापन करता है, वह जिनशासन का प्रत्यनिक (विद्रोही) कहलाता है। इस तरह उन्होंने अनेक गुणों से युक्त शिष्यों की अवगणना की, फिर भविष्य का विचार किए बिना संलेखना करके अनशन स्वीकार किया। अनशन में रहने के कारण शिवभद्र अपने शिष्यों को शारण-वारणादि नहीं कर पाते थे, जिससे शिष्य-वर्ग जंगली हाथियों के समान

निरकुंश बन गए तथा गुरु की अपने प्रति उपेक्षावृत्ति देखकर शिष्य उनकी सेवा आदि कार्यों में मन्द आदरवाले हो गए। उनकी ऐसी प्रवृत्ति देखकर शिवभद्र हृदय में सन्ताप करने से विराधक होकर असुर-देवों में उत्पन्न हुए। फिर गुरु की अनुपस्थिति में शिष्यों ने शिथिलता को धारण किया और मन्त्र-तन्त्र आदि में प्रवृत्ति करने लगे।

इस कथा का सार यह है कि उत्तम गुणवाले शिष्य के अभाव में मध्यम गुण वाले शिष्य को आचार्य-पद देकर, फिर ही आचार्य को अनशन ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा जिनशासन की निन्दा, धर्म का नाश एवं कर्मबन्धन, आदि दोष लगने की सम्भावना होती है। संवेगरंगशाला में जो शिव-आचार्य की कथा दी गई है, उसका मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु जैन आगमों में हमें इसका मूल स्रोत उपलब्ध नहीं होता है।



आचार्य नयशीलसूरि की कथा

आत्मा की शुद्धि एवं वैर-भाव को उपशान्त करने में क्षमापना उत्तम गुण है। इसके अभाव में व्यक्ति का ज्ञानाभ्यास एवं धर्मापराधना निष्फल हो जाती है। इस प्रसंग पर संवेगरंगशाला में नयशीलसूरि की निम्न कथा प्रस्तुत की गई है।⁷⁶⁸

एक विशाल समुदाय में महाश्रुतज्ञानी एवं महोपदेशक- ऐसे नयशील नाम के आचार्य थे, परन्तु प्रमादवश वे संयम की क्रिया नहीं करते थे। उनका एक शिष्य था, जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त था। विचक्षण बुद्धिवाले मुनिगण शास्त्रों का अभ्यास करने उसके पास ही जाते थे और उसके चारित्र की प्रशंसा करते थे। अपने शिष्य की सेवा, प्रशंसा होते देख आचार्य विचार करने लगे- 'मैंने इसे दीक्षित कर इसका पालन किया तथा इसे बहुश्रुतज्ञानी एवं गुणवान् बनाया है, फिर भी यह मेरी पर्षदा में मेरा ही अपमान (मेरी ही अवगणना) कर रहा है। इसकी प्रवृत्ति को रोकूँगा, तो लोग मुझे ईर्ष्यावाला समझेंगे।' इस प्रकार उसे कुछ न कहकर आचार्य उसकी अपेक्षा करके उसके प्रति द्वेष-भाव रखने लगे। इस तरह आचार्य अन्त समय तक मन में संक्लेशभाव लिए शिष्य से

क्षमायाचना किए बिना मृत्यु को प्राप्त हुए। उस संक्लेश दोष से आचार्य मरकर उसी वन में अति क्रूर श्यामवर्ण के सर्प के रूप में उत्पन्न हुए।

वह सर्प उस शिष्य के इर्द-गिर्द ही घूमने लगा। एक दिन जब मुनि (शिष्य) स्वाध्याय करने की इच्छा से बाहर जाने लगे, तब अपशकुन होने से स्थविरो ने उन्हें रोका। कुछ क्षण रुकने के पश्चात् जब वे पुनः चलने लगे, तब पुनः वैसा ही अपशकुन हुआ। उस समय स्थविरो ने विचार किया कि कुछ अमंगल होने की सम्भावना है, अतः हमें भी इनके साथ चलना चाहिए। ऐसा मानकर अन्य मुनि भी उनके साथ चले।

सर्प ने स्थविरो के बीच अपने पूर्वभव के उस शिष्य को बैठा देखा और ईर्ष्यावश भयंकर क्रोध से आवेशित हो उसकी तरफ आने लगा। मुनियों ने सर्प को उसकी तरफ आते देख प्रयत्नपूर्वक उसे रोक दिया।

कुछ समय पश्चात् वहाँ केवली भगवान् पधारे। स्थविरो ने विनयपूर्वक भगवान् को नमस्कार कर उनसे सर्ववृत्तान्त पूछा। भगवान् ने उनको उस सर्प का पूर्वभव सुनाया। इससे मुनि बोले- “अहो! प्रदेष का परिणाम इतना भयंकर है।” फिर पूछा- “भगवान्! वैरभाव का उपशम किस प्रकार हो सकता है?” केवली भगवन्त ने कहा- उसके पास जाकर क्षमायाचना करो और उसको कहो कि वह भी क्षमापना करे। इससे उसे जाति-स्मरण-ज्ञान होगा और वह धर्मभावना से असूया का त्याग करेगा। स्थविरो ने उसी तरह किया। सर्प ने भी ईर्ष्या, आदि का त्याग किया और अन्त में अनशन, आदि क्रिया करके मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ।

इस तरह कथा का सार यह है कि वैर-परम्परा को उपशान्त करने हेतु अनशन के समय सविशेष क्षमापना करने से शुभगति की प्राप्ति होती है। क्षमापना करने से निःशल्यता का भाव, विनय-गुण, कर्म की लघुता, रागरूपी बन्धन का त्याग, आदि गुणों की प्राप्ति होती है। संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत ढूँढने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें उपलब्ध नहीं हुआ।



सुकुमारिका की कथा

पुरुषों की तरह सुकोमल अंगवाली स्त्रियाँ पुरुषों का मन मोह लेती हैं। अपने रूप-लावण्य से मोह उत्पन्न करनेवाली स्त्रियों का अलिंगन सर्प के विष की तरह व्यक्ति के विनाश का कारण होता है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सुकुमारिका की कथा वर्णित है—⁷⁶⁹

बसन्तपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी अप्रतिम रूपवाली सुकुमारिका नाम की रानी थी। राजा को अपनी रानी पर अत्यधिक प्रेम था। राग में फंसा राजा अपने राज्य कार्य आदि भूलकर सतत काम-क्रीड़ा में समय व्यतीत करता था। उस समय राज्य का विनाश होते देखकर मन्त्रियों ने सहसा रानीसहित राजा को राज्य से निकाल दिया एवं राजकुमार का राज्याभिषेक कर दिया।

वे दोनों चलते-चलते एक दिन सुनसान जंगल में पहुँचे। अति परिश्रम के कारण तृषा से पीड़ित रानी ने पानी पीने की याचना की, तब आस-पास कहीं भी पानी नहीं होने पर 'रानी भयभीत न हो'— ऐसा विचारकर राजा ने रानी की आँखों पर पट्टी बांधकर अपनी भुजा का रक्त उसे पिलाया। जब वह क्षुधा से पीड़ित हुई तब राजा ने अपनी जंघा से मांस निकालकर उसे खिलाया। इस प्रकार से राजा ने रानी की भूख-प्यास को शान्त किया और स्वयं ने संरोहिणी-औषधि का सेवन कर अपने को स्वस्थ किया। उसके पश्चात् राजा-रानी पुनः चलकर जंगल को पार करते हुए किसी नगर में पहुँचे।

नगर में आकर व्यापार हेतु राजा ने रानी के सर्व आभूषणों को बेच दिया और उस धन से सर्वकलाओं में कुशल वह राजा व्यापार करने लगा, लेकिन 'अब रानी को कहाँ रखूँ?'— ऐसा सोचकर राजा ने एक पंगु आदमी को निर्विकारी जानकर रक्षण के लिए रानी के पास रख दिया। वह पंगु आदमी गीत-संगीत, आदि कलाओं में निपुण था। राजा प्रतिदिन व्यापार के कारण बाहर जाने लगा। इधर वह पंगु प्रतिदिन रानी को अपने मधुर कण्ठ से गीत सुनाता और कथा कहता। इस प्रकार उसने सुमधुर गीतों एवं कथा-कौशल, आदि से रानी को वश में कर लिया। रानी भी उसके मोह में मुग्ध बनकर अपने प्राणप्रिय पति से द्वेष करने लगी और एकदा मौका पाकर वह उसके साथ क्रीड़ा करने लगी। काम-वासना में आसक्त बनी रानी को अब राजा शत्रुरूप लगने लगा।

एक दिन राजा रानी के साथ उद्यान में क्रीड़ा हेतु गया। वहाँ रानी ने अतिविश्वासी जितशत्रु नामक अपने पति को अत्यधिक मात्रा में मदिरा का पान कराया तथा बेहोशी की अवस्था आने पर उसे उठाकर गंगा नदी में फेंक दिया।

यहाँ इस कथा का तात्पर्य यह है कि राजा ने अपना माँस खिलाकर तथा रक्त पिलाकर भी उसके प्राणों की रक्षा कर उसके शरीर का पोषण किया, लेकिन इतना करने पर भी उस कामुक स्त्री ने उपकार को भूलकर अपने ही पति की हत्या कर दी। निर्दयी स्त्री पुरुष को वाणी से वश में करती है और हृदय से नाश करती है। उसकी वाणी मधुर और हृदय विष के समान होता है।

कहा गया है कि स्त्री स्वच्छन्द नदी, पाप की गुफा, कपट का घर, क्लेश करनेवाली और सुख की शत्रु होती है। 'एकान्त में मन विकारी बनता है'- इस भय से महापुरुष माता, बहन एवं पुत्री के साथ भी एकान्त में बात नहीं करते हैं।

संवेगरंगशाला के परगणसंक्रमण-द्वार में गण परित्याग के पूर्व आचार्य अपने शिष्य-समुदाय को हितशिक्षा देते हुए स्त्री एवं साध्वी के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले दोषों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि स्त्री-संसर्ग अग्नि के समान चारित्र्य को नष्ट कर देता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने सुकुमारिका की कथा वर्णित की है। प्रस्तुत कथानक हमें ज्ञाताधर्मकथा के द्रौपदी-अध्ययन एवं भगवतीसूत्र की वृत्ति (पृ.५१) आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।



हरिदत्त मुनि की कथा

निर्यापक-आचार्य, साधक की आराधना में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न होगा या नहीं होगा-इसकी समीक्षा करे। आराधना में राज्य-राजादि से सम्बन्धित कोई विघ्न आनेवाला तो नहीं है?-इसकी समीक्षा किए बिना निर्यापक-आचार्य द्वारा समाधिमरण करवाने पर हत्यादि के अनेक आरोप आ सकते हैं, इसलिए साधक के कल्याण तथा कुशलता के लिए राज्य में सुकालादि को देखकर, भविष्य में व्याघात तो नहीं होने वाला है-ऐसा जानकर ही समाधिमरण करवाना स्वीकार करे, अन्यथा राजा, आदि के विषय में सम्यक् विचार किए बिना अनशन-व्रत स्वीकार करने से हरिदत्त मुनि के समान आराधना में विघ्न भी आ सकता है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में हरिदत्तमुनि की निम्न कथा का उल्लेख मिलता है :-⁷⁷⁰

शंखपुर नगर में शिवभद्र नामक राजा राज्य करता था। राजा का मतिसार नामक पुरोहित राज्य-सुख के लिए राजा को निरन्तर यज्ञ कार्यों में लगाए रखता था। एक समय गुणशेखर आचार्य का अपने शिष्यों सहित नगर के बाहर उद्यान में पदार्पण हुआ। नगर में आचार्य का आगमन जानकर प्रजाजन उनके वन्दन हेतु जाने लगे। उसी मार्ग पर राजा और पुरोहित भी अश्वक्रीड़ा करने के लिए जा रहे थे। लोगों के कोलाहल को देखकर राजा ने पूछा- “क्या आज कोई महोत्सव है, जो सभी लोग श्रेष्ठ अलंकारों से सज्जित हो इस दिशा में जा रहे हो?” लोगों ने राजा को उसका रहस्य बताया। इससे आश्चर्यचकित बना राजा भी उस उद्यान में पहुंचा और आचार्य को वन्दन करके अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। तत्पश्चात् आचार्य ने मेघ-गर्जन के समान गम्भीर वाणी से धर्मकथा प्रारम्भ की। आचार्य ने कहा- “हे राजन्! सर्व शास्त्रों का सारभूत एवं सर्व जीवों को सुखकर एक जीवदयारूपी धर्म ही प्रशंसा करने योग्य है। जैसे- रात्रि चन्द्रमा के बिना नहीं शोभती, वैसे ही तप और नियमों से युक्त होने पर भी धर्म दया के बिना लेशमात्र भी सुशोभित नहीं होता है। जो धर्म जीव-दया से रहित हो, उसे भयंकर सर्प के समान दूर से ही त्याग देना चाहिए।”

आचार्य के प्रवचन श्रवण करने के पश्चात् राजा ने यज्ञ के पुरुषक पुरोहित को देखा। आचार्य पर अत्यन्त क्रोधित होते हुए पुरोहित ने कहा- “हे मुनिवर! तुम वेद एवं शास्त्रों के रहस्य से अनभिज्ञ हो, इसलिए हमारे यज्ञ की निन्दा करते हो।” आचार्य ने कहा- “हे भद्र! क्या तुम्हारे पूर्वरचित शास्त्रों में जीव-दया का उल्लेख नहीं है? क्या तुमने शास्त्र के उन वचनों को नहीं सुना, जिनके अनुसार हजारों गायों और सैकड़ों अश्वों का दान देनेवाला भी उस व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता, जो सर्व प्राणियों को अभयदान देता है। एक व्यक्ति हजारों श्रेष्ठ गाय ब्राह्मणों को दान में दे और दूसरा एक जीव को जीवनदान दे, तो हजारों गायों का दान करनेवाला व्यक्ति उस अभयदानी की सोलहवीं कला के भी योग्य नहीं है।

शास्त्रों के अनुसार यज्ञ और तीर्थों का स्नान भी तब तक फलदायक नहीं होता, जब तक उसमें प्राणियों के प्रति दया न हो। इस तरह हे महाशय! तुम अपने शास्त्रों के उन वचनों का स्मरण क्यों नहीं करते हो, जिनके अभाव में तत्त्वों को जाननेवाले होने पर भी तुम जीव-दया के महत्व को स्वीकार नहीं कर रहे हो।”

आचार्य के उपदेशों को सुनकर पुरोहित उनसे द्वेष करने लगा तथा राजा भद्र परिणामवाला हुआ। उसके पश्चात् आचार्य ने भव्य जीवों को जिन कथित धर्म

में स्थिर करके अन्यत्र विहार किया। अन्य अनेक क्षेत्रों में विचरण करने के पश्चात् आचार्य शिष्य-मण्डल के साथ पुनः उसी नगर में पधारे। एक दिन हरिदत्त नामक शिष्य ने काया और कषायों की संलेखना करके अनशन करने के लिए आचार्य को विनयपूर्वक वन्दन कर कहा- “हे भगवन्त! मैंने संलेखना स्वीकार कर ली है, अब आप मुझ पर संसार-समुद्र को पार करने हेतु अनशन का प्रत्याख्यान कराने का अनुग्रह करें।” आचार्य ने अनशन के विषय में भविष्य में उत्पन्न होनेवाले विघ्न का विचार किए बिना ही शिष्य की याचना स्वीकार कर शीघ्र गण से आज्ञा लेकर शुभ मुहूर्त में उसे अनशन कराया।

हरिदत्त मुनि के अनशन की प्रसिद्धि नगर में फैली, जिसे सुनकर नगरजन उनके दर्शन एवं वन्दन हेतु आने लगे। इधर एक दिन राजा का बड़ा पुत्र बीमार हो गया। उसके रोग-निवारण हेतु अनेक उत्तम वैद्यों द्वारा चिकित्सा करवाई गई, किन्तु अंशमात्र भी पीड़ा शान्त नहीं हुई। इससे उदासीन हुआ राजा शोक करने लगा। उस समय भौका देखकर जैन-धर्म के द्वेषी उस पुरोहित ने राजा से कहा- “हे देव! जिस नगर में साधु बिना कारण आहार का त्याग कर मरते हों, उस नगर में सुख किस तरह हो सकता है।” ऐसा कहते हुए उसने अनशन में रहे साधु का वृत्तान्त राजा से कहा।

इसे सुनकर राजा साधुओं पर क्रोधित हुआ। उसने राजपुरुषों को बुलाकर कहा- तुम ऐसा कार्य करो, जिससे सभी साधु इस नगरी को छोड़कर अन्यत्र चले जाएं। राजसेवकों ने राजा की आज्ञा आचार्य को सुनाई। उस समय प्रचण्ड विद्याबल से युक्त उस अनशनधारी मुनि ने जैनधर्म की अवहेलना होते देखकर आवेशपूर्वक कहा- “अरे! मूढ़ लोगों! तुम अपनी मर्यादा का उल्लंघन क्यों कर रहे हो? तुम नहीं जानते कि जहाँ मुनि जिनाज्ञा के अनुसार धर्मा राधना करते हों, वहाँ अशिव, आदि उपद्रव तो स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् भी यदि उपद्रव होता हो, तो यह सब अपने कर्मों का ही दोष है, अतः तुम साधुओं के प्रति रोष क्यों कर रहे हो।” राजपुरुषों ने कहा- “हे साधु! अधिक मत बोलो। यदि तुम्हें यहीं रहने की इच्छा है, तो स्वयमेव जाकर राजा को समझाओ।”

मुनि ने राजा को भी अनेक प्रकार से समझाया और अन्त में कहा- “हे राजन्! तुम ऐसा मत समझना कि साधुजन हमारा कुछ भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अति घिसने पर चन्दन भी अग्नि प्रकट करता है।” ऐसा कहने पर भी जब राजा ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा, तब मुनि ने ‘यह दुष्ट है’- ऐसा मानकर विद्याबल से महल एवं स्तम्भ, आदि को चलित किया। ऐसा देखकर राजा भयभीत हुआ और मानपूर्वक साधु के पैरों में गिरकर विनती करने लगा- “हे भगवन्त!

आप दया के सागररूप हैं, आप ही संसाररूपी कुँ में गिरे हुए जीवों को हाथ का सहारा देकर बचानेवाले हैं, अतः मेरा एक अपराध क्षमा करो। पुनः मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा। हे मुनीन्द्र! पुत्र की व्याकुलता तथा दुष्ट प्रेरणा से मैंने यह कार्य किया। अब इस प्रसंग से मेरा विषेक जाग्रत हो गया है। अब मुझे पुत्र एवं इस राज्य से कोई प्रयोजन नहीं, जिसके कारण मैं आपकी प्रतिकूलता का कारण बना।”

राजा को भयभीत होते देख मुनि ने राजा को मधुर वचनों से आश्वासन देकर निर्भय बनाया। उस समय वहाँ जिनदास श्रावक मुनि से प्रभावित हुआ और उसने राजा से कहा- “हे देव! मुनि के नाम लेने मात्र से भूत, पिशाच, ग्रहादि शान्त हो जाते हैं तथा इनके चरणों के प्रक्षालित जल से तो विषम रोग भी शान्त हो जाते हैं।” ऐसा सुनकर राजा ने मुनि के चरणों के प्रक्षालन-जल से पुत्र का सिंचन किया और पुत्र तुरन्त स्वस्थ शरीरवाला बना। इससे राजा जैन-धर्म पर श्रद्धान्वित हुआ तथा उसने सद्धर्म को स्वीकार कर जिनधर्म विरोधी पुरोहित को देश से बाहर निकाल दिया। फिर राजा ने आदरपूर्वक क्षपकमुनि का सत्कार-बहुमान किया।

इस प्रकार अनशन में स्थिर हरिदत्त मुनि की आराधना में उत्पन्न हुए विघ्न को रोकने के लिए मुनि को विद्याबल का प्रयोग करना पड़ा, जो मुनि के लिए करणीय नहीं है; इसलिए विघ्न का विचार किए बिना न तो अनशन स्वीकार करना चाहिए और न ही अनशन का प्रत्याख्यान करवाना चाहिए।

हरिदत्त मुनि की यह कथा हमें संवेगरंगशाला में जिस रूप में उपलब्ध होती है, उस रूप में किन्हीं अन्य जैन ग्रन्थों में उल्लेखित हो- यह ज्ञात नहीं होता है, किन्तु इसमें सामान्य रूप से दान देने में और स्वयं का परिपालन करते हुए जीवों को अभयदान देने में जो महान् अन्तर बताया गया है, उसका मूल स्रोत उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है। वहाँ भी कहा गया है कि जो व्यक्ति हजारों गायों को दान में देता है, उसकी अपेक्षा जो संयम का परिपालन करता है, वह अधिक श्रेष्ठ है।



लज्जा से दोष छुपानेवाले ब्राह्मण-पुत्र की कथा

मानव लज्जावश अपने अपराध को छुपाने की कोशिश करता है, किन्तु लज्जा के अधीन अपराध को सम्यक् रूप से नहीं बताने से वह दोष का भागी होता है तथा लज्जा से रहित होकर अपना अपराध कह देने से उसमें गुण प्रकट होता है। इसे समझाने के लिए संवेगरंगशाला में ब्राह्मण-पुत्र का दृष्टान्त दृष्टव्य है।⁷⁷¹

जगत् में पाटलीपुत्र नामक प्रसिद्ध नगर में वेद और पुराण का ज्ञाता, धर्म में उद्यमशील तथा बुद्धिमान् कपिल नाम का ब्राह्मण रहता था। उसने अपनी बुद्धि से संसार के स्वरूप को जाना तथा विषय-सुख को किंपाकफल के समान प्रारम्भ में मधुर और परिणाम में दुःखद मानकर अपने घर का राग छोड़ दिया और जंगल में जाकर तापसी दीक्षा स्वीकार कर ली। वहाँ वह विविध तपस्या करता हुआ, कन्द, मूल, आदि खाकर तापसी जीवन का निर्वाह करने लगा।

एक दिन वह स्नान करने के लिए नदी किनारे गया। वहाँ उसने मछुआरे को मछली का माँस खाते देखा। इससे उसकी रसनेन्द्रिय वश में न रही और उसे माँस-भक्षण करने की तीव्र इच्छा जाग्रत हुई, लेकिन अपनी इच्छा का दमन नहीं हो पाने से उसने मछुआरे के पास से माँस माँग कर खाया। माँस-भक्षण से उसके पेट में तीव्र पीड़ा हुई और अजीर्ण-दोष के कारण उसे बुखार भी आ गया। उसकी चिकित्सा हेतु नगर के कुशल वैद्य को बुलाया गया। वैद्य ने उससे पूछा- “हे भद्र! बुखार से पूर्व तूने क्या भक्षण किया था?” लज्जावश सत्यता को छुपाते हुए उसने कहा- “तापसजन जो खाते हैं, उसी कन्द, मूल, आदि का मैंने आहार किया है।” वैद्य ने बुखार शान्त करने के लिए उसका सामान्य उपचार किया, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। वैद्य ने पुनः पूछा और लज्जावश तापस ने पुनः वही बात बताई। वैद्य ने अब उसका उपचार विशेष रूप से किया। इस तरह गलत उपचार से वेदना बढ़ने लगी। तीव्र वेदना और मौत के भय से उसका शरीर काँपने लगा, तब कपिल तापस ने लज्जा का त्याग कर एकान्त में वैद्यजी को माँस-भक्षण का वृत्तान्त कहा।

वैद्य ने कहा- “हे मूढ़! इतने दिन इस बात को छुपाकर अपनी आत्मा को कष्ट में क्यों रखा? अब भी सत्य बताकर तूने अपनी आत्मा का अहित होने

से बचा लिया है।” इस तरह सत्य बात जानकर वैद्य ने श्रेष्ठ दवा, आदि का प्रयोग करके उसे स्वस्थ कर दिया।

इस प्रकार लज्जा को त्यागकर जो भूलों को स्वीकार कर लेता है, वही आरोग्यमय सिद्धलोक में शाश्वत सुखों को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत कथानक का मूल स्रोत ढूँढ़ने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक की कथाओं में इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। इससे यह सम्भावित हो सकता है कि आचार्यश्री ने यह कथा किसी अन्य ग्रन्थ से ग्रहण की हो।



सूरतेज राजा का प्रबन्ध

विशेष आराधना की इच्छावाले आराधक को संयम क्रिया में लगे हुए सूक्ष्मतम अतिचारों का भी प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। जैसे- जहर का सम्पूर्णतः प्रतिकार नहीं करने से उसका एक कण भी प्राण हरण कर लेता है, वैसे ही अल्पतम चारित्रिक-दोष अनिष्ट फल को देनेवाला होता है। संवेगरंगशाला में इस सम्बन्ध में सूरतेज राजा की कथा वर्णित है।⁷⁷²

पद्मावती नगरी में सूरतेज नाम का राजा राज्य करता था। उसे निष्कपट प्रेम करनेवाली धारिणी नाम की रानी थी। दाम्पत्य-जीवन का उपभोग करते हुए राजा धर्म में प्रवृत्ति करने लगा। एक समय कोई आचार्य नगर के बाहर उद्यान में पधारे। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिवार तथा प्रजाजन सहित उद्यान में पहुँचा एवं आचार्यश्री के चरणों में नमस्कार करके आसन ग्रहण कर जिनवाणी का श्रवण करने लगा। आचार्य ने उसकी योग्यता को देखकर अपनी गम्भीर वाणी से सद्धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया -

जीवात्मा अत्यन्त दुर्लभता से मनुष्य-भव को प्राप्त करता है। उसमें भी कभी अनार्यक्षेत्र में उत्पन्न होता है, तो कभी उच्च कुल, जातिरहित होता है, तो कभी पाँच इन्द्रिय की पटुता, आरोग्यता से रहित होता है, इस प्रकार शुभकार्य में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है। दीर्घ आयुष्यवाला जीव बुद्धि के अभाव में धर्म-प्रवृत्ति से विमुख, विविध आपत्तियों से घिरा हुआ, अवन्तीनाथ के समान मनुष्यभव को निष्फल गवाँकर मृत्यु को प्राप्त करता है, जबकि उत्तम जीव बुद्धि के द्वारा

विषयजन्य सुख के अनर्थों को जानकर शीघ्र ही नरसुन्दर राजा के समान धर्म में अति आदरवाला बनता है। इस प्रकार धर्मोपदेश सुनाकर आचार्य ने कहा- ‘हे सूरतेज! सर्व अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़कर कोई ऐसी उत्तम प्रवृत्ति करो, जिससे तुम देवों से भी तेजस्वी कहलाने लगो।’

आचार्य के धर्मोपदेश को सुनकर राजा ने संवेग (वैराग्य) प्राप्त किया और रानी के साथ गुरु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। छट्ठ, अष्टम, आदि तप करते हुए, निरतिचारपूर्वक साधु-जीवन का पालन करते हुए अग्रमत्त-भाव में दोनों के दिन व्यतीत होने लगे। एक समय उन मुनि का हस्तिनापुर नगर में आगमन हुआ और वे उचित स्थान में चातुर्मास करने के लिए ठहरे। वह साध्वी भी उसी नगर में प्रासुक स्थान में चातुर्मास हेतु रुकी। अब उस नगर में जो वृत्तान्त बना, उसे यहाँ बताते हैं। विष्णु नाम के धनपति को दत्त नाम का एक पुत्र था। एक दिन वह नाटक देखने गया। वहाँ उसने एक नट-पुत्री को देखा और उसे उस पर राग उत्पन्न हो गया, जिससे वह सर्वप्रवृत्ति छोड़कर सिर्फ पागल के समान बैठा रहने लगा। पिता द्वारा अनेक उपाय करने पर भी जब वह ठीक नहीं हुआ, तब उसके पिता ने निर्लज्जतापूर्वक नट को धन, आदि दान में देकर नट-पुत्री के साथ उसका विवाह करवाया। ‘अहो! यह अकार्य किया’- यह लोकापवाद सर्वत्र फैल गया।

मनुष्यों के मुख से परस्पर फैलती हुई वह बात सूरतेज मुनि ने सुनी और अल्परागवश एवं विस्मयपूर्वक उन्होंने कहा- “निश्चय ही राग पर विजय पाना कठिन है, अन्यथा उत्तम कुल में जन्म लेकर भी वह इस प्रकार का अकार्य क्यों करता?” उस समय वहाँ वन्दन के लिए वह साध्वी भी आई हुई थी। उस वृत्तान्त को सुनकर अल्पद्वेषवश उसने कहा- “कामान्ध के द्वारा अकार्य सम्भव है, इसमें निन्दा करने योग्य क्या है?” इस तरह परस्पर बात करने से मुनि को सूक्ष्मराग और साध्वी को सूक्ष्मद्वेष हुआ। इस कारण दोनों ने नीचगोत्र का बन्ध किया और प्रमादवश दोनों आलोचना किए बिना ही अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुए और मरकर सौधर्म-देवलोक में उत्पन्न हुए।

वहाँ से सूरतेज का जीव धनवान् वणिक् के घर पुत्ररूप में पैदा हुआ। साध्वी के जीव ने नट के घर पुत्री के रूप में जन्म लिया। यौवन-वय में सूरतेज के जीव को अन्य युवतियों में तथा नट-पुत्री को अन्य पुरुषों में रागबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई। कालान्तर में दोनों का मिलाप हुआ। जैसे- पूर्व में दत्त के पिता ने नट को धन देकर उसका विवाह करवाया, वैसा ही वणिक्-पुत्र के पिता ने अपने पुत्र के लिए किया। वह लज्जा छोड़कर नटपुत्री के साथ धूमने लगा। एक समय उन्हें

एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि-दर्शन का पुनः-पुनः चिन्तन (ऊहापोह) होने से दोनों को जातिस्मरणज्ञान हुआ, जिससे दोनों विषयरोग को त्यागकर पुनः दीक्षित हुए और शुद्ध आराधना करके अन्त में मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए।

इस प्रकार सम्पूर्ण आलोचना के अभाव में शेष रहा हुआ अल्प अतिचार भी अकल्याणकारी और महाकष्टकारी होता है। आत्महितैषी जीव को शास्त्र में विहित विधि अनुसार उत्तम प्रकार से आत्मा की शुद्धि करना चाहिए। मुमुक्षु जीव इस सम्बन्ध में सतर्क रहते हैं। वे शुक्लध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मों को जलाकर लोक के अग्रभाग में स्थित मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु आगम एवं आगमिक-ग्रन्थों में इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ।



दो तोतों की कथा

आराधक के लिए आराधना के योग्य वसति होना चाहिए। अयोग्य वसति में रहने से क्षपकमुनि को अनुचित शब्दादि सुनकर या देखकर समाधि में व्याघात उत्पन्न होने का भय बना रहता है, क्योंकि सुन्दर भावों से युक्त बुद्धिमान् व्यक्ति की बुद्धि भी कुत्सित की संगति से बिगड़ जाती है। इसी कारण से, जहाँ साधना से विचलित होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थान का निषेध किया गया है। तिर्यच योनि वाले जीवों को भी अशुभ संसर्ग से दोष और शुभ संसर्ग से गुण प्रकट होते हैं। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में पर्वत पर रहनेवाले दो तोतों का दृष्टान्त उपलब्ध होता है।⁷⁷³

विन्ध्याचल पर्वत के समीप कादम्बरी नामक एक अटवी थी। अटवी में अनेक प्रकार के पुष्पों एवं फलों से युक्त वृक्षों के समूह सुशोभित थे। वहाँ एक बड़े वृक्ष के खोखर में एक तोती ने दो सुन्दर तोतों को जन्म दिया तथा उन्हें दानें खिलाकर उनका पोषण करते हुए इन दोनों को बड़ा किया। फिर एक दिन दोनों तोते उड़ने लगे, परन्तु पंखों की निर्बलता के कारण थककर अर्द्धमार्ग में ही नीचे गिर गए। उस समय एक तोते को एक तापस अपने आश्रम में ले गया तथा दूसरे को भिल्ल अपनी चोरपल्ली में ले गया। चोर की पल्ली में रहनेवाला तोता

हर समय भिल्लों के “मारो, काटो, तोड़ो, उसका माँस खाओ, खून पीओ”- इत्यादि दुष्ट शब्दों को सुन-सुनकर अत्यन्त क्रूर मनवाला बन गया और दूसरा करुणा, प्रेम के अन्तःकरण वाले तापस मुनि के “जीवों को मत मारो, दुःखी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करो”, इत्यादि-वचनों से अत्यन्त दयालु बना।

एक समय किसी वृक्ष पर भिल्लों का तोता बैठा हुआ था। उस समय कनककेतु राजा को वहाँ आते देखकर पाप-विचारों से युक्त उस तोते ने कहा- “अरे भिल्लों! दौड़ो, जाते हुए राजा को शीघ्र पकड़ो। उसके अलंकारों को शीघ्र लूट लो।” इसे सुनकर जिस प्रदेश में ऐसे दुष्ट पक्षी रहते हों, उस प्रदेश को दूर से ही त्याग देना चाहिए- ऐसा सोचकर राजा वापस वहाँ से निकल गया और तापस के आश्रम के नजदीक पहुँचा। वहाँ तापस के तोते ने राजा को देखकर मधुर वाणी से कहा- “हे तापस मुनियों! एक राजा यहाँ आया है, इसलिए उसकी सेवामक्ति करो, उचित विनय करो।” उस तोते के वचन सुनकर तापस आदरपूर्वक राजा को अपने आश्रम में ले गया। वहाँ भोजन, आदि से सत्कार किया। राजा ने आश्चर्य से तोते से पूछा- “तुम दोनों का तिर्यच जीवन होते हुए भी आचरण परस्पर विरुद्ध क्यों है?” तब तोते ने कहा- “हम दोनों के माता-पिता एक हैं, परन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि वह भिल्लों की पल्ली में पला और मैं तापसों के आश्रम में, इसलिए हमारे अन्दर संसर्गजन्य यह गुण-दोष प्रकट हुए हैं। यह आपने भी अभी देखा है।”

इस तरह संसर्गवश तिर्यचों में भी गुण-दोषभाव पैदा हो जाते हैं, तो अनशन की साधना में प्रयत्नशील बने तपस्वी में दुष्ट मनुष्यों के समीप रहने से स्वाध्याय में विघ्न, आदि क्यों नहीं हो सकते हैं? अर्थात् उनका भी पतन हो सकता है। कुशील व्यक्ति के समागम से समतावाला व्यक्ति भी कलुषित भाववाला बन सकता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मनुष्यों से रहित एकान्त वसति में स्वाध्याय करने से मुनि को अध्ययन में विघ्न नहीं होता है, इसलिए जहाँ मन में क्षोभ करने वाले पाँचों इंद्रियों के विषय न हो, वहाँ तीनों गुणों से गुप्त क्षपक मुनि शुभध्यान में स्थिर रह सकता है।

संवेगरंगशाला में जो दो तोतों की कथा कही गई है, वह कथा हमें अन्य जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने यह कथा किसी अन्य ग्रन्थ से ग्रहण की हो और उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



अग्नि के उपसर्ग में गजसुकुमाल की अन्तिम आराधना की कथा

संवेगरंगशाला के संस्तारक द्वार में यह बताया गया है कि जो साधक अपनी आत्मा को उपशम भाव में स्थित रखकर आश्रवों को रोकता है तथा अपने पापों की आलोचना करता है, उसकी आराधना विशुद्ध होती है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में क्रमशः अग्नि एवं जल के उपसर्ग को समभाव से सहन करनेवाले गजसुकुमाल एवं अर्णिकापुत्र द्वारा की गई अन्तिम आराधना की कथा प्रस्तुत की गई है।⁷⁷⁴

द्वारिका नगरी में वासुदेव श्रीकृष्ण रहते थे। उनके गजसुकुमाल नामक एक छोटा भाई था। इच्छा न होने पर भी उसने माता देवकी और वासुदेव श्रीकृष्ण के अति आग्रह से सोमशर्मा नामक ब्राह्मण की पुत्री के साथ विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया। उसी दिन उसने नेमिनाथ भगवान् के पास जाकर धर्म-श्रवण किया तथा सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा संसार का स्वरूप जानकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और रूप-लावण्य से युक्त तथा अल्पवयस्क होने पर भी वह चरम शरीरी महासत्वशाली गजसुकुमालमुनि बन गया। उसी दिन वह गजसुकुमालमुनि नेमिनाथ भगवान् से आज्ञा लेकर श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग में स्थिर हो गए। किसी कारण वहाँ सोमशर्मा आया और मुनि को देखकर, 'यह वही है, जिसने मेरी पुत्री से विवाह का प्रस्ताव करके उसका त्याग किया है'- ऐसा विचारकर उसे तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ। मुनि को मारने की भावना से उसने उनके सिर पर मिट्टी की पाल बाँधी और पाल के अन्दर जलते हुए अंगारे डाल दिए। इस कारण मुनि का मस्तक अग्नि से जलने लगा। उस तीव्र वेदना की अवस्था में भी गजसुकुमाल शुभध्यान में स्थिर रहे। जीवों के प्रति क्षमा के भाव से अन्त में मुनि अन्तकृत केवली बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। गजसुकुमाल इस तरह अग्नि का उपसर्ग होने पर भी समभाव में स्थिर रहे और इस प्रकार उनकी अन्तिम आराधना सफल हुई।



जल के उपसर्ग में अर्णिकापुत्र आचार्य के समाधिमरण की कथा

पुष्पभद्र नगर में पुष्पकेतु नाम का राजा और उसकी पुष्पवती नाम की रानी रहती थी। रानी ने एक युगल को जन्म दिया। पुत्र का नाम पुष्पचुल और पुत्री का नाम पुष्पचुला रखा गया। उन दोनों का परस्पर अति स्नेह देखकर राजा ने उनका वियोग न हो- इस कारण उनका विवाह कर दिया। पुष्पवती को इससे निर्वेद, अर्थात् वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा ले ली। अन्त में वह साधना करके देवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से देवी ने पुष्पचुला को प्रतिबोध देने के लिए स्वप्न में भयंकर दुःखों से दुःखित नारकी जीवों को बताया। उस वीभत्स स्वप्न को देखकर उसने राजा को नरक का वृत्तान्त कहा। राजा ने विश्वास के लिए बहुश्रुत अर्णिकापुत्र आचार्य से उस सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने भी नरक के यथार्थस्वरूप का वर्णन किया। पुष्पचुला रानी ने कहा- “हे भगवन्! क्या आपने भी स्वप्न में ऐसा वृत्तान्त देखा था।” आचार्यश्री ने कहा- “हे भद्रे! जगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कथित आगम से नहीं जाना जा सके।”

पुनः, इसी तरह पुष्पचुला ने स्वप्न में स्वर्गलोक देखा। आचार्य ने उसका भी यथार्थ स्वरूप बताया। इसे सुनकर हर्षित हुई रानी भावपूर्वक गुरु के चरणों में नमस्कार करके कहने लगी- “हे भगवन्त! आपने मुझे नरक के दुःखों और स्वर्ग के सुखों का सम्यक् बोध कराया है।” पुष्पचुला रानी ने वैराग्य प्राप्त कर राजा से दीक्षा की अनुमति माँगी। इसे सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ। फिर ‘अन्यत्र विहार न करके इसी क्षेत्र में रहना’- ऐसी प्रतिज्ञा के साथ अति कठिनाई से राजा ने उसे दीक्षा की आज्ञा प्रदान की। पुष्पचुला साध्वी दीक्षा लेकर तप के द्वारा कर्म-निर्जरा करने लगी।

एक समय नगर में भारी दुष्काल पड़ा। आचार्य ने सभी शिष्यों को दूर विहार कराकर स्वयं की अस्वस्थता के कारण वहीं स्थिरवास किया। पुष्पचुला साध्वी उन्हें राजमहल से आहार पानी लाकर देती थी। इस तरह विशुद्ध परिणामवाली साध्वी ने अप्रतिपाति केवलज्ञान को प्राप्त किया, परन्तु केवलीरूप में प्रसिद्ध होने से पूर्व केवली अपना पूर्व-आचार का उल्लंघन नहीं करते हैं तथा विनयपूर्वक आचार का पालन करते हैं। एक समय श्लेष्म से पीड़ित आचार्य को तिक्त आहार खाने की इच्छा हुई तो साध्वी ने उनकी इच्छा को उसी तरह पूर्ण किया। इससे विस्मय मन वाले आचार्य ने कहा- “हे आर्ये! तूने मेरे मानसिक गुप्त चिन्तन को किस तरह से जाना?” साध्वी ने कहा- “ज्ञान से।” आचार्य ने

पूछा- “कौन से ज्ञान से?” “अप्रतिपाती ज्ञान के द्वारा।” यह सुनकर- ‘थिक्कार हो! मुझे थिक्कार हो! मैंने केवली की आशातना की है’- इस तरह आचार्य शोक करने लगे। तब साध्वी ने कहा- “हे मुनिश्वर ! शोक मत करो, क्योंकि ‘यह केवली है’- ऐसा जाहिर हुए बिना केवली भी पूर्व व्यवहार को नहीं छोड़ते हैं।” फिर आचार्य ने पूछा- “मैं दीर्घकाल से उत्तम चारित्र की आराधना करता हूँ। मैं निर्वाण-पद को प्राप्त करूँगा या नहीं?” साध्वीजी ने कहा- “हे मुनिशः! निर्वाण के लिए संशय क्यों करते हो, क्योंकि गंगा नदी के पार उतरकर तुम भी शीघ्र ही कर्मक्षय करोगे।”

यह सुनकर आचार्य गंगा पार करने हेतु नाव पर बैठे। आचार्य के नाव पर बैठते ही वह नाव डूबने लगी। इससे, सर्व का नाश होगा- ऐसा जानकर निर्यामक ने आचार्य को उठाकर नदी में फेंक दिया। यह जानकर आचार्य प्रशम-रस में सम्पूर्ण निमग्न हो सभी आश्रवद्वारों को रोकनेवाले शुक्लध्यान में स्थिर हुए, जिससे उन्होंने कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। जल में ही सर्वयोगों का सम्पूर्ण निरोध करके मोक्षपद प्राप्त किया।

इस तरह कठिन उपसर्गों में भी समता धारणकर आराधनापूर्वक साधक अन्तकृत केवली बन सकता है, अतः मुनिश्रेष्ठ तप के द्वारा समाधि में निमग्न होकर सहजता से अनादिकाल के कर्मों को क्षयकर शाश्वत सुखों को प्राप्त कर सकता है।

संस्तारक या संथारा, जीवन की उस निष्काम, निःसंग और स्थितप्रज्ञ स्थिति में प्रवेश है, जहाँ न तो भोगों की कामना शेष रहती है, न शरीर के प्रति आसक्ति। क्षुधा की पीड़ा, शरीर की वेदना, स्वजन और मित्रों की ममता और कषायों की तपन-सब कुछ वहाँ शान्त हो जाती है। प्रायश्चित्त द्वारा वह अपनी आत्मा की शुद्धि कर लेता है और परम प्रसन्न, शान्त और निर्विकार स्थिति में आत्मरमण करने लगता है। संवेगरंगशाला में अग्नि के उपसर्ग के सम्बन्ध में गजसुकुमाल की कथा वर्णित है। यह कथा आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ३५५-३५८, ३६२-६०४), व्यवहारसूत्रभाष्य (भाग-४ पृ. १०५), अन्तकृतदशा (वर्ग-६), मरणसमाधि (गाथा ६३७), महानिशीथ (१७६), वृहत्कल्पभाष्य (गा. ६१६६), आदि में भी उपलब्ध होती है। जल के उपसर्ग के सम्बन्ध में अर्णिकापुत्र आचार्य के समाधिरमण की कथा का विवेचन आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने किया है। यह कथानक हमें आवश्यकचूर्णि (भाग २, पृ. १७७, ३६), संस्तारक (गाथा ५६, ५७), निशीथचूर्णि (भाग २, पृ. २३१), आवश्यकवृत्ति (पृ. ४२१-३०), आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

चण्डरुद्राचार्य की कथा

संवेगरंगशाला के क्षमापना-द्वार में यह उल्लेख मिलता है कि जो मानव सर्व जीवों से क्षमायाचना करके उन्हें क्षमा प्रदान करता है, वह चण्डरुद्राचार्य के समान कर्मक्षय कर लेता है-⁷⁷⁵

उज्जैन नगर में चण्डरुद्र नामक एक प्रसिद्ध आचार्य थे। वे स्वभाव से अत्यन्त क्रोधी थे, इसलिए वे प्रयत्नपूर्वक अपने क्रोध का उपशम कर साधुओं से रहित एकान्त में ही स्वाध्याय एवं ध्यान करते थे।

एक समय मित्र-मण्डली से युक्त नवविवाहित युवक क्रीड़ा करते हुए मुनि को देख वन्दनार्थ आए। तब मित्रों ने हंसी-मजाक में कहा- “हे भगवन्त! संसारवास से अत्यन्त उद्विग्न बना यह हमारा मित्र दीक्षा लेने की इच्छा करता है, इसीलिए यह श्रेष्ठ श्रृंगार करके आया है। आप इसे दीक्षा दें।” आचार्य उनकी मजाक का कोई प्रत्युत्तर न देकर चुप रहे, किन्तु मित्र-मण्डल द्वारा पुनः-पुनः आग्रह करने पर ‘अरे! ये मेरे साथ भी हंसी करते हैं’- ऐसा सोचकर आचार्य को तीव्र क्रोध हुआ। दुःशिक्षित की शिक्षा देने के उद्देश्य से उन्होंने उसे मजबूती से पकड़कर नमस्कार मन्त्र सुनाकर उसका लोच कर दिया। भवितव्यतापूर्वक किसी ने कुछ भी नहीं कहा।

लोच होने के बाद श्रेष्ठी-पुत्र ने कहा- “हे भगवान्! इतने समय तक तो हम मजाक कर रहे थे, परन्तु अब सद्भाव प्रकट हुआ, इसलिए दीक्षा प्रदान करो।” उसके ऐसा कहने पर आचार्य ने उसे दीक्षा प्रदान की। नूतन दीक्षित मुनि ने कहा- “हे भगवन्त! यहाँ मेरे स्वजन-सम्बन्धी बहुत हैं, इसलिए मैं यहाँ निर्विघ्न धर्म-आराधना नहीं कर सकता हूँ, अतः यहाँ से विहार करके हम कहीं अन्यत्र चलें।” आचार्य ने नूतन मुनि की बात स्वीकार कर रात्रि में ही विहार कर दिया। वृद्धावस्था के कारण आचार्य काँपते हुए मुनि के कन्धे पर हाथ रखकर धीरे-धीरे चलने लगे। रात्रि में अन्यकार होने से अल्प भी पैर डगमगाता, तो क्रोधातुर होकर वे नए मुनि का कठोर शब्दों से तिरस्कृत करते। इस तरह बार-बार तिरस्कार करने के साथ ही दण्ड से नए मुण्डित मुनि के मस्तक पर प्रहार भी करते।

नव दीक्षित मुनि मन-ही-मन चिन्तन करता- ‘अहो! मैंने गुरुदेव को दुःख-रूपी समुद्र में डाला है। मैं शिष्य के बहाने इन गुरुदेव का शत्रु बना हूँ। मुझे धिक्कार हो! धिक्कार हो मेरे दुराचरण को!’ मुनि शुभभावपूर्वक अपने दोषों

की निन्दा एवं गर्हा करने लगा। इस प्रकार पापों का मिथ्यादुष्कृत देते हुए मुनि को केवलज्ञान प्रकट हुआ। अपने निर्मल शुद्ध ज्ञान से जगत् प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा, जिससे वह शिष्य सम्यक् रूप से चलने लगा और गुरु के पैरों की स्खलना भी बन्द हो गई।

इस प्रकार रातभर चलते रहने के बाद जब प्रभात हुआ, तब शिष्य के मस्तक पर दण्ड के प्रहार से निकला हुआ खून और मस्तक पर लगी चोट को देखकर चण्डरुद्राचार्य ने विचार किया- 'अहो! प्रथम दिन के दीक्षित इस नए मुनि की ऐसी क्षमा है और चिरकाल होने पर भी मेरा ऐसा आचरण है। क्षमा-गुण से रहित मेरे विवेक को धिक्कार है! मेरी श्रुतसम्पत्ति को धिक्कार है! मेरे आचार्य पद को भी धिक्कार है।' इस तरह संवेग प्राप्तकर शिष्य से बार-बार क्षमायाचना करते हुए चण्डरुद्राचार्य भी केवली बन गए। इस प्रकार क्षमायाचना करके एवं क्षमा प्रदान करके जीव अपने कर्म के समूह को नष्ट कर लेता है।

इस तरह पापी व्यक्ति भी शुद्ध भावपूर्वक सर्व जीवों से क्षमायाचना करके अपने कर्ममल को धो सकता है, अतः क्षपक मुनि को चन्दन-वृक्ष के सदृश अपकारी एवं उपकारी के प्रति समभाववाला होकर, सर्व जीवों से क्षमायाचना करके तथा उन्हें क्षमा प्रदान करके अन्तिम आराधना करना चाहिए। इस कथा में बताया गया है कि संस्तारक ग्रहण करने से पूर्व क्षपकमुनि को सर्व जीवराशि से अपने अपराधों की सम्यक् प्रकार से क्षमायाचना करना चाहिए। यदि सामनेवाला भी क्षमायाचना करता है, तो यह उभय पक्ष के लिए कल्याणकर होता है। यदि अभिमान के वशीभूत हो सामनेवाला व्यक्ति क्षमायाचना नहीं करता है, तो भी समभाव से क्षमापना करनेवाले मुनि को तो निश्चय से लाभ होता ही है। इस प्रसंग में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने चण्डरुद्राचार्य का दृष्टान्त प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत कथानक हमें आवश्यकवृत्ति (पृ. ५६७), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. ५०), उत्तराध्ययनचूर्णि-वृहत्कल्पभाष्य (६१०२-४) में उपलब्ध होता है।



सास, बहू और पुत्री की कथा

संवेगरंगशाला के प्राणीवध-द्वार में श्वासोश्वास, आदि जैविक-शक्तियों का हनन करना, अथवा उन्हें वियोजित करना ही प्राणवध माना गया है। हिंसा नरक का द्वार है तथा धर्मध्यान को नष्ट करने में यह अग्नि के समान है। जीवदया के बिना सभी क्रियाएँ एवं व्रत-अनुष्ठान निरर्थक हैं। संवेगरंगशाला में हिंसा एवं अहिंसा के सन्दर्भ में सास-बहू और पुत्री का दृष्टान्त दिया गया है-⁷⁷⁶

शंखपुर नामक नगर में बल नाम का राजा था। उस नगर में अति माननीय सागरदत्त नाम का नगरसेठ था। उस सेठ की सम्पदा नामक स्त्री, मुनिचन्द्र नामक पुत्र, बन्धुमति नाम की पुत्री एवं थावर नामक नौकर था। सेठ कभी-कभी गोकुल में जाकर अपनी गायों के समूह को देख आता। गोकुल से प्रत्येक महीने घी, दूध लाता और दीन-दुःखियों को देता था। बन्धुमति भी जिनवाणी का श्रवणकर हिंसादि पापों का त्याग करके श्राविका बन गई थी।

एक दिन सागरदत्त सेठ की मृत्यु हो गई। राजा ने नगरसेठ के स्थान पर उसके पुत्र मुनिचन्द्र को नियुक्त किया। थावर नौकर पूर्व की तरह ही गृहकार्य करता था। एकदा कामाग्नि से पीड़ित बनी सम्पदा अपने नौकर थावर पर आसक्त हो गई और 'मुनिचन्द्र को मारकर थावर को अपने घर का मालिक बनाऊँ'- ऐसा सोचने लगी। इस प्रकार वह लज्जा को त्यागकर उसके साथ अपनी कामतृष्णा को बुझाने लगी और थावर से कहा- "हे भद्र! मुनिचन्द्र को मार दे और घर का मालिक बनकर मेरे साथ भोगों को भोग।" उसने पूछा- "किस तरह मारूँ?" तब सम्पदा ने बताया कि मैं तुझे और मुनिचन्द्र को गोकुल देखने भेजूँगी। तब तू उसे तलवार से मार देना।" यह बात बहिन बन्धुमति ने सुन ली और अपने भाई को बता दी।

दूसरे दिन माँ के कहने पर मुनिचन्द्र और थावर घोड़े पर बैठकर गोकुल की ओर चले। थावर मौका देखकर मुनिचन्द्र को मारने के लिए सोचने लगा, जबकि मुनिचन्द्र बन्धुमति के वचनानुसार अप्रमत्त बनकर चल रहा था। थावर ने एक बार मारने की कोशिश भी की, पर वह नाकामयाब रहा। समय पर दोनों गोकुल पहुँचे। वहाँ गोकुल के रक्षकों ने उनका आदर-सत्कार किया। थावर प्रतिसमय मुनिचन्द्र को मारने का मौका खोजता रहा। रात्रि में मुनिचन्द्र ने अपनी शय्या गाय, भैंस के बाड़े में लगाई, फिर अपनी शय्या पर एक बड़ी लकड़ी रखकर ऊपर से एक कपड़ा ढंक दिया, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई

⁷⁷⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ५६२६-५६७८.

सोया हो और मुनिचन्द्र एक तरफ छुप गया। थोड़ी देर बाद थावर बाड़े में आया और मुनिचन्द्र को सोया जानकर तलवार से प्रहार करने लगा। उसी समय मुनिचन्द्र ने पीछे से थावर पर तलवार से वार किया, जिससे वह मर गया। इसके बाद मुनिचन्द्र ने पशुओं को बाहर लाकर छोड़ दिया और कहने लगा- “अरे भागो, चोरों ने गायों का हरण कर लिया तथा थावर को मार दिया है।” इससे लोगों ने उसकी बात को सत्य मान लिया।

इधर, चिन्तातुर बनी माता थावर का इन्तजार कर रही थी। इतने में मुनिचन्द्र अकेला घर पहुँचा और तलवार रखकर आसन पर बैठ गया। शोकातुर माता ने पूछा- “हे पुत्र! थावर कहाँ है?” बेटे ने कहा- “माताजी, वो मन्दगति से पीछे आ रहा है।” माँ ने सामने खून से रंगी तलवार को देखा, तब उसने क्रोधाग्नि में जलते हुए उसी तलवार को उठाकर अन्य कार्य में एकचित्त बने मुनिचन्द्र का मस्तक शीघ्रता से काट दिया। अपने पति को मारते देखकर मुनिचन्द्र की पत्नी को तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने भूसल से प्रहार कर सास को मार दिया। जीव-हिंसा से वैरागी बनी बन्धुमति मन में शोक धारण कर एक स्थान पर बैठ गई। तुरन्त नगरजनों की भीड़ लग गई तथा लोगों ने बन्धुमति से पूछा- “तुमने माता को मारनेवाली इस बहू को क्यों नहीं मारा?” तब बन्धुमति ने कहा- “मुझे किसी जीव की हिंसा नहीं करने का प्रत्याख्यान है।” इससे लोग उसकी प्रशंसा करने लगे और बहू को धिक्कारने लगे। इधर घर की सम्पत्ति को राजसेवकों द्वारा राजभण्डार में डाल दिया गया तथा बहू को कैदखाने में बन्द कर दिया गया, परन्तु हिंसा के त्याग का नियम होने से लोगों ने बन्धुमति का बहुमान किया।

इस तरह कथा का सार यह है कि हिंसादि पाप-स्थानकों का त्यागकर प्रशमगुणवाली बन्धुमति सत्कार करने योग्य बनी। इसलिए जो जीवों को अभयदान देता है, उन पर दयाभाव रखता है, वही सच्चा दानवीर है। हिंसा सर्वथा त्याग करने योग्य है। जो हिंसा को छोड़ता है, वह दुर्गति को भी छोड़ देता है। जैसे लोहे का गोला पानी में गिरता है, तो सीधे नीचे स्थान पर जाता है, वैसे ही हिंसाजन्य पाप के भार से भारी बना जीव नीचे नरक में गिरता है। इस तरह प्राणीवध अनर्थ का कारण है, ऐसा समझना चाहिए। प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया किन्तु चूर्णिकाल तक हमें इस कथा का मूल स्रोत उपलब्ध नहीं हुआ।



वसुराजा और नारद की कथा

मृषावचन सज्जनता को नष्ट करने में दावानल के समान हैं। जैसे जहर-मिश्रित भोजन प्राणों का विनाशक है, जरा यौवन का घातक है, वैसे ही असत्य वचन भी निश्चय ही सर्वधर्म का विनाशक है, क्योंकि एक बार भी असत्य बोलना अनेक बार बोले हुए सत्य वचनों का नाश करना होता है। इस तरह सत्य-असत्य के गुण-दोषों को जानकर असत्य वचन का त्याग कर सत्य वचन का ही प्रयोग करें। इस सन्दर्भ में सवेगरंगशाला में वसुराजा और नारद की कथा वर्णित है। वह कथा इस प्रकार है -⁷⁷⁷

शक्तिमति नाम के नगर में अभिचन्द्र नाम का राजा एवं वसु नाम का उसका पुत्र रहता था। अपने पुत्र को वेद का अभ्यास कराने के लिए राजा ने उसे कदम्बक उपाध्याय को सौंपा। उपाध्याय का एक पुत्र पर्वत और नारद- इन दोनों के साथ राजपुत्र अभिचन्द्र भी वेद का अभ्यास करने लगा। एक दिन कोई महामुनि आकाशमार्ग से जा रहे थे। धरती पर तीनों को पढ़ते देखकर मुनि ने कहा- “ये जो तीनों वेद पढ़ रहे हैं, उनमें से दो नीचगति में तथा एक उर्ध्वगति में जानेवाला है। इसे सुनकर उपाध्याय ने विचार किया- ‘ऐसे शिष्यों को अभ्यास कराना निरर्थक है।’ इस प्रकार उपाध्याय उनसे वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित हो गए और उन्होंने मोक्ष-पद को प्राप्त किया।

राजा ने भी अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर संयम ग्रहण कर लिया। एकदा वसु राजा को एक पुरुष ने स्फटिकरत्न की शिला लाकर दी। राजा ने सिंहासन बनाने के लिए उस शिला को कलाकारों को सौंपा। जब उस शिला से बने सिंहासन को सभा मण्डप में स्थापित किया गया तब उस पर बैठा हुआ राजा ऐसा दिखाई देता था, मानों वह हवा में लटक रहा हो। नगरजनों को विस्मय होने लगा तथा अन्य राजाओं में वसुराजा की यह प्रसिद्धि फैल गई कि वसु राजा सत्य के प्रभाव से अन्तरिक्ष में बैठता है।

किसी एक समय नारद पूर्वस्नेह से अपने गुरुपुत्र पर्वत के पास आया, पर्वत ने अपने मित्र का आदर-सत्कार किया और दोनों परस्पर चर्चा करने लगे। प्रसंगोपात अतिमूढ़ पर्वत ने यज्ञ के अधिकार सम्बन्धी व्याख्यान किया “अजहि जटुव्”- इस वेदपद से अज, अर्थात् बकरे के द्वारा यज्ञ करना चाहिए। ऐसा प्रतिपादन करनेवाले पर्वत को सुनकर नारद ने कहा- “यहाँ इस सन्दर्भ में अज शब्द का अर्थ तीन वर्ष का पुराना अनाज, या जो फिर से उत्पन्न न हो- ऐसे जौ,

⁷⁷⁷ सवेगरंगशाला, गाथा ५७२१-५७५१.

ब्रीही, आदि हैं। उनके द्वारा ही यज्ञ करना- ऐसा गुरुजी ने कहा है।” इस वचन को पर्वत ने नहीं माना और दोनों में वाद होने लगा। इससे यह निर्णय हुआ कि जो वाद में हार जाएगा, उसकी जीभ का छेदन किया जाएगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे दोनों वसु राजा के पास गए। नारद को सत्यवादी जानकर पर्वत की माता भयभीत हुई। वह राजा के पास गई। गुरुमाता को आते देखकर राजा ने खड़े होकर उनका अभिवादन किया, फिर गुरुमाता ने एकान्त में वसु राजा को नारद और पर्वत का सारा वृत्तान्त बताया। वसु राजा ने कहा- “हे माता! आप ही कहो। इसमें मुझे क्या करना चाहिए।” उसने कहा- “मेरे पुत्र की जीत हो, वैसा करो।”

दूसरे दिन दोनों राजा के सामने आए। राजा को सत्य बात सुनाकर नारद ने कहा- “हे राजन्! आप इस विषय में धर्म की तराजू हो। इसलिए कहो ‘अजेहिं जट्ट्वं’- इसकी गुरुजी ने किस तरह व्याख्या की थी?” राजा ने कहा- “हे भद्र! तजेहिं, अर्थात् बकरे के द्वारा, जट्ट्वं, अर्थात् यज्ञ करना चाहिए- ऐसा कहा है।” ऐसा बोलते ही कुपित हुई कुलदेवी ने उसे स्फटिक के सिंहासन से नीचे गिराकर मार दिया। पर्वत असत्यवादी है- ऐसा मानकर लोगों ने उसे धिक्कारा। वसुराजा यहाँ से मरकर नरक में उत्पन्न हुआ। सत्यवादी के रूप में नारद का सत्कार हुआ, उसकी चन्द्र समान उज्ज्वल कीर्ति फैली और उसने मृत्यु के बाद देवलोक की सुख सम्पत्ति प्राप्त की।

इस तरह मृषावचन स्वर्ग और मोक्ष के दरवाजे को बन्द करनेवाली जंजीर है-ऐसा समझकर सत्य भाषण करें। जो वचन कीर्तिकारी एवं गुणों को प्रकट करने वाला हो, शिष्ट पुरुषों को इष्ट और मधुर हो, स्व और पर पीड़ा का नाशक हो, बुद्धिपूर्वक विचार किया हुआ हो, प्रकृति से सौम्य, शीतल, निष्पाप और कार्य सिद्ध करनेवाला हो, उसी वचन को सत्य जानना चाहिए।

संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथानक के माध्यम से यह बताया गया है कि असत्य भाषण करनेवाले दुर्गति को प्राप्त होते हैं एवं सत्य भाषण करनेवाले सदैव सद्गति को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग पर संवेगरंगशाला में वसुराजा और नारद की कथा दी गई है। प्रस्तुत कथानक के संकेत हमें जीवाजीवाभिगम (८६), जीवाजीवाभिगमवृत्ति (पृ. १२१), भक्तपरिज्ञा (१०१), आदि में भी उपलब्ध होता है।



वसुदत्त की कथा

परधन लेने की वृत्ति चित्त को दूषित कर देती है। अदत्तादान, अर्थात् चौर्यकर्म को अहित का कारण जानकर आत्महित में स्थित चित्तवाले व्यक्ति को इसका त्याग कर देना चाहिए। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में श्रावकपुत्र और दुष्टमण्डली का निम्न दृष्टान्त वर्णित है-⁷⁷⁸

वसन्तपुर नगर में वसन्तसेना नामक एक वृद्धा रहती थी। उसने एक दिन एक बड़ा आयोजन किया, जिसमें सभी नगरजनों को भोजन करवाया। उसी नगर में एक दुष्ट मण्डली (टोली) भी रहती थी। उन्होंने उस वृद्धा के घर में अटूट धन-सम्पत्ति को देखा और धन लूटने की भावना से वे सब रात्रि में उसके घर में घुसे। उस मण्डली का एक सदस्य श्रावकपुत्र वसुदत्त भी था। उसने सभी को धन लूटते देखकर उनको “अरे! चोरी मत करो, चोरी मत करो”- ऐसा कहा, क्योंकि वह स्वयं भी चोरी नहीं करता था। उसकी आवाज सुनकर वृद्धा उठकर आई और उस श्रावकपुत्र की ओर देखकर सेवकों को इशारा कर बोली- “इसके अतिरिक्त अन्य सबके पैरों पर निशान लगाकर छोड़ दो।”

वृद्धा के आदेशानुसार सेवकों ने सबके पैरों पर मयूरपिच्छ के निशान लगा दिए। दूसरे दिन प्रातःकाल वृद्धा ने राजा को सर्ववृत्तान्त सुनाया। राजा का आदेश प्राप्तकर राजपुरुषों ने उन चोरों को दूँढना प्रारम्भ किया। स्वच्छन्द विचरते उन चोरों के पैरों के निशान देखकर उनको पकड़ा गया एवं वसुदत्त के पैर को अनंकित देखकर उसे छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् उन चोरों के शरीर का छेदन-भेदन कर, उनको अनेक पीड़ाएँ देकर, मरण के शरण कर दिया गया।

तीसरे चौर्यकर्म नामक पापस्थानक में आसक्त जीव इस जन्म में भी बन्धन, आदि कष्टों को एवं परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है, किन्तु जो इसका परित्याग कर देता है, वह अपने शुद्ध स्वभाव से ही उसी समूह में रहते हुए भी वसुदत्त के समान कभी-कभी दुःख को प्राप्त नहीं करता है।

इस तरह अदत्तादान में प्रवृत्ति करनेवाले और उसका प्रत्याख्यान करनेवाले जीवों के अशुभ तथा शुभ फल को देखकर उसका परित्याग कर देना चाहिए। अदत्तादान (चोरी) करनेवाला प्राणी वध भी करता है और झूठ भी बोलता है, इससे वह इसी जन्म में अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता है, यहाँ तक कि मृत्युदण्ड को भी प्राप्त करता है। पुनः, चोरी करने के पाप से जीव

⁷⁷⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ५७८२-५७९०.

जन्मान्तर में दरिद्रता, भीरुता और स्वजनों के वियोग, इत्यादि को प्राप्त करता है, इसलिए परधन-इच्छा का भी सर्वथा त्याग करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में जो श्रावकपुत्र की कथा दी गई है, उसका मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यह भी हो सकती है कि यह कथा किसी जैनेत्तर स्रोत से ग्रहण की गई हो और आचार्यश्री ने उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



तीन सखियों की कथा

द्रव्य से देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी, साथ ही राग-भाव और द्वेष-भाव से मैथुन-दोष को सर्व कष्टों का कारण जानकर मन में भी इच्छा नहीं करना चाहिए। मैथुन से प्रकट हुए पाप के द्वारा जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। संवेगरंगशाला में इस चौथे पापस्थानक में प्रवृत्ति के दोष और निवृत्ति के गुणों के विषय में तीन सखियों और उनके पुत्रों की निम्न कथा उपलब्ध है—⁷⁷⁹

गिरिनगर में तीन धनवान् सेटों की तीन पुत्रियाँ सखियों के रूप में रहती थीं। उन तीनों का विवाह भी उसी नगर में हुआ। योग्य समय तीनों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। किसी एक दिन नगर के पास उद्यान में तीनों सखियाँ क्रीड़ा कर रही थीं। उसी समय कुछ चोर वहाँ आए और उन तीनों को पकड़कर पारस नामक देश चले गए। वहाँ उन्होंने उन तीनों को एक वेश्या के पास बेच दिया। वेश्या ने उन तीनों को अपनी सम्पूर्ण कलाएँ सिखाईं। तत्पश्चात् श्रेष्ठियों एवं व्यापारियों आदि के पुत्रों के उपभोग के लिए उन सखियों को नियुक्त कर दिया। इस तरह उन्होंने लोगों से प्रसिद्धि प्राप्त की।

तीनों सखियों के वे तीनों पुत्र यौवनवय को प्राप्त हुए। अपनी माताओं के समान तीनों पुत्रों में भी परस्पर मित्रवत् प्रीति थी। उनमें से एक मित्र श्रावकपुत्र था, जो बारह अणुव्रतधारी एवं स्वदारा-संतोषी था। दूसरे दोनों मित्र मिथ्यादृष्टि थे। किसी समय वे धन कमाने पारस बन्दरगाह में आए। भवितव्यतावश वे तीनों उन्हीं वेश्याओं के कोठे पर गए। श्रावकपुत्र को निर्विकारी मैनवाला जानकर एक वेश्या ने उससे पूछा— “हे भद्र! तुम कहाँ से आए हो और ये दोनों तुम्हारे क्या होते हैं?” उसने कहा— “हे भद्रे! हम गिरिनगर से आए हैं।

हम तीनों परस्पर मित्र हैं और हमारी तीनों की माताएँ भी परस्पर सखियाँ थीं, जिन्हें चोरों ने हरण कर लिया है।” उस वेश्या ने पुनः पूछा- “हे भद्र! क्या वर्तमान में जिनदत्त, प्रियमित्र और धनदत्त-ये तीनों व्यापारी वहीं हैं?” इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व श्रावकपुत्र ने उससे ही फिर प्रश्न पूछा- “हे भद्र! तुम्हारा उनके साथ क्या सम्बन्ध है?” वेश्या ने कहा- “वे तीनों हमारे पतिदेव हैं और हम तीनों के भी एक-एक पुत्र है। इस प्रकार उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर श्रावकपुत्र ने कहा- “मैं जिनदत्त का पुत्र हूँ और मेरे ये दोनों मित्र भी प्रियमित्र और धनदत्त के पुत्र हैं।” ऐसा सुनते ही वेश्या उसे अपना पुत्र जानकर गले से आलिंगन कर खूब रोने लगी, साथ ही पुत्र भी माँ से मिलकर उसी तरह रोने लगा।

माता के सुख-दुःख का हाल पूछकर वह मित्रों को अकार्य करने से रोकने की बुद्धि से शीघ्रतापूर्वक उनके पास गया और एकान्त में जाकर उसने वह सारी बात अपने मित्रों को बताई। तब तक माता के साथ पापकार्य (अकृत्य) कर चुकने के कारण वे दोनों अत्यन्त व्याकुल हुए। तत्पश्चात् तीनों मित्रों ने धन, आदि देकर उन तीनों माताओं को वेश्याओं के हाथों से छुड़वाया, फिर उनको साथ लेकर अपने नगर की ओर चले।

समुद्रमार्ग से चलते हुए उन दोनों मित्रों ने विचार किया कि हमने महाभयंकर अकृत्य किया है, हम स्वजनों को अपना मुख किस तरह दिखाएंगे। इस तरह संक्षोभ के कारण लज्जावश दोनों मित्र परदेश में चले गए और उनका माताएँ वहीं समुद्र में गिरकर मर गईं। मात्र अणुव्रतधारी श्रावकपुत्र ने अपनी माँता को लेकर अपने नगर में प्रवेश किया। नगरजनों ने उससे सर्वघटित घटना सुनी और उसकी प्रशंसा की।

जिसने सर्व प्रकार के मैथुन का सम्यक् रूप से त्याग कर दिया है, उसने अपनी दुर्गति का द्वार बन्द कर लिया है। सत्य यह है कि अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर पुण्यवान् मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है और वहाँ से पुनः मनुष्यलोक में जन्म लेकर देव के समान भोग-उपभोग की सामग्री, पवित्र शरीर, विशिष्ट कुल और जाति से युक्त होता है।

इस कथा का भी मूल स्रोत ढूँढने का हमने प्रयास किया, किन्तु आगमों में इस कथा का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इससे यह फलित होता है कि संवेगरंगशाला के कर्ता जिनचन्द्रसूरि ने इस कथानक का चयन किसी अन्य ग्रन्थ से किया होगा।

लोभानन्दी और जिनदास की कथा

संवेगरंगशाला में परिग्रह की मूर्च्छा कैसी होती है, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि परिग्रह सर्व पापस्थानकरूपी भवन की मजबूत बुनियाद है तथा संसाररूपी गहरे कुएं की अनेक नीकों का प्रवाहरूप है। स्वर्गलोक की सम्पत्ति मिलने पर भी मनुष्य की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती है, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त होने से अपूर्ण ही रहती है। इस प्रसंग पर ग्रन्थकार ने लोभानन्दी और जिनदास की कथा का निरूपण किया है-⁷⁸⁰

पाटलीपुत्र नगर में जयसेन नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में कुबेर से भी अधिक धनाढ्य नन्द आदि व्यापारी और जिनदास आदि श्रावक रहते थे। एक बार उस नगर में समुद्रदत्त नाम के व्यापारी ने एक प्राचीन सरोवर को खुदवाया। सरोवर की खुदाई करते हुए मजदूरों को वहाँ मिट्टी से युक्त स्वर्ण के सिक्के मिले। अत्यधिक समय से सरोवर में दबे रहने से मलिन हुए स्वर्ण के सिक्कों को लोहा समझकर मजदूर उन्हें बेचने के लिए एक व्यापारी के पास गए। जिनदास व्यापारी ने उन सिक्कों को लोहे के सिक्के समझकर मात्र दो सिक्के लिए, परन्तु जब सिक्कों को कसौटी पर कसने लगा, तो ज्ञात हुआ कि ये सिक्के तो स्वर्ण के सिक्के हैं, अतः परिग्रह-परिमाण का उल्लंघन होने के भय से जिनदास सेठ ने उन सिक्कों को मन्दिर में अर्पित कर दिया और उनसे शेष सिक्के भी नहीं लिए। तब वे मजदूर उन सिक्कों को लेकर नन्द सेठ के पास गए। नन्द ने सिक्कों को स्वर्ण का जानकर उन्हें अधिक मूल्य देकर ले लिया और कहा- “यदि तुम्हारे पास और भी लोहे के सिक्के हों, तो किसी अन्य को मत देना, मैं तुम्हें इच्छित मूल्य दूँगा, इसलिए मुझे ही लाकर देना।” मजदूरों ने उसे स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन नन्द सेठ का मित्र अति आग्रह करके उसे अपने घर भोजन कराने ले गया। उस समय नन्द ने अपने पुत्र से कहा- “बेटा! सुनो, यदि मजदूर सिक्के लेकर आएँ, तो वे जितना मूल्य मांगे, उतना देकर सिक्के ले लेना।” पुत्र ने उस बात को स्वीकार कर लिया। नन्दसेठ अपने मित्र के घर भोजन करने चला गया। इधर परमार्थ को न जानने के कारण उस पुत्र ने मजदूर के द्वारा मांगे गए मूल्य को अधिक जानकर सिक्के नहीं खरीदे, अतः वे मजदूर सिक्कों को लेकर अन्य स्थान पर चले गए। फिर इधर-उधर घूमते रहने से उन सिक्कों पर लगी मिट्टी उतरने लगी, जिससे वे सिक्के स्वर्णमय दिखने लगे। राजपुरुषों ने

मजदूरों के पास इतनी स्वर्णमुद्राएँ देखकर उन्हें पकड़ लिया और राजा को सौंप दिया। राजा ने सिक्कों को देखकर उनसे पूछा- “तुम्हें ये सिक्के कहाँ से मिले और तुमने उन्हें किसे बेचा?” उन्होंने कहा- “राजन्! हमने दो सिक्के जिनदास को तथा शेष नन्द व्यापारी को बेच दिए हैं।” इस तरह सर्ववृत्तान्त सुनकर राजा ने जिनदास को बुलाकर पूछा। जिनदास ने सारी घटना यथावत् कह सुनाई। इससे राजा ने उसका सम्मान किया तथा उसे घर जाने दिया।

इधर नन्द सेठ ने अपनी दुकान पर आकर अपने पुत्र से पूछा- “हे पुत्र! तूने उन सिक्कों को खरीदा, अथवा नहीं?” पुत्र ने कहा- “पिताजी! अत्यधिक मूल्य के होने से मैंने उन्हें नहीं लिए।” इससे नन्दसेठ अपनी छाती पीटने लगा और बोला- “हाय! मैं लुट गया। मेरे इन पैरों का ही दोष है, जिनके द्वारा मैं परघर भोजन करने गया।” इसके साथ ही वह अपने पैरों को तोड़ने लगा। तत्पश्चात् राजा ने उसको बुलवाकर राजसेवक को उसका वध करने की आज्ञा दी और उसका सर्वधन ले लेने को कहा।

इस तरह तृष्णा-अविरति के कारण जीव पापकार्य करता है और दुःखी होता है, इसलिए मन को परिग्रह में तनिक भी नहीं जोड़ना चाहिए। यह परिग्रह देखते-देखते ही क्षण में नष्ट होनेवाला है, इसलिए धीर पुरुष इसकी इच्छा नहीं करता है। जैसे- इस जगत् की वायु को थैले में भरा नहीं जा सकता है, वैसे ही आत्मा को भी धन से कभी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है, इसलिए इच्छा का त्यागकर सन्तोष धारण करना ही सर्वोत्तम है। सन्तोषी निश्चय ही सुखों को प्राप्त करता है और असन्तोषी को अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार परिग्रह में आसक्ति रखना उचित नहीं है। संवेगरंगशाला की इस कथा में परिग्रह को मूर्च्छारूपी लताओं का मण्डप कहा गया है। इसमें बताया गया है कि पूर्व पुण्य से रहित जो मूढात्मा मात्र धन की इच्छा करता है, उसका मनोरथ कभी पूर्ण नहीं होता। इस विषय पर वर्णित लोभानन्दी और जिनदास की यह कथा हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ५२८) में भी मिलती है।



प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा

जिस प्रकार दुर्गन्ध से सबको घबराहट होती है, उसी प्रकार क्रोध से सबको उद्वेग होता है। दुर्दान्त शत्रु तो एक भव का ही अहित करता है, जबकि क्रोध अनेक भवों का अहित करनेवाला होता है, इसीलिए जिस कार्य को उपशम, अर्थात् शान्त स्वभाववाला व्यक्ति सिद्ध कर सकता है, उस कार्य को क्रोधी कदापि सिद्ध नहीं कर पाता है, क्योंकि उसकी बुद्धि निर्मल नहीं होती है। सवेगरंगशाला में इस सन्दर्भ में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की निम्न कथा वर्णित है :-⁷⁸¹

पोतनपुर नगर में प्रसन्नचन्द्र नामक राजा राज्य करता था। उसने राज्य का त्याग कर वीरप्रभु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। वहाँ से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि प्रभु महावीर के साथ विहार करते हुए राजगृह नगरी में पहुँचे। यहाँ आकर वे (प्रसन्नचन्द्र राजर्षि) खड्गासन में कायोत्सर्ग कर ध्यान में स्थिर हो गए। जिस समय राजा श्रेणिक अपने सैन्यसहित महावीर प्रभु को वन्दना करने के लिए उसी रास्ते से निकला, उसी समय सुमुख और दुर्मुख नामक दो दूतों ने महात्मा (प्रसन्नचन्द्र) को देखा। सुमुख ने कहा- “ये विजयी हैं। इनका जीवन सफल है, क्योंकि इन्होंने राज्य को छोड़कर संयम अंगीकार किया है।” यह सुनकर दुर्मुख ने कहा- “हे भद्र! यह तो कायर है, जिसने अपने निर्बल पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठाकर स्वयं शत्रुओं के भय से दीक्षा स्वीकार कर ली। इनके कारण राजपुत्र तथा प्रजा शत्रुओं से पीड़ित हो रही है।” जैसे ही दुर्मुख के वचन राजर्षि के कर्णपटल से टकराए, वे तत्काल संयम की मर्यादा को भूल गए और कुपित होते हुए चिन्तन करने लगे- “अरे! मेरे जीवित होते हुए कौन मेरे पुत्र एवं राज्य पर आक्रमण कर रहा है? मैं मानता हूँ कि यह सीमा के दुष्ट राजाओं की ही चालबाजी है। अब मैं उनको पराजित करके ही शान्त बनूँगा।” ऐसा विचार कर राजर्षि कायोत्सर्ग में ही मन से युद्ध करने लगे।

इधर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यानमग्न देखकर श्रेणिक राजा विस्मित हुआ और उन्हें भावपूर्वक नमस्कार कर वह भगवान् के पास पहुँचा तथा भगवान् से पूछने लगा- “हे भगवन्! ध्यान में निरत प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की यदि मृत्यु हो जाए, तो वे कहाँ उत्पन्न होंगे?” प्रभु ने कहा- “सातवीं नरक में उत्पन्न होंगे।” इस पर श्रेणिक विचार करने लगा- ‘(शायद) मैंने ठीक तरह से नहीं सुना।’ अतः वह बार-बार वही प्रश्न पूछने लगा।

इधर मन द्वारा युद्ध करते हुए राजर्षि के सर्व शस्त्र खत्म हो गए, अतः मुकुट द्वारा शत्रु को मारने की इच्छा से राजर्षि ने अपने मस्तक को हाथ लगाया और लोच किए हुए मस्तक का स्पर्श होते ही उनकी चेतना जाग्रत हुई। 'अरे! मैं श्रमण हूँ, और इस तरह युद्ध कर रहा हूँ'- इस प्रकार तीव्र विवाद करते राजर्षि ने शुक्लध्यान को प्राप्त किया, जिससे उन्हें उसी समय केवलज्ञान प्रकट हुआ। तत्काल देवों ने दुन्दुभी-नाद किया। राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा- "हे भगवन्! यह दिव्य ध्वनि किस कारण से हो रही है?" भगवान् ने कहा- "प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसलिए देवता केवल महोत्सव मना रहे हैं।" आश्चर्यपूर्वक राजा पुनः प्रभु से पूछने लगा- "हे नाथ! आपने उनके सम्बन्ध में पहले तो नरक में उत्पन्न होने की बात कही थी और अब केवलज्ञान होने की सूचना दे रहे हैं, इसका क्या कारण है?" उस समय प्रभु ने श्रेणिक राजा को सर्व वृत्तान्त यथावत् कहा- "यह सब मनोभावों का खेल है। उस समय वे तीव्र आक्रोश में थे और अब पूर्णतः शान्त। क्रोध अनर्थों का मूल है, क्रोधी व्यक्ति हिंसा करता है, मृषा भाषण करता है, अदत्त ग्रहण करता है, ब्रह्मचर्यव्रत को भंग करता है तथा परिग्रह-संग्रह करता है, इसलिए मुनि को सदैव ही क्षमा से क्रोध को पराजित कर देना चाहिए।" इस प्रसंग में संवेगरंगशाला में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का दृष्टान्त दिया गया है। प्रस्तुत कथानक हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, ४५६), निशीथसूत्रचूर्णि (भाग ४ पृ. ६८) में भी उपलब्ध होता है।



बाहुबली का दृष्टान्त

मान से विनय गुण का नाश होता है। मान को स्तम्भ की उपमा देते हुए कहा गया है कि स्तम्भ की तरह अभिमानी व्यक्ति कभी झुकता नहीं है। जैसे ज्वर के शान्त हो जाने पर पथ्य का सेवन करने से शरीर स्वस्थ होता है, वैसे ही मानरूपी ज्वर के शान्त होने पर आराधनारूपी पथ्य के सेवन से आत्मा स्वस्थ हो जाती है। मान के सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में बाहुबली की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁸²

तक्षशिला नगर में भगवान् ऋषभदेव का पुत्र बाहुबली नामक राजा राज्य करता था। उससे छोटे अट्टानवें भाइयों ने राज्य का त्यागकर ऋषभदेव भगवान् के पास दीक्षा स्वीकार कर ली थी। तत्पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता भरत चक्रवर्ती ने बाहुबली से कहा- "तुम अपने स्वतन्त्र राज्य को मेरे अधीन कर मेरी आज्ञा का पालन

करो, अन्यथा मेरे साथ युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।” भरत चक्रवर्ती की इस आज्ञा को सुनकर बाहुबली उसकी अधीनता स्वीकार न कर, उसके साथ युद्ध करने के लिए तैयार हुआ। दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमें अनेक हाथी, घोड़े, सैनिक, आदि मरने लगे। योद्धाओं को मरते देख बाहुबली दया से सिक्त बना अपने भाई से बोला- “हे भरत! वैर तो परस्पर हम दोनों का है, फिर इन निरपराधी जीवों को मारने से क्या लाभ है ? अतः युद्ध हम दोनों को ही करना चाहिए।” भरत ने उसकी बात को स्वीकार कर लिया फिर दोनों ने दृष्टि, मुष्टि, आदि युद्ध करना प्रारम्भ किया। इन प्रत्येक प्रकार के युद्ध में बाहुबली भरत चक्रवर्ती को हराने लगा।

‘क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ, जो सामान्य मनुष्य की तरह इसकी भुजाबल के द्वारा हार रहा हूँ’- ऐसा चिन्तन करते ही भरत चक्रवर्ती के हाथ में अत्यन्त चमकता हुआ दण्डरत्न आया। दण्डरत्न को देखते ही बाहुबली क्रोधित हुआ और उसने दण्डसहित भरत चक्रवर्ती को मार देने का विचार किया, किन्तु तुरन्त उसे कुशल बुद्धि जाग्रत हुई और वह राज्य के प्रति अपनी विषयासक्ति को धिक्कारने लगा। ‘इस राग के कारण जीवात्मा अपने स्वजन, बन्धु को भी तृणतुल्य समझता है और अकार्य करने के लिए तैयार हो जाता है’- ऐसा शुभ चिन्तन करते ही उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और अपने उठे हुए हाथ को पुनः नीचे न करके, उसी हाथ से स्वयमेव पंचमुष्टि-लोच कर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् बाहुबली ने मन में विचार किया- ‘भगवान् के पास जाऊँगा, तो मुझे मेरे छोटे भाईयों को वन्दन करना पड़ेगा’, इस अभिमान के कारण बाहुबली वहीं कार्योत्सर्ग ध्यान में खड़ा हो गया तथा ‘केवलज्ञान के बाद ही परमात्मा के पास जाऊँगा’- ऐसी प्रतिज्ञा करके निराहार खड़ा रहा। इस तरह एक वर्ष तक की कठिन साधना से उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया।

वर्ष के अन्त में ऋषभदेव भगवान् ने ब्राह्मी और सुन्दरी-इन दो साध्वियों को बाहुबली के पास भेजा। वहाँ जाकर उन्होंने अपने भाई से कहा- “अरे भैया! ऋषभदेव भगवान् ने कहा है कि हाथी के ऊपर चढ़ने से केवलज्ञान प्रकट नहीं होता, अतः हाथी का त्याग करो।” अपनी बहनों के वचन सुनकर बाहुबली सम्यक् विचार करने लगा कि मेरी बहनें मृषा वचन नहीं कह सकती, पर मैं किस हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ? गहराई से चिन्तन करने से उसे विचार आया- ‘हाँ! मैं मानसपी हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ। उसी का मुझे त्याग करना है।’ सत्य बात ज्ञात होते ही उसे शुक्लध्यान प्रकट हुआ और वह मान का त्यागकर प्रभु के चरणों में

जाने के लिए पाँव उठाने लगा कि उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस प्रकार बाहुबली पूर्ण प्रतिज्ञा वाला बना।

मान-लघुता-विनय गुण में अवरोधरूप है, सद्गति का बाधक है तथा दुर्गति का मार्ग है। जीवात्मा मान के कारण से अपने यश को समाप्त करता है और तिरस्कार का पात्र बनता है, इसलिए विवेकी पुरुष इहलोक और परलोक में दुःख देनेवाले मान का त्याग कर देता है।

इस कथा के माध्यम से संवेगरंगशाला में ग्रन्थकार कहता है- “जैसे-जैसे मनुष्य मान करता है, वैसे-वैसे वह अपने गुणों का नाश करता है। इस प्रकार क्रमशः गुणों के नाश होने से वह गुणरहित हो जाता है। गुणरहित मनुष्य उत्तम कुल, जाति में जन्मा हुआ होने पर भी गुण (प्रत्यंचा) रहित धनुष के समान इच्छित प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है, इसलिए स्व-पर उभय के हितों के धातक, विषम दुःख देनेवाले मानकषाय को विवेकी पुरुष सर्वथा त्याग देते हैं।” इस सम्बन्ध में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने बाहुबली का यह दृष्टान्त प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत दृष्टान्त हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. १८०, २१०, २११), विशेषावश्यकभाष्य (गा. १७१४, १७२०, १७३०), कल्पसूत्रवृत्ति (२३५), आचारांगवृत्ति (पृ. १३३), आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।



साध्वी पण्डरा आर्या की कथा

माया, अर्थात् कपटवृत्ति के कारण लोक में अविश्वास का जन्म होता है, किन्तु माया (कपटवृत्ति) के त्याग से सरलता का गुण प्रकट होता है। संवेगरंगशाला में इस सम्बन्ध में साध्वी पण्डरा आर्या की कथा वर्णित की गई है:-⁷⁸³

एक शहर में एक उत्तम श्रावक रहता था। उसकी एक पुत्री थी। उसे बचपन में ही जिन धर्म पर अद्वैत श्रद्धा थी, जिससे वह जिनप्रणीत कथन से संसार के स्वरूप को जानने लगी। कालान्तर में उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। वह अपनी गुरुजी महत्तरा के साथ रहकर संयम आराधना करने लगी, किन्तु वह मलपरीषद को सहन नहीं कर पाने के कारण शरीर तथा वस्त्र को स्वच्छ रखती थी। उसकी गुरुजी महत्तरा साध्वी उसे सदैव कहती थी कि ऐसा करने से साध्वी-जीवन (संयम-जीवन) में दोष लगता है,

⁷⁸³ संवेगरंगशाला, गाथा ६००६-६०१६.

इसलिए यह करना योग्य नहीं है। महत्तरा की शिक्षा को मान्य नहीं करके वह अलग उपाश्रय में रहने लगी।

वहाँ साध्वी के शरीर एवं वस्त्र को उज्ज्वल देखकर लोगों ने उसका नाम साध्वी षण्डरा आर्या रख दिया। वह अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए विद्याबल का प्रयोग करके लोगों को आकर्षित करने लगी। तदुपरान्त उसका विवेक जाग्रत हुआ और उसने गुरु के समक्ष अपने दुराचारों का प्रायश्चित्त करके अनशन स्वीकार कर लिया। शुभ-ध्यान में लीन रहते हुए भी अपनी पूजा और सत्कार के लिए वह मन्त्र का प्रयोग करने लगी। इससे लोग आकर्षित होने लगे। नगर के लोगों को हमेशा उसके पास आते-जाते देखकर गुरुजी ने कहा- “हे आर्या! इस तरह बार-बार मन्त्र का प्रयोग करना संयम-जीवन में उचित नहीं है।” गुरुजी के शब्दों को सुनकर उसने मिथ्यादुष्कृत् (मिच्छामिदुक्कड) किया और कहा- “पुनः ऐसा नहीं करूँगी। आपकी ऐसी प्रेरणा मुझे बहुत अच्छी लगी।” कुछ दिनों बाद एकान्त में नहीं रह सकने के कारण उसने पुनः मन्त्र द्वारा लोगों को आकर्षित किया। गुरुजी ने पुनः उसका निषेध किया। माया से युक्त बनी वह कहने लगी- “हे भगवती! मैं किसी भी विद्या का प्रयोग नहीं करती हूँ, किन्तु ये लोग स्वयमेव शाता पूछने आते हैं।” इस तरह उसने माया के अधीन बनकर आराधना का फल नष्ट कर दिया और अन्त समय में वह भरकर सौधर्मकल्प की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

इस तरह इस कथा का सार यह है कि माया गुणों को समाप्त करनेवाली और दोषों को बढ़ानेवाली है। वह विवेकरूपी चन्द्रबिम्ब को गलानेवाले राहु ग्रह के समान है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का पालन लम्बे समय तक किया हो, परन्तु यह मायारहित न हो, तो वह सर्व को नष्ट करनेवाला होता है। मायावी मनुष्य सर्प के समान भयजनक दिखाई देता है। प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत हमें किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ।



अर्हन्नक की पत्नी और अर्हमित्र की कथा

लोभ और आसक्तिजन्य को ही जिनेश्वर भगवान् ने राग कहा है। चाहे बिन्दुओं से समुद्र को भरा जा सकता हो, अथवा ईंधन से अग्नि को तृप्त किया जा सकता हो, किन्तु तृष्णा की पूर्ति सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में अर्हन्नक की पत्नी और अर्हमित्र की कथा वर्णित है:-⁷⁸⁴

श्री क्षिति प्रतिष्ठित नगर में अर्हन्नक और अर्हमित्र नामक परस्पर दृढ़ प्रेम वाले दो भाई रहते थे। एक दिन तीव्र कामासक्ति के कारण बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई से भोग करने के लिए प्रार्थना करने लगी। देवर द्वारा बार-बार मना करने पर भी जब वह उसको विवश करने लगी, तब अर्हमित्र ने कहा- “भाभी आप तो मेरी माता के तुल्य हैं। आपको तो भैया से ही सन्तोष करना चाहिए।” उस दुष्ट स्त्री ने कामासक्त बनकर अपने पति को खत्म कर दिया और अर्हमित्र से कहने लगी- “मैंने आपके लिए आपके भाई को मार दिया है, फिर भी आप मुझे क्यों नहीं चाहते हो?” ‘जब इस स्त्री ने मेरे भाई को मार दिया है, तो आगे इसका क्या भरोसा?’- इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसे वैराग्य हो गया और उसने भगवती-दीक्षा स्वीकार कर ली तथा साधुओं के साथ अन्यत्र विचरने लगा।

अर्हमित्र द्वारा दीक्षा ग्रहण कर लेने पर वह स्त्री आर्त्तध्यान के कारण मरकर कुतिया बनी। एक दिन अर्हमित्र मुनि विचरते हुए उसी गांव में पधारे, जहाँ वह कुतिया रहती थी। पूर्व स्नेहवश वह कुतिया भी उस मुनि के पास रहने लगी। दूर भगाने पर भी वह नहीं भागती थी। तब मुनि इसे उपसर्ग मानकर रात्रि में वहाँ से विहार करके अन्यत्र चले गए। वह कुतिया उनके वियोग में मरकर जंगल में वानरी के रूप में उत्पन्न हुई। एकदा मुनि विहार करते हुए उसी जंगल में पहुँचे। वहाँ उस वानरी ने मुनि को देखा और पूर्व प्रीतिवश उनसे लिपट गई। इसे देख सभी मुनियों ने मिलकर उन मुनि को महामुश्किल से उस बन्दरिया से छुड़ाया। तत्पश्चात् वे मुनि उससे बचने के लिए कहीं छिप गए। यहाँ भी उनके विरह को सहन न कर पाने से मरकर पुनः वह यक्षिणी बनी। तत्पश्चात् वह यक्षिणी भी अर्हमित्र को सताने का मौका देखने लगी। अन्य मुनिगण अर्हमित्र की हंसी उड़ाने लगे- “अर्हमित्र! तुम धन्य हो! तुम तो कुतिया और बन्दरी को भी अत्यन्त प्रिय लगते हो।” मुनियों द्वारा ऐसा कहने पर भी अर्हमित्र कषायरहित हो, समता में विचरने लगे।

किसी एक समय मुनि छोटी नदी को पार करने के लिए लम्बा डग भरकर जाने लगे, तब उस यक्षिणी ने, जो मुनि से वैर लेना चाहती थी, मुनि की जंघा काट दी। उस समय वे मुनि 'अहो! मेरे द्वारा अष्ठाय जीवों की विराधना न हो'- ऐसा शुभ चिन्तन करने लगे। तब किसी समकित देवी ने उस यक्षिणी को पराजित कर मुनि की जंघा को जोड़कर उसे पुनः अखण्ड बना दिया।

इस तरह राग से वैराग्य में प्रवृत्ति करनेवाले ने सद्गति प्राप्त की और राग से पराजित बनी यक्षिणी विडम्बना की पात्र बनी।

इसलिए, भुक्ति या सिद्धि को प्राप्त करने के लिए जिनवचनरूपी निर्मल जल से कामासक्ति को शान्त कर अन्तिम आराधना करना चाहिए। उत्तम रत्नों के समूह के सामने जैसे काँच की मणियाँ शोभायमान नहीं होती हैं, वैसे ही आसक्तिरहित व्यक्ति के सामने देवों अथवा मनुष्यों के श्रेष्ठ सुख भी नगण्य होते हैं।

इस कथा के माध्यम से यह बताया गया है कि जब किसी पदार्थ या प्राणी के प्रति आकर्षण पैदा होता है, तो उसे राग कहते हैं। राग तीन प्रकार का होता है- स्नेहराग, कामराग और दृष्टिराग। आत्महित के भाव से किए गए निःस्वार्थ प्रेम (प्रशस्तराग) को छोड़कर अन्य सर्वप्रकार के राग संसार परिभ्रमण कराने वाले कहे गए हैं। इच्छा भी राग का एक रूप है, क्योंकि भोगेच्छा का संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलता है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में अर्हन्तक की पत्नी एवं अर्हमित्र की कथा वर्णित है। कामराग के सन्दर्भ में दी गई यह कथा हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ५१४), आवश्यकवृत्ति (पृ. ३८८), गच्छाचार्यप्रकीर्णकवृत्ति (पृ. २६), आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।



कपिल ब्राह्मण की कथा

लोभ सर्व दुःखों का मूल है तथा यह दुर्गति में ले जानेवाला राजमार्ग है, अतः लोभ का त्याग ही श्रेयस्कर है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में कपिल ब्राह्मण की निम्न कथा वर्णित है -⁷⁸⁵

कौशाम्बी नगरी में यशोदा नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी। उसको कपिल नाम का एक पुत्र था। पुत्र की अल्प आयु में ही उसके पिता का देहान्त

⁷⁸⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ६०३३-६०६४.

हो गया था। एक दिन वह ब्राह्मणी एक विद्वान् ब्राह्मण को देखकर रोने लगी। पुत्र द्वारा रोने का कारण पूछने पर उस ब्राह्मणी ने कहा- “हे पुत्र! अब जिन्दगी में रोने के सिवाय बचा भी क्या है?” देख, उस विद्वान् ब्राह्मण की तरह तेरे पिता के पास भी बहुत सम्पत्ति थी, परन्तु तेरे जन्म लेने के साथ ही सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई।” कपिल ने कहा- “माँ पिताजी ने इतनी सम्पत्ति कहाँ से प्राप्त की थी?” माँ ने कहा- “बेटा! तेरे पिताजी वेदों के विद्वान् पण्डित थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा ही बहुत-सा धन अर्जित किया था।” ऐसा सुनते ही कपिल ने भी वेदों का अभ्यास करने का निर्णय किया और इस हेतु वह वहाँ से निकलकर श्रावस्ती नगरी पहुँचा।

कपिल इन्द्रदत्त नामक उपाध्याय के पास पहुँचा। वहाँ उसने अध्ययन करना प्रारम्भ किया, किन्तु वह भोजन धन नामक सेठ के यहाँ करता था। सेठ की दासी कपिल के भोजन का ध्यान रखती थी। इस तरह वह उपाध्याय और धन सेठ की कृपा से वेदों का अध्ययन करने लगा। दासी उसे सदैव प्रेमपूर्वक भोजन कराती एवं उससे मधुरवाणी में वार्तालाप करती। इससे आपस में दोनों का प्रेम बढ़ने लगा।

एक दिन उस दासी ने कपिल से कहा-“कल नगर में उत्सव होनेवाला है, वहाँ सभी स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र एवं अलंकारों से सुसज्जित होकर आएँगी, इसलिए आप भी मेरे लिए सुन्दर वस्त्र एवं अलंकार ला दो।” कपिल कहने लगा- “प्रिये! मैं तुम्हें वस्त्रालंकार कहाँ से लाकर दूँ। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है।” दासी ने कहा- “हमारे नगर में जो ब्राह्मण अपने आशीर्वचनों से राजा को सबसे पहले जाग्रत करता है, उसे राजा दो माशा स्वर्णदान देकर उसका सत्कार करते हैं, इसलिए तुम भी वहाँ जाओ और धन ले आओ।”

कपिल दासी के कहने पर रात्रि में ही राजमार्ग पर चल दिया। राजपुरुषों ने उसे रात्रि में राजमार्ग पर जाते देखा, तो उसे चोर समझकर पकड़ लिया और राजा को सौंप दिया। प्रातःकाल राजा ने उस चोर से पूछा- “हे भद्र! तू यहाँ किसलिए आया है?” तब कपिल ने राजा को अपना सर्ववृत्तान्त बताया। इस पर राजा ने उसे जितना धन चाहिए, उतना मांगने के लिए कहा। कपिल एकान्त में जाकर विचार करने लगा- ‘क्या मैं बीस मुद्रा मांग लूँ?’ फिर सोचने लगा- ‘नहीं। इतने से तो आभूषण भी नहीं आएंगे। तो फिर सौ मुद्रा मांग लेता हूँ। नहीं, इससे भी कुछ नहीं होगा।’ लोभी मन लम्बी-लम्बी उड़ानें भरने लगा। सौ से हजार, हजार से लाख और करोड़ तक मन पहुँच गया। धन की इच्छा को उत्तरोत्तर बढ़ता देख कपिल विचार करने लगा कि जैसे-जैसे जीव को लाभ होता

जाता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। दो माशा का सोचकर आया था, अब करोड़ से भी इच्छा पूर्ण नहीं हो रही है। यह लोभ ही पाप का मूल है। ऐसा चिन्तन करते-करते उसे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। ज्ञान से उसने अपने पूर्वभवों को देखा, जिससे उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और फिर उसने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। दीक्षा लेकर कपिल राजा के पास पहुँचा। तब राजा ने पूछा- “हे भद्र! तूने क्या विचार किया?” उसने अपने एक करोड़ स्वर्णमोहर तक के विचार को प्रकट किया। राजा को इच्छापूर्ति करने हेतु तत्पर बना देखकर मुनि ने कहा- “हे राजन्! अब मुझे इस परिग्रह से कोई प्रयोजन नहीं है।” ऐसा कहकर कपिल मुनि राजसभा से बाहर आए और उसी समय उन्हें केवलज्ञान प्रकट हुआ।

जो लोभी व्यक्ति अपने लोभ का प्रायश्चित्त किए बिना मरता है, उसे लम्बे समय तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है तथा जिन महापुरुषों ने लोभ के विपाक को जानकर सन्तोष धारण कर लिया है, उन्होंने ही शाश्वत सुख, अर्थात् मोक्ष-सुख को प्राप्त किया है।

इस कथा के द्वारा संवेगरंगशाला में यह बताया गया है कि व्यक्ति को लोभवृत्ति से हानि एवं सन्तोष से लाभ होता है। इस सम्बन्ध में कपिल ब्राह्मण की यह कथा दी गई है। लोभकषाय की प्रबलता सर्वत्र दिखाई देती है। लोभ को ‘पाप का बाप’ कहा गया है, क्योंकि स्वर्णमुद्राओं को देखकर लोभ के वशीभूत बना जीव अपने व्रतों को छोड़ने के लिए भी तत्पर बनता है। प्रस्तुत कथानक हमें उत्तराध्ययन (अध्याय ८), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. १६८), उत्तराध्ययनचूर्ण (पृ. १६८-१७०) में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नन्दीसूत्रवृत्ति (पृ. २६) में भी प्रस्तुत कथा का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत दृष्टान्त उत्तराध्ययनसूत्र से ही ग्रहण किया होगा।



धर्मरुचि अणगार की कथा

द्वेष अनर्थ का घर है। भय, कलह और तनावों की उत्पत्ति का कारण है। वह प्रेमियों और मित्रों में भी द्रोह उत्पन्न करनेवाला है। वस्तुतः, अति क्रोध और मान से उत्पन्न हुए अशुभ आत्म-परिणाम ही द्वेष हैं। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में धर्मरुचि अणगार की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁸⁶

⁷⁸⁶ संवेगरंगशाला, गाथा ६१२१-६१५२.

गंगा नदी के किनारे नन्द नाम का एक नाविक रहता था। वह लोगों से नदी पार करवाने का अधिक किराया लेता था। एक दिन वहाँ धर्मरुचि मुनि का आगमन हुआ। मुनि को भी नदी पार करना थी, परन्तु उनके पास नाविक को देने के लिए किराया नहीं था, इसलिए नाविक ने उन्हें गंगा नदी के पार जाने से रोक रखा था। भिक्षा का समय भी टल गया। प्रातःकाल से आए मुनि को मध्याह्नकाल हो गया। सूर्य की तेज किरणों से पीड़ित हो रहे मुनि पर नाविक को जरा भी दया नहीं आई। जब किसी भी प्रकार से नाविक उन्हें मुफ्त में ले जाने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब मुनि को नाविक पर तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपनी दृष्टिरूपी ज्वाला से नाविक को भस्मसात् कर दिया तथा स्वयं अन्यत्र चले गए।

वह नाविक मरकर कोयल बना और एक सभा-भवन में रहने लगा। अन्यत्र विचरते हुए एक दिन मुनि ने आहार-पानी लेकर आहार करने के लिए उसी सभा में प्रवेश किया। वहाँ मुनि को देखकर कोयल को पूर्व वैर जाग्रत हुआ। जब मुनि आहार करने बैठे, तब वह कोयल ऊपर से उन पर कचरा गिराने लगी। इस तरह मुनि द्वारा बार-बार स्थान परिवर्तन करने पर भी वह उसी तरह कचरा गिराती रही। मुनि को कोयल पर तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ और क्रोध में वे कहने लगे- “कौन है, जो नन्द के समान मेरे साथ दुष्ट प्रवृत्ति कर रहा है?” ऐसा कहकर मुनि ने उसे भी अपनी दृष्टिज्वाला से जलाकर भस्म कर दिया।

यहाँ से मरकर उस नाविक का जीव गंगा नदी के किनारे हंस बना, तत्पश्चात् वहाँ से मरकर वह अंजन पर्वत पर सिंहरूप में उत्पन्न हुआ और उसके पश्चात् वहाँ से भी मरकर वह वाराणसी में बटुक ब्राह्मण बना। वह प्रत्येक भव में मुनि को देखकर क्रोधातुर बनता और उनका अनिष्ट करता। इधर मुनि भी पूर्व वैर के कारण प्रत्येक भव में उसे दृष्टिज्वाला से जलाकर भस्म करते रहे।

फिर वहाँ से भी मरकर वह एक राजा बना। राज्य-सुख भोगता हुआ राजा अपने पूर्वभव का चिन्तन करने लगा, जिससे उसे जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ। मुनि के साथ पूर्व वैर होने से भयभीत बना राजा विचार करने लगा कि यदि इस भव में भी मुनि मुझे मार देगा, तो मैं राज्य-सुख से वंचित रह जाऊँगा। इस प्रकार चिन्तित राजा उससे बचने के लिए उपाय सोचने लगा। कुछ विचारकर राजा ने (मुनि को खोजने के लिए) एक श्लोक की तीन पंक्तियाँ बनाकर राजमहल के बाहर टांग दी। फिर इस तरह की उद्घोषणा करवाई कि जो भी इस श्लोक को पूर्ण करेगा उसे राजा अपना आधा राज्य देगा।

एक दिन धर्मरुचि विहार करके उसी नगर के उद्यान में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माली को एक ही पद को बार-बार बोलते सुना। मुनि ने उस माली से पूछा- “हे भद्र! इस अपूर्ण श्लोक को तू बार-बार क्यों बोल रहा है?” उसने मुनि को सर्ववृत्तान्त कहा। इस पर मुनि ने उस श्लोक के रहस्य को जानकर उसकी आखिरी पंक्ति इस प्रकार रची- “जो उसका घातक था, वही यहाँ आया है।” उस श्लोक को लेकर माली राजा के पास पहुँचा और उसने राजा को श्लोक सुनाया। श्लोक सुनते ही मौत के भय से राजा ने अपनी आँखें बन्द कर ली। ‘यह माली राजा का अनिष्ट करनेवाला है’- ऐसा जानकर लोग उसे मारने लगे। माली चिल्लाते हुए कहने लगा- “मैंने इस श्लोक की रचना नहीं की है, इस श्लोक को एक साधु ने रचा है।” माली द्वारा उस मुनि का स्थान पूछकर राजा उस स्थान पर गया और वहाँ मुनि को वन्दन करके, धर्मोपदेश सुनकर राजा ने श्रावक-व्रत स्वीकार किया। धर्मरुचि मुनि अपने पूर्व पापाचरण का स्मरण कर उसकी आलोचना करने लगे तथा पुनः-पुनः अपने पापों का मिथ्यादुष्कृत देने लगे। इस प्रकार घोर पश्चातापपूर्वक उन्होंने सर्व कर्मों का क्षय करके द्वेषरूपी वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया तथा अचल अनुत्तर शिव-सुख को प्राप्त किया।

धर्मरुचि अणगार ने द्वेष के द्वारा चारित्र को दूषित किया था, किन्तु उन्होंने कालान्तर में संवेग प्राप्तकर प्रायश्चित्त द्वारा संयमजीवन को शुद्ध किया। इस तरह द्वेषरूपी दावानल को प्रशमरूपी जल से शान्त करना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति द्वेष के कारण जन्म-जन्मान्तर में दुःखी होता है, किन्तु चित्त में समताभाव और समाधि के द्वारा कर्मों का क्षयकर मुक्ति प्राप्त करता है।

संवेगरंगशाला का उपर्युक्त कथानक यह बताता है कि द्वेष दुःखों का भण्डार है, इसलिए मुनि को सुख के प्रति राग नहीं करना चाहिए एवं दुःख से द्वेष नहीं करना चाहिए। इसी तरह, शत्रु से द्वेष नहीं करते हुए और मित्र से राग नहीं रखते हुए समताभाव रखना चाहिए। इसी सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में धर्मरुचि अणगार की यह कथा वर्णित है। प्रस्तुत कथानक हमें ओषवृत्ति (पृ. १५६-१६०) में भी उपलब्ध होता है।



हरिकेशी मुनि की कथा

क्रोधी मनुष्य द्वारा किए गए वाक्युद्ध को कलह का ही रूप कहा गया है। कलह धन का नाश करनेवाला है। यह दरिद्रता का स्थान है और यह अविवेक का परिणाम है। कलह से मन कलुषित होता है एवं वैर की परम्परा बढ़ती है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में हरिकेशी की कथा वर्णित है-⁷⁸⁷

मथुरा नगरी में शंख नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन उसने राज्य-सुखों को त्यागकर दीक्षा स्वीकार कर ली। बाद में उस मुनि ने सूत्रों का गहन अध्ययन किया। एक बार वे मुनि विहार करते हुए गजपुर नगर में पहुँचे। भिक्षा हेतु नगर में प्रवेश करने के लिए मुनि ने अग्नियुक्त मार्ग के पास खड़े हुए सोमदत्त पुरोहित से पूछा- ‘हे भद्र! क्या मैं इस रास्ते से जा सकता हूँ?’ मुनि को अग्नि में जलते हुए देखने की इच्छा से सोमदत्त ने मुनि को उस मार्ग से जाने को कहा जिस मार्ग पर अग्नि थी। मुनि ईर्ष्यापथिकी का पालन करते हुए उस मार्ग से जाने लगे। मुनि को उसी मार्ग से धीरे-धीरे जाते हुए देखकर सोमदत्त आश्चर्यचकित हुआ। ‘जिस मार्ग में अग्नि थी, वह मार्ग शीतल कैसे हो गया’- ऐसा सोचते हुए विस्मित होकर वह स्वयं को धिक्कारने लगा- ‘अरे! मैं पापी हूँ। मैंने पाप-कार्य किया है।’ सोमदत्त फिर विचार करने लगा कि जिनके प्रभाव से अग्नि भी शीतल बन गई, ऐसे त्यागी मुनि के तो मुझे दर्शन-वन्दन करना चाहिए, अतः उसने मुनि के पास आकर अपने दुराचरण के लिए खेद प्रकट किया और पुनः-पुनः क्षमायाचना करने लगा। फिर सोमदत्त, मुनि बनकर संयमी जीवन का निरतिचारपूर्वक पालन करने लगा, किन्तु अन्त तक उसने जाति-मद को नहीं छोड़ा, अतः वह मरकर देव बना।

पूर्वभव में प्रायश्चित्त नहीं करने से वह देवभव से च्युत होकर चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुआ। उस (चाण्डाल) बालक का रूप-रंग अत्यन्त वीभत्स था, इसलिए मोहल्ले के बालक उसके साथ खेल नहीं खेलते थे, सभी उससे दूर रहने को कहते और इससे वह दूर खड़ा सबको देखता रहता। एक दिन जहाँ सभी बच्चे खेल रहे थे, वहाँ से श्यामवर्ण का भयंकर विषैला सर्प निकला। सभी बच्चों ने तुरन्त मिलकर उस सर्प को लाठी से मार दिया। कुछ देर पश्चात् फिर एक सर्प निकला, किन्तु विषरहित होने से उसको किसी ने नहीं मारा।

चाण्डाल इस दृश्य को दूर से देख रहा था। इससे वह विचार करने लगा कि सभी जीव अपने ही गुण अथवा दोष से शुभ और अशुभ फल को प्राप्त

करते हैं, अतः मुझे भी अपने दोषों का त्याग करके गुणों को प्रकट करना चाहिए। ऐसा सोचकर वह एक मुनि के पास गया और वहाँ उसने जिन-प्रणीत वचन को श्रवण किया, जिससे उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। उसका नाम मातंग मुनि रखा गया। एक दिन विचरते हुए वे मुनि वाराणसी नगरी के यक्ष मन्दिर में पहुँचे। वहाँ मातंग मुनि द्वारा की गई अन्य मुनियों की सेवा-भक्ति को देखकर वहाँ का यक्ष मुनि पर अति प्रसन्न हुआ और जीवन भर उनकी सेवा में रहने लगा।

एक बार कौशलदेश के राजा की पुत्री भद्रा यक्ष के मन्दिर में आई। वहाँ उसने मुनि को ध्यान में खड़े देखकर उनकी निन्दा की। इससे यक्ष कुपित होकर भद्रा के शरीर में प्रवेश कर गया, और उसे तंग करने लगा। किसी तरह भद्रा राजमहल पहुँची। राजा द्वारा भद्रा का अनेक उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। एक दिन यक्ष ने राजा से कहा- “इस कन्या ने मुनि की निन्दा की है, इसको मुनि को सौंप दिया जाए, तभी छुटकारा मिलेगा।” पुत्री के प्राणों की रक्षा के लिए राजा उसका विवाह मुनि के साथ करने को तैयार हो गया। भद्रा भी मुनि के पास आकर माफी मांगने लगी और स्वयं को स्वीकार करने की विनती करने लगी। मुनि तो ध्यानस्थ थे, और ध्यान में ही खड़े रहे, उन्होंने उसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया, किन्तु यक्ष ने उस भद्रा को खूब परेशान किया। वहाँ से पुनः मुश्किल से छूटकर वह भद्रा अपने माता-पिता के पास राजमहल में आई। भद्रा को देखकर राजपुरोहित ने राजा से कहा- “यह कन्या तो साधु द्वारा त्याग की गई है, अतः इसका विवाह ब्राह्मण के साथ करना होगा।” राजा ने अपनी पुत्री का विवाह रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ किया, फिर भद्रा उस ब्राह्मण के साथ अपने दिन व्यतीत करने लगी।

एक दिन रुद्रदेव द्वारा एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया गया। उस यज्ञ में अनेक पण्डितों को बुलाया गया, उस यज्ञ के पश्चात् सबके भोजन की व्यवस्था भी की गई। उसी दिन मातंग मुनि के मासक्षमण का पारणा था, अतः वे भिक्षा हेतु उसी यज्ञशाला में पधारे। वहाँ ब्राह्मणों ने उन्हें दान नहीं दिया और पापी, दुष्ट, आदि अपशब्द कहकर दुत्कारते हुए बाहर निकाल दिया। इस तरह मुनि की निन्दा करते देख वह यक्ष मातंग मुनि के शरीर में प्रवेशकर उनसे फिर भिक्षा मांगने लगा। इस पर ब्राह्मणों ने मुनि को निकालने के लिए कुमारों को भेजा। इससे कुपित हुआ यक्ष उन ब्राह्मणों को मारने लगा। इस दृश्य को देखकर राजपुत्री भद्रा ने उन ब्राह्मणों को रोककर कहा- “ये वही मुनि हैं, जिन्होंने मुझे यक्ष से मुक्त किया था। आप सभी इनसे क्षमा मांगो।” वे सभी मुनि से

क्षमायाचना करने लगे। मुनि ने कहा- “जो जिनेश्वर के द्वारा बताए गए मार्ग पर चलता है, वह कभी क्रोध नहीं करता है। क्रोध तो यह मेरी भक्ति में तत्पर बना हुआ यक्ष कर रहा है। तुम सब उसको प्रसन्न करो।” तुरन्त सभी ने मुनि को आहारदान देकर यक्ष को शान्त किया। इससे प्रसन्न हुए यक्ष ने वहाँ स्वर्ण व रत्नों की वृष्टि की।

कलह धर्म को नष्ट करता है और पाप फैलाता है। वह कुगति में ले जाने के लिए एक सहज पगडण्डी है। कलह से गुणों की हानि एवं दोषों की वृद्धि होती है, इसलिए हाथी के बच्चे के समान बढ़ते कलह को प्रारम्भ में ही रोक देना चाहिए।



रुद्र और अंगर्षि की कथा

संवेगरंगशाला के अनुसार सज्जन व्यक्ति पर दोषारोपण करना ही अभ्याख्यान कहा जाता है तथा इसे सर्व सुखों का नाश करने में दुष्ट शत्रु के समान कहा गया है, अतः क्षपक मुनि को अभ्याख्यान-दोष का दूर से परित्याग करना चाहिए। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में रुद्र और अंगर्षि की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁸⁸

चम्पानगर में कौशिकाचार्य नामक एक उपाध्याय रहते थे। उनके पास अंगर्षि और रुद्र नामक दो विद्यार्थी शास्त्रों का अध्ययन करते थे। अवकाश के दिन उपाध्याय ने दोनों को लकड़ियों का एक-एक गट्टर लाने को कहा। अंगर्षि सरल प्रकृतिवाला होने से, तुरन्त गुरु की आज्ञा स्वीकार कर लकड़ियाँ लेने जंगल में चला गया। इससे विपरीत रुद्र दुष्ट स्वभाववाला था, अतः गुरु-आज्ञा को स्वीकार किए बिना ही वहाँ से जाकर बालकों के साथ खेलने लगा। सन्ध्या के समय जब अंगर्षि जंगल से लकड़ियाँ लेकर आ रहा था, तब रुद्र उसे देखकर भयभीत हुआ। इतने में उसने एक वृद्धा को भी सिर पर लकड़ियाँ उठाकर लाते हुए देखा। बिना विचार किए रुद्र ने उसी क्षण उस वृद्धा को मार दिया और उसे गह्वे में गाड़ दिया, फिर तुरन्त उन लकड़ियों के गट्टर को उठाया और शीघ्रता से आश्रम में पहुँचकर गुरुजी से कहने लगा- “हे उपाध्यायजी! आपको जो शिष्य प्रिय है, वह कितना पापी है, उसे आपने कभी देखा?” गुरु द्वारा स्पष्ट बात पूछने पर उसने कहा- “गुरुजी! आपके सामने तो वह पापी जंगल जाने के लिए रवाना हुआ और पीछे से वह पूरे दिन बच्चों के साथ खेलता रहा, फिर शाम

होते ही उसने एक वृद्धा के सिर पर गट्टर देखकर उसको मार दिया। अब वह लकड़ियों का गट्टर लेकर जल्दी से इधर ही आ रहा है। यदि आपको विश्वास नहीं हो, तो आप स्वयं चलकर देख लीजिए।” इस प्रकार रुद्र द्वारा अंगर्षि के सम्बन्ध में मनगढ़न्त बनाई गई बातों को सुनकर उपाध्याय को उस पर तीव्र क्रोध हुआ और उसके आते ही उन्होंने कहा- “हे पापी! तूने ऐसा अकार्य किया? जा मेरी नजरों से दूर हो जा! ऐसे दुष्ट शिष्य को अध्ययन कराने से क्या लाभ है?”

उपाध्याय के मुख से इन शब्दों को सुनकर अंगर्षि पर मानों वज्रपात हुआ। वह अत्यन्त खेद करता हुआ चिन्तन करने लगा- ‘हे पापी जीव! पूर्व भव में अवश्य ही तूने घोर पापकर्म किया होगा, जिससे तुझ पर अति दुःसह, असत्य आरोप लगा।’ इस तरह चिन्तन-मनन करने से अंगर्षि को जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञान से पूर्वभव को जानकर उसने संयम स्वीकार किया और शुभध्यान से शुक्लध्यान में आरुढ़ हुआ। इस तरह उसने सर्वकर्मों को क्षयकर केवलज्ञान को प्राप्त किया। इससे अंगर्षि की सर्वत्र प्रशंसा हुई और रुद्र की सर्वत्र निन्दा होने लगी।

सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है कि एक बार भी किया हुआ अभ्याख्यान का पाप (जघन्य से) कम-से-कम दस गुना होता है और तीव्रतर प्रद्वेष करने से करोड़ गुना से भी बहुत ज्यादा पाप लगता है, अतः मनुष्य को सर्वप्रथम इस अभ्याख्यान-दोष का परित्याग कर देना चाहिए।

निर्दोष व्यक्ति पर दोषारोपण करना अभ्याख्यान है। ईर्ष्यालु व्यक्ति परसुख-असहिष्णु होता है, क्योंकि ईर्ष्या के वशीभूत होकर वह किसी व्यक्ति के उत्कर्ष या प्रतिष्ठा को सहन नहीं कर पाता है, और उस व्यक्ति में दोष नहीं होने पर भी उस पर मिथ्या दोषारोपण करता है, जिससे उसका अपयश हो। ईर्ष्यालु जीव कुटिल होता है, इसके परिणामस्वरूप वह तीव्र पापों का बन्ध करके अतिशय दुःख को प्राप्त होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने रुद्र और अंगर्षि के कथानक दिए हैं। यह कथानक हमें मात्र आवश्यकवृत्ति (पृ. ७०४) में सम्प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्यश्री ने प्रस्तुत कथानक का चयन आवश्यकवृत्ति से ही किया होगा।



क्षुल्लक मुनि की कथा

इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से जहाँ अरति उत्पन्न होती है, वहीं उसकी प्राप्ति होने से उस पर रति उत्पन्न होती है। इस तरह अरति और रति को संसार भावना का कारण जानकर इष्ट विषय पर रति न हो और अनिष्ट विषय पर अरति न हो-ऐसे समताभाव से आराधना करना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में क्षुल्लक मुनि की निम्न कथा वर्णित है :-⁷⁸⁹

साकेत नगर में पुण्डरीक नाम का राजा रहता था। उसका कण्डरीक नाम का छोटा भाई था। कण्डरीक की पत्नी का नाम यशोभद्रा था। एक दिन पुण्डरीक की दृष्टि यशोभद्रा पर पड़ी। उसे देखते ही राजा उस पर आसक्त हो गया। राजा ने उसको प्राप्त करने की लालसा से दासी के साथ यशोभद्रा को सन्देश कहलवाया। यशोभद्रा द्वारा स्पष्टतया अस्वीकार कर देने पर भी राजा उससे अति आग्रह करने लगा। यशोभद्रा ने राजा से कहा- “क्या आपको अपने छोटे भाई की पत्नी से यह कहते हुए शर्म नहीं आती है, अन्यथा क्या आपको परलोक का भय नहीं लगता है, जो आप ऐसा पापकार्य करना चाहते हो?” कामासक्त बने हुए राजा ने अपने छोटे भाई को गुप्त रूप से मरवा दिया। पुनः, राजा यशोभद्रा के पास आकर विषय-भोगों को भोगने का आग्रह करने लगा। तभी यशोभद्रा अपने शील की सुरक्षा के लिए कुछ आभूषणों को लेकर मौका मिलते ही एक रात्रि को राजमहल से निकल गई।

जंगल में भटकती हुई वह एक दिन श्रावस्ती नगरी में पहुँची। वहाँ श्रीजिनसेनसूरि की शिष्या कीर्तिमति नाम की महत्तरा अपने साध्वीमण्डल के साथ विराजित थी। यशोभद्रा साध्वी के दर्शन हेतु वहाँ गई। साध्वी द्वारा पूछने पर उसने अपना सर्ववृत्तान्त कह सुनाया। साध्वीजी ने लाभ जानकर उसे धर्मोपदेश दिया, जिससे वैराग्य पाकर उसने दीक्षा स्वीकार कर ली, परन्तु अपने गर्भ-धारण की बात गुप्त रखी। कालान्तर में उसका गर्भ बढ़ता देख एक दिन साध्वी ने उससे एकान्त में इसकी सत्यता पूछी, तब उसने अपनी सत्य बात बताई। इस कारण से उसको प्रसव होने तक एक गुप्त स्थान पर रखा गया। उचित समय पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया, तथा उसका पालन-पोषण एक श्रावक के यहाँ होने लगा। कुछ वर्ष पश्चात् उस बालक ने आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। छोटा होने से उसका नाम क्षुल्लककुमार मुनि पड़ा। उसने साधु-जीवन की सामाचारी आदि का गहन अध्ययन किया, लेकिन यौवनावस्था में संयमजीवन का पालन

उसके लिए कटिन हो गया। वह अपनी माता साध्वी से संयम त्यागने की बात कहने लगा। साध्वी ने उसे अनेक दृष्टान्त देकर समझाया, फिर भी नहीं मानने पर उसने कहा- “मेरे कहने से बारह वर्ष तक तू रुक जा।” क्षुल्लक मुनि ने बारह वर्ष तक फिर संयम का पालन किया। जैसे ही बारह वर्ष पूर्ण हुए, वह पुनः जाने की इच्छा व्यक्त करने लगा। ऐसा होने पर माता साध्वी ने अपनी गुरुणीजी की तरफ से बारह वर्ष और रोका, इसी तरह आचार्य के कहने पर भी वह बारह वर्ष रुका और उपाध्याय के कहने पर फिर बारह वर्ष रुका। इस प्रकार अड़तालीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी संसार के प्रति उसकी आसक्ति बनी रही। पूर्वकर्म का उदय जानकर माता साध्वी ने पूर्व में अपने साथ लाए हुए रत्न, कम्बल और उसके पिता के नाम की अंगूठी निकालकर उसे दी और कहा- “हे पुत्र! साकेत नगर में पुण्डरीक राजा के पास जाना, वे तेरे पिताजी के बड़े भाई हैं। तू उन्हें ये अंगूठी दिखाना, जिससे वे पहचान जाएंगे और तुझे राज्य दे देंगे।”

वहाँ से निकलकर क्षुल्लकमुनि साकेत नगर पहुँचा। क्षुल्लककुमार जब राजमहल के अन्दर गया, तो वहाँ नाटक चल रहा था। वह भी वहाँ बैठकर नाटक देखने लगा। नाटक के दौरान पूरी रात्रि नाचते रहने के कारण जब नटनी थक गई, तब अक्का (नटनी के पिता) ने कहा- “बहुत गई, थोड़ी रही, थोड़ी भी जाए। थोड़े समय के कारणे, ताल में भंग न आए।” अर्थात् अब मात्र थोड़े समय के लिए प्रमाद मत कर। ऐसा सुनकर क्षुल्लककुमार ने उस नारी को रत्नकम्बल भेंट में दिया। राजकुमार ने भी रत्नकुण्डल भेंट में दिया तथा किसी ने स्वर्णहार, किसी ने रत्नजड़ित कंगन-इस प्रकार सभी ने उसे बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की।

इन सबका रहस्य जानने के लिए राजा ने सर्वप्रथम क्षुल्लक से पूछा- “हे भद्र! तूने यह वस्तु क्यों दी?” क्षुल्लक ने प्रारम्भ से अपना वृत्तान्त कह सुनाया। फिर कहने लगा- “हे राजन्! मैं यहाँ राज्य प्राप्त करने आया था, परन्तु गीत की पंक्तियाँ सुनकर मुझे सम्यक् बोध जाग्रत हुआ, जिससे मैं पुनः दीक्षा में स्थिर बना हूँ और इसलिए मैंने उसे गुरु मानकर रत्नकम्बल भेंट दिया है।” फिर उसको पहचानकर राजा ने कहा- “हे पुत्र! राज्य स्वीकार कर।” क्षुल्लक ने कहा- “अब मुझे इस राज्य से क्या प्रयोजन है?” इसके बाद राजकुमार से पूछने पर उसने कहा- “मैं आपको भारकर राज्य प्राप्त करना चाहता था, परन्तु इस गीत ने मुझे अनर्थ कार्य करने से रोका तथा राज्य की मेरी इच्छा अब वैराग्य में बदल गई।” इस तरह राजा सभी के अभिप्रायों को सुनकर प्रसन्न हुआ तथा उसने उनको आज्ञा दी कि तुम सबको जो योग्य लगे, वैसा करो। अन्त में राजासहित सभी ने उसी समय क्षुल्लकमुनि के पास दीक्षा ली।

इस तरह क्षुल्लकमुनि पुनः सकलजन के पूज्य बने और सभी के साथ वहाँ से विहारकर चल दिए।

संयम-भार उठाने में थके क्षुल्लक मुनि के समान धर्म में अरति और अधर्म में रति व्यक्ति को संसार में शोक का पात्र बना देती है। रति-मोहनीयकर्म के वशीभूत बना जीव कीचड़ में फंसी हुई वृद्ध गाय की तरह इस लोक के कार्य को भी सिद्ध नहीं कर सकता है, तो परलोक के कार्य को किस तरह सिद्ध करेगा।

संवेगरंगशाला में वर्णित इस कथानक में जिनचन्द्रसूरि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मुनि को गलत कदम उठाने से पहले गुरुजनों की आज्ञा लेना चाहिए। इससे व्यक्ति का पतन होने से बचाव होता है। इसी सम्बन्ध में क्षुल्लक मुनि की कथा दी गई है, जो हमें अन्य किसी जैन-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती है।



सुबन्धु मन्त्री और चाणक्य की कथा

किसी के गुप्त सत्य या असत्य दोष को प्रकाशित करना पैशुन्य कहलाता है तथा ऐसा व्यक्ति चुगलखोर कहा जाता है। चुगलखोर कुल्हाड़ी के समान है, जो मनुष्य के प्रेमरूपी काष्ठों (लकड़ियों) को चीरता है और परस्पर वैर करवाता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में सुबन्धु मन्त्री और चाणक्य की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁹⁰

पाटलीपुत्र नगर में मौर्यवंशी बिन्दुसार नामक राजा राज्य करता था। उसका चाणक्य नामक एक उत्तम मन्त्री था। वह जैनधर्म में रत होकर शासन-प्रभावना करता हुआ दिन व्यतीत करता था। एक दिन नन्द राजा का सुबन्धु मन्त्री पूर्व वैर के कारण चाणक्य के दोषों का निरीक्षण करके राजा से कहने लगा- “हे देव! चाणक्य ने आपकी माता को छुरी से पेट चीरकर मारा था, अतः आपका इससे बड़ा शत्रु और कौन हो सकता है?” ऐसा सुनकर राजा ने धायमाता से पूछा, तो उसने भी यही उत्तर दिया, लेकिन मूल बात धायमाता ने गुप्त रखी। उसी समय चाणक्य को राजसभा में आते देखकर क्रोधातुर बना राजा उससे विमुख हो गया।

⁷⁹⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ६३४१-६३७५.

‘शायद किसी ने राजा की मर्यादा का अपमान किया है, किन्तु इस तरह मुझसे विमुख होने का क्या कारण हो सकता है’- ऐसा विचारकर चाणक्य घर चला आया। औत्पातिकी-बुद्धि से युक्त चाणक्य ने राजा के क्रोधित होने का कारण जान लिया। फिर उसने ऐसा विचार किया- ‘मैं ऐसा कोई कार्य करूँ, जिससे उस व्यक्ति को लम्बे समय तक दुःख प्राप्त हो।’ चाणक्य ने थोड़ा सुगन्धित चूर्ण तैयारकर उसे एक डिब्बे में डाल दिया, साथ में एक भोजपत्र पर यह लिखकर भी उस डिब्बे में रखा कि जो पुरुष इसे सूँघकर इन्द्रिय-विषयसुख का भोग करेगा, उसकी मृत्यु होगी, अथवा जो वस्त्र, आभूषण, आदि पर या स्नान तथा श्रृंगार करके इसका विलेपन करेगा, वह शीघ्र मर जाएगा। इसके बाद चाणक्य ने उस डिब्बे को एक सन्दूक में रखकर उसे कमरे में रखा और कमरे का दरवाजा बन्दकर उस पर बड़ा-सा ताला लगा दिया। तत्पश्चात् स्वजनों को जैन-धर्म में योजितकर स्वयं ने इंगिनीमरण, अर्थात् अनशन स्वीकार कर लिया।

इधर धायमाता राजा से कहने लगी- “हे राजन्! तेरे पिता से भी अधिक पूजनीय चाणक्य मन्त्री का तूने पराभव क्यों किया?” तब राजा द्वारा पुनः प्रश्न पूछने पर धायमाता ने कहा- “जब तू माँ के गर्भ में था, तब विषमिश्रित आहार का कौर खाते ही जहर से व्याकुल होकर तेरी माता मर गई, तब तुरन्त तुझे बचाने के लिए चाणक्य ने तेरी माता का पेट छुरी से चीरा और तुझे निकालकर बचाया। अगर उसने तुझे नहीं निकाला होता, तो आज तू इस दुनियाँ में नहीं होता। उस समय तेरे मस्तक पर विषबिन्दु लगने से निशान हो गया था, इसी से तेरा नाम बिन्दुसार रखा गया।” ऐसा सुनते ही राजा को अत्यन्त दुःख हुआ और वह तुरन्त आडम्बरसहित चाणक्य के पास गया। वहाँ उसने चाणक्य को उपले के ढेर (गोबर) के धर के ऊपर बैठा देखा। राजा ने उसे आदरपूर्वक नमस्कार किया। उसने अनेक बार क्षमायाचना की। फिर राजा ने महात्मा चाणक्य को नगर में पधारने और राज्य को सम्भालने के लिए कहा। उस समय चाणक्य ने कहा- “मैंने अनशन स्वीकार कर लिया है। अब मुझे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है।” सुबन्धु की ही चालबाजी थी-ऐसा जानते हुए भी उसने राजा से कुछ नहीं कहा। सुबन्धु ने राजा से महात्मा की सेवा करने की आज्ञा मांगी। सुबन्धु राजा द्वारा आज्ञा प्राप्तकर धूप जलाकर उसके अंगारे उपले के ढेर पर डालने लगा, फिर भी चाणक्य शुद्धलेश्या में स्थित रहा। इससे वह अग्नि में जल गया और अन्त में मरकर वह देव बना। सुबन्धु मन्त्री उसके मरण का आनन्द मनाने लगा।

किसी दिन सुबन्धु मन्त्री राजा से आज्ञा प्राप्त कर चाणक्य के घर गया। वहाँ घर पर मजबूत ताले को देखकर 'सारा धन यहीं होगा'- ऐसा विचारकर धन की आशा में उसने ताले को तोड़ा और पेटी बाहर निकाली। पेटी में से उसने उस डिब्बे को निकालकर खोला, उसके अन्दर रखे सुगन्धित चूर्ण को उसने सूँघा और साथ में रखा हुआ भोजपत्र भी पढ़ा। मन्त्री उसका सम्यक् अर्थ समझ गया। उस चूर्ण का प्रभाव देखने के लिए उसने एक पुरुष पर उसका प्रयोग करने हेतु उसे चूर्ण सुँघाया। उस चूर्ण के सूँघने के पश्चात् उस पुरुष ने भोग किया, जिससे वह मर गया। सुबन्धु ने कहा- "अरे चाणक्य! स्वयं मरते हुए भी तूने मुझे भी मार डाला।" इन्द्रिय-विषयसुखों को भोगने की इच्छा होने पर भी वह मन्त्री उन भोगादि का त्याग कर रहने लगा, क्योंकि उसने भी उस चूर्ण को सूँघा था और यदि वह विषयभोग करता, तो वह स्वयं भी मर जाता।

कहा भी गया है कि दूसरे के मस्तक पर छेदन करना अच्छा है, लेकिन चुगली करना अच्छा नहीं है। यह एक दोष भी उभयलोक को निष्फल करनेवाला है, अतः आराधक को अनेक दोष से युक्त पैशुन्य का मन से ही त्याग कर देना चाहिए।

मिथ्या दोषारोपण करनेवाला तथा पिशुनवृत्तिवाला दूसरों के दोषों को देखता है। उसकी दृष्टि छिद्रान्वेषी होती है। गम्भीरता के अभाव और संकीर्ण मनः-स्थिति होने के कारण ऐसे व्यक्ति में मैत्रीभाव एवं वाणी का विवेक नहीं होता है। विवेकशील व्यक्ति विचारपूर्वक वाणी का उपयोग करता है, किन्तु अज्ञ-पुरुष किसी की बात को उसके परिणाम का विचार किए बिना ही सबके समक्ष प्रकाशित कर देता है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सुबन्धु और चाणक्य का कथानक उल्लेखित है। प्रस्तुत कथानक हमें व्यवहारवृत्ति (१०/५६२), निशीथचूर्ण (भाग-२, पृ.-३३), मरणसमाधि (गा. ४७८), प्राचीन आचार्यविरचित आराधनापताका (भाग २, पृ. ७२) एवं भगवतीआराधना (पृ. ८०५) आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।



सती सुभद्रा की कथा

दूसरों के दोषों को अन्य के समक्ष प्रकट करना ही परपरिवाद कहलाता है। यह परपरिवाद मात्सर्यवृत्ति का उत्कर्ष दिखाने की भावना से ही उत्पन्न होता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति हमेशा दूसरों के छिद्रों (कमियों) को देखता है। परपरिवाद संघर्ष और विवाद का मुख्य कारण है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सती सुभद्रा की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁹¹

चम्पानगरी में एक बौद्ध व्यापारी का पुत्र रहता था। उसने किसी प्रसंग पर जिनदत्त श्रावक की सुभद्रा नामक पुत्री को देखा, जिससे उसके प्रति उसे तीव्र राग उत्पन्न हुआ तथा उसके रूप में मोहित बना वह बौद्धपुत्र उससे विवाह करने का इच्छुक हुआ। एक दिन उसने विवाह के लिए जिनदत्त श्रावक से प्रार्थना की, लेकिन जिनदत्त श्रावक ने किसी मिथ्यादृष्टि के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने से इंकार कर दिया। फलतः, उसने एक कपटवृत्ति अपनाई और जैन-मुनि के पास जाकर श्रावकधर्म स्वीकार कर लिया। इस तरह उसने बौद्धधर्म से अपने-आपको जैनधर्म में परिवर्तित कर लिया। प्रतिदिन उसे धर्म-श्रवण करते देखकर जिनदत्त श्रावक ने विचार किया- 'लगता है इसे जैनधर्म के प्रति सच्चा अनुराग हो गया है और ऐसा मानकर उसने सुभद्रा का विवाह उसके साथ कर दिया तथा कहा कि इसकी धर्म-साधना में कहीं आंच न आए, इसका ख्याल रखना, क्योंकि विपरीत धर्म से युक्त स्वजनों के साथ रहकर वह अपनी धर्मसाधना नहीं कर पाएगी। अपने श्वसुर की आज्ञा को स्वीकार करने के बाद दोनों अपने घर पहुँचे। वहाँ जाकर सुभद्रा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की सेवा, पूजा तथा सुपात्रदान, आदि धर्मक्रिया करने लगी, परन्तु श्वसुरपक्ष हमेशा उसके छिद्र देखता रहता और उसकी निन्दा करता, फिर भी वह सद्धर्म में रत रहती थी।

किसी दिन एक मुनि भिक्षार्थ उसके घर पधारे। उस समय मुनि की आंखों में तृण गिरा हुआ था। 'मुनि को पीड़ा होती होगी'- ऐसा विचारकर सुभद्रा ने सावधानी से विशेष स्पर्श किए बिना जीभ से तृण निकाल दिया, लेकिन इस दौरान सुभद्रा के मस्तक का तिलक मुनि के मस्तक पर लग गया। इस दृश्य को सुभद्रा की ननन्द ने दूर से देखा और वह अपने भाई से बोली- "तेरी स्त्री ने अभी एक मुनि के साथ काम-भोगकर उसको विदा किया है। यदि तुझे मुझ पर विश्वास नहीं है, तो उस मुनि के ललाट को देखा।" उसने मुनि के ललाट पर तिलक देखा और बिना विचार किए ही वह सुभद्रा की उपेक्षा करने लगा।

⁷⁹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ६४००-६४३६.

इस तरह ससुराल-पक्ष में उसे दोषी घोषित कर दिया गया। पति को अपने से पराङ्मुख देखकर तथा लोगों के मुख से जैनधर्म की निन्दा सुनकर सुभद्रा ने परमात्मा की पूजन, आदि क्रिया की और कहा- “जब तक शासनदेव मेरी सहायता नहीं करेंगे, तब तक मैं कायोत्सर्ग पूर्ण नहीं करूँगी।” उसकी भावभक्ति से सम्यग्दृष्टि देव प्रसन्न हुआ और उसने कहा- “हे भद्रे! मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ?” तब सुभद्रा ने कायोत्सर्ग पूर्णकर कहा- “हे देव! तुम्हें ऐसा कार्य करना है, जिससे जिनशासन की जो निन्दा हो रही है, वह दूर हो जाए और शीघ्र जैनधर्म की महती प्रभावना भी हो जाए।” देव तथास्तु कहकर अदृश्य हो गया। दूसरे ही दिन नगर के चारों दरवाजे बन्द हो गए। इससे नगरजन आकुल-व्याकुल होने लगे। कुछ समय बाद आकाश से देववाणी हुई- जिस दिन शीलवती स्त्री के द्वारा चलनी में जल लेकर द्वार पर छीटे डाले जाएँगे, उस दिन ही ये द्वार खुलेंगे। इस पर राजा की अनेक रानियाँ, उत्तमकुल की पुत्रवधुएँ आदि अनेक स्त्रियाँ द्वार खोलने के लिए आने लगी, किन्तु चलनी में जल स्थिर नहीं रह पाने के कारण वे सभी द्वार खोलने में असमर्थ हुईं। इससे जन-समूह व्याकुल होने लगा और पुनः शीलवती स्त्री की खोज होने लगी।

उस समय सुभद्रा अपनी सास से कहने लगी- “माँ! यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं भी द्वार खोलने जाऊँ।” तब सास हँसते हुए कहने लगी- “बाह! अपने-आपको सती-सावित्री समझती है, जा देखें तो सही, तू कैसी सती है?” सास द्वारा इस तरह प्रत्युत्तर देने पर सुभद्रा तुरन्त स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर वहाँ पहुँची। वहाँ पहुँचकर सुभद्रा ने चलनी में जल भरा और द्वार पर डाला। इस तरह तीनों द्वारों पर पानी डाला और तीनों द्वार खुल गए। “इस चौथे द्वार को मेरे समान कोई शीलवती स्त्री ही खोलेगी, तब यह खुलेगा”- ऐसा कहकर चौथे द्वार को उसने यूँ ही छोड़ दिया। उसी समय राजा तथा प्रजाजनों द्वारा जैनधर्म की खूब प्रशंसा हुई और उसका बहुत सत्कार हुआ। नगरजनों द्वारा सम्मान प्राप्त कर सुभद्रा जब घर पहुँची, तब सभी ने वस्तुस्थिति पहचानी। सभी ने सुभद्रा की प्रशंसा की और उसके ससुराल-पक्ष की खूब निन्दा की।

संयम में उद्यमशील साधु को आत्मप्रशंसा, परनिन्दा, जिह्वालोपुता, जननेन्द्रिय-लोलुपता और कषाय- ये पाँचों संयम से भ्रष्ट करते हैं। परपरिवाद का विपाक अतिकटु है, अनेक संकटों का समूह है, जन्म-जन्मान्तर में दुर्गति में गिरानेवाला है। जो व्यक्ति दूसरों के प्रति मात्सर्यभाव रखकर अपनी आत्मश्लाघा के लिए परनिन्दा करता है, वह कई जन्मों तक निम्न योनियों में परिभ्रमण करता है।

परपरिवाद, अर्थात् दूसरों की चुगली या निन्दा करना। अभ्याख्यान एवं परपरिवाद में अन्तर यह है कि अभ्याख्यान में तीव्र द्वेष की परिणति में झूठा कलंक लगाया जाता है, जबकि परपरिवाद में ईर्ष्यावश, अथवा परनिन्दा का व्यसन होने से दूसरे की आलोचना की जाती है। निन्दक को पीठ का मौसभसक कहा गया है। संवेगरंगशाला में इस सम्बन्ध में सुभद्रा की कथा दी गई है। आचार्य जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत यह कथानक हमें आवश्यकचूर्णि (भाग-२, पृ. २६६-२७०), व्यवहारवृत्ति (भाग-२, पृ. ३४), स्थानांगवृत्ति (पृ. २५७), बृहत्कल्पवृत्ति (पृ. १६३३), दशवैकालिकचूर्णि (पृ. ४८), आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।



कूट तपस्वी की कथा

कुटिलता से युक्त मृषावचन को माया मृषावाद कहा गया है। यह मैत्री का नाशक, विनय का भंजक और अकीर्ति का कारण है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष इसका आचरण नहीं करता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में कूट तपस्वी की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁹²

उज्जयिनी नगरी में शिव नाम का एक कपटी ब्राह्मण रहता था। वह सबको ठगने का कार्य करता था, इसलिए लोगों ने उसे नगर से बाहर निकाल दिया और वह अन्य देश को चला गया। वहाँ वह चोरों की मण्डली के साथ मिल गया और उनसे कहने लगा- “यदि तुम मेरी सेवा करोगे, तो मैं साधु बनकर लोगों से धन का स्थान जानकर तुमको बताऊँगा, फिर तुम सभी सुखपूर्वक चोरी करना।” सभी ने उसकी बात मान ली। वह त्रिदण्डी का वेश धारणकर तीन गाँवों के बीच उपवन में रहने लगा। इधर चोरों ने गाँव में प्रचार किया कि यहाँ ज्ञानी एवं महातपस्वी साधु विराजित हैं, जो सभी की मनोकामना पूर्ण करते हैं। ऐसी बात जानकर लोग उस नकली कूट तपस्वी की सेवाभक्ति करने लगे और उससे अपने धन-वैभव की बात भी बताने लगे। प्रतिदिन गाँव के लोग उसकी सेवा करते, लेकिन वह बगुले की तरह ऊपर से स्वयं को उपकारी दिखाता और अन्दर से चोरों को उनके भेद बताता तथा रात्रि में उनके साथ जाकर चोरी भी कर लेता। कालान्तर में उन ग्रामों में एक भी घर ऐसा नहीं बचा, जिसमें चोरी न हुई हो।

⁷⁹² संवेगरंगशाला, गाथा ६४५४-६४७१.

एक बार जब वे सभी चोर एक घर के पास सेंध लगा रहे थे, तब उस घर के मालिक ने उन्हें देखा। वह उस सेंध के मुख के पास आकर खड़ा हो गया। एक चोर को साँप की तरह घर में घुसते हुए देखकर उसने उसे तुरन्त पकड़ लिया। अपने साथी को पकड़ते हुए देखकर दूसरे सभी चोर भाग गए। दूसरे दिन प्रातःकाल उस पुरुष ने चोर को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। राजा ने चोर से कहा- “यदि तू सत्य कहेगा, तो तुझे छोड़ दिया जाएगा”, किन्तु उसने कुछ भी नहीं कहा। जब चाबुक तथा दण्ड से उसे मारा गया, तब उसने सर्व सत्य-वृत्तान्त कहा। इस तरह सर्ववृत्तान्त जानकर तुरन्त ही उस कपटी त्रिदण्डी साधु एवं चोरों को पकड़कर लाया गया और उनको तब तक मारा गया, जब तक उन लोगों ने अपने दुराचारों को स्वीकार नहीं किया। बाद में, ‘यह त्रिदण्डी ब्राह्मणपुत्र है’- ऐसा जानकर राजा ने उसकी दोनों आँखें निकलवा दीं और उसका खूब तिरस्कार करवाकर नगर से बाहर निकाल दिया।

जब वह ब्राह्मण भिक्षा के लिए घर-घर भटकने लगा, तब लोगों के द्वारा फिर तिरस्कृत किया गया। इस दुःख से पीड़ित होकर पश्चाताप करते हुए वह विचारने लगा- ‘हा! मैंने यह कैसा कार्य किया है?’ ऐसा विचार कर वह स्वयं पछताने लगा।

इस कथा का सार यह है कि अविनय एवं अन्याय के भण्डाररूप माया मृषावाद का त्याग करके मन में समाधि प्राप्त करना चाहिए।

कपटयुक्त मृषावचन (मायामृषावाद) मनुष्यों के मनरूपी हरिण को वश में करने के लिए जल के समान है। यह अनन्त भवों तक कटुफल देनेवाला है। जैसे- खट्टे पदार्थ से दूध बिगड़ जाता है, वैसे ही मायामृषावाद से धर्मक्रिया भी निष्फल हो जाती है। यदि मायामृषावाद में अनेक दोष नहीं होते, तो पूर्व मुनिजन इसका त्याग करने को नहीं कहते।

इस कथा का उल्लेख हमें अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।



जमाली की कथा

जिन-प्रणीत तत्त्वों के विपरीत मान्यता या श्रद्धा ही मिथ्यादर्शन है। यह शल्य की तरह दुःख देनेवाला होने से इसे मिथ्यादर्शन-शल्य कहा जाता है। शल्य दो प्रकार के हैं-प्रथम द्रव्यशल्य, जैसे- भाला, तलवार आदि, शस्त्र और द्वितीय भावशल्य, जैसे- मिथ्यादर्शन। इस विषय पर संवेगरंगशाला में जमाली की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁹³

जहाँ एक ओर जमाली भगवान् महावीर की बहिन का पुत्र था, तो दूसरी ओर वह उनका जामाता भी था। उसने राज्य-सुखों को त्यागकर पाँच सौ राजपुत्रों के साथ दीक्षा ली थी। जमाली श्रद्धापूर्वक धर्मसाधना करता था। एक दिन जमाली को पित्तज्वर की तीव्र पीड़ा हुई। असहनीय पीड़ा होने पर उसने शयन के लिए स्थविरो को संधारा बिछाने को कहा। जमाली के कहने पर साधु शीघ्रता से संधारा बिछाने लगे। दर्द सहन करने में असमर्थ होने से थोड़े ही समय बाद जमाली ने पुनः साधुओं से पूछा- “क्या संधारा बिछा दिया गया है, अथवा नहीं?” साधुओं ने थोड़ा ही संधारा बिछाया था, अतः उन्होंने कहा कि संधारा बिछा दिया गया है। जमाली उस स्थान पर आया और संधारे को बिछाते हुए देखकर सहसा अमित हुआ। उसने कहा- “हे मुनियों! तुम असत्य क्यों बोल रहे हो? संधारा बिछाते हुए भी संधारे को बिछा दिया गया-ऐसा क्यों बोलते हो?” स्थविरो ने कहा- “जिस कार्य का प्रारम्भ हो गया हो, वह कार्य हुआ, अर्थात् क्रियमान कृत्य है- ऐसा वीर परमात्मा कहते हैं, तो बिछाते हुए संधारे को, बिछा दिया ऐसा कहने में क्या अयुक्त है?” स्थविरो द्वारा समझाने पर भी वह इस मिथ्या मान्यता से ग्रसित हो गया कि क्रियमान् अकृत है। अपने दुराग्रह से वह सम्पक्व से च्युत हुआ और यह मानने लगा कि कार्य पूर्ण होने पर ही कार्य हुआ- ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार गलत पक्ष की स्थापना कर वह वीर प्रभु के शासन से निहान बना और दुष्कर तप करते हुए लम्बे समय तक पृथ्वीतल पर विचरण करने लगा।

भगवान् महावीर की पुत्री व जमाली की पत्नी प्रियदर्शना भी भगवान् के पास दीक्षा ली हुई थी, वह भी जमाली के मत को माननेवाली बनी। ढंक कुम्भकार द्वारा पुनः समझाने पर वह फिर से महावीर के सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाली बनी, किन्तु मिथ्याभिमान में डूबा हुआ जमाली अपने तप एवं संयम

⁷⁹³ संवेगरंगशाला, भाषा ६५०६-६५३८.

को विफल बनाकर अपनी मृत्यु के बाद लांतक-कल्प में किल्बिषिक-देव बना, साथ ही उसके चारित्र और ज्ञान के सभी गुण एकसाथ नष्ट हो गए।

कहा गया है कि मिथ्यात्व जितना अहित करता है, उतना अहित अग्नि, सर्प या जहर भी नहीं करते हैं। जैसे- स्वच्छ जल से धोए हुए कड़ुए पात्र में रखा हुआ दूध दूषित हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्व से कलुषित जीव में प्रकट हुआ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप भी विनाश को प्राप्त होता है। यह मिथ्यादर्शनशल्य वस्तु का उल्टा/विपरीत बोध कराता है तथा सद्धर्म को दूषित करता है और संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण कराता है; इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव को इसका त्याग करना चाहिए। उसे विवекरूपी अमृत का पान कर, मिथ्यात्वरूपी जहर का वमन करके सम्यक्त्व की आराधना करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में मिथ्यादर्शनशल्य को समस्त पापों का मूल बताया गया है। मिथ्यात्वभाव के शल्य का आत्मा की गहराइयों में प्रविष्ट होना ही मिथ्यात्वशल्य है। स्थानांग में मिथ्यात्व के दस रूपों का उल्लेख किया गया है- धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, मार्ग को कुमार्ग, कुमार्ग को मार्ग, जीव को अजीव, अजीव को जीव, साधु को असाधु, असाधु को साधु, मुक्त को अमुक्त, अमुक्त को मुक्त समझना। संवेगरंगशाला में यह भी कहा गया है कि पुण्योदय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर भी मिथ्याभिमानरूपी मदिरा से मदोन्मत्त बना हुआ जीव सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है। इस विषय में संवेगरंगशाला में उपर्युक्त जमाली की कथा उल्लेखित है। प्रस्तुत कथानक हमें आवश्यकनिर्युक्ति (गा. ७८०), व्याख्याप्रज्ञप्ति (३८६-३८७), भगवतीवृत्ति (पृ. १६), समवायांगवृत्ति (पृ. १३२), स्थानांग (पृ. ५८७), निशीथभाष्य (पृ. ५५६७), सूत्रकृतांगचूर्णि (पृ. २७३), विशेषावश्यकभाष्य (पृ. २८०२-०७) आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।



ब्राह्मणपुत्र सुलस की कथा

जातिमद अनर्थों का मूल कारण है, इसके कारण व्यक्ति नीच योनियों में उत्पन्न होकर दुःखों से पीड़ित होता है। व्यक्ति जातिमद तभी कर सकता है, जब उसका उत्तम जाति, कुल, रूप, गुण, आदि हमेशा स्थिर रहें, अन्यथा वायु से फूली हुई मशक के समान मिथ्यामद करने से क्या लाभ? जातिमद करने से नीचगोत्र का ही बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में ब्राह्मणपुत्र का दृष्टान्त दृष्टव्य है-⁷⁹⁴

श्रावस्ती नगरी में नरेन्द्रसिंह नामक राजा रहता था। उसका अमरदत्त नामक एक राजपुरोहित था। उस पुरोहित को सुलस नामक एक पुत्र था। सुलस अपने श्रुतज्ञान, वैभव तथा राजा से प्राप्त सत्कार के आधार पर गर्व करता था, इसलिए वह निरकुश हाथी की तरह राजमार्ग में स्वच्छन्दतापूर्वक घूमता रहता था। एक दिन एक माली ने उसे आम्र-मंजरी भेंट में दी, जिससे वसन्त-ऋतु का आगमन हुआ जानकर वह नन्दन-उद्यान में गया। वहाँ के वनरक्षक द्वारा वन की प्रशंसा सुनकर दुगुने उत्साह से वह नन्दनवन में परिभ्रमण करने लगा। अचानक वहाँ वृक्षों के बीच एक मुनि को ध्यान में खड़े देखा। अपनी जाति का अभिमान करते हुए मुनि की हँसी करने के उद्देश्य से सुलस उनके पास आया और वन्दनकर कहने लगा- “हे भगवन्त! मैं संसार से भयभीत हुआ आपके पास आया हूँ, अतः आप मुझे धर्म सुनाइए, जिससे मैं आपकी चरण-सेवा करने के लिए आपके पास दीक्षा स्वीकार करूँ।

सरल स्वभावी मुनि ने उसे जिनेश्वर प्रणीत वचन कहे। धर्म का मूल जीवदया है। इससे मोक्ष प्राप्त होता है। मुनि के इस प्रवचन को श्रवणकर सुलस हँसते हुए कहने लगा- “जीवदया धर्म का मूल है और उसका फल मोक्ष है, ऐसा कहकर किसने तुझे टगा है? क्यों इस संसार के विषय-सुखों को छोड़कर कष्ट को सहन कर रहा है? इस पाखण्ड-पंथ को छोड़कर मेरे साथ चल और राजमहल में स्थित सुन्दर स्त्रियों के साथ स्वेच्छानुसार भोग-विलास करा।” ऐसा कहकर वह उस मुनि को हाथ

पकड़कर घर ले जाने लगा। सुलस द्वारा मुनि का हास्य करने से वनदेवी क्रोधित हुई और उसने सुलस को मूर्च्छित कर पृथ्वी पर गिरा दिया, फिर भी राग-द्वेषरहित मुनि ध्यान में स्थिर खड़े रहे। राजसेवकों ने सुलस को किसी तरह

उठाया और राजपुरोहित को सौंप दिया। उसने पिता से सारी बात बताई। पिता ने अपने पुत्र की स्वस्थता और शान्ति के लिए अनेक उपाय किए, परन्तु उनसे कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में उसे मुनि के पास ले जाया गया। पुरोहित ने मुनि से कहा- “हे भगवन्! इसने आपका अपमान किया है, आप इसे क्षमा कर, स्वस्थ कर दो।” वहाँ वनदेवी ने कहा- “यदि इसे जीवित देखना चाहते हो, तो इसे मुनि को सौंप दो।”

पुरोहित विचार करने लगा- ‘मुनि को सौंपने से मेरा पुत्र जीवित तो रहेगा और मैं इसे देख भी सकूंगा।’ अतः पिता ने मुनि को अपना पुत्र स्वीकार करने के लिए कहा। मुनि कहने लगे- साधु असंयमी गृहस्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि यह दीक्षा स्वीकार करता है, तो मेरे पास रहे। तब पिता के कहने पर अनिच्छा से उसने मुनि के पास दीक्षा स्वीकार की तथा विनयपूर्वक सूत्रों का गहन अध्ययन किया। इस तरह वह निरतिचारपूर्वक संयम का पालन करने लगा।

मद करने से अशुभ फल की प्राप्ति होती है-ऐसा जानते हुए भी उसने जातिमद को नहीं छोड़ा और अन्त में प्रायश्चित्त किए बिना ही मरकर वह सौधर्म-देवलोक में देव बना। वहाँ से च्यवनकर जातिमद-दोष के कारण नन्दीवर्द्धन नगर में चाण्डाल के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने अल्प सुकृत के योग से रूपादि गुणों से युक्त यौवनवय को प्राप्त किया। एक दिन वह नागरिकों को विलास करते देखकर विचार करने लगा कि शिष्टजनों के द्वारा निन्दित हुआ मुझे धिक्कार है। हे विधाता! यदि तूने मुझे निन्दित कुल में जन्म दिया है, तो रूपादि गुण किसलिए दिया? इस तरह विचारकर वह अन्य देश में चला गया, जहाँ उसकी जाति के विषय में कोई नहीं जानता था। वहाँ से कुण्डिननगर में पहुँचकर वह राजा के मन्त्री की सेवा करने लगा तथा अपने गुणों से उसने मन्त्री को प्रसन्न कर लिया। अब वह पाँचों इन्द्रियों के विषय-सुखों को भोगते हुए वहाँ रहने लगा।

एक दिन श्रावस्ती नगरी में घूमते हुए संगीत में कुशल उस चाण्डाल के मित्र वहाँ आए और मन्त्री को गीत सुनाने लगे। वहाँ मन्त्री के पास बैठे अपने मित्र को देखकर भविष्य में अहित का विचार किए बिना वे मित्र से कहने लगे- “हे मित्र! इधर आ! बहुत समय के बाद तेरे दर्शन हुए हैं।” इस तरह कहते हुए चाण्डाल के मित्र उसे पास बुलाकर उसका आलिंगन करने लगे तथा उसके पिता के बारे में बताने लगे। उन सभी मित्रों को देखकर वह मुँह छिपाकर वहाँ से चला गया। इससे विस्मित हुए मन्त्री ने उन चाण्डालों से उसका वृत्तान्त पूछा और उन्होंने सारी वास्तविकता बता दी। इससे चाण्डालपुत्र को सूली पर चढ़ाने का

आदेश दिया गया। राजपुरुषों ने उसे गधे पर बिठाकर तिरस्कारपूर्वक पूरे नगर में घुमाया और उसे सूली के पास ले गए, किन्तु उसका प्रसन्न रूप देखकर उन्हें उस पर करुणा उत्पन्न हुई और उन्होंने उसकी आँखों में अंजन डालकर उसे देश से बाहर भेज दिया। इस तरह भटकता हुआ अन्त में मरकर वह अनेक भव तक निम्न योनियों में उत्पन्न हुआ। फिर एक भव में मनुष्य बना और केवली भगवन्त से पूर्वभव को जानकर उसने दीक्षा स्वीकार की। अन्त में मरकर महेन्द्रकल्प में वह देवरूप में उत्पन्न हुआ।

इस तरह संसार में जातिमद के कारण जीव अनेक प्रकार की जातियों को प्राप्त करता है, किन्तु ये जातियाँ भी शाश्वत नहीं होती हैं। इस जीवन में राजा अथवा ब्राह्मण होकर भी जन्मान्तर में वह कर्मवश चाण्डाल भी होता है, तो उसे जातिमद से क्या लाभ? लोक में गुणवानों की ही पूजा होती है। जाति से श्रेष्ठ, किन्तु गुणों से हीन व्यक्ति की पूजा नहीं होती है।

प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का प्रयास करने पर भी हमें इस कथा का मूल स्रोत ज्ञात नहीं हुआ।



मरीचि की कथा

कीचड़ पर उत्पन्न हुए कमल को भी जैसे मनुष्य मस्तक पर धारण करता है, वैसे ही हीन कुल में जन्म लिया हुआ गुणवान् भी लोक में पूज्य बनता है। यदि उत्तम कुलवाले मनुष्य भी शील, बल, रस, आदि से रहित हों, तो कुलमद करने से क्या लाभ? इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में मरीचिपुत्र की निम्न कथा वर्णित है:-⁷⁹⁵

नाभि-पुत्र ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय युगलिकों की आवश्यकता को देखकर इन्द्र ने विनीता नगरी बसाई। ऋषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् भरत राजा विनीता नगरी में शासन करने लगे। उसकी वामा नाम की एक प्रिय रानी थी। उसका मरीचि नामक एक पुत्र था। बाल्यावस्था के बाद एक दिन वह भगवान् ऋषभदेव का प्रवचन श्रवण कर प्रतिबोधित हुआ और जीवन को कमलिनी-पत्र के अग्रभाग पर लगे हुए जलबिन्दु के समान अस्थिर और संसार की वस्तुओं को विनश्वर जानकर उसने भगवान् के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् स्थविरों के पास सूत्रों का अध्ययन करता हुआ वह भगवान् के साथ विचरने लगा।

⁷⁹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ६६२४-६६६८.

एकदा ग्रीष्मऋतु में सूर्य की किरणें तेज होने से, धरती तप्त हुई तथा गरम हवाएँ चलने लगीं, जिससे पसीने के कारण मरीचि के शरीर से दुर्गन्ध आने लगी। तब मरीचि अपनी आचार-मर्यादा में परिवर्तन पर चिन्तन करने लगा- 'मैं त्रिदण्ड धारण करनेवाला बनूँगा तथा क्षुर से मुण्डन करूँगा, चोटी रखूँगा, स्थूल हिंसा नहीं करनेवाला तथा अल्पपरिग्रह रखनेवाला बनूँगा। मोह से आच्छादित हुआ मैं छत्र, जूते और कषायवस्त्र को धारण करूँगा, क्योंकि कषाय से कलुषित मतिवाला मैं इनके योग्य ही हूँ। मैं परिमित सचित्त जल से स्नान करूँगा और उसका पान भी करूँगा।' इस तरह वह स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पना करके विचित्र युक्तियों से युक्त निर्ग्रन्थ साधुओं के विलक्षण वेशवाला होकर जिनेश्वर भगवान् के साथ विहार करता तथा भव्य जीवों को प्रतिबोध देकर उन्हें ऋषभदेव भगवान् के पास भेजता था।

एक दिन भरत ने वैभवशाली ऐश्वर्य से युक्त समवसरण को देखकर भगवान् ऋषभदेव से पूछा- "हे तात! आपके समान इस भरतक्षेत्र में और कितने तीर्थंकर होंगे?" जगद्गुरु ने कहा- "अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और होंगे। इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव भी होंगे।" भरत ने पुनः पूछा- "हे भगवन्त! क्या आपकी देव, मनुष्य, असुर की इतनी विशाल सभा में से कोई जीव भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है?" भगवान् ने भरत से कहा- "जो सिर से ऊपर छत्र धारण करनेवाला, यानी त्रिदण्ड को धारण करनेवाला है तथा इस समवसरण के बाहर स्थित है, वह मरीचि का जीव अन्तिम तीर्थंकर होगा। यही पोतनपुर में प्रथम वासुदेव होगा और महाविदेह क्षेत्र में मूकानगरी में चक्रवर्ती भी होगा।" यह सुनकर भरत हर्ष से प्रभु की आज्ञा लेकर मरीचि को वन्दन करने लगा। परम-भक्ति से युक्त भरत ने मरीचि की तीन प्रदक्षिणा की तथा सम्यक् प्रकार से वन्दन करके मधुर वचनों से कहा- "हे महाशय! आप धन्य हो! इस संसार में प्राप्त करने योग्य सब कुछ आपने प्राप्त किया।" मैं आपके इस परिव्राजक वेश को वन्दन नहीं करता हूँ, बल्कि आप भविष्य में अन्तिम तीर्थंकर होंगे, इसलिए मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके भरत चला गया।

भरत की इस बात को सुनकर मरीचि को अपार हर्ष हुआ और वह अपने विवेक को भूलकर त्रिदण्ड को तीन बार घुमाकर और अपनी भुजाओं को उठाकर लोगों से कहने लगा- "अहो देखो! मैं वासुदेवों में प्रथम वासुदेव हूँ, चक्रवर्ती भी हूँ और तीर्थंकरों में भी अन्तिम तीर्थंकर हूँ। अहो! मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। मैं वासुदेवों में प्रथम हूँ, मेरे पिता भी प्रथम चक्रवर्ती हैं और मेरे दादा भी प्रथम तीर्थंकर हैं। अहो! मेरा कुल कितना उत्तम है। इस तरह

अपने कुल की प्रशंसा करने से तीव्र भावावेश में उसने नीचगोत्रकर्म का बन्ध किया।

इस कर्मबन्धन के कारण वह छः भवों तक, अर्थात् भिक्षुक (ब्राह्मण) कुल में और अन्य कई भवों तक निम्न कुल में उत्पन्न हुआ। फिर वासुदेव चक्रवर्ती आदि की लक्ष्मी को भोगकर उसने अरिहन्त, आदि बीस-स्थानकों की आराधना की। अन्त में, अरिहन्त होने पर भी कुलमद से नीचगोत्र के बन्ध के कारण ब्राह्मण, अर्थात् भिक्षुक-कुल में देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। बयासी दिन बाद इन्द्र ने 'यह अनुचित है'- ऐसा जानकर हरिणगमेशी देव द्वारा सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला महारानी के गर्भ में उसका परिवर्तन कराया।

उचित समय पर उसका जन्म हुआ और देवों द्वारा मेरुपर्वत पर उसका जन्माभिषेक हुआ, बाद में उसने दीक्षा स्वीकार कर केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थंकर परमात्मा भी ऐसी अवस्था को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह जानकर सामान्य पुरुषों को कुलमद की इच्छा नहीं करना चाहिए। कुलमद के कारण उत्तमकुल में जन्म लेनेवाले व्यक्ति को हीन कुलवाले का मुख देखना पड़ता है, अर्थात् उसका दासत्व स्वीकार करना पड़ता है, अतः कुलमद करने की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है।

प्रस्तुत कथा का सार यह है कि अभिमान चाहे धन का हो, अथवा कुल का, वह जीव को चतुर्गति में परिभ्रमण कराता ही है। जैन-परम्परा में इस सम्बन्ध में मरीचि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उसकी कुल-परम्परा इस प्रकार थी- मरीचि के दादा प्रथम तीर्थंकर थे, पिता प्रथम चक्रवर्ती थे और वह स्वयं भी भविष्य में प्रथम वासुदेव एवं अन्तिम भव में २४वां तीर्थंकर होनेवाला था। इस तरह उसकी कुल परम्परा उच्च थी, फिर भी अभिमान करने के कारण अन्तिम भव में याचक कुल में गर्भ में आना पड़ा। प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने मरीचि का दृष्टान्त देते हुए, व्यक्ति को कुल का मद नहीं करना चाहिए-ऐसा निर्देश किया है। प्रस्तुत कथा हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. २२१-२२८) तथा कल्पसूत्रवृत्ति (पृ. ४१) में भी उपलब्ध होती है।



कांकदी के दो भाइयों की कथा

पुद्गल का स्वभाव सड़ना, गलना और विध्वंस होना है। चाहे सुगन्धित द्रव्य, बहुमूल्य वस्त्र, आभूषणादि के संयोग से इस शरीर की शोभा दिखाई देती हो, लेकिन भीतर से तो यह दुर्गन्ध से भरा हुआ है। बाहर केवल सुन्दर चमड़ी से लिपटे हुए ऐसे अस्थिरूप का मद करने का कोई भी आधार नहीं है, क्योंकि कर्मवश विरूपवाला भी रूपवान् और रूपवान् भी कुरूपवान् हो जाता है-इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में कांकदी के दो भाइयों की निम्न कथा वर्णित है-⁷⁹⁶

कांकदी नगरी में यश नामक एक धनपति सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम कनकवती था। उसके दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र वसुदेव, जो कामदेव के सदृश रूपवान् था तथा दूसरा पुत्र स्कन्दक अति कुरूप था। कौतुहलवश लोग दूर-दूर से इन दोनों को देखने के लिए आते थे। एकदा अवधिज्ञानी विमलयश नाम के आचार्य का वहाँ आना हुआ। उनका आगमन जानकर राजा अपने परिवार, नगरजन तथा उस धनपति के दोनों पुत्रों के साथ उनको वन्दन करने के लिए गया। वे सब आचार्य के चरणों में वन्दन करके अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठे। आचार्य की दृष्टि अचानक उन दोनों भाइयों पर गई। आचार्य ने अपने ज्ञानचक्षु से उनके पूर्वभव को देखा और विस्मित होकर कहने लगे- “अरे! यह कर्म का कैसा खेल है, जो सुरूप को कुरूप और कुरूप को सुरूप बना देता है।” जब पर्षदा के लोगों ने पूछ- “हे भगवन्त! इस तथ्य का क्या रहस्य है, जरा हमको भी सुनाइये”, तब आचार्य ने कहा- “सुनो! धनपति के ये दोनों पुत्र पूर्वभव में ताम्रलिप्ति नगरी में धनरक्षित और धर्मदेव नाम के दो मित्र थे। धनरक्षित रूपवान् तथा धर्मदेव विरूप था। दोनों मित्र परस्पर क्रीड़ा करते थे। धनरक्षित अपने रूपमद के कारण धर्मदेव की कुरूपता पर लोगों के समक्ष अनेक तरह से हँसी करता था। एक समय धनरक्षित ने धर्मदेव से कहा- “अरे मित्र! पत्नी के बिना गृहवास सूना है। यदि तुझे विवाह न करना है, तो यूँ ही क्यों दिन व्यतीत कर रहा है? इसकी अपेक्षा तो तू साधु बन जा।” सरल स्वभावी धर्मदेव ने उससे कहा- “हे मित्र! तेरी यह बात तो सत्य है, परन्तु संसार में स्त्री की प्राप्ति में दो मुख्य हेतु हैं, एक तो मनुष्य के मन को हरण करनेवाला रूप होना चाहिए और दूसरे उसके पास विशाल वैभव होना चाहिए, किन्तु दुर्भाग्यवश ये दोनों ही मेरे पास नहीं हैं। अगर तू अपनी बुद्धि द्वारा कोई उपाय निकाल दे, तो कुछ बात बन सकती है।” उसकी बात सुनकर धर्मरक्षित ने कहा- “हे मित्र! तू निश्चिन्त रह। मैं तेरी हर मनोकामना को पूर्ण कर दूँगा।” इस तरह धनरक्षित ने

अपने ही समान वैभववाली कुबेर सेठ की पुत्री के पास एक दूती भेजकर कहलवाया कि यदि वह बिना विकल्प के, धनरक्षित जो कहे उसे स्वीकार करे, तो धनरक्षित उसका विवाह कामदेव के समान रूपवाले पुरुष के साथ करा देगा। उसने निःशंकता से उसकी बात स्वीकार कर ली। धनरक्षित ने उसे रात्रि में मुकुन्द के मन्दिर में आने को कहा। धनरक्षित विवाह की उचित सामग्री लेकर प्रसन्नचित्त होकर धर्मदेव के साथ मुकुन्द मन्दिर पहुँचा।

उसी समय सिंहपुत्री भी मन्दिर में आई। तत्पश्चात् संक्षिप्त में दोनों की विवाहविधि पूर्ण की गई। धनरक्षित ने हर्षित होकर एक दीपक उसके सामने रखकर कहा- “हे भद्रे! पति के मुख का दर्शन तो करा।” उसने लज्जापूर्वक अपना मुख धीरे-धीरे ऊपर उठाया और दीपक के प्रकाश में धर्मदेव के वीभत्स चेहरे को देखा। उसका स्वयं का मुख भी वैसा ही था, केवल दाढ़ी-मूँछ के बालों से रहित होने का ही भेद था। वह क्रोधित हुई तथा मुँह मोड़कर कहने लगी- “हे धनरक्षित! निश्चय ही तूने मुझे धोखा दिया है। कामदेव के समान कहकर पिशाच के समान व्यक्ति से मेरा विवाह करवाकर तूने मेरी आत्मा का अपमान किया है।” धनरक्षित ने कहा- “इसमें मेरा क्या दोष है? विधाता ने ही तुम दोनों की योग्य जोड़ी बनाई है, अतः मेरे प्रति क्रोध करने से क्या लाभ?”

तब वह स्त्री तीव्र क्रोध के कारण दांत से होठ काटती हुई अस्पष्ट आवाज से मन्द-मन्द कुछ बोलती रही और कंकणों को उतारकर शीघ्रता से मुकुन्द के मन्दिर से निकलकर चली गई। धनरक्षित ने अपने मित्र से कहा- “हे मित्र! तू क्यों कुछ भी नहीं बोल रहा है?” अति दुःखित मन से उसने सरलतापूर्वक कहा- “हे भाई! अब बोलने जैसा रहा भी क्या है, जो मैं बोलूँ। जा तू अपने घर चला जा। अब मुझे भी जीने से क्या प्रयोजन है?” ऐसा कहते हुए वहाँ से निकलकर धर्मदेव ने एक तापस मुनि के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। अज्ञान तप करके अन्त में मरकर वह देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से चलकर वह धनपति सेठ का पुत्र वसुदेव बना। रूपमद से अत्यन्त उन्मत्त मनवाला धनरक्षित प्रायश्चित्त किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इससे वह लम्बे समय तक तिर्यच, आदि निम्न गतियों में भ्रमण करता रहा। तत्पश्चात् वह सर्व अंगों से विकल एवं रूप-लावण्य से रहित उसी सेठ का स्कन्धक नाम का पुत्र बना।” इस तरह आचार्य ने कहा कि तुम लोगों ने जो परमार्थ पूछा, वह यही है।

सच भी है कि शुक और रुधिर के संयोग से जिस रूप की उत्पत्ति होती है, प्रथम तो उस रूप को प्राप्त कर मद करना ही योग्य नहीं है, क्योंकि इस पुद्गल का स्वभाव ही सड़ना-गलना और विध्वंस होना है। जो ऐसे नाशवन्त

रूप का मद करता है, वह मूढ़ व्यक्ति धनरक्षित की तरह कुरूप को प्राप्त करता है, इसलिए ज्ञानियों ने रूपमद का त्याग करने को कहा है।

संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यह भी हो सकती है कि यह कथा किसी जैनेत्तर स्रोत से ग्रहण की गई हो और आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



मल्लदेव राजा की कथा

जीवों के शरीर का बल अनित्य है, क्योंकि वह बढ़ता और घटता रहता है- ऐसा जानकर बुद्धिमान् मनुष्य को उसका मद, अर्थात् अभिमान नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में मल्लदेव राजा की निम्न कथा वर्णित है:-⁷⁹⁷

श्रीपुर नगर में विजयसेन नामक राजा राज्य करता था। एक समय राजा राजसिंहासन पर बैठा हुआ था, उस समय सेनापति बाहर से आया और राजा को नमस्कार कर राजा के पास बैठ गया। उसे क्षणभर स्नेहभरी दृष्टि से देखकर राजा ने उससे पूछ- “सब कुशल तो है?” सेनापति ने कहा- “आपके चरणों की कृपा से सर्वकुशल होने के साथ ही मैं दक्षिण के राजा को जीतकर आया हूँ।” सेनापति ने राजा को, युद्ध में किस तरह से विजय प्राप्त की, उसका सर्ववृत्तान्त सुनाया। सेनापति के आदेशानुसार राजपुरुष शत्रु राजा के भण्डार और आठ वर्ष के पुत्र को लेकर आए। फिर सेनापति ने राजा से कहा- “हे राजन्! ये भण्डार तथा यह पुत्र-दोनों दक्षिण राजा के हैं, इनके सम्बन्ध में आपको जैसा उचित लगे, वैसा करें।

उसके पुत्र को देखते ही विजयसेन राजा को उस पर वैसा राग (प्रेम) उत्पन्न हुआ, जैसे वह उसका स्वयं का पुत्र हो। राजा प्यार से उसके मस्तक पर चुम्बन करते हुए उससे कहने लगा- “हे वत्स! तुम इसे अपना ही घर समझकर प्रसन्नता से रहो।” उस पुत्र की देखरेख हेतु राजा ने उसे रानी को सौंपा। क्रमशः, कुमारवस्था को प्राप्तकर उसने सर्व कलाओं का अभ्यास किया। युवावस्था में उसने देवताओं से भी अधिक सौन्दर्य को प्राप्त किया। अपने भुजबल से उसने

⁷⁹⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ६७३२-६७७६.

बड़े-बड़े मल्लों को भी जीता और इसलिए उसका नाम मल्लदेव प्रसिद्ध हुआ। राजा ने मल्लदेव को राजा बनने योग्य जानकर उसका राज्याभिषेक किया और स्वयं ने तापसी दीक्षा स्वीकार कर ली।

मल्लदेव अपने भुजबल से सीमा के सभी राजाओं को जीतकर प्रजा का पालन करने लगा। एक दिन उसने उद्धोषणा करवाई कि जो व्यक्ति उसका प्रतिमल्ल बतलाएगा, उसे एक लाख सोने की मोहरें दी जाएगी।

उस घोषणा को सुनकर एक परदेशी पुरुष ने राजा के पास आकर कहा- “हे राजन्! मैंने पूर्व-दिशा में वज्रधर नामक राजा को देखा है, जो अपने प्रकृष्ट बल से “त्रैलोक्य वीर” कहलाता है। उसके भुजबल की बात तो अलग ही है। उसके सहज हस्तप्रहारमात्र से निरंकुश हाथी भी वश में होकर सही मार्ग पर चलने लग जाता है।” ऐसा सुनकर राजा ने उसे एक लाख सोने की मोहरें देकर विदा किया और अपने दूत से कहा- “तुम जाकर त्रैलोक्यवीर नामक उस राजा से कहना कि किसी ने आपकी ‘त्रैलोक्यवीर’ के रूप में स्तुति की है, यदि आप वस्तुतः त्रैलोक्यवीर हैं, तो हमारे राजा से युद्ध करें।” दूत के द्वारा वैसा ही कहने पर वज्रधर राजा अपनी भृकुटी चढ़ाकर कहने लगा- “अरे! तेरा राजा कौन है? उसका नाम भी मैं नहीं जानता। मेरी युद्धरूपी अग्निशिखा में उसकी दशा पतंगों के समान होगी।” वज्रधर के ये वचन उस दूत ने आकर मल्लदेव राजा को उसी प्रकार कह दिए। मल्लदेव ने युद्ध हेतु वहाँ से तुरन्त प्रस्थान किया। उसका आगमन जानकर वज्रधर भी शीघ्र सामने आया। दोनों में परस्पर युद्ध हुआ। अपने अन्य सभी सुभटों का विनाश देखकर दोनों ने परस्पर युद्ध करने का निश्चय किया। उन दोनों में मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ। अपने प्रचण्ड भुजबल से वज्रधर ने मल्लदेव को शीघ्र ही हरा दिया। इस तरह मल्लदेव बलमद के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ।

सामान्य राजा बल में श्रेष्ठ होता है, किन्तु बलदेव उनसे भी श्रेष्ठ होता है और बलदेवों से भी अधिक श्रेष्ठ चक्रवर्ती होता है। चक्रवर्ती से भी तीर्थंकर प्रभु अनन्तबली होते हैं। इस तरह उत्तरोत्तर एक दूसरे से बल में श्रेष्ठ होते हैं, फिर भी अज्ञान बल का मिथ्याभिमान करते हैं।

मल्लदेव राजा की कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु अन्य जैन ग्रन्थों में इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ।



स्थूलभद्र की कथा

श्रुतज्ञान यदि मदरहित हो, तो वह केवलज्ञान को प्राप्त करवाता है, किन्तु श्रुत समुद्र का पारगामी भी यदि मदरहित हो, तो दीर्घकाल तक संसार में भटकाता है; इसलिए श्रुतज्ञान को प्राप्त करके थोड़ा-सा भी मद नहीं करना चाहिए। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में आर्य स्थूलभद्र की निम्न कथा वर्णित है:-⁷⁹⁸

पाटलीपुत्र नगर में नन्द नामक राजा राज्य करता था। उसके यहाँ शकडाल नामक एक मन्त्री था। उस मन्त्री को स्थूलभद्र एवं श्रीयक नामक दो पुत्र तथा यक्षा आदि सात पुत्रियाँ थीं। उनमें से सेणा, वेणा और रेणा-ये तीनों छोटी पुत्रियाँ अनुक्रम से एक, दो और तीन बार नए श्रुत को सुनते ही याद कर लेती थीं। उसी नगर में वररुचि नामक एक ब्राह्मण था, जो राजा की प्रतिदिन एक सौ आठ काव्यों से स्तुति करता था, परन्तु शकडाल मन्त्री उस ब्राह्मण की कभी प्रशंसा नहीं करता; इसलिए राजा की इच्छा होने पर भी राजा उसे दान नहीं दे पाता था। तब वररुचि ने मन्त्री की पत्नी को पुष्पादि भेंट में देकर उसे प्रसन्न किया तथा उससे सर्ववृत्तान्त कहा। वररुचि की बात सुनकर मन्त्री से उसकी पत्नी ने कहा- “आप राजा के समक्ष वररुचि के काव्य की प्रशंसा क्यों नहीं करते?” मन्त्री ने कहा- “जो मिथ्यादृष्टि है, उसकी प्रशंसा मैं कैसे करूँ?” बार-बार पत्नी द्वारा आग्रह करने पर मन्त्री ने उसकी बात स्वीकार कर ली।

अगले दिन मन्त्री ने राजा के सामने वररुचि ब्राह्मण के काव्य की प्रशंसा की। मन्त्री के मुख से उसकी प्रशंसा सुनकर राजा ने उसे एक सौ आठ स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं। इस तरह वररुचि प्रतिदिन काव्य सुनाकर राजा से एक सौ आठ स्वर्ण मुद्राएँ ले जाता था। इस प्रकार धन का क्षय होते देखकर मन्त्री ने राजा से पूछा- “हे देव! आप प्रतिदिन इसे इतना दान क्यों देते हो?” राजा ने कहा- “तेरे द्वारा इसकी प्रशंसा सुनकर ही मैं इसे दान देता हूँ।” तब मन्त्री ने कहा- “हे राजन्! यह ब्राह्मण नवीन काव्य की रचना नहीं करता, अपितु लोगों के काव्यों को सुनकर उन्हें यथावत् दोहरा देता है- ऐसा जानकर मैंने उसकी प्रशंसा की थी; लेकिन इस तरह तो अखण्डरूप से मेरी पुत्रियाँ भी बोल सकती हैं।” मन्त्री ने अपनी पुत्रियों को राजा के समक्ष अनुक्रम से एक बार, दो बार और तीन बार काव्य-पद को सुनाया। इसे सुनकर वे स्वयमेव रचित रचना हो, इस

प्रकार राजा के सामने बोलने लगी। इससे क्रोधित होकर राजा ने वररुचि का राज्यसभा में आना बन्द करवा दिया।

एक बार वररुचि ने राज्य में यह बात फैलाई कि उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर गंगा मैया उसे सोने की मोहरें देती हैं। इस प्रकार झूठ बोलने वाले वररुचि की यहाँ भी मन्त्री ने पोल खोल दी। अब राजा, आदि सभी उस पर हँसने लगे। यह देखकर वररुचि मन्त्री पर क्रोधित हुआ और उसका छिद्र खोजने लगा।

एकदा शकडाल मन्त्री राजा को भेंट करने के लिए गुप्त रूप से अपने घर पर विविध प्रकार के शस्त्र बनवाने लगा, किन्तु पूर्व द्वेष के कारण वररुचि ने राजा को यह बताया कि मन्त्री राजा को मारने के लिए विविध शस्त्र बनवा रहा है। इससे राजा मन्त्री से विमुख हो गया। अपने से राजा को विमुख देखकर मन्त्री अपने घर गया तथा अपने परिवार के प्राणों की रक्षा हेतु स्वयं ने तालपुट विष खाकर श्रीयक द्वारा राज्यसभा में अपना मस्तक कटवा दिया। श्रीयक को मस्तक काटते देखकर “हा! हा! अहो! यह क्या अकार्य किया है?” ऐसा कहता हुआ राजा खड़ा हो गया। श्रीयक ने कहा- “हे राजन्! आप व्याकुल क्यों हो रहे हो? जो आपका विरोधी है, वह चाहे पिता ही क्यों न हो, उसे सजा मिलनी ही चाहिए।” इस पर राजा ने श्रीयक को मन्त्रीपद स्वीकार करने के लिए कहा, तो श्रीयक ने अपने बड़े भाई को मन्त्रीपद देने का प्रस्ताव किया। स्थूलभद्र को वेश्या के घर से बुलवाकर मन्त्रीपद स्वीकार करने के लिए कहा गया। स्थूलभद्र इस विषय पर विचार करने लगा तथा विचार करते-करते उसे संसार की असारता का बोध होने से वैराग्य उत्पन्न हुआ और स्वयं पंचमुष्टि-लोच करके उसने मुनिवेश धारण कर लिया। तत्पश्चात् वह सम्भूतविजयजी के पास दीक्षित हुआ।

स्थूलभद्र अध्ययन हेतु आचार्य भद्रबाहुस्वामी के पास रहा। वहाँ उसने कुछ न्यून दस पूर्व का अध्ययन किया। तत्पश्चात् वह आचार्यश्री के साथ विहारकर पाटलीपुत्र नगर में पहुँचा। वहाँ दीक्षित हुई यक्षा, आदि उनकी सातों बहिनें अपने भाई मुनि को वन्दन करने के लिए आईं। वे आचार्य से पूछकर वन्दन हेतु देवकुलिका के पास जाने लगीं। अपनी साध्वी बहिनों को आता देखकर अपनी ज्ञान (श्रुत) लक्ष्मी का प्रभाव दिखाने के लिए स्थूलभद्र मुनि ने केसरी सिंह का रूप बना लिया। वहाँ आकर वे आचार्य भाई की अपेक्षा सिंह को देखकर भयभीत हुई और आचार्य से निवेदन करने लगीं- “हे भगवन्त! सिंह ने हमारे बड़े भाई का भक्षण कर लिया है।” श्रुतज्ञान का उपयोग कर आचार्य ने कहा- “जो दिखाई दे रहा है, वही स्थूलभद्र है, अतः तुम पुनः जाकर देखो।” तब वे पुनः वहाँ गईं। वहाँ अपने भाई मुनि को देखकर उन्होंने उसका वन्दन किया और

स्वस्थान पर लौट गई। दूसरे दिन स्थूलभद्र अध्ययन करने हेतु आचार्य के पास आया। तब आचार्यश्री ने 'तू अयोग्य है'- ऐसा कहकर पढ़ाने का निषेध कर दिया। इससे स्थूलभद्र ने सिंहरूप बनाने का अपना दोष जानकर आचार्यश्री से नम्र निवेदन किया- 'हे भगवन्त! पुनः ऐसी गलती नहीं करूंगा। मेरे इस अपराध को क्षमा कर दीजिए।' अति आग्रह करने पर आचार्य ने उसे केवल अन्तिम चारपूर्वों के मात्र मूलपाठ का अध्ययन करवाया और शेष का अध्ययन करवाने से मना कर दिया। वे चारपूर्व बाद में विच्छेद हो गए। इसीलिए कहा गया है कि अनर्थकारक श्रुतमद करना उत्तम मुनियों के योग्य नहीं है।

'वर्तमान में मैं अकेला ही श्रुतज्ञानरूपी सूर्य हूँ'- मुनि को इस तरह का अल्पमात्र भी श्रुतमद नहीं करना चाहिए। जिनको सूत्र-अर्थ तदुभयसहित चौदहपूर्व का ज्ञान होता है, उनको भी यदि ज्ञान के उत्कर्ष या अपकर्षरूप तारतम्य सुनने में आता है, तो जिनकी मति अल्प है तथा श्रुत समृद्धि भी ऐसी विशिष्ट नहीं है, उनको श्रुतमद, अर्थात् 'मैं पण्डित हूँ'- ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार प्रस्तुत कथा में यह बताया गया है कि ज्ञान की आशातना करने से, अथवा ज्ञान का अभिमान करने से जीव सम्यक्त्व से द्युत होता है और मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। श्रुतज्ञान के मद से युक्त जीव अपने को ज्ञानी कहते हैं एवं दूसरों को मूढ़ अथवा अज्ञानी समझते हैं। संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि ने ज्ञान के अहंकार के सम्बन्ध में स्थूलभद्र की कथा प्रस्तुत कर श्रुतज्ञान के मद से स्थूलभद्र को दी गई शिक्षा का निरूपण किया है। प्रस्तुत कथानक हमें तीर्थोद्गालिक (गा. ७०१), आवश्यकचूर्णि (भाग २ पृ. १८७) में उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त अनेक प्रबन्धों में भी स्थूलभद्र की यह कथा दृष्टिगत होती है।



दृढ़प्रहारी की कथा

‘मैं ही उग्र तपस्वी हूँ’- इस तरह से किया गया मद या अहंकार उग्र तप को भी निष्फल कर देता है, इसलिए तप-मद को बांस से उत्पन्न हुई अग्नि के समान कहा गया है, जो स्वयं को ही जला देती है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में दृढ़प्रहारी की निम्न कथा का उल्लेख मिलता है-⁷⁹⁹

एक ब्राह्मण था, उसने अपने अविनीत पुत्र को घर से निकाल दिया, जिससे वह घूमते-घूमते किसी चोर की बस्ती में पहुँच गया। वहाँ वह पल्लीपति के साथ रहने लगा तथा उसने अपने बुद्धिबल से तलवार, आदि शस्त्र चलाने की कला सीखी। वह जीवों पर निर्दयतापूर्वक कठोर प्रहार करता था, जिससे हर्षित होकर पल्लीपति ने उसका नाम दृढ़प्रहारी रखा। कुछ समय पश्चात् ही पल्लीपति का देहान्त हो गया, अतः उसकी जगह दृढ़प्रहारी को पल्लीपति पद पर स्थापित किया गया। दृढ़प्रहारी निर्भयतापूर्वक शहर और गांव को लूटकर पल्ली के लोगों का पूर्व के पल्लीपति की तरह पालन करने लगा।

एक दिन वे सब धन लूटने के लिए कुशस्थल गांव गए। वहाँ देवशर्मा नामक अति दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसी दिन उसके पुत्र ने खीर खाने की जिद्द की। उस ब्राह्मण ने अत्यन्त कठिनाई से चावल और दूध भीख में मांगकर पत्नी को खीर बनाने के लिए दिए। इधर खीर तैयार हो रही थी और उधर वह ब्राह्मण पूजा करने हेतु नदी किनारे गया। उस समय चोर उसके घर में घुसे और तैयार खीर देखकर भूख से पीड़ित एक चोर ने उसे खा ली। खीर की चोरी होते देखकर ब्राह्मण का बालक दौड़ता हुआ अपने पिता देवशर्मा के पास गया और उन्हें वह घटना बताई। इससे क्रोधित हुआ देवशर्मा तुरन्त घर आया और कहने लगा- “अरे पापी! स्तेच्छ! अब मुझसे बचकर कहाँ जाएगा।” ऐसा कहते हुए वह चोरों के साथ लड़ने लगा। तब उसकी गर्भवती पत्नी ने बीच में आकर उन सबको लड़ने से रोका, लेकिन ब्राह्मण रुका नहीं। उस ब्राह्मण द्वारा अपनी पत्नी के लोगों को मारते हुए देखकर दृढ़प्रहारी अत्यन्त क्रोध के वशीभूत हुआ और तुरन्त उसने म्यान से तीक्ष्ण तलवार खींचकर ब्राह्मण और उसकी पत्नी को काट दिया। तलवार के वार से कटकर तड़पते हुए गर्भ के दो टुकड़ों को देखकर दृढ़प्रहारी को तीव्र पश्चाताप हुआ और वह विचार करने लगा- “हा! हा! यह अत्यन्त दुःखद है। अहो! मैंने कैसा भयंकर पाप कर दिया है। इस पाप से मैं

कैसे छुटकारा प्राप्त करूँगा।” इस तरह वह अपने पापों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार से विचार करने लगा।

पाप की विशुद्धि के लिए उद्विग्न मनवाले दृढ़प्रहारी ने एक मुनि को देखा, जो ध्यान में स्थिर खड़े थे। उसने परम श्रद्धापूर्वक उनको नमन किया, तत्पश्चात् उनसे कहा- “हे भगवन्त! मैं इस प्रकार का घोर पापी हूँ। मेरी विशुद्धि के लिए आप कोई उपाय बताइए।” मुनि ने उसे श्रमणधर्म का उपदेश दिया। कर्म के क्षयोपशम से पल्लीपति को मुनि के प्रवचन अमृत के समान रुचिकर लगने लगे और उसने वैराग्य को प्राप्तकर उन मुनि भगवन्त के पास दीक्षा अंगीकार की। तत्पश्चात् ‘जिस दिन मुझे उस दुश्चरित्र का स्मरण होगा, उस दिन भोजन (आहार) नहीं करूँगा’- ऐसा अभिग्रह स्वीकार कर दृढ़प्रहारी मुनि उसी गांव में विचरने लगा।

उसे गांव में भिक्षा हेतु जाते हुए देखकर गांव के लोग उसे महापापी कहते तथा ‘इसी ने ऐसा पापकार्य किया है’- ऐसा कहते हुए उसकी निन्दा करते और उसे मारते। मुनि गांव के लोगों की ताड़ना, तर्जना, निन्दा, आदि को समतापूर्वक सहन करता और अपनी आत्मा की निन्दा करता तथा अभिग्रह के कारण आहार भी ग्रहण नहीं करता, इस प्रकार वह धर्मध्यान में स्थिर रहने लगा। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में आरूढ़ होकर मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा सर्व कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

इस तरह दृढ़प्रहारी मुनि की कथा को सुनकर तप करनेवालों को तप का थोड़ा-सा भी मद नहीं करना चाहिए।

संवेगरंगशाला का उपर्युक्त कथानक यह बताता है कि निर्जरा का कारण तप है। तप एक ऐसी अग्नि है, जिसके द्वारा संचित कर्मों को शीघ्र ही भस्मीभूत किया जा सकता है, किन्तु इस तपरूपी अग्नि से भी भयंकर अग्नि अहंकार की है, जो पूर्व में की गई सम्पूर्ण उग्र तपस्या को क्षणभर में भस्म कर देती है; अतः साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि विवेकपूर्वक किया गया तप ही मुक्ति में साधक बनता है। इसी सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में दृढ़प्रहारी की यह कथा वर्णित है। प्रस्तुत कथानक हमें विशेषावश्यकभाष्य (३६, ४६), आवश्यकवृत्ति (पृ. ४३८), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. ५६-६१), आदि में भी उपलब्ध होता है।



ढंढण मुनि की कथा

लाभान्तराय नामक कर्म के क्षयोपशम से लाभ का उदय होता है और पुनः उससे अलाभ भी होता है, इसलिए विवेकी पुरुष को लाभ होने पर 'मैं लब्धिवन्त हूँ'- ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिए और लाभ नहीं होने पर विषाद भी नहीं करना चाहिए-⁸⁰⁰

मगधदेश में धन्यपुर नामक एक श्रेष्ठ गांव था। वहाँ कृशी पाराशर नाम का धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। वह धन के लिए खेती आदि जो भी कार्य करता, उसमें उसे लाभ ही लाभ होता था। 'यह लक्ष्मी का फल है'- ऐसा मानता हुआ वह अपने स्वजनों के साथ आनन्द से रहता था। मगध के राजा के आदेशानुसार गांव के पुरुषों को पांच सौ हत्तों से हमेशा राजा का खेत जोतना होता था। जब किसान भोजन के साथ राजा के खेत की जुताई से निवृत्त हो जाते, तब वह ब्राह्मण निर्दयतापूर्वक उसी समय उन भूख से पीड़ित किसानों से अपने खेत में कार्य करवाता था। उस निमित्त से उस ब्राह्मण ने गाढ़ अन्तरायकर्म का बन्ध किया और अन्त में मरकर वह नरक-गति को प्राप्त हुआ। वहाँ से चलकर विविध तिर्यच योनियों में उत्पन्न होता हुआ और किसी तरह पुण्य का उपार्जन कर उसने देवभव और मनुष्यभव को प्राप्त किया। कालान्तर में उसने श्रीकृष्ण वासुदेव के ढंढणकुमार नामक पुत्र के रूप में जन्म लिया। सर्व कलाओं का अभ्यास कर वह पुत्र क्रमशः यौवनवय को प्राप्त हुआ और अनेक युवतियों के साथ विवाह कर वह कामदेवसदृश भोग-विलास करने लगा।

किसी दिन अठारह हजार उत्तम साधुओं से युक्त शासन प्रभावक श्री अरिष्टनेमि भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए द्वारका नगरी के रैवत नामक उद्यान में पधारे। उद्यानपालक ने भगवान् के आगमन की सूचना श्रीकृष्ण महाराज को दी। ऐसा शुभ समाचार सुनकर श्रीकृष्ण ने उसे उचित दान दिया और यादवों सहित वे नेमिनाथ भगवान् को वन्दनार्थ निकले। फिर भगवान् तथा मुनियों को वन्दन करके सभी ने अपने योग्य स्थान ग्रहण किया। जिनेश्वर भगवान् ने सर्व-साधारण को अपनी वाणी से धर्मदेशना देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी को सुनकर ढंढणकुमार सहित अनेक प्राणियों को प्रतिबोध हुआ। ढंढणकुमार ने विषय-सुखों का त्याग कर प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। सदा संसार की असारता का चिन्तन करते हुए तथा श्रुतज्ञान का अभ्यास करते हुए ढंढणमुनि सर्वज्ञ परमात्मा के साथ विचरने लगे। इस तरह विचरते हुए ढंढणमुनि ने पूर्वभव

⁸⁰⁰ सविमरंगशाला, गाथा ६८६३-६८३७.

में जो गाढ़ अन्तरायकर्म का बन्ध किया था, वह कर्म उदय में आया। कर्म के दोष से ढंढणमुनि जिन साधुओं के साथ भिक्षा लेने जाते, उन्हें भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती थी। एक समय साधुओं ने उन्हें भिक्षा नहीं मिलने की बात प्रभु से कही। परमात्मा ने ढंढणमुनि के पूर्व कर्मबन्धन का वृत्तान्त सुनाया। यह सुनकर ढंढणमुनि ने परमात्मा के पास अभिग्रह किया कि अब से मैं दूसरों की लब्धि से मिला हुआ आहार कदापि ग्रहण नहीं करूँगा। इस प्रकार ढंढणमुनि, मानों अमृतरूपी श्रेष्ठ भोजन करते हुए तृप्त हुए हो- इस तरह से दिन व्यतीत करने लगे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने भगवान् से पूछा- “हे भगवन्! इन अठारह हजार साधुओं में सबसे उत्कृष्ट मुनि कौन है?” प्रभु ने कहा- “निश्चय से सभी उत्कृष्ट हैं, लेकिन इनमें भी दुष्करकारी ढंढणमुनि है, क्योंकि धैर्यता को धारण कर दुःसह उग्र अलाभ-परीषह को सम्यक् रूप से सहन करते हुए उनको बहुत समय व्यतीत हो गया है।” यह सुनकर श्रीकृष्ण ने ‘वे धन्य हैं और कृतपुण्य हैं, जिनकी प्रभु ने स्वयं प्रशंसा की है’- ऐसा विचार किया। नगरी में प्रवेश करते ही उन्होंने भाग्य-योग से ऊँच-नीच घरों में भिक्षार्थ घूमते हुए ढंढणमुनि को देखा। उन्होंने हाथी से उतरकर मुनि का वन्दन किया।

श्रीकृष्ण वासुदेव द्वारा मुनि को वन्दन करते हुए देखकर एक धनाढ्य सेठ ने विचार किया- ‘यह महात्मा धन्य है, जिसे वासुदेव वन्दन करते हैं।’ श्रीकृष्ण के चले जाने के बाद विनयपूर्वक सेठ ने मुनि को अपने घर ले जाकर भावपूर्वक केसरिया मोदक से भरे थाल में से उन्हें मोदक दिए। मुनि ने प्रभु के पास आकर नमन करके कहा- “हे भगवन्त! क्या मेरा अन्तरायकर्म आज खत्म हो गया है?” प्रभु ने कहा- “अभी उसका अंश विद्यमान है। तुम्हें जो भोजन मिला है, वह लब्धि श्रीकृष्ण की है, क्योंकि उस सेठ ने तुम्हें कृष्ण को प्रणाम करते हुए देखकर ही दान दिया है।”

प्रभु ने जब ऐसा कहा तो अन्य की लब्धि से प्राप्त होने से उन लड़्डुओं को ग्रहण न करके वह मुनि प्रासुक शुद्ध भूमि देखकर उन लड़्डुओं को सम्यक् विधि से परठने लगा। मुनि लड़्डु परठते हुए अपने कर्मों के कटु विपाकों का चिन्तन करने लगा। इस प्रकार सर्वकर्मों का क्षयकर मुनि ने शुद्ध शुक्लध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त किया।

इससे यह ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति इस जन्म में लाभ प्राप्त कर उसका अभिमान करता है, तो दूसरे भव में उसे उस लाभ में अन्तराय आती है और भिक्षा की प्राप्ति नहीं होती है, अतः मानव को लाभमद नहीं करना चाहिए।

कर्मसिद्धान्त का नियम है कि लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से पदार्थों का लाभ होता है एवं लाभान्तरायकर्म के उदय से पदार्थों का अलाभ होता है। जब मनुष्य को पदार्थों का अतिलाभ होता है, तब उसका मद (अभिमान) भी बढ़ता है, जो उसके पतन का कारण होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में ढंढणमुनि की जो कथा दी गई है, वह हमें शान्तिसूरिविरचित उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. 99६) में प्राप्त होती है।



दो व्यापारियों की कथा

मेरे पास विपुल धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, आदि हैं तथा स्त्री-पुत्रादि परिवार मेरे अनुरागी हैं। मेरे पास ऐश्वर्य का विस्तार है, अतः मैं ही साक्षात् कुबेर हूँ- ऐश्वर्य का ऐसा मद नहीं करना चाहिए, क्योंकि संसार में सभी पदार्थ नाशवान् हैं। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में दो व्यापारियों की निम्न कथा उपलब्ध है :-⁸⁰¹

उत्तर मथुरा नगरी में विषय-भोगों में निरत धनसार नामक एक बड़ा धनिक रहता था। एक समय वह कार्यवश दक्षिण मथुरा में गया। वहाँ उसके समान ही वैभव से शोभित धनमित्र नामक व्यापारी के साथ उसकी घनिष्ठ मित्रता हुई। एक दिन दोनों आपस में वार्त्तालाप करने लगे कि अपनी मित्रता किस तरह अखण्ड बनी रहे। 'यदि हमारे यहाँ पुत्र अथवा पुत्री का जन्म हो, तो उन दोनों का सम्बन्ध कर दें'- इस तरह का विचार योग्य लगने से, विकल्प बिना ही, दोनों ने स्वीकार कर लिया। संयोगवश धनमित्र के यहाँ पुत्र का और धनसार के घर पुत्री का जन्म हुआ। पूर्व संकल्प के अनुसार दोनों मित्रों ने उन दोनों की सगाई कर दी।

किसी समय धनमित्र सेठ का स्वर्गवास हो गया। सेठ के चले जाने के बाद उसके स्थान पर उसका पुत्र अधिकारी बना। एक दिन वह सोने, ताम्बे, आदि के अनेक कलशों में भरे सुगन्धित जल से स्नान कर रहा था कि इन्द्रधनुष के समान चंचल लक्ष्मी की तरह कलश, आदि सभी वस्तुएँ आकाश में उड़ गयीं। जब वह उठा तो विविध मणियों से प्रकाशित स्वर्ण का पाट भी उड़ गया। इससे वह बहुत दुःखी हुआ। भोजन के समय उसके अनुचरों ने उसके सामने विविध प्रकार का षड्रस भोजन सोने, चांदी की थालियों में परोसा। जब वह भोजन

⁸⁰¹ संवेगरंगशाला, गाथा ६६४६-७०२०.

प्रारम्भ करने लगा, तब एक-एक करके क्रम से सभी थालियाँ, कटोरियाँ, आदि भी उड़ने लगी। अन्त में जब मूल थाली भी उड़ने लगी, तब उसने विस्मित होकर उस थाल को पकड़ना चाहा, लेकिन उसने थाली का जितना भाग पकड़ा, उतना भाग ही उसके हाथ में रह गया और शेष भाग भी उड़ गया। तत्पश्चात् वह अपने भण्डार को देखने गया, तो वहाँ भण्डार भी खाली मिला। इस तरह उसका सम्पूर्ण धन, वैभव, जमीन, जायदाद, आदि सभी नष्ट हो गया। दास-दासी आदि भी उसे छोड़कर चले गए, स्वजन पराए हो गए। कोई भी उसकी सहायता करने को तैयार नहीं था।

इस तरह लक्ष्मी को स्वप्नवत् तथा अनित्य मानकर शोकातुर हो वह विचार करने लगा कि ऐसे मन्दभागी जीवन को धिक्कार है, जिसका एक ही दिन में सब कुछ बदल गया। मैं करोड़पति से कंगाल बन गया। सत्पुरुष तो सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, किन्तु मैंने तो प्राप्त हुई सम्पत्ति को भी खो दिया है। पूर्वजन्म में अवश्य ही मैंने कुछ पुण्य करने में कमी की है। ऐसा सोचकर पुण्य का उपार्जन करने के लिए वह धर्मघोषसूरि के पास दीक्षित हो गया। वहाँ उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, लेकिन भविष्य में पुनः उस थाल को देखने की इच्छा से वह उस थाल के टुकड़े को भी अपने साथ ही रखता रहा।

एक दिन वह मुनि विहार करते हुए उत्तर मथुरा नगरी में पहुँचा। वहाँ वह धनसार सेठ के घर भिक्षार्थ गया। उस समय सेठ उसी थाली में भोजन कर रहा था और उसकी पुत्री अपने पिता को पंखा झल रही थी। मुनि का ध्यान सेठ की थाली पर गया और वह विस्मित होकर उसे देखने लगा। सेठ ने मुनि से पूछा- “हे भगवन्त! आप मेरी पुत्री को क्यों देख रहे हो?” मुनि ने कहा- “हे भद्र! मुझे तुम्हारी पुत्री से कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु यह बताओ कि तुम्हें यह थाली कहाँ से मिली है?” सेठ ने कहा- “भगवन्त! मुझे स्नान करते समय स्नान की सामग्री और भोजन करते समय भोजन के साधन प्राप्त हुए। साथ ही विपुल धन से भरा भण्डार भी मिला।” मुनि ने कहा- “यह सब तो मेरा धन है।” सेठ के द्वारा पूछने पर उस मुनि ने अपने पास रखे उस थाली के टुकड़े को सेठ की थाली के टूटे भाग से जोड़कर दिखा दिया। फिर मुनि ने अपने गाँव तथा पिता का नाम बताया एवं वैभव के नाश होने की सर्व बात कही। इससे सेठ ने ‘यह तो अपना जंवाई है’- ऐसा जानकर रोते हुए कहा- “आपका सम्पूर्ण धन यहाँ सुरक्षित है तथा मेरी पुत्री भी आपके अधीन है। ये नौकर-चाकर सभी आपकी आज्ञानुसार वर्तन करनेवाले हैं, अतः आप दीक्षा को छोड़कर अपने ही घर के समान स्वेच्छापूर्वक यहाँ निवास करें।” इस पर मुनि ने कहा- “प्रथम तो पुरुष को ही काम-भोग छोड़ना चाहिए, अन्यथा विषय-भोग स्वयं पुरुष को छोड़ देते हैं,

अतः जिसने इसे छोड़ दिया है, उसे अब उन विषयों को पुनः ग्रहण करना योग्य नहीं है। शरद-ऋतु के बादल के समान नाश होनेवाले विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।” ऐसा सुनकर उस सेठ को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने भी सोचा कि विषय-वासना मुझे छोड़े, उससे पहले मैं ही उन्हें छोड़ दूँ। ऐसी भावना से सेठ भी तुरन्त दीक्षित हुआ।

विशिष्ट वैभव होने पर भी उस ऐश्वर्य का इस तरह नाश होते देखकर कौन बुद्धिशाली उसका मद करेगा।

इस प्रकार सवेगरंगशाला में ऐश्वर्यमद के सम्बन्ध में उत्तर मथुरा एवं दक्षिण मथुरा नगरी के दो व्यापारियों की यह कथा दी गई है। प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु अन्य जैन-ग्रन्थों में इस कथा के संकेत हमें प्राप्त नहीं हुए हैं।



लौकिक ऋषि की कथा

जीव जिसके द्वारा धर्म में प्रमादी बनता है, उसे प्रमाद कहते हैं। मद्य, प्रमाद का मुख्य हेतु है और चित्त को दूषित करनेवाला है। इस सन्दर्भ में सवेगरंगशाला में लौकिक ऋषि की निम्न कथा उपलब्ध होती है :—⁸⁰²

एकदा एक नगर के बाहर एक ऋषि उग्र तपस्या कर रहा था। उसके तप से भयभीत होकर इन्द्र ने उसे क्षोभित करने के लिए देवियों को भेजा। इन देवियों ने आकर विनय से उस ऋषि को प्रसन्न किया, जिससे ऋषि उनको वरदान देने को तैयार हो गया। तब वे देवियाँ कहने लगीं— “हे ऋषि! आप मद्यपान करो, हिंसा करो, हमारा सेवन करो तथा देव की मूर्ति का खण्डन करो। यदि इन चारों का सेवन न करते हो, तो हे भगवन्त! आप इनमें से कोई भी एक का सेवन करें।” ऐसा सुनकर ऋषि ने सोचा— “शेष सब पापकर्म के हेतु हैं, अतः मद्यपान ही सुखकारक है। स्वमति से ऐसा निर्णयकर वह मद्य (मदिरा) पीने लगा। मदिरा से मदोन्मत्त होकर वह मांस का परिभोग करने लगा। उस मांस को पकाने के लिए काष्ठ की देवमूर्ति के टुकड़े करके जलाने लगा और लज्जा को छोड़कर, अर्थात् मर्यादा का त्यागकर उसने उन देवियों के साथ सम्भोग भी किया। इससे वह तप की शक्ति को खण्डित करनेवाला बना और मरकर दुर्गति में गया।

मदिरा का पान अनेक पापों का कारण और दोषों का समूह है। इसी से यादव-कुल का भी नाश हुआ। ऐसे अतिदारुण दोष को सुनकर मद्यजय-प्रमाद को दूर करना चाहिए और मद्य का आजीवन त्याग कर देना चाहिए। जिसने भी मदिरा का त्याग किया है, उसकी धर्म-साधना हमेशा अखण्ड रही है और उसी ने अतुल फल प्राप्त किया है।

लौकिक ऋषि की प्रस्तुत कथा संवेगरंगशाला में जिस रूप में उपलब्ध होती है, उस रूप में किन्हीं अन्य जैन-ग्रन्थों में उल्लेखित हो- यह ज्ञात नहीं होता है; किन्तु सम्भावना यह हो सकती है कि यह कथा किसी जैनेतर स्रोत से ग्रहण की गई हो और आचार्य ने उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



अभयकुमार की कथा

जैसे मद्यपान करना पाप है, वैसे ही मांस का भक्षण करना भी बहुत पापकारी है। सतत जीवोत्पत्ति होने से, शिष्ट पुरुषों से निन्दनीय होने से और सम्पातिक (उड़कर गिरते) जीवों का विनाश होने से इसका सेवन दोषरूप है। धर्म का सार ही दया है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्यों को मांसभक्षण का आजीवन त्याग कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में अभयकुमार की निम्न कथा वर्णित है :-⁸⁰³

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसका अभयकुमार नामक अत्यन्त मेधावी पुत्र था, जो राज्य का प्रमुख मन्त्री भी था। एक दिन राजा अपने पुत्र अभयकुमार तथा अन्य मन्त्रियों के साथ राजसभा में बैठा था। उस समय एक प्रधान ने राजा से कहा- “हे देव! आपके राज्य में अनाजादि के भाव तेज हो गए हैं और वह सभी के लिए दुर्लभ भी होता जा रहा है, केवल एक मांस ही सस्ता और सर्वत्र सुलभ है।” उसके वचन सुनकर अभयकुमार को छोड़कर राजा, मन्त्री एवं सामन्त, आदि सभी ने उस बात को स्वीकार किया। अभयकुमार ने राजा से कहा- “हे तात! इस तरह आप सभी भ्रान्त मान्यता के वश क्यों होते हो? इस जगत् में निश्चय से मांस ही सबसे मंहगा एवं दुर्लभ है। उसकी अपेक्षा बहुमूल्य धातुएँ और वस्त्र, आदि सस्ते तथा सुलभ हैं।” इस पर सभी ने एकसाथ कहा- “आप मांस को अति मंहगा किस प्रमाण से कहते हो? आप प्रत्यक्ष ही देखो। दूसरी सभी वस्तुएँ बहुत धन देने पर ही प्राप्त होती हैं,

अर्थात् अत्यन्त मूल्यवान् हैं।” उस समय अभयकुमार मौन रहा। फिर अपने कथन को सिद्ध करने के लिए अभयकुमार ने राजा से कहा- “हे तात! केवल पाँच दिन के लिए मैं राज्यसिंहासन पर बैठना चाहता हूँ।” राजा ने प्रजाजनों को बुलवाकर कहा- “मेरे सिर में तेज दर्द हो रहा है, इसलिए कुछ दिन के लिए अभयकुमार को राज्यसिंहासन पर स्थापन करता हूँ।” तत्पश्चात् राजा अन्तःपुर में रहने लगा।

अभयकुमार ने जीवों को अभयदान देते हुए राज्य में अहिंसा-पालन की उद्घोषणा करवाई। इस तरह पाँचवाँ दिन बीतने पर उस रात को अभयकुमार सामान्य वेश धारण कर सामन्तों एवं मन्त्रियों के घर गया। वे मन्त्री अभयकुमार को पहचानकर पूछने लगे- “नाथ! इस तरह रात्रि में पधारने का क्या कारण है?” तब अभयकुमार ने कहा- “राजा श्रेणिक मस्तक की वेदना से अत्यन्त पीड़ित हैं, उनके लिए वैद्यों ने उत्तम पुरुषों के कलेजे के मांस की औषधि बताई है। आप शीघ्रतापूर्वक अपने कलेजे का तीन जौ जितना मांस दे दो।” मन्त्रियों ने सोचा कि अभयकुमार प्रकृति से तो धनलोलुप है ही, अतः उसे रिश्वत (लाँच) देकर हम क्यों न छूट जाएं।” ऐसा विचार कर उन्होंने अपनी रक्षा के लिए अभयकुमार को रात्रि में अठारह करोड़ सोने की मोहरें (स्वर्णमुद्राएँ) दे दीं।

पाँच दिन पूर्ण होने पर छठवें दिन प्रभातकाल में अभयकुमार ने अपने पिता को पुनः राज्य पर स्थापित किया और राजसभा में अठारह करोड़ सोने की मोहरों का ढेर लगा दिया। विपुल धन को देखकर विस्मित हुआ श्रेणिक राजा विचार करने लगा कि निश्चय ही इस अभय ने राज्य के लोगों को लूटकर निर्धन बना दिया है, अन्यथा इतनी विपुल सम्पत्ति कहाँ से प्राप्त होती? नगर के लोगों की मनोदशा को जानने के लिए राजा ने अपने गुप्तचरों को सभी मार्गों एवं बड़े-बड़े स्थानों पर नियुक्त करने के लिए आदेश दिया। नगर के सभी गृहों में नगरजनों के मुख से अभयकुमार की यशोगाथा एवं जय-जयकार ध्वनि के शब्द सुनकर गुप्तचरों ने राजा को सम्पूर्ण वस्तुस्थिति से अवगत कराया। मन से व्याकुल बने राजा ने अभयकुमार से पूछा- “हे पुत्र! इतनी विशाल धनराशि कहाँ से प्राप्त की है?” अभयकुमार ने विस्मित मन वाले पिता को तीन जौ के दानों के प्रमाण जितने मांस की याचना से सम्बन्धित सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाया। उसके पश्चात् राजा सहित सभी लोगों ने निर्विवाद रूप से मांस को अत्यन्त महंगा और अतिदुर्लभ के रूप में स्वीकार किया।

मांस खानेवालों का इस लोक में अनादर होता है तथा जन्मान्तर में उन्हें दरिद्रता एवं नीचकुल की प्राप्ति होती है, अतः अनेक दोषों से युक्त मांस को मन से भी खाने की इच्छा नहीं करना चाहिए। व्यक्ति लाखों गायों अथवा स्वर्णमुद्राओं

का दान देकर जितने पुण्य का बन्ध करता है, उससे अधिक पुण्य का बन्ध मांस का त्याग करनेवाला करता है। मांस का भक्षण नरक का एक कारण है, यह अपवित्र, अनुचित तथा सर्वथा त्याग करने योग्य है। मांस अभक्ष्य है, अतः इसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।



कण्डरीक की कथा

ऐन्द्रिक-विषयों का सेवन निश्चय से महाशल्य है, परलोक बिगाड़नेवाला महाशत्रु है। यह महाव्याधियों और दरिद्रता का हेतु है। जैसे- हृदय में चुभा हुआ शल्य प्राणियों को दुःखी करता है, वैसे ही हृदय में विषय-सेवन का विचार भी जीव को दुःखी करता है। विषयासक्त जीव वचनों को भी भूल जाता है। इस प्रकार आराधकों को विषयों के अल्पसुख को छोड़कर प्रशमरस के अपरिमित सुख का भोग करना चाहिए। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में कण्डरीक की निम्न कथा उपलब्ध है:-⁸⁰⁴

पुण्डरीकिणी नगरी में पुण्डरीक नामक राजा राज्य करता था। उसे जैन-धर्म पर दृढ़ अनुराग था, इससे संसार के विषयसुख को किंपाकफल के समान जानकर उसको वैराग्य उत्पन्न हुआ। राजा ने दीक्षा लेने की इच्छा से अपने छोटे भाई कण्डरीक को बुलाकर कहा- “हे भाई! अब तू इन राज्य-सुखों का भोग कर और मैं संसार के विषय-सुखों को छोड़कर दीक्षा स्वीकार करता हूँ।” कण्डरीक ने कहा- “हे महाभाग! विषयसुख यदि दुर्गति का मूल है, तो मैं भी दीक्षा स्वीकार करूंगा, मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है?” राजा ने उसे विभिन्न प्रकार से समझाकर रोकने की कोशिश की, किन्तु उसने आचार्य के पास जाकर दीक्षा ले ली। अन्य नगरों में विचरते हुए स्वस्थ आहार ग्रहण करने से कण्डरीक मुनि के शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई। एक दिन वे पुण्डरीकिणी नगरी में पहुँचे। राजा ने वैद्य से औषधोपचार करवाकर मुनि की सेवा की। इससे मुनि का शरीर पुनः स्वस्थ हुआ, लेकिन मुनि रसलोलुपता के कारण अन्यत्र विहार करने के लिए निरुत्साही हुआ।

राजा अपनी मधुर वाणी से उन्हें उत्साही करते हुए बोला- “हे महाशय! आप धन्य हो! तप के द्वारा कृशकाय होने पर भी आपको अपने शरीर पर अल्पमात्र भी आसक्ति नहीं है। आपने अप्रतिबद्ध विहार किया है, इसलिए आप मेरे द्वारा विनती करने पर भी नहीं रुक रहे हो?”

राजा के उत्साहकारक वचनों से मुनि ने अन्यत्र विहार किया, परन्तु सुलभ, सुस्वादु, पुष्टिकर भोजन (आहार) आदि के प्रति राग उत्पन्न होने से वे पुनः राज्य-उपभोग की इच्छा से उसी नगरी में वापस आए। नगरी के बाहर उद्यान में वृक्ष की शाखा पर चारित्र के उपकरणों को टांगकर (लटकाकर) लज्जारहित होकर मुनि हरि वनस्पति से युक्त भूमि पर बैठ गए। इसे सुनकर राजा वहाँ आया और मुनि को संयम में स्थिर करने के लिए कहने लगा- “हे मुनि! आप धन्य हो, आप दीक्षा लेकर उसका निरतिचारपूर्वक पालन करते हो और मैं राज्य के सुख-भोग के बन्धन में पड़ा हुआ कुछ भी धर्म-कार्य नहीं कर सकता हूँ।” ऐसा कहते हुए राजा की दृष्टि वृक्ष पर पड़ी, तब भी वे मुनि कुछ नहीं बोले, तो वैराग्य को धारण करते हुए राजा ने फिर कहा- “हे मूढ़! पूर्व में मैं जब तुझे दीक्षा हेतु रोक रहा था तथा राज्य दे रहा था, तब तूने नहीं लिया और अब प्रतिज्ञा को तोड़कर तृण से भी हल्का बन गया है। अब तुझे इस राज्य को लेकर क्या सुख मिलेगा?” ऐसा कहकर पुण्डरीक राजा ने अपना सारा राज्य उसे सौंप दिया और स्वयं लोच करके मुनि के संयम का वेश ग्रहण कर लिया। आचार्य के पास जाकर राजा ने विधिपूर्वक दीक्षा स्वीकार की, किन्तु छट्ठ तप (दो उपवास) के पारणे में शरीर के प्रतिकूल आहार लेने से उसके पेट में भयंकर पीड़ा हुई, जिससे मरकर वह सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

इधर कण्डरीक अन्तःपुर में गया। मन्त्री, सामन्त, आदि सारे लोगों ने ‘यह दीक्षा छोड़नेवाला पापी है’- इस तरह कहकर उसका तिरस्कार किया। रस-लोपुपता के कारण वह भोजन-पानी में आसक्त बना। राजमहल का अतिपुष्टिकर भोजन शरीर के प्रतिकूल होने से वह विशुचिका रोग से ग्रसित हुआ और रौद्रध्यान के कारण मरकर वह सातवें नरक में उत्पन्न हुआ।

इस तरह विषयासक्त जीव विषयों को भोगे बिना भी दुर्गति को प्राप्त करता है, इसलिए विषय-भोगों को छोड़कर आराधना में मन लगाना चाहिए। विषयरूपी ग्रह के अधीन पड़ा मूढात्मा पिता को मारने का प्रयत्न करता है, बन्धु को शत्रु मानता है और स्वेच्छाचारी हो जाता है। विषय अनर्थ का पथ है। इस तरह विषय-भोग-सेवन के ज्वर से आक्रान्त जीव को श्रीखण्ड का पान करने के समान कहा गया है। विषयों का सेवन जीव के लिए विषरूप में ही परिणत होने वाला होता है। यदि विषयों में गुण होता, तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव इस तरह विषयसुख को छोड़कर धर्मरूपी उद्यान में क्रीड़ा नहीं करते; इसलिए वे साधु धन्य हैं, जिन्होंने संसार के विषयसुखों को सर्पविष के समान अत्यन्त घातक जानकर त्याग दिया है।

सवेगरंगशाला के इस कथानक का फलित यह है कि विषयासक्त मुनि संयममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा पराक्रम सम्भव नहीं होता है। वह गुरु के हितकर उपदेशों को भी भूल जाता है। अतः तीन लोक के भूषणरूप संयम जीवन ग्रहण करने के पश्चात् मुनि को विषयासक्ति से दूर रहना चाहिए। इस सन्दर्भ में सवेगरंगशाला में जो कण्डरीक की कथा निरूपित की गई है, वह हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. ५४६), आचारांगचूर्णि (पृ. ५८-२११), आचारांगवृत्ति (पृ. ११३, २४१), ज्ञाताधर्मकथा (१४१-७), आवश्यकवृत्ति (पृ. २८५), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. ३२६), मरणसमाधि (ग. ६३७), स्थानांग (२४०), महानिशीथ (१७६), स्थानांगवृत्ति (पृ. ३६०), सूत्रकृतांगवृत्ति (पृ. १४७), आदि अनेक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।



अंगदत्त की कथा

मनुष्य निद्रावस्था में जीवित होते हुए भी मृतक के सदृश हो जाता है। निद्रा से वह मूर्च्छित और सत्वरहित बन जाता है। निद्रा ज्ञान का अभाव है, गुण समूह का पर्दा है और विवकेरूपी चन्द्र को ढकने के लिए घने बादल के तुल्य है। इस सन्दर्भ में सवेगरंगशाला में अंगदत्त की निम्न कथा वर्णित है :-⁸⁰⁵

उज्जयिनी नगरी में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसका अमोघरथ नामक एक सारथी था। उस सारथी की यशोमति नामक पत्नी और अंगदत्त नामक एक पुत्र था। अंगदत्त जब बालक ही था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई। इस पर राजा ने उसके पिता के स्थान पर दूसरे सारथी को रखा। नए सारथी को भोग-विलास करते देख यशोमति अपने पुत्र की चिन्ता में रुदन करती रहती। एक दिन माँ को रोते हुए देखकर पुत्र ने पूछा- “हे माँ! तू हमेशा क्यों रोती रहती है?” पुत्र द्वारा अति आग्रह करने पर माँ ने उसे रोने का कारण बताया। उसके बाद माँ ने पुत्र की कला सीखने की जिज्ञासा को जानकर उसे कला सीखने हेतु कौशाम्बी नगरी भेजा, जहाँ उसके पिता का मित्र दृढ़प्रहारी रहता था। उसने अंगदत्त को अपने पुत्र के समान रखा और उसे शस्त्रादि कलाओं में कुशल बनाया।

एक दिन दृढ़प्रहारी उसका कला-कौशल दिखाने के लिए उसे कौशाम्बी के राजा के पास ले गया। अंगदत्त राजसभा में अपनी कला को प्रदर्शित करने लगा। उसकी कला को देखकर नगरजन उसकी प्रशंसा करने लगे, लेकिन राजा

⁸⁰⁵ सवेगरंगशाला, गाथा ७२६६-७३५८.

प्रसन्न नहीं हुआ। फिर भी राजा ने उससे पूछा- “बोल तुझे कौन-सी आजीविका चाहिए?” अंगदत्त ने कहा- “यदि आपको मेरी कला से प्रसन्नता नहीं है, तो दान से मुझे क्या प्रयोजन है?” उसी समय नगरजनों ने राजा से निवेदन किया- “हे राजन्! इस नगर में कोई चोर नगरवासियों को लूट रहा है, अतः आप इसका निवारण करें।” राजा ने कोतवाल को सात दिन में चोर को पकड़कर लाने का आदेश दिया। जब कोतवाल आँखें बन्द कर चुपचाप खड़ा रहा, तब अंगदत्त ने कहा- “हे देव! कृपा करके यह आदेश मुझे दीजिए।” राजा से आदेश प्राप्त कर वह राजदरबार से निकला और उन चोरों की खोज करने लगा। चोर अधिकांशतः शून्यगृह, सभास्थान, आश्रम और देवकुलिका, आदि स्थानों में ही रहते हैं- ऐसा विचार कर वह ऐसे स्थानों पर उनकी खोज कर फिर नगरी के बाहर उद्यान में पहुँचा।

अंगदत्त एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठकर चोर को पकड़ने का उपाय सोच रहा था। उसी समय एक परिव्राजक संन्यासी वहाँ आया और उसके समीप आकर बैठ गया। उस संन्यासी ने अंगदत्त से कहा- “हे वत्स! तू कहाँ से आया है और क्यों भ्रमण कर रहा है?” उसने कहा- “हे भगवन्त! मैं उज्जैन से आया हूँ और निर्धन होने से भटक रहा हूँ।” संन्यासी ने कहा- “हे पुत्र! यदि ऐसा ही है, तो मैं तुझे धन दूँगा।” संध्या पूर्ण होते ही जब अन्धकार हो गया, तब त्रिदण्ड में से तीक्ष्णधारवाली तलवार निकालकर वह संन्यासी अंगदत्त के साथ नगरी में गया। वहाँ उसने एक धनिक सेठ के घर में डाका डालकर बहुत-सा धन लूटा। तत्पश्चात् अंगदत्त को वहाँ खड़ाकर वह स्वयं देवभवन में सोए हुए अपने मनुष्यों को उठाकर लाया तथा धन के पोटलों को उनके द्वारा उठवाकर उद्यान में ले गया। अर्द्धरात्रि होने से संन्यासी ने सबको कुछ देर सोने के लिए कहा। उसकी बात स्वीकार कर सब गाढ़ निद्रा में सो गए, केवल अंगदत्त कपटनिद्रा करके एक क्षण सोया और तुरन्त वहाँ से उठकर वृक्षों के समूह में छिप गया। उस परिव्राजक ने अपने मनुष्यों को निद्राधीन जानकर मार दिया और अंगदत्त को वहाँ नहीं देखकर उसे वृक्षसमूह में खोजने लगा। संन्यासी को सामने आते देख अंगदत्त ने उस पर तलवार से तेज प्रहार किया। तीव्र वेदना से पीड़ित उस परिव्राजकरूपी चोर ने कहा- “हे पुत्र! अब मेरा जीवन समाप्त हो गया है, मेरी तलवार को स्वीकार कर और श्मशान के पृष्ठ भाग में जा। वहाँ तू चण्डिका के मन्दिर से आवाज देना, जिसे सुनकर भौरे में से मेरी बहन आएगी। उसे यह तलवार दिखाना, जिससे वह तेरी पत्नी बनेगी और तुझे भौरे में रखा धन का स्थान बतलाएगी।”

संन्यासी के कहे अनुसार अंगदत्त उस भीरे तक पहुँचा तथा वहाँ उसने एक सुन्दर युवती को देखा। उस युवती द्वारा पूछने पर अंगदत्त ने उसे तलवार निकालकर दिखाई। इससे अपने भाई का मरण जानकर युवती ने अपना शोक छिपाकर उसके स्वागत हेतु उसे यन्त्रयुक्त पलंग पर आराम करने के लिए कहा। अंगदत्त उस पलंग पर बैठा, लेकिन जाग्रत रहा। जैसे ही वह युवती यन्त्र दबाने के लिए गई कि तुरन्त ही अंगदत्त उस पलंग को छोड़कर छिप गया। कुछ ही क्षण में जब पलंग टूट गया, तब प्रसन्न हृदयवाली उस युवती ने कहा- “हा! हा! मेरे भाई का पिनाश करनेवाले पापी को मैंने मार दिया, अब मुझे मारनेवाला कौन है?” ऐसा सुन अंगदत्त ने उसकी चोटी को पकड़ा और उसे राजा के पास ले आया। वहाँ उसने राजा को सर्व वृत्तान्त कहा। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे जीवन भर की आजीविका देने की घोषणा की। वह लोगों में पूज्य बना और सर्वत्र उसकी प्रशंसा हुई। कालान्तर में वह अपने नगर में गया। वहाँ राजा ने उसका सत्कार किया और उसको उसके पिता के स्थान पर नियुक्त किया।

निद्रा ध्यान एवं साधना में विघ्नकारी है, इसलिए निद्रा पर विजय प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि भगवान् ने जयन्ती श्राविका को कहा था कि धर्मी व्यक्ति को जाग्रत और अधर्मी व्यक्ति को निद्रा में रहना श्रेयस्कर है। सोए हुए का ज्ञान भी सो जाता है, जबकि जाग्रत व्यक्ति का ज्ञान स्थिर और दृढ़ रहता है। जो अजगर के समान निद्रामग्न होता है, उसका अमृततुल्य श्रुतज्ञान नष्ट हो जाता है, अतः निद्रारूपी शत्रु को जीतकर मानव को सदैव जाग्रत रहना चाहिए।

निद्राधीन पुरुष मूर्च्छित अवस्था में रहता है। निद्रा में करवट बदलते समय वह सूक्ष्म जीवों की हिंसा कर देता है। निद्रा उद्यम में विघ्नकारी एवं महान् भय के प्रादुर्भाव का कारण है। प्रस्तुत विषय पर संवेगशाला में अंगदत्त की जिस कथा का प्रतिपादन किया गया है, वह कथानक हमें व्यवहारसूत्रवृत्ति (भाग ४, पृ. ३६) ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।



एक श्रावकपुत्र की कथा

जो मनुष्य जिनेश्वर भगवान् की पूजा करके एक लाख बार नमस्कार-मन्त्र का अखण्ड जाप करता है, वह तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करता है। नमस्कार-मन्त्र के प्रभाव से अवश्य ही जन्मान्तर में भी श्रेष्ठ जाति, कुल, रूप, आरोग्य और अतुल सम्पत्ति, इत्यादि की प्राप्ति होती है। यह नमस्कार-मन्त्र आराधना में विजयध्वज को ग्रहण करने के लिए हाथ है, स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग है तथा दुर्गति के द्वार को बन्द करने के लिए अर्गला है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में एक श्रावकपुत्र का दृष्टान्त दृष्टव्य है :-⁸⁰⁶

एक नगर में एक श्रावक रहता था। उसका पुत्र यौवन से उन्मत्त, वेश्या और जुएं का व्यसनी था। पुत्र को अकार्य करते देख पिता ने उसको बहुत समझाया और धर्म करने के लिए कहा, परन्तु फिर भी धर्म में उसकी रुचि नहीं जगी और वह निरंकुश हाथी की तरह स्वच्छन्द भोग-विलास करने लगा। एक दिन मरते समय पिता ने उसे बुलाकर कहा- “हे पुत्र! यद्यपि तू प्रमादी है, फिर भी मनोवांछित फल को देनेवाले इस नमस्कार-मन्त्र को तू याद कर ले और हमेशा दुःख अथवा संकट में इस मन्त्र का स्मरण करना। इसके प्रभाव से भूत, वेताल, आदि के उपद्रव नहीं होंगे।” पिता द्वारा अति आग्रह करने पर उनका मान रखने के लिए पुत्र ने उनके वचनों को स्वीकार किया। कुछ समय बाद पिता की मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु के बाद घर में धन एवं सम्पत्ति का भी नाश हो गया, जिससे वह घर को छोड़कर एक त्रिदण्डी से मित्रता करके उसके साथ रहने लगा।

एक दिन त्रिदण्डी ने विश्वासपूर्वक श्रावकपुत्र से कहा- “हे भद्र! यदि तू काली चतुर्दशी की रात्रि में अखण्ड श्रेष्ठ अंगवाले मृतक के शरीर को लेकर आएगा, तो उस मृत शरीर को मैं साधना द्वारा मन्त्रित कर तेरी दरिद्रता दूर कर दूंगा। उसकी बात को स्वीकार कर श्रावकपुत्र ने काली चतुर्दशी की रात्रि में निर्जन श्मशान से मृतक का शरीर लाकर उसे दिया। त्रिदण्डी ने उस मुर्दे के हाथ में तलवार देकर मण्डल-आकार बनाकर उसके ऊपर मृत शरीर को बैठाया और उसी के सामने श्रावकपुत्र को भी बैठाया। तत्पश्चात् त्रिदण्डी ने जोर से विद्या का जाप प्रारम्भ किया। उस शक्ति से वह मुर्दा उठने लगा। श्रावकपुत्र मुर्दे को उठता देख डरने लगा और तुरन्त ही पिता द्वारा दिए गए नमस्कार-महामन्त्र का स्मरण करने लगा। नमस्कार-मन्त्र के प्रभाव से मुर्दा जमीन पर गिर गया। पुनः, त्रिदण्डी

द्वारा विद्या का जाप करने से मुर्दा उठा और नमस्कार-महामन्त्र के प्रभाव से वह फिर गिर गया। त्रिदण्डी ने कहा- “हे श्रावक पुत्र! क्या तू मन्त्रादि कुछ विद्या जानता है?” उसने कहा- “मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ।” पुनः त्रिदण्डी अपनी विद्या का जाप करने लगा, किन्तु नमस्कार-मन्त्र के प्रभाव से वह मुर्दा श्रावकपुत्र को मारने में असमर्थ बना, लेकिन उसने उस त्रिदण्डी को मारकर उसके टुकड़े कर दिए। उस तलवार के प्रहार से त्रिदण्डी का मृत शरीर स्वर्णमय बन गया। श्रावकपुत्र उसे स्वर्णमय देखकर प्रसन्न हुआ और इसे पंचपरमेष्ठि-मन्त्र का प्रभाव जाना। उस स्वर्ण को घर ले जाकर उसने अपना भण्डार भरा और इस तरह वह धनाढ्य बन गया।

यह कथा पढ़कर हृदय में इस प्रकार के भावों का चिन्तन करें कि यह नमस्कार-मन्त्र विपुल वैभव का प्रदाता है और वह वैभव किसी भाग्यवान् व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकता है, मैं धन्य हूँ कि अनादि-अनन्त संसार-समुद्र में अचिन्त्य चिन्तामणि सदृश यह पंचपरमेष्ठि-मन्त्र मैंने प्राप्त किया है।

संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। परवर्तीकाल में प्रस्तुत कथा स्वर्णपुरुष की कथा के नाम से उपलब्ध होती है, जो हमें कल्पसूत्रवृत्ति में मिलती है।



यव साधु की कथा

ज्ञान प्रकृष्ट दीपक है और तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाला कांकिणी रत्न है। पाप से निवृत्ति, धर्म में प्रवृत्ति और विनय की प्राप्ति-ये तीनों ज्ञान के मुख्य फल हैं। नरक का जीव जिन कर्मों को करोड़ों वर्ष में क्षय करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी पुरुष एक श्वासोश्वास में ही क्षय कर देता है; इसलिए बुद्धिमान् जीवों को प्रयत्नपूर्वक ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में यव मुनि का निम्न प्रबन्ध दृष्टव्य है-⁸⁰⁷

उज्जैन नगर में यव नामक राजा राज्य करता था। उसको गर्दभ नामक एक पुत्र और अडोल्लिका नामक एक सुन्दर पुत्री थी। उसका दीर्घपृष्ठ नामक एक मन्त्री था। एकदा गर्दभ युवराज अपनी ही बहन को देखकर उस पर आसक्त हो गया। किसी भी प्रकार से उसे प्राप्त नहीं कर पाने से युवराज प्रतिदिन दुर्बल होने

लगा। एक दिन मन्त्री ने युवराज से पूछा- “हे कुमार ! तुम दुर्बल क्यों होते जा रहे हो ?” अति आग्रहपूर्वक पूछने पर उसने एकान्त में मन्त्री को कारण बताया। तब मन्त्री ने कहा- “हे कुमार ! कोई नहीं जान सके, इस प्रकार से तुम उसे भीरे में छुपकर विषय-सुखों का भोग करो। तुम्हारे द्वारा इस प्रकार करने से लोग भी यही जानेंगे कि निश्चय से किसी ने इसका अपहरण किया है।” कामासक्त बने राजकुमार ने मन्त्री की बात स्वीकार कर उसी प्रकार आचरण किया। यह बात यव राजा को ज्ञात होने पर उन्हें अपार निर्वेद उत्पन्न हुआ और उन्होंने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर स्वयं सद्गुरु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली।

संयम लेकर यव राजर्षि का मन अध्ययन में नहीं लगता था। गुरुदेव द्वारा बार-बार कहने पर भी यव राजर्षि पढ़ने में विशेष उद्यम नहीं करते और पुत्र पर मोह होने से बार-बार नगरी में आते। एक समय उज्जैन की ओर आते हुए यव राजर्षि ने जौ के खेत की रक्षा में तत्पर खेत के मालिक को एक गधे से एक श्लोक के रूप में यह कहते हुए सुना-

“ अथावसि पथावसि ममं चेव निरिक्खसि ।

लक्खि तो ते मए भाओ, जवं पत्थेसि गदहा॥”

अर्थात् सामने आता है, पीछे भागता है और मुझे देखता है, इसलिए हे गधे! मैं तेरे भाव को जानता हूँ कि तू जौ (जव) चाहता है। यव राजर्षि कौतूहलवश उस श्लोक को याद करके आगे चलने लगे। आगे एक स्थान पर कुछ बच्चे गिल्ली खेल रहे थे। एक लड़के ने गिल्ली जोर से फेंकी, जिससे वह गड़ढे में गिर गई। चारों तरफ खोज करने पर भी जब गिल्ली नहीं मिली, तब एक लड़के ने एक गड़ढे में गिल्ली को देखकर इस प्रकार कहा-

“ इओ गया, तीयो गया, मग्गिज्जंति न दीसइं।

अहमेयं वियाणांसि, बिले पड़िया अडोलिया॥”

अर्थात् इधर गई कि उधर गई-इस प्रकार खोज करने पर भी नहीं मिली, परन्तु मैं इसे जानता हूँ कि गिल्ली गड़ढे में गिरी है।

इस श्लोक को भी मुनि ने याद कर लिया, फिर मुनि उज्जैन नगरी में पहुँचे और वहाँ एक कुम्भकार के घर ठहरे। वहाँ भी कुम्भकार ने भागते हुए चूहे को इस तरह श्लोक कहा-

सुकुमलया भद्रदलया, रति हिङ्गसीलया।

दीह पिदस्थ बीहेहि नत्थि ते ममओ अयं।।

अर्थात् रात्रि में घूमने के स्वभाववाले हे सुकुमार भद्रक चूहे! तू चाहे सर्प से डरता हो, परन्तु मुझसे तुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। इस श्लोक को भी यव राजर्षि ने याद कर लिया। राजर्षि ने तीनों श्लोकों को कण्ठस्थ कर लिया, फिर वे धर्म-साधना करने लगे।

यव राजर्षि के साथ दीर्घपृष्ठ मन्त्री का कुछ पूर्व वैर होने से उसने कुम्भकार के घर कुछ शस्त्र छिपाकर यव के पुत्र से कहा- “हे राजन्! आपके पितामुनि आपको मारकर राज्य लेने आए हैं।” ऐसा कहकर उस स्थान पर छुपाए हुए शस्त्रों को दिखाया। राज्य-अपहरण एवं मौत के भय से राजा मन्त्री के साथ काली रात्रि में कुम्भकार के घर पहुँचा। उस समय किसी कारणवश मुनि ने प्रथम श्लोक का उच्चारण किया। राजा ने श्लोक सुनकर विचार किया कि निश्चय से इन्होंने मुझे जान लिया है। जब मुनि ने दूसरा श्लोक कहा तब उसे सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ- अहो! ये बहन का वृत्तान्त भी जानते हैं। फिर मुनि ने तीसरे श्लोक का उच्चारण किया और उसे सुनकर राजा ने पितामुनि को अपना हितैषी जानकर मन्त्री को शत्रु माना। राजा को मन्त्री पर तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी तलवार से राजा ने उसका मस्तक काट दिया। अन्त में राजा ने अन्दर जाकर अपने पितामुनि को अपना सर्ववृत्तान्त कहा, जिसे सुनकर मुनि ने विचार किया कि अज्ञानी जीवों द्वारा कहे गए श्लोकों को याद करने से मेरे जीवन की रक्षा हो गई, तो जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कथित वचनों का अध्ययन करने से वह कितना फलदायक होगा। ऐसा विचार कर वे अपने गुरु के पास गए और अपने अविनय की क्षमायाचना कर श्रुतज्ञान का अध्ययन करने लगे। इस तरह यव राजर्षि के प्राण एवं संयम-जीवन की रक्षा हुई।

प्रस्तुत कथा का सार यह है कि ज्ञानी पुरुष की सर्वत्र पूजा होती है और अज्ञानी पुरुष दर-दर की ठोकर खाता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में यव मुनि की कथा वर्णित है। प्रस्तुत कथा हमें बृहत्कल्पभाष्य (११५५) और बृहत्कल्पवृत्ति (पृ. ३५६) में भी उपलब्ध होती है।



चारुदत्त की कथा

सर्पों में मणि, हाथियों में दाँत और चमरी गाय में उसकी पूंछ का समूह (चामर) सारभूत होते हैं, परन्तु मनुष्य के शरीर में कोई एक अंग भी सारभूत नहीं है। गाय के गोबर, मूत्र और दूध में तथा सिंह के चमड़े में पवित्रता दिखाई देती है, लेकिन मनुष्य-देह में अल्प भी पवित्रता दिखाई नहीं देती है। जिस प्रकार सरोवर में पत्थर फेंकने से कीचड़ उछलता है, उसी तरह कामिनी के रंग से प्रशान्त मन भी उद्वेलित हो जाता है। मित्रता के दोष से चारुदत्त ने आपत्ति प्राप्त की तथा वृद्ध की सेवा करने से पुनः उन्नति को प्राप्त किया। इस प्रसंग में संवेगरंगशाला में चारुदत्त की निम्न कथा उपलब्ध है-⁸⁰⁸

चम्पानगरी में भानु नामक श्रावक रहता था। उसे सुभद्रा नामकी पत्नी और चारुदत्त नाम का एक पुत्र था। चारुदत्त युवावस्था को प्राप्त हुआ, फिर भी वह साधुओं की तरह निर्विकारी मनवाला ही था, इसलिए माता-पिता ने उसका मन बदलने के लिए दुर्व्यसनी मित्रों के साथ उसकी संगति करा दी। इस कारण उसमें इन्द्रिय-विषयों को भोगने की इच्छा जाग्रत हुई। कामासक्त बना चारुदत्त वसन्तसेना नामक वेश्या के घर बारह वर्ष तक रहा। चारुदत्त ने अपना सम्पूर्ण धन वेश्या को देकर समाप्त कर दिया, इस पर वेश्या ने उसे अपने घर से निकाल दिया। जब वह वापस अपने घर लौटा, तब वहाँ अपने माता-पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर अति दुःखी हुआ। तत्पश्चात् व्यापार की इच्छा से पत्नी के आभूषण लेकर वह मामा के साथ अन्य नगर को चला गया। वहाँ से रूई खरीदकर उसे अन्यत्र बेचने गया। रास्ते में बीच जंगल में दावानल लगने से रूई जलकर राख हो गई। तब वह प्रियंगु नगर आया। वहाँ उसके पिता के मित्र ने उसे पुत्र की तरह रखा। एक दिन वह जहाज भरकर अन्य बन्दरगाह में गया। वहाँ उसने आठ करोड़ जितना धन प्राप्त किया। पुनः, अपने नगर लौटते समय उसका जहाज समुद्र में नष्ट हो गया। किसी तरह से उसे लकड़ी का एक तख्ता मिला। उसके सहारे वह राजपुर नगर में पहुँचा। वहाँ उसे एक त्रिदण्डी साधु मिला। साधु के द्वारा पूछे जाने पर उसने सत्य घटना सुनाई। त्रिदण्डी ने उसे धनाढ्य बनाने के लिए पर्वत पर स्थित कुएँ से रस लाने को कहा। चारुदत्त गहरे कुएँ में प्रवेश करके तुम्बे में रस लेने लगा, तब अन्दर से किसी ने उसे रोका, किन्तु सर्व परिस्थिति बताने पर उसने उसे तुम्बे में रस भरकर दिया। त्रिदण्डी द्वारा रस्सी से चारुदत्त को बाहर नहीं निकाल पाने पर क्रोधित होकर उसने रस

को फेंक दिया। इससे त्रिदण्डी उसे वहीं छोड़कर चल दिया। अब जीने की आशा नहीं है- ऐसा विचारकर वह सागार-प्रत्याख्यान करके पंचपरमेष्ठि का स्मरण करने लगा।

कुएँ में एक चन्दन गोह आई और जब वह रस पीकर जाने लगी, तब चारुदत्त ने उसकी पूँछ पकड़ ली और कुएँ से बाहर निकल गया। चारुदत्त प्रसन्न हुआ और उसने बड़ी मुश्किल से जंगल को पार किया।

चलते-चलते आगे एक छोटा गांव आया, जहाँ उसे अपने रुद्र नामक मामा का मित्र मिला। दोनों ने टंकण देश में जाकर दो बलवान् बकरे खरीदे और वहाँ से वे स्वर्णभूमि जाने लगे, लेकिन आगे जाने का रास्ता नहीं था। तब रुद्र ने बकरों को मारकर समुद्र पार करने का उपाय बताया। उसे सुनकर चारुदत्त को करुणा उत्पन्न हुई। चारुदत्त द्वारा इन्कार करने पर भी रुद्र अपने बकरे को मारने लगा। उसी समय चारुदत्त ने बकरे के कान में पंचपरमेष्ठि नमस्कार-महामन्त्र सुनाया। उसे सुनकर वह बकरा शुभभाव द्वारा मरकर देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। फिर रुद्र ने शीघ्र ही उस बकरे के चमड़े में चारुदत्त को बन्द कर दिया और स्वयं ने दूसरे बकरे को मारकर उसमें प्रवेश किया। उसके बाद भारण्ड पक्षियों ने मांस के लोभ से दोनों को उठाया, परन्तु पक्षियों में परस्पर युद्ध होने से चारुदत्त पानी में गिर गया। चमड़े को शस्त्र से चीरकर गर्भ से जैसे जीव निकलता है, वैसे वह बाहर निकला। इस तरह दुर्जन की संगति से उसे संकट का सामना करना पड़ा।

अब शिष्ट पुरुषों की संगति से किस प्रकार उसने धन प्राप्त किया, इसका प्रबन्ध इस प्रकार है -

उस समुद्र को पारकर चारुदत्त रत्नद्वीप पर पहुँचा। वहाँ उसने अमितगति नामक एक चारण मुनि को देखा। चारुदत्त अतिप्रसन्न हुआ। उसने मुनि की वन्दना की। दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना। उसी समय दो विद्याधर आकाश से नीचे उतरे और उन्होंने मुनि को वन्दन किया, तभी वहाँ एक देव आया। उसने पहले चारुदत्त को, फिर मुनि को नमन किया। विद्याधर द्वारा पूछने पर देव ने कहा- “ये चारुदत्त मेरे धर्मगुरु हैं, क्योंकि जब मैं बकरा था, तब मृत्यु के समय इन्होंने मुझे पंचपरमेष्ठि-मन्त्र का श्रवण कराया, जिससे मुझे अति दुर्लभ देवभव की लक्ष्मी प्राप्त हुई है। इनके द्वारा ही मैं सर्वज्ञ परमात्मा को जाननेवाला बना हूँ।” देव ने चारुदत्त को वरदान मांगने को कहा, तब चारुदत्त ने कहा- “जब भी मैं आपका स्मरण करूँ, तब आप आ जाना।” देव उसे

स्वीकार कर अपने स्थान को चला गया। विद्याधर चारुदत्त को गुणवान् जानकर अपने साथ चम्पापुरी ले गए। वहाँ चारुदत्त ने विपुल सम्पत्ति प्राप्त की।

इस तरह इस जगत् में दुष्ट और शिष्टजनों की संगति से उसी के अनुरूप फल मिलता है। इसे देखकर निर्मल गुणों से युक्त होकर वृद्धों की सेवा करना चाहिए। व्यक्ति चाहे वयोवृद्ध हो, ज्ञानवान् हो, प्रमाणिक हो, अधिक क्या लोकमान्य मुनि एवं तपस्वी भी हो, फिर भी स्त्रियों के संसर्ग से वह अल्पकाल में दोषों को प्राप्त करता है, फिर युवान्, अल्पज्ञ, अति स्वच्छन्दचारी, मूर्ख व्यक्ति स्त्री के संसर्ग से व्रतों से भ्रष्ट हो जाए, तो इसमें क्या आश्चर्य है? अतः इसे समझकर जो पुरुष जहर के समान समझकर स्त्री के संसर्ग को सर्वथा त्याग देता है, वही निश्चल ब्रह्मचर्य का भी पालन कर सकता है।

संवेगरंगशाला में इस कथा के माध्यम से यह बताया गया है कि वृद्ध, बाल, ग्लान, आदि की सेवा-शुश्रूषा से जहाँ व्यक्ति जीवन में उत्कर्ष एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, वहीं दुर्जनों की संगति से सज्जन पुरुष का मन एवं इन्द्रियाँ भी चंचल बन जाती हैं और वह स्वेच्छाचारी बनकर विषय-भोग सम्बन्धी दोषों से अपकर्ष को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में चारुदत्त की कथा उपलब्ध होती है। जिनदत्तसूरि द्वारा प्रतिपादित यह कथानक हमें आचारांगचूर्णि (पृ. ५०) तथा सूत्रकृतांगवृत्ति (पृ. १६६) में भी उपलब्ध होता है।



धन सेठ की पुत्रवधुओं की कथा

महाव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करने से अनेक जीव इस संसार-समुद्र से पार हुए हैं और हो रहे हैं और होंगे। क्योंकि पुण्यात्माओं को ही ये महाव्रत प्राप्त होते हैं और उनको ही उनमें अतिदृढ़ता आती है, इसीलिए अतिदुर्लभ पंच महाव्रतरूपी रत्नों को प्राप्तकर उन्हें फेंक नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में धन सेठ की पुत्रवधुओं की निम्न कथा वर्णित है :-⁸⁰⁹

राजगृही नगरी में धन नामक सेठ रहता था। उसके धनपाल, आदि चार पुत्र और उनकी चार पुत्रवधुएँ थीं। उम्र से परिपक्व हो जाने पर सेठजी को चिन्ता हुई कि घर का कार्यभार किस पुत्रवधू को सौंपूँ। तब सेठ ने पुत्रवधुओं की परीक्षा करने का विचार किया। एक दिन सेठ ने अपने सम्बन्धीजनों के समक्ष अपनी चारों पुत्रवधुओं को पाँच-पाँच धान्य के दाने देकर इस प्रकार कहा- “इन्हें

⁸⁰⁹ संवेगरंगशाला, गाथा ८२२३-८२४५.

सम्भालकर रखना और जब मैं मांगू, तब दे देना।” धान्य के दाने लेकर पहली बहू ने उनको फेंक दिया तथा दूसरी ने धान्य के दानों को उसी समय खा लिया, तीसरी ने उन्हें साड़ी के पल्लू में बांध लिया और बाद में तिजोरी में सुरक्षित रख दिया तथा चौथी ने विधिपूर्वक खेत में वपन करने के लिए उन्हें अपने पितृगृह भेज दिया।

कुछ वर्षों के पश्चात् सेठ ने पूर्व की तरह अपने सम्बन्धीजनों को भोजन करवाया और उनके समक्ष अपनी पुत्रवधुओं को बुलाकर उनसे धान्य के दानों को वापस लौटाने के लिए कहा। यह सुनकर पहली और दूसरी पुत्रवधू एक-दूसरे का मुख देखने लगीं। तीसरी पुत्रवधू ने तिजोरी से उन दानों को निकालकर सेठजी को दे दिया। अन्तिम चौथी पुत्रवधू ने कहा- “वाहन को भेजकर मेरे पितृगृह से उन दानों से उत्पन्न धान्य को मंगवा लीजिए, क्योंकि आपके वचन का पालन तो उन धान्य के दानों की वृद्धि करने से ही होता है, शक्ति होने पर भी उस धान्य का विनाश करना सम्यक् (उचित) नहीं माना जाता।” धनसेठ ने अपने स्वजनों से पूछा- “इस विषय में मुझे क्या करना उचित होगा।” तब सभी ने कहा- “आप स्वयं अनुभवी हैं। आप जो योग्य समझें तथा करें, वही हम सभी को मान्य है।” इससे धनसेठ ने पुत्रवधुओं को अनुक्रम से घर की सफाई, घर की भोजन व्यवस्था, घर के भण्डार के संरक्षण और घर की अभिवृद्धि एवं स्वामित्व का कार्य सौंप दिया। इस प्रकार (न्याय) करने से सेठजी की सभी ने बहुत प्रशंसा की।

इस दृष्टान्त का उपनय इस प्रकार जानना चाहिए कि सेठ, अर्थात् धर्मगुरु, स्वजन अर्थात् श्रमणसंघ, पुत्रवधू अर्थात् भव्यजीव और धान्य के दाने पंच महाव्रतरूप हैं। जैसे रोहिणी पुत्रवधू ने धान्य के दानों की अभिवृद्धि कर घर का स्वामित्व प्राप्त किया, उसी प्रकार जो भव्यात्माएँ महाव्रतों को स्वीकार कर, उनका सम्यक् पालन कर उनमें वृद्धि करती हैं, वे ही प्रशंसा की पात्र होती हैं और सिद्धगति को भी प्राप्त करती हैं।



नग्गति राजा की कथा

यौवन बिजली के समान अस्थिर है, सुख-सम्पदा भी सन्ध्या के बादल की भांति शीघ्र विलुप्त होनेवाली और जीवन पानी के बुलबुले के समान अनित्य है। इस लोक, परलोक में जो भी संयोग हैं, वे सभी अनित्य हैं। एक की अनित्यता को देखकर अनुमान से सर्वगत अनित्यता को मानकर जो उत्तम पुरुष नग्गति राजा के समान धर्म में उद्यम रहता है, वही अपना कल्याण कर सकता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में नग्गति राजा का निम्न कथानक उपलब्ध है:-⁸¹⁰

गंधार देश का स्वामी नग्गति नामक एक राजा था। वह वसन्त का आगमन होने पर अपने उद्यान की शोभा देखने के लिए नगर से निकला। वहाँ जाते हुए उसने मार्ग पर स्थित फल-फूल और पत्तों से लदे एक आम्रवृक्ष को देखा। उसकी रमणीयता से प्रसन्नचित्त होकर उस राजा ने वहाँ से जाते हुए कौतूहलवश एक मंजरी तोड़ ली। यह देख अपने स्वामी के मार्गानुसार चलनेवाले सेवकों में से भी किसी ने मंजरी, तो किसी ने पत्तों के समूह, किसी ने गुच्छे, तो किसी ने डाली के अग्रभाग को तोड़ लिया। किसी ने कच्चे फल तोड़कर एकत्रित कर लिए। इस तरह सबने मिलकर क्षणभर में उस वृक्ष को टूट जैसा बना दिया। आगे चलते हुए सभी उस उद्यान में पहुँचे। थोड़े समय घूमकर फिर सभी उस मार्ग पर ही वापस लौटे। मार्ग में उस वृक्ष को नहीं देखकर राजा ने लोगों से पूछा- “वह आम का वृक्ष कहाँ गया?” तब लोगों ने टूट के रूपवाले उस आम्रवृक्ष को दिखाया। विस्मित मनवाले राजा ने कहा- “यह ऐसा कैसे बन गया?” तब लोगों ने पूर्व की सारी बात बताई।

इसे सुनकर राजा परम संवेग (वैराग्य) को प्राप्त हुआ। राजा अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से विचारकर कहने लगा- “अहो! मेरी दुष्ट चेष्टा को धिक्कार है। संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जिसका नाश नहीं होता हो, अर्थात् सभी वस्तु अनित्य हैं, कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। इस आम्रवृक्ष के समान ही शरीर आदि सर्व वस्तुएँ विनाशशील हैं।” इस प्रकार चिन्तन कर महासत्त्वशाली वह राजा राज्य, अन्तःपुर और नगर को छोड़कर, विरक्त हो, प्रत्येक बुद्ध के चारित्रवाला साधु बन गया।

इस प्रकार संसार की समस्त वस्तुओं की अनित्यता को जानकर तथा इससे प्राणियों को अल्पमात्र भी शरण या त्राण नहीं मिलता है- ऐसा जानकर उनका त्याग कर देना चाहिए।

शरीर, यौवन, आदि की अनित्यता का चिन्तन करना ही अनित्य-भावना या अनुप्रेक्षा कहलाता है। संवेगरंगशाला में अनित्यता के चिन्तन के सम्बन्ध में नगति राजा का प्रबन्ध उपलब्ध होता है। प्रस्तुत कथा के संकेत हमें आवश्यकचूर्णि (भाग-२, पृ. २०८) एवं उत्तराध्ययनसूत्र (१८/४६) आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।



अनाथी मुनि की कथा

जन्म, जरा, मरण, उद्वेग, शोक, सन्ताप और व्याधियों से ग्रस्त इस भयंकर संसार-अटवी में प्राणियों का कोई शरणभूत नहीं है। सर्व जीवों का रक्षण करने में समर्थ करुणावत्सल वीतराग परमात्मा की जिनाज्ञा है। धर्म की ही शरण सत्य एवं शाश्वत है, अन्य सभी शरण अशरण हैं। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में अनाथी मुनि की निम्न कथा वर्णित है :-⁸¹¹

राजगृही नगरी के स्वामी राजा श्रेणिक एक बार मण्डित कुक्षी उद्यान में पहुँचे। वहाँ उद्यान की शोभा को देखते हुए उनकी आँखें एक ध्यानस्थ मुनि पर जा टिकी। उस मुनि के अद्भुत रूप-लावण्य को देखकर वे विस्मित हुए। उन्होंने मुनि से पूछा- “आप तरुण हैं, भोग भोगने योग्य हैं, फिर आपने इस आयु में संन्यास क्यों ग्रहण किया?” उत्तर में मुनि ने कहा- “मैं अनाथ था, मेरा कोई भी नाथ नहीं था, इसलिए मैं मुनि बना।” राजा ने मुस्कुराते हुए कहा- “शरीर-सम्पदा से आप ऐश्वर्यशाली प्रतीत होते हैं, फिर भी अनाथ कैसे? मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चले तथा सुखपूर्वक भोग भोगें।”

मुनि ने कहा- “तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बन सकोगे?” राजा को यह वाक्य तीक्ष्ण शस्त्र की तरह चुभ गया। उसने कहा- “आप झूठ बोलते हैं। मेरे पास विराट सम्पदा है, मेरे आश्रय में हजारों व्यक्ति हैं। ऐसी अवस्था में मैं अनाथ कैसे?” मुनि ने समाधान करते हुए कहा- “तुम अनाथ का अर्थ नहीं जानते। मैं तुम्हें इसका रहस्य बताता हूँ। मैं गृहस्थाश्रम में कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरे पिता के पास विराट वैभव था। मेरा विवाह उच्च कुल में

⁸¹¹ संवेगरंगशाला, गाथा ८५६६-८६२९.

हुआ था। मुझे एक बार असह्य अक्षि-रोग (नेत्रपीड़ा) हुआ। सभी परिवारजनों ने रोग दूर करने के खूब प्रयत्न किए, सभी ने मेरी वेदना पर आँसू बहाए, पर वे मेरी वेदना को बाँट नहीं सके। यह थी मेरी अनाथता। तब मैंने दृढ़ संकल्प किया कि यदि मैं वेदना से मुक्त हो जाऊँ, तो मैं मुनि बन जाऊँगा। इस संकल्प के साथ मैं सो गया। ज्यों-ज्यों रात्रि बीतती गई, मेरा रोग शान्त होता गया। सुबह होने पर मैंने अपने आपको पूर्ण रूप से स्वस्थ पाया। मैं विधिपूर्वक श्रमण बनकर सभी त्रस एवं स्थावर प्राणियों का नाथ बन गया। मैंने आत्मा पर शासन किया और अब मैं विधिपूर्वक श्रमणधर्म का परिपालन करता हूँ। यह मेरी सनाथता है।” सम्राट श्रेणिक ने पहली बार ही सनाथ-अनाथ का विवेचन सुना। उसके ज्ञानचक्षु खुल गए। सम्राट श्रेणिक ने कहा- “वस्तुतः आप ही सनाथ हैं और सभी के बान्धव हैं।” इस प्रकार मुनि अनाथी ने सम्राट श्रेणिक को संसार की अशरणता का मर्म बता दिया।

विकराल मृत्यु से बचाने में कोई समर्थ नहीं है-इस प्रकार की भावना ही अशरणभावना है। जिस प्रकार मृग को सिंह पकड़कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। माता-पिता, भाई-बहन, अथवा कोई भी परिजन उसे मृत्यु के पंजे से मुक्त नहीं करा सकते हैं।

सवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथानक हमें उत्तराध्ययनसूत्र के २० वें अध्याय में उपलब्ध होता है। साथ ही प्रस्तुत कथानक उत्तराध्ययननिर्युक्ति, उत्तराध्ययनभाष्य एवं उत्तराध्ययनचूर्णि में भी प्राप्त होता है। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कथानक उत्तराध्ययनसूत्र से ही ग्रहण किया होगा।



तापस सेठ की कथा

संसार की दुःखमयता का विचार करना संसारभावना है। जन्म दुःखमय है, रोग और मृत्यु भी दुःखमय है। जिसमें प्राणी को क्लेश प्राप्त हो रहा है, वह सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। दुःख से परिपूर्ण इस संसार में जीव अनन्तकाल से भ्रमण करता आ रहा है तथा अन्य समस्त जीवों के साथ माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, आदि सापेक्ष सम्बन्धों से पीड़ित होता रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है, जो एक जीव ने दूसरे

अन्य जीवों के साथ नहीं भोगा है। इस सम्बन्ध में सवेगरंगशाला में तापस सेठ की कथा कही गई है, जो निम्न है:-⁸¹²

कौशाम्बी नगरी में तापस नाम का एक सेठ रहता था। वह धर्म से विमुखबुद्धि वाला था। उसे अपने परिजनों से अति मोह था, इससे वह मरकर मोहवश अपने ही घर में सूअर के रूप में पैदा हुआ। वहाँ अपने स्वजनों को देखकर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पिता की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् पुत्र ने अपने पिता का वार्षिक श्राद्ध किया। उस दिन भोजन, आदि का आयोजन रखा गया। पुत्र ने भोजन के लिए ब्राह्मण, सन्यासी, स्वजन, आदि को निमन्त्रित किया तथा सभी के लिए माँस का भोजन (सामिष भोजन) बनाया, लेकिन एक बिल्ली ने उस भोजन को आमन्त्रितों को परोसने के पूर्व ही जूठा कर दिया। तब पुनः भोजन बनाने के लिए दूसरा कोई जीव नहीं मिलने पर उस पुत्र ने उसी सूअर को मारकर उसका भोजन बनवाया।

इस तरह वहाँ से मरकर वह सेठ पुनः उसी घर में सर्प बना। वहाँ पर अपने ही माँस का भोजन बनता हुआ देखकर उस सर्प को अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ। इधर सर्प को देखकर लोगों में भय से कोलाहल मच गया। इकट्ठा हुए लोगों ने मिलकर उस सर्प को मार दिया। वह सर्प मरकर पुनः अपने ही पुत्र के यहाँ पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। अब उसे पुनः पूर्वभव का स्मरण हुआ। इस पर वह मन में विचार करने लगा- मैं अपने ही पुत्र को पिता और पुत्रवधू को माता कैसे कहूँ? इस असमंजस में पड़ा वह संकल्पपूर्वक मौन रहने लगा।

कालान्तर में वह तरुणावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन कौशाम्बी नगरी में धर्मस्थ नामक आचार्य का पदार्पण हुआ। उन्होंने अपने ज्ञान से जाना कि इस नगरी में किसी जीव के प्रतिबोधित होने की सम्भावना है। अपने ज्ञान से आचार्य ने उस मौनधारी पुत्र को योग्य जाना। आचार्य ने उसके पूर्वभव से सम्बन्धित एक श्लोक की रचना कर उसे सुनाया और उसे धर्म स्वीकार करने को कहा। इस तरह अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, जिससे उसने आचार्य के पास दीक्षा स्वीकार कर ली।

जिन-धर्म के प्राप्त होने पर यदि मानव उसे स्वीकार नहीं करता है, तो वह संसार में दुःसह दुःखों को प्राप्त करता है, अतः संसार के पदार्थों को दुःखों के कारणभूत जानकर आराधक की विशेष आराधना करने में उद्यत रहना चाहिए।

⁸¹² सवेगरंगशाला, गाथा ८६३४-८६५०.

प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यह भी हो सकती है कि यह कथा किसी जैनोत्तर स्रोत से ग्रहण की गई हो और आचार्यश्री ने उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



महावीर प्रभु का प्रबन्ध

एकत्वभावना का अर्थ है—प्राणी अकेले ही जन्म लेता है, अकेले ही मृत्यु को प्राप्त करता है और अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्मों को भोगता है। मृत्यु के आगमन पर सम्पूर्ण सांसारिक-वैभव तथा कुटुम्ब का परित्याग करके व्यक्ति को अकेले ही यहाँ से प्रयाण करना होता है। आत्मा ही सुख-दुःखरूप कर्मों की कर्ता है और उनके फल भोगती है। यही आत्मा अपने पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करनेवाली है। श्रेष्ठ आचार से युक्त आत्मा मित्र और दुराचार से युक्त आत्मा शत्रु है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में महावीर प्रभु का प्रबन्ध दृष्टव्य है :-⁸¹³

क्षत्रियकुण्ड नगर में सिद्धार्थ नामक राजा राज्य करता था। उसका वर्धमान नामक पुत्र था। एक दिन परिजनों एवं राज्य के वैभव को छोड़कर वर्धमान कुमार ने स्वयं पंचमुष्ठी लोचकर दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर प्रथम दिन वे बाह्य-उद्यान में कायोत्सर्ग में स्थिर रहे। उस समय एक ग्वाले ने प्रभु से कहा—“हे देवार्थ! मैं अभी वापस आता हूँ, तब तक आप मेरे बैलों का ध्यान रखना।” ध्यान में खड़े भगवान् को इस प्रकार कहकर वह ग्वाला वहाँ से चला गया।

उस समय भ्रमण करते हुए वे बैल जंगल में प्रवेश कर गए। इधर थोड़ी ही देर में ग्वाला आया। उस स्थान पर बैलों को नहीं पाकर उसने भगवान् से पूछा—“हे देवार्थ! मेरे बैल कहाँ हैं?” उनके द्वारा प्रत्युत्तर नहीं मिलने पर वह दुःखी होता हुआ बैलों को आस-पास के स्थानों में खोजने लगा, किन्तु उसे बैल नहीं मिले। इधर कुछ समय पश्चात् बैल घास चरकर प्रभु के पास आकर बैठ गए। ग्वाला भी रातभर भटककर वापस वहीं आया। उसने प्रभु के पास अपने बैलों को जुगार करते हुए देखा, जिससे उसने यह निश्चय किया कि इस देवार्थ ने ही मेरे बैलों की चोरी करने की इच्छा से इन्हें इतनी देर छिपाकर रखा था,

अन्यथा मेरे पूछने पर कुछ तो कहता। इस प्रकार वह कुविकल्पो के कारण तीव्र क्रोध से उबल पड़ा और प्रभु का बहुत तिरस्कार कर उन्हें मारने के लिए दौड़ा।

उस समय सौधर्मेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान का प्रयोग किया तथा प्रभु की ऐसी अवस्था देखकर शीघ्र देवलोक से नीचे आया और वहाँ आकर ग्वाले को रोका। फिर उसने प्रभु की तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया तथा भक्तिपूर्वक कहने लगा- “भगवन्! आज से बारह वर्ष तक आपको घोर उपसर्ग होंगे। अतः, हे प्रभु! आप मुझे आज्ञा दीजिए, जिससे मैं आपके साथ रहकर आपकी सेवा कर सकूँ। मैं आपकी साधना में आनेवाले उपसर्गों एवं मनुष्य, तिर्यच और देवों द्वारा कृत विघ्नों को दूर करूँगा। आप मुझे अपने पास रहने के लिए आज्ञा प्रदान कीजिए।” प्रभु ने कहा- “हे देवेन्द्र! तू यह कह रहा है, किन्तु ऐसा कदापि न हुआ है, न होता है और न होगा। इस अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों ने स्वयं जिन कर्मों का बन्ध किया है, उन कर्मों का क्षय भी स्वयं को ही करना होगा। पुनः, उन कर्मों की निर्जरा भी दुष्कर तपस्या के बिना सम्भव नहीं है। कर्माधीन जीव अकेला ही सुख-दुःख का अनुभव करता है, अन्य तो निमित्तमात्र हैं।” इस प्रकार देवेन्द्र को कहकर प्रभु अकेले ही अपने दुःसह परीषहों को सहन करने में तत्पर बने।

वीर परमात्मा ने भी अकेले ही अपने पूर्वबद्ध कर्मों के विपाक को सहन कर शिवसुख को प्राप्त किया, अतः आराधक को भी इसी प्रकार एकत्वभावना का चिन्तन करना चाहिए।

भगवान् महावीर के कानों में कीलें ठोकने की घटना का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति के सामायिक अध्ययन की गाथा ५२५ में मिलता है। इसके पश्चात् इस घटना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में अति विस्तार से उपलब्ध होता है। आवश्यकचूर्णि के पश्चात् महावीर के जीवन-चरित्र सम्बन्धी विविध ग्रन्थों में भी इस घटना का उल्लेख हमें मिलता है। सम्भवतः, जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कथानक आवश्यकनिर्युक्ति से ही ग्रहण किया हो- ऐसी सम्भावना है।



सुलस और शिवकुमार की कथा

जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों से स्वयं को भिन्न समझना और इस भिन्नता का पुनः-पुनः विचार करना ही अन्यत्वभावना है। यह शरीर आत्मा से भिन्न है। स्वजन तथा भौतिक पदार्थ भी हमसे अन्य हैं। व्यक्ति को सदैव यह विचार करना चाहिए कि कोई किसी का स्वजन नहीं है। अनन्त अतीतकाल में यह जीव, अनन्त प्राणियों का स्वजन या परिजन बना था। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में सुलस एवं शिवकुमार की निम्न कथा वर्णित है:-³¹⁴

दशार्णपुर नामक नगर में सुलस और शिवकुमार नामक दो भाई रहते थे। सुलस प्रकृति से क्रूरकर्मी था तथा शिवकुमार हलुकर्मी, अर्थात् दयालु था। शिवकुमार अपने छोटे भाई को विविध दृष्टान्तों एवं युक्तियों से समझाकर धर्म में जोड़ने की कोशिश करता रहा, फिर भी सुलस जैनधर्म में श्रद्धावान् नहीं बना। शिवकुमार जिनेश्वरकथित धर्म को स्वीकार कर साधु-सेवा, आदि कार्य करता था।

एक दिन स्नेहवश शिवकुमार ने अपने भाई सुलस से कहा- “हे भाई! तू अयोग्य कर्मों को क्यों करता है? अंजलि के जल की तरह यह आयुष्य प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, शरदऋतु के बादल की शोभा सदृश्य इस आयु को नष्ट होते हुए तू क्यों नहीं देखता है? क्षण भर में शरीर की सुन्दरता का नाश होते हुए तू क्यों नहीं देखता है? तू क्यों इन पापकर्मों का आचरण कर रहा है और दान, शील, तप और धर्म में अल्प भी पुरुषार्थ नहीं कर रहा है।” तब सुलस ने उससे कहा- “अरे भोले भाई! धूर्तों के द्वारा तुम ठगे गए हो। देह-दुःख के कारण तप के द्वारा अपनी काया को तपा रहे हो। पुरुषार्थ से प्राप्त किए गए धन को तीर्थों आदि में दान कर देते हो और जीवों के रक्षण के लिए पृथ्वी पर भी वैर नहीं रखते हो। ऐसी शिक्षा से क्या प्रयोजन है, जिससे अल्प भी लाभ न हो, अतः कौन प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर आत्मसुख की बात करे।” इस तरह सुलस को धर्म की हँसी उड़ाते हुए देखकर शिवकुमार को संवेग, अर्थात् वैराग्यभाव उत्पन्न हुआ। इससे सद्गुरु के पास जाकर उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। लम्बी अवधि तक उग्र तपस्या एवं साधना करके अन्त में मरकर शिवकुमार मुनि अच्युत देवलोक में देव बना।

सुलस अपने पापों के द्वारा अशुभ कर्म का बन्ध कर अन्त में मरकर तीसरी नरक में नारकी का जीव बना। वहाँ उसे परमाधामी देवों द्वारा अत्यन्त

³¹⁴ संवेगरंगशाला, गाथा ८६८७-८७१३.

दुःख, पीड़ा, सन्ताप, आदि दिया जाता था। शिवकुमार देव ने देवलोक से अपने ज्ञान का उपयोग किया तथा पूर्व स्नेह के वशीभूत उसने अपने भाई को दुःखी देखकर उसके पास जाकर कहा- “हे भद्र! क्या तू मुझे जानता है?” इस प्रकार पूछकर उसे शिवकुमार ने अपना पूर्व परिचय दिया और उसे अन्यत्वभावना की सद्शिक्षा देते हुए कहा- “काया को जितना कष्ट दिया जाए, उतना ही वह फलदायक सिद्ध होता है।” तब सुलस ने कहा- “तो मेरे उस मृत शरीर को तुम पीड़ा दे दो, जिससे मैं सुखी हो जाऊँगा।” तब देव ने कहा- “जीवरहित काया का कोई अर्थ नहीं है, अब उसे पीड़ा देने से कोई लाभ नहीं, अब तो मात्र किए हुए कर्मों के फल को समत्वभाव से सहन करो।” इस प्रकार नारकीय-जीवन के दुःखों के अशक्य प्रतिकार को उसे समझाकर देव स्वर्ग में चला गया और सुलस लम्बे समय तक नरक में रहा।

इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य को धन, शरीर और स्वजनों को भी पराया या अन्य समझकर धर्म में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सुलस और शिवकुमार की यह कथा हमें संवेगरंगशाला में जिस रूप में उपलब्ध होती है, उस रूप में किसी अन्य जैन-ग्रन्थ में उल्लेखित हो- यह ज्ञात नहीं होता है; किन्तु जैन-ग्रन्थों में सुलस नाम से अनेक कथानकों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।



ब्राह्मण की कथा

अशुचि का अर्थ अपवित्रता है। अशुचि-भावना में साधक मुख्य रूप से यह विचार करता है कि जिस देह, रूप, यौवन, आदि का हम अभिमान करते हैं, जिस देह के प्रति हम ममत्व रखते हैं, वह अशुचि का भण्डार है। यह शरीर कृमियों से भरा हुआ, भीतर से दुर्गन्धित, वीभत्स रूपवाला, मलमूत्र से पूरित तथा रुधिर, मांस, मज्जा, आदि अनेक अशुचि वस्तुओं से बना है। शरीर की अशुचिता पर संवेगरंगशाला में एक ब्राह्मण की निम्न कथा वर्णित है:-⁸¹⁵

एक नगर में एक ब्राह्मण रहता था। वह वेद-पुराण में कुशल बुद्धिवाला था तथा शुचिवाद मानता था। वह एक ताम्रपात्र में दर्भ और तन्दुलमिश्रित पानी लेकर पूरे नगर में छिड़कता तथा सबसे कहता था कि यह भूमि अपवित्र है। एक दिन उसने मन में निश्चय किया कि मुझे वसतिवाले प्रदेश में नहीं रहना है।

⁸¹⁵ संवेगरंगशाला, गाथा ८७२२-८०२१.

अपवित्र मनुष्यों के साथ रहकर मैं भी अपवित्र होता हूँ। ऐसा संकल्प करके वह जहाज से ईखवाले द्वीप में चला गया, वहाँ वह ब्राह्मण क्षुधा लगने पर गन्ने का ही सेवन करता हुआ अपने जीवन-निर्वाह के लिए वहीं रहने लगा। प्रतिदिन एक ही वस्तु का सेवन करके वह ऊब गया और दूसरे भोजन की इच्छा से वह इधर-उधर खोज करने लगा।

एकदा समुद्र में किसी व्यापारी का जहाज डूबने के कारण वह व्यापारी भी उसी द्वीप में रह रहा था। वह भी ईख के रस से ही अपनी क्षुधा तृप्त करता था, इसलिए उसे गुड़ जैसी विष्टा होती थी। जगह-जगह पड़ी विष्टा देखकर ब्राह्मण उसे ईख का फल मानकर खाने लगा। कुछ समय बाद उस व्यापारी का उस ब्राह्मण से मिलन हुआ। दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। एक दिन ब्राह्मण के भोजन का समय हो जाने पर उसने व्यापारी से पूछा- “तुम क्या खाते हो?” व्यापारी ने कहा- “ईख!” ब्राह्मण कहने लगा- “अरे! तुम ईख के फलों को क्यों नहीं खाते?” व्यापारी ने कहा- “ईख का फल तो होता ही नहीं है।” इस पर ब्राह्मण उसे फल दिखाने के लिए अपने साथ ले गया। वहाँ उसने जमीन पर सूखी पड़ी हुई विष्टा को ईख का फल कहकर व्यापारी को दिखाया। व्यापारी ने कहा- “हा! हा! महाशय! तुम विमूढ़ बन गए हो। यह तो मेरी विष्टा है।” यह सुनकर परम संशयवाले ब्राह्मण ने कहा- “ऐसा कैसे हो सकता है?” व्यापारी ने अन्य विष्टा से उसकी तुलना कर उसे सत्य की प्रतीति करवाई। तब परम शोक करता हुआ वह ब्राह्मण अपने देश के लिए रवाना हो गया।

इस प्रकार वस्तु के स्वरूप से अज्ञानी जीव शोचरूपी ग्रह से ग्रसित होकर इहलोक और परलोक में अनर्थों का भागी बनता है और पुनः अशुचि के प्रति दुर्गच्छा के पाप से अनेक बार निम्न योनियों में जन्म आदि प्राप्त करता है, इसीलिए देह के अशुचित्व को जानकर आत्मा को परम पवित्र बनाने के लिए धर्म में विशेष उद्यम करना चाहिए।

अशुचि-भावना के सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में जो ब्राह्मण की कथा उपलब्ध होती है, वह कथा हमें अन्य जैन-ग्रन्थों में नहीं मिलती है। इससे यह फलित होता है कि आचार्यश्री ने यह कथा किसी जैनेतर स्रोत से ग्रहण की हो।



शिवराजर्षि की कथा

लोक की रचना, आकृति, स्वरूप, आदि पर विचार करना लोकभावना है। लोक का अर्थ क्या है? धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव-ये छः द्रव्य जहाँ पाए जाते हैं, उस स्थानविशेष को लोक कहते हैं। उर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक एवं अधोलोक- ऐसे लोक के तीन विभाग हैं। उर्ध्वलोक देवविमान, तिर्यक्लोक में असंख्य द्वीप समुद्र तथा अधोलोक में सात नरकावास हैं। लोकभावना के सम्बन्ध में सवेरंगशाला में शिवराजर्षि की निम्न कथा वर्णित है:-⁸¹⁶

हस्तिनापुर नगर में “शिव” नामक राजा रहता था। उसकी धारिणी नामक पटरानी थी। रात्रि के तृतीय प्रहर में उसे यह अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि मेरा पुत्र बड़ा हो गया है, मैं उसे राज्य का कार्यभार सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण करूँ। तदनुसार उसने प्रव्रज्या ग्रहण की और एक उग्र अभिग्रह ग्रहण किया। यावज्जीवन निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करते हुए “दिकूचक्रवाल तपकर्म से दोनों हाथ ऊँचे रखकर मुझे रहना कल्पना है”- इस प्रकार उग्र अभिग्रह धारण कर प्रथम बेले की तपस्या के पारणे के दिन शिवराजर्षि आतापना-भूमि से नीचे उतरा तथा वल्कल के वस्त्र धारण कर बांस की छबड़ी और कावड़ को लेकर पहले पूर्व-दिशा के सोम महाराजा से आज्ञा ली और पूर्व-दिशा में रहे हुए कन्द, मूल, फल, छाल, पत्र, पुष्प, आदि वनस्पति ग्रहण की। पुनः, कावड़ नीचे रखकर उसने अपनी वेदिका का परिमार्जन किया और लीपकर उसे शुद्ध किया। फिर डाभ और कलश हाथ में लेकर गंगा नदी पर आया, उसमें डुबकी लगाई और झोपड़ी में आकर डाभ और बालुका से वेदिका का निर्माण किया। अरणी की लकड़ी को घीसकर अग्नि प्रज्वलित की, दाहिनी ओर सात वस्तुओं को रखा-सकथा (उपकरण विशेष), वल्कल, दीप, शय्या के उपकरण, कमण्डल, दण्ड और स्वयं का शरीर। मधु, घृत, चावल द्वारा अग्नि में होम कर वैश्वदेव की अर्चना की। अतिथि की पूजा करके आहार ग्रहण किया। दूसरी बार उसी तरह दक्षिण, पश्चिम और उत्तर-सभी लोकपालों की आज्ञा लेकर उसने पारणा किया। दिकूचक्रवाल-तप, आलापना, प्रकृति की भद्रता आदि से शिवराजर्षि को विभंगज्ञान हुआ जिससे वह सात द्वीप और समुद्र को देखने लगा। उसने यह उद्घोषणा की कि लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही हैं।

भगवान् महावीर हस्तिनापुर नगरी के उद्यान में पधारे। इन्द्रभूति गौतम ने शिवराजर्षि के अतिशय ज्ञान की चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् महावीर से निवेदन

किया- “भगवान्! सत्य क्या है।” प्रभु ने स्पष्ट शब्दों में कहा- “शिवराजर्षि का कथन मिथ्या है। जम्बूद्वीप आदि सभी वृत्ताकार हैं। विस्तार में एक-दूसरे से दुगुने हैं तथा असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं।” शिवराजर्षि ने भगवान् महावीर की वह बात सुनी, तो उसे अपने ज्ञान के प्रति संशय पैदा हुआ। वह भगवान् के पास पहुँचकर सही समाधान पाकर प्रबुद्ध हुआ, उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर अंगों का अध्ययन किया। कर्मों को नष्ट कर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

लोकभावना का यह चिन्तन हमें यह सन्देश देता है कि अन्य द्रव्यों की भाँति हमारी आत्मा भी इस लोक का द्रव्य है। हमें उसका यथार्थस्वरूप जानकर अन्य पदार्थों से ममता छोड़ आत्मभावना का अभ्यास करना चाहिए। आत्मभावना की यह साधना निर्ममत्व-भाव की प्राप्ति में सहायता करती है।



वणिकपुत्र की कथा

जैन-शास्त्रों में कहा गया है कि इन चार वस्तुओं की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है-संसार में मनुष्यत्व की प्राप्ति, धर्मश्रवण, शुद्धश्रद्धा और संयममार्ग में पुरुषार्थ। जैन-परम्परा के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति केवल मानवपर्याय में ही सम्भव है। सद्भाग्य से मानव-जीवन प्राप्त हो भी जाए, तो सत्यधर्म का श्रवण होना अत्यन्त कठिन है। सत्यधर्म के श्रवण का अवसर मिल भी जाए, लेकिन ऐसी अनेक आत्माएँ भी हैं, जिन्हें धर्मश्रवण के पश्चात् भी उस पर श्रद्धा नहीं होती है। श्रद्धा हो जाने पर भी उसके अनुकूल आचरण करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार सत्यधर्म की उपलब्धि और उस पर आचरण करना अत्यन्त दुर्लभ है। इस सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में वणिकपुत्र की निम्न कथा उल्लेखित है:-⁸¹⁷

एक बड़े नगर में शिवदत्त नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसके पास ज्वर, भूत, पिशाच और शाकिनी सम्बन्धी उपद्रवों को दूर भगाने के विविध रत्न थे। उन रत्नों को वह अपने प्राणों से अधिक सम्भालकर रखता था तथा पुत्रों को भी कभी उन्हें नहीं दिखाता था। उस नगर में प्रतिवर्ष ध्वजा-महोत्सव होता था। उस दिन जिसके पास जितने करोड़ की सम्पत्ति होती थी, उतनी ही ध्वजा उसके भवन के ऊपर चढ़ाई जाती थी। एक बार उस महोत्सव पर सभी धनाढ्य चन्द्र समान उज्ज्वल कोटिध्वजा अपने-अपने भवन के ऊपर चढ़ाने लगे। सबके भवनों पर ध्वजाओं को लहराते देख शिवदत्त सेठ के पुत्रों ने पिता से

⁸¹⁷ संवेगरंगशाला, गाथा ८८२३-८८४२.

कहा- “हे तात! आप भी इन रत्नों को बेच क्यों नहीं देते? इन रत्नों से क्या काम है? इनको बेचकर नकद रुपए ले आओ, जिससे हम भी अपने भवन पर कोटि ध्वजा चढ़ा सकें। इससे अपना धन सुशोभित होगा।” पुत्र की बात सुनकर सेठ को तीव्र क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोधित हुए सेठ ने कहा- “अरे! तुम लोग मेरे सामने फिर कभी इस प्रकार की बात मत कहना। मैं किसी भी हालत में इन्हें नहीं बेचूँगा।” इस तरह पिता के दृढ़ वचनों को सुनकर पुत्रों ने मौन धारण कर लिया।

एकदा सेठ किसी कार्यवश अन्य गाँव में गया। तब पिता की अनुपस्थिति में अन्य विचार किए बिना पुत्रों ने दूर देश से आए व्यापारियों को वे अमूल्य रत्न बेच दिए। फिर उन रत्नों के बदले प्राप्त हुई सम्पत्ति की गणना करके पुत्रों ने शंख समान उज्ज्वल कोटि ध्वजाएँ अपने भवन के ऊपर चढ़ाई। कुछ दिन बाद जब सेठ घर लौटा, तो मकान पर ध्वजा लहराते देखी। इससे विस्मित होकर उसने पुत्रों से पूछा कि यह सब क्या है? पुत्रों ने पिताजी को सर्व सत्य वृत्तान्त कहा। वृत्तान्त सुनकर सेठ क्रोध से उबल पड़ा और तीक्ष्ण कठोर शब्दों से पुत्रों का तिरस्कार करने लगा। फिर “उन रत्नों को पुनः प्राप्त करके ही मेरे घर आना”- ऐसा कहते हुए उसने पुत्रों को धक्का देकर घर से बाहर निकाल दिया। उन पुत्रों को दीर्घकाल तक भ्रमण करने पर भी वे रत्न नहीं मिले। रत्नों की खोज में वैधानिक पुत्र वर्षों तक इधर-उधर भटकते रहे तथा अपने घर कभी लौट नहीं पाए।

साधक को ऊपर वर्णित चार वस्तुओं की दुर्लभता का विचार करते हुए हमेशा यह प्रयास करना चाहिए कि बोधि-प्राप्ति का जो अवसर उपलब्ध हुआ है, वह कहीं हाथों से निकल नहीं जाए। साधक को इस अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहिए। उपर्युक्त कथा से भी यही स्पष्ट होता है कि यदि किसी देव की सहायता से उन पुत्रों को वे रत्न मिल भी जाते, तो भी एक बार प्राप्त कर नाश हुए बोधि को पुनः प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

संवेगरंगशाला में इस कथा के माध्यम से यह बताया गया है कि संसार में सबसे बहुमूल्य वस्तुएं चार हैं, जिन्हें प्राप्त करने के पश्चात् जीव को प्रमाद नहीं करना चाहिए, अन्यथा दुबारा इन अमूल्य वस्तुओं का मिलना मुश्किल ही नहीं, दुर्लभ है। संवेगरंगशाला में प्रस्तुत सन्दर्भ में जो वणिक्पुत्र की कथा दी गई है, वह कथा हमें अन्य किसी जैन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती है।



पुष्पशाल की कथा

विषयासक्त जीव सर्व अनिष्टों को प्राप्त होता है। मस्तक से पर्वत को तोड़ा जा सकता है और ज्वालाओं से विकराल अग्नि को भी पी सकते हैं, किन्तु इन्द्रियरूपी अश्वों को वश में करना मुश्किल है। ऐन्द्रिक-विषय-वासनाओं के कारण जीव को अनेक कष्ट उठाने होते हैं। इन कष्टों से पीड़ित होकर वह वासनाओं के अधीन ही मरण को प्राप्त करता है। जैसे- रात में कीट-पतंगे दीप की ज्योति से आकृष्ट होकर जलकर मरते हैं, उसी प्रकार किसी एक इन्द्रिय के विषय के प्रति भी आसक्त होकर व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है। संवेगरंगशाला में पुष्पशाल का यह कथानक, श्रोतेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होने का क्या परिणाम होता है, उसे बताता है-⁸¹⁸

बसन्तपुर नगर में पुष्पशाल नामक एक संगीतकार रहता था। वह अति कुरूप था लेकिन अपने सुमधुर स्वर के कारण नगर में प्रसिद्ध था। उसी नगर में एक सार्थवाह भी रहता था। एकदा व्यापार हेतु उसने विदेशगमन किया। अब उसकी पत्नी भद्रा घर की सार-सम्भाल करती थी। भद्रा ने दासी को कुछ सामान लाने के लिए बाजार भेजा। उस दासी ने रास्ते में भीड़ (समूह) के बीच पुष्पशाल को किन्नर की तरह गीत गाते हुए सुना। संगीत के स्वरों को सुनकर वह दासी दीवार पर चित्रित चित्र की भांति स्थिर खड़ी रह गई और इस कारण से दासी देर से घर पहुँची। दासी को विलम्ब से घर आते देखकर भद्रा को क्रोध उत्पन्न हुआ और वह कठोर वचनों से उसे डांटने-फटकारने लगी। तब दासी ने कहा- “हे स्वामिनी! आप क्रोधित मत होइए तथा मेरी बात सुनिए। यहाँ एक ऐसा संगीतकार रहता है, जिसके गीतों को सुनकर पशु-पक्षियों का भी मन वश में नहीं रहता है, तो अन्य का क्या कहना।” यह सुनकर भद्रा ने भी उसके दर्शन करने एवं उसका संगीत सुनने की इच्छा प्रकट की।

एक दिन नगर में देव मन्दिर की यात्रा प्रारम्भ हुई, जिससे लोगों का नगर में आवागमन सूर्योदय से ही प्रारम्भ हो गया। भद्रा भी अपनी दासियों के साथ देव-मन्दिर आई। पुष्पशाल अत्यधिक थक जाने से वहीं मन्दिर के पास सो रहा था। दासी ने पुष्पशाल की ओर इशारा करते हुए भद्रा से कहा- “यही वह पुष्पशाल है, जो अच्छा संगीतज्ञ है।” भद्रा उसके वीभत्स रूप को देखकर कहने लगी- “हूँ! ऐसे रूपवाले के गीत को सुन लिया।” इस तरह कहते हुए उल्टा मुख करके उसने तिरस्कारपूर्वक जमीन पर धूँका। नींद से उठे हुए पुष्पशाल ने जब

⁸¹⁸ संवेगरंगशाला, गाथा ६००२-६०२३.

यह सुना तो क्रोधाग्नि से जलते हुए कहने लगा- “हा धिक् निर्भागिनी! तू मुझे देखकर क्या हंसती है?” इस प्रकार क्रोध के वशीभूत बना पुष्पशाल अपने सर्वकार्य को छोड़कर उस भद्रा का अपकार करने की इच्छा से उसके घर पहुँचा। वहाँ अपने सुमधुर स्वर से आदरपूर्वक परदेश गए पतिवाली स्त्री का वृत्तान्त इस तरह गाने लगा, जैसे- सार्धवाह बार-बार उसका वृत्तान्त पूछता है, हमेशा पत्र भेजता है, पत्नी का नाम सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, दर्शन के लिए उत्सुक हुआ वह वापस घर आता है और अब घर में प्रवेश कर रहा है, इत्यादि। उसे सुनकर भद्रा ने उसे सत्य मान लिया और झोश भूलकर अपने पति के पास दौड़ने लगी। इस तरह मूर्च्छित-अवस्था में भागने से वह महल से नीचे गिर गई और मर गई।

कुछ दिन बाद उसका पति घर आया, तब पत्नी का सारा वृत्तान्त सुनकर उसने पुष्पशाल को अपने घर बुलाया और उसे भरपेट उत्तम भोजन खिलाया। फिर कहा- “हे भद्र! गीत गाता हुआ महल के ऊपर पहुँचा।” चढ़ना और गाना- इस तरह दुगुने परिश्रम से उसकी श्वांस फूलने लगी, जिससे उसके मस्तक की नस फट गई और वह वहीं मर गया। इस तरह श्रोतेन्द्रिय के विषय में आसक्त बने जीव की बुरी हालत होती है।

इस कथा के माध्यम से जिनचन्द्रसूरि बताते हैं कि इन्द्रियों तथा मन की विषयाभिलाषा में जब कोई प्राणी आसक्त हो जाता है, तब वे विषय उसके लिए बन्धन का कारण बन जाते हैं। इन मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयों में आसक्त होनेवाला विनाश को प्राप्त होता है, जैसे- सपेरे की बीन में मुग्ध बना सर्प पुनः जहर चूसने आता है, संगीत-लहरियों से मन्त्र-मुग्ध हुआ हरिण दौड़ नहीं पाता है और पकड़ा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में संवेगरंगशाला में जो पुष्पशाल की कथा दी गई है, वह हमें आवश्यकवृत्ति (पृ. ३६८) एवं आचारांगवृत्ति (१५४) में उपलब्ध होती है।



समरधीर की कथा

संवेगरंगशाला में समरधीर राजा का कथानक यह बताता है कि चक्षुरेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होने का क्या परिणाम होता है:-⁸¹⁹

पद्मखण्ड नगर में समरधीर नामक राजा राज्य करता था। वह न्यायप्रिय और नीतिवान् था। वह परस्त्री को माता के समान, परधन को तृण के समान और पर कार्य को अपने कार्य के समान समझता था, अपने जीवन से अधिक दूसरे के जीवन को महत्व देता था। एक दिन शिव नामक सार्थपति ने राजा से कहा- “हे देव! मेरी उन्मादिनी नामक एक पुत्री है, जिसका रूप रम्भा को भी लज्जित करनेवाला है। वह स्त्रियों में रत्नभूत है और आप रत्नों के नाथ हैं। यदि आपको उचित लगे, तो उस रत्न को स्वीकार करें। हे देव! आपको दिखाए बिना अपना कन्यारत्न किसी अन्य को दूं, तो मेरी स्वामीभक्ति किस तरह गिनी जाएगी। इस कारण हे देव! आपके अतिरिक्त अन्य कोई उसका पति न हो।” राजा ने उसके कहने पर कुछ विश्वासी व्यक्तियों को उसके साथ भेजा।

वहाँ उन लोगों ने उस कन्या को देखा और उसके रूप पर आकर्षित हुए। फिर वे मदोन्मत्त बने, इस तरह एकान्त में बैठकर विचार करने लगे- ‘इसके रूप एवं अंग की शोभा तो अप्सरा को भी पराजित करनेवाली है। हमारे जैसे वयोवृद्ध भी इसके दर्शनमात्र से कामासक्त हो गए हैं, तो विषयासक्त राजा इसके वश से पराधीन कैसे नहीं होगा। फिर परवश बने राजा से राज्य की व्यवस्था नहीं सम्भाली जाएगी।’ ऐसा विचारकर वे सब राजसभा में आए। राजा को आदरपूर्वक नमस्कार कर वे कहने लगे- “हे देव! वह कन्या रूपादि सर्व गुणों से सुशोभित है। केवल पति का वध करनेवाली होने से दृष्ट लक्षणवाली है।” ऐसा सुनकर राजा ने उस कन्या से विवाह के विचार को छोड़ दिया। फिर सार्थवाह ने राजा के सेनापति के साथ उस कन्या का विवाह किया। सेनापति उसके रूप-लावण्य पर आकर्षित होकर उसके वश में हो गया।

कुछ दिन व्यतीत होने के पश्चात् एकदा राजा उस सेनापति के साथ घूमने के लिए निकला। इधर सेनापति की पत्नी ने सोचा कि राजा ने मुझे अपलक्षणी होने से स्वीकार नहीं किया, लेकिन मैं तो उसके दर्शन करूं। ऐसा विचारकर वह अति मूल्यवान् वस्त्र धारण कर मकान पर चढ़कर राजा को देखने लगी। राजा भी क्रीड़ा करके पुनः लौट रहा था कि अचानक घोड़े पर सवार राजा

की दृष्टि उस पर पड़ी। इससे राजा विचारने लगा कि यह रम्भा है या पातालकन्या। इस प्रकार चिन्तन कर राजा एक क्षण खड़ा रहा। जैसे- दुष्ट अश्व लगाम से काबू में आता है, वैसे ही अपने चक्षु को लज्जारूपी लगाम से अच्छी तरह घुमाकर वह मुश्किल से अपने महल को पहुँचा। फिर राजा का अंग-अंग कामवासना से पीड़ित होने लगा। उसी समय वहाँ सेनापति आया। राजा ने उससे पूछा कि उसके घर के ऊपर खड़ी स्त्री कौन थी? उसने कहा- “हे देव! सार्थवाह की कन्या से आपने विवाह नहीं किया, वही कन्या अब मेरी पत्नी है।” ‘अरे! निर्दोष होने पर भी उसे दूषित बताकर उन ग्रापी पुरुषों ने मुझे ठगा है’- इस प्रकार चिन्तन करता हुआ कामासक्त राजा कामाग्नि से दुःसह दुःख की प्राप्त हुआ। राजा के दुःख को जानकर सेनापति ने कहा- “हे राजन्! कृपा कर मेरी पत्नी को आप स्वीकार कर लीजिए।” राजा ने कहा- “हे भद्र! ऐसे अकार्य के लिए पुनः कभी मुझे मत कहना। यह नरकरूपी नगर का द्वार है।” तब सेनापति ने कहा- “हे देव! यदि परदारा होने से आप उसे स्वीकार नहीं करते हो, तो मैं आपके महल में नाचनेवाली वेश्या के रूप में उसे दूँ?” राजा ने कहा- “मरणान्त में भी मैं ऐसा अकार्य नहीं करूँगा, अतः, हे सेनापति! अब तुम्हारा ज्यादा बोलना बन्द करो।” राजा को नमस्कार कर सेनापति घर लौट गया।

राजा उस रूपसी को देखने के कारण कामरूपी तीव्र अग्नि में जलने लगा और राजकार्यों को छोड़कर हृदय में तीव्र आघात लगने से आर्त्तध्यान के वश में होकर मरने के बाद वह तिर्यच में उत्पन्न हुआ। इस कथा को सुनकर साधक को चक्षुरेन्द्रिय के दोष से बचना चाहिए।

संवेगरंगशाला में वर्णित प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत देखने का हमने प्रयास किया, किन्तु चूर्णिकाल तक इस कथा का मूल स्रोत हमें ज्ञात नहीं हुआ। सम्भावना यह हो सकती है कि यह कथा किसी जैनोत्तर स्रोत से ग्रहण की गई हो और आचार्यश्री ने उसे अपने ढंग से विषय के अनुरूप परिमार्जित करके लिखा हो।



गन्धप्रिय की कथा

संवेगरंगशाला में गन्धप्रिय का यह कथानक घ्राणेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होने का क्या परिणाम होता है, उसको बताता है:-⁸²⁰

एक नगर में एक गन्धप्रिय राजकुमार रहता था। वह जिन पदार्थों को देखता था, उन सबको सूंघता रहता था। किसी समय अपने मित्रों के साथ वह नाव में बैठकर नदी के जल में क्रीड़ा कर रहा था। उसे इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए जानकर अपने पुत्र को राज्य देने की इच्छा से उसकी सौतेली माता ने उसे मारने की सोची। सौतेली माता ने अति कुशलता से पेटी में जहर रखकर, उस पेटी को नदी में बहते छोड़ दिया। नदी में क्रीड़ा करते हुए राजकुमार ने पेटी को आते देखा और उसे बाहर निकालकर खोला, उसमें रखा हुआ एक डिब्बा देखा, तो उसे भी खोला। डिब्बे में एक गठरी थी। गठरी को खोलकर राजकुमार ने उसमें रखे जहर को सूंघा और सूंघते ही वह गन्धप्रिय राजकुमार उसी समय मर गया।

संवेगरंगशाला में इस कथा के द्वारा यह बताया गया है कि जिस प्रकार कमल की सुगन्ध में फँसा भ्रमर सन्ध्या होने पर कमल की पंखुड़ियों में कैद हो जाता है एवं प्रातः सरोवर पर आनेवाले हाथियों के पैरों तले कुचला जाता है, उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त बना जीव विनाश को प्राप्त होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में संवेगरंगशाला में गन्धप्रिय राजकुमार का दृष्टान्त दिया गया है।

यह दृष्टान्त हमें आवश्यकचूर्णि (भाग-१, पृ. ५३३) तथा आचारांगवृत्ति (पृ. १५४) में मिलता है।



सोदास की कथा

संवेगरंगशाला में सोदास राजा का यह कथानक रसनेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होने का क्या परिणाम होता है, उसे बताता है:-⁸²¹

भूमि प्रतिष्ठित नगर में मांस का अत्यन्त शौकीन सोदास नाम का राजा था। उसने सारे नगर में अमारि, अर्थात् अहिंसा की उद्घोषणा करवाई थी, परन्तु वह स्वयं गुप्त रूप से मांस खाता था। एक दिन रसोइए की अनुपस्थिति में एक

⁸²⁰ संवेगरंगशाला, गाथा ६०७७-६०८२.

⁸²¹ संवेगरंगशाला, गाथा ६०८४-६०९५.

बिलाव ने पाकशाला से माँस का हरण कर लिया। इससे भयभीत हुए रसोइए ने कसाई की दुकान से माँस खरीदना चाहा, किन्तु उसे माँस नहीं मिला। तब किसी अज्ञात बालक को एकान्त में मारकर उसके माँस को बहुत अच्छी तरह संस्कारित कर, अर्थात् स्वादिष्ट बनाकर रसोइए ने भोजन के समय उसे राजा को दिया। मांस खाकर प्रसन्न हुए राजा ने कहा- “हे रसोइए! कहो, यह माँस कहाँ से मिला है?” उस रसोइए ने मांस को जिस प्रकार से प्राप्त किया, वैसा बता दिया। यह सुनकर रसासक्ति से पीड़ित राजा ने मनुष्य के माँस की प्राप्ति के लिए रसोइए को उत्साहित किया। इससे राजपुरुषों से घिरा हुआ वह रसोइया हमेशा मनुष्य को मारकर उसका माँस राजा के लिए बनाता था। इस प्रकार बहुत दिन व्यतीत होने पर न्यायाधीश ने उस राजा को राक्षस समझकर एकदा रात्रि में बहुत मदिरा पिलाकर जंगल में फिकवा दिया। वहाँ भी वह हाथ में गदा फकड़कर उस मार्ग में आते-जाते मनुष्य को मारकर खाता था और यम के समान निःशंक होकर घूमता रहता था।

किसी समय रात्रि में उस प्रदेश से एक सार्थ निकला, परन्तु सोया हुआ राजा उस सार्थ को नहीं जान सका, केवल किसी कारण से उसने अपने साथियों से अलग पड़े मुनियों को आवश्यक-क्रिया करते देखा। वह पापी उनको मारने के लिए उनके समीप गया, परन्तु तप के प्रबल तेज से पराभव होते साधु के पास खड़ा रहना भी उसके लिए अशक्य बना, तब वह धर्म श्रवणकर उसका चिन्तन करते हुए प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, परन्तु अपने रसना के दोष से वह राज्यभ्रष्टता आदि को प्राप्त हुआ।

इन्द्रियों का स्वभाव अपने विषय को ग्रहण करना है एवं चेतना का कार्य गृहीत विषयों में आसक्त होना है। एक इन्द्रिय का विषय भी यदि प्राणी के प्राणों को संकट में डाल देता है, तो जहाँ पाँचों इन्द्रियों की विषय-सेवन वृत्तियाँ तन्मय हों, वहाँ प्राणी की क्या दशा होगी? जैसे- आटे की गोली में लुब्ध बनी मछली आटा देखती है, काँटा नहीं; वह काँटा गले में फँसकर उसके प्राणहरण कर लेता है, उसी प्रकार रसनेन्द्रिय के विषय में फँसे हुए सोदास नामक राजा को जंगल में फँक दिया जाता है। उपर्युक्त विषय पर संवेगरंगशाला में सोदास राजा का जो कथानक उपलब्ध होता है, उसके संकेत हमें आवश्यकचूर्णि (भाग-१, पृ. १०६, ५३४, भाग-२, पृ. २७१), आवश्यकवृत्ति (पृ. ४०१), विशेषावश्यकभाष्य (गा. ३५७७), आचारांगवृत्ति (पृ. १५४), भक्तपरिज्ञा (गा. १४५), आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।



सोमदेव ब्राह्मण की कथा

संवेगरंगशाला में सोमदेव ब्राह्मण की कथा यह बताती है, कि स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होने का क्या परिणाम होता है-⁸²²

शतद्वार नगर में सोमदेव नामक एक ब्राह्मणपुत्र रहता था। वह यौवन को प्राप्त करने पर रतिसुन्दरी नामक वेश्या के रूप पर आसक्त हो गया, जिस कारण उसके साथ ही रहने लगा। उसने घर में रही सम्पूर्ण सम्पत्ति का नाश कर दिया। धन के अभाव में वेश्या ने भी उसे घर से निकाल दिया। इससे चिन्तातुर होकर तथा कामभोग की इच्छापूर्ति हेतु वह धन-प्राप्ति के लिए अनेक उपाय सोचने लगा। कोई उपाय नहीं मिलने पर वह गाँव के घरों में चोरी करने लगा। इस तरह वह धन प्राप्त कर पुनः वेश्या के घर कामभोगी की तरह लालसा लेकर गया। लोभी वेश्या भी उसके धन को देखकर प्रसन्न हुई।

प्रतिदिन चोरी की घटना से अत्यन्त परेशान नगर के लोगों ने राजा के सम्मुख चोर के उपद्रव की बात कही। राजा ने तुरन्त कोतवाल को चोर को पकड़ने का आदेश दिया और कहा कि यदि चोर नहीं पकड़ा गया, तो तुम्हें दण्ड दिया जाएगा। राजा के आदेश से भयभीत कोतवाल अनेक गुप्त स्थानों पर चोर को खोजने गया। वहाँ कोतवाल ने धनाढ्यपुत्र के समान उस ब्राह्मण को वेश्या के साथ भोग-विलास करते हुए देखा। इससे कोतवाल ने विचार किया कि प्रतिदिन की आजीविका के लिए अन्य घरों से भीख मांगनेवाले ब्राह्मण को इस प्रकार का श्रेष्ठ भोग कहाँ से प्राप्त हो सकता है? यही चोर होना चाहिए। ऐसा विचारकर उसने कृत्रिम क्रोध करते हुए उससे चित्लाकर कहा- “अरे! समग्र नगर को लूटकर यहाँ छिपकर बैठा है, अब तू मुझसे बचकर कहाँ जाएगा। अरे! तू क्या सोचता है कि हम तुझे जानते नहीं हैं?” कोतवाल की बातें सुन, ‘मुझे इसने पहचान लिया है’- ऐसा मानकर पापकर्म के दोष के भय से व्याकुल हुआ ब्राह्मण भागने लगा। जब उसे भागते देखा, तो कोतवाल को दृढ़ विश्वास हो गया कि यही चोर है और तब कोतवाल ने उसे पकड़कर राजा को सौंप दिया। फिर राजा ने वेश्या के घर की तलाशी लेकर नगरवासियों को अपने-अपने धन तथा सामग्री ले जाने के लिए कहा। राजा ने वेश्या को नगर से बाहर निकल जाने का दण्ड दिया तथा ब्राह्मणपुत्र को कुम्भीपाक में मारने की आज्ञा दी। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत ब्राह्मणपुत्र को अतीव दुःख भोगना पड़ा।

इसीलिए साधक को विषयरूपी कुमार्ग में जाते हुए इन्द्रियरूपी अश्वों को रोककर और वैराग्यरूपी लगाम से उसे खींचकर सन्मार्ग में जाने देना चाहिए। स्व-स्व विषय की ओर दौड़ते इन इन्द्रियरूप मृगों के समूह को सम्यग्ज्ञानरूपी जाल से बांधकर रखना चाहिए। जीव को इन्द्रियरूपी घोड़ों का बुद्धिबल से इस तरह दमन करना चाहिए, जिससे अन्तरंग शत्रु नष्ट हो जाएं और आराधनारूपी पताका फहराने लगे।

संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथानक के माध्यम से यह बताया गया है कि जिस प्रकार कछुआ खतरे के समय अपने अंग-प्रत्यंगां को समेट लेता है, उसी प्रकार साधक को भी विषयाभिमुख होती अपनी इन्द्रियों को संयमित कर लेना चाहिए। जैसे- स्पर्शेन्द्रियजन्य काम-वासना जब प्रबल बनती है, तब स्वेच्छाविहार करनेवाला मदोन्मत्त गजराज भी बन्धनों में बंध जाता है, वैसे ही स्पर्शेन्द्रिय के विषय के वशीभूत बना जीव भी सोमदेव ब्राह्मण के कीतवाल द्वारा डाले गए बन्धन के अनुसार ही बांध दिया जाता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में प्रस्तुत सोमदेव ब्राह्मण की यह कथा हमें आवश्यकवृत्ति (पृ. २६६), उत्तराध्ययनवृत्ति (६६, ३७), विशेषावश्यकभाष्य (गा. २७८७), आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।



ब्रह्मदत्त की कथा

शल्य के तीन भेद हैं- १. निदानशल्य २. मायाशल्य और ३. मिथ्यादर्शनशल्य। इसमें निदानशल्य रागजन्य, द्वेषजन्य और मोहजन्य-ऐसा तीन प्रकार का होता है। रागजन्य निदान तो रूप, सौभाग्य और भोग की प्रार्थनारूप है। द्वेषजन्य निदान प्रत्येक जन्म में दूसरे का अनिष्ट करनेवाला है और मोहजन्य निदान हीन कुल आदि की प्रार्थनारूप है। निदान आरम्भ में मधुर और अन्त में दुःखरूप है। इसके कारण जीव ब्रह्मदत्त के समान नरक को प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में ब्रह्मदत्त का प्रबन्ध उपलब्ध है:-⁸²³

साकेत नगर में चन्द्रावन्तसक नामक एक राजा रहता था। उसे मुनिचन्द्र नामक एक पुत्र था। एक दिन उसने सागरचन्द्र आचार्य के पास जाकर दीक्षा स्वीकार कर ली। आचार्य के साथ विहार करते मुनि मुनिचन्द्र किसी कारण से अलग हुआ, फिर अकेले चलने से मार्ग भूल गया। इससे मुनि थक गया तथा जंगल में भूख एवं प्यास से अत्यन्त पीड़ित हुआ। जंगल में चार बालकों ने उस

⁸²³ संवेगरंगशाला, गाथा ६१४३-६२१८.

मुनि की सेवा की। स्वस्थ होने पर मुनि ने उनको धर्म का उपदेश दिया, जिससे वे चारों, मुनि के पास दीक्षित हुए तथा चारित्र्यधर्म का पालन करने लगे, किन्तु उनमें से दो मुनि से दुर्गन्ध करने लगे। कालान्तर में वे मरकर तप के प्रभाव से देव बने। वहाँ से वे दोनों च्यवकर दासी की कुक्षी से युगल पुत्रों के रूप में जन्में। किसी समय दोनों वृक्ष के नीचे सोए थे। वहाँ उन दोनों को एक सर्प ने डस लिया, जिससे दोनों साथ में मर गए। फिर वे दोनों गंगा नदी के किनारे युगल हंस रूप में जन्में। वहाँ भी किसी मछलीमार ने दोनों की गर्दन मरोड़कर उन्हें मार दिया। वहाँ से वे परस्पर स्नेहवश वाराणसी नगरी में भूतादेव नामक चाण्डाल के घर चित्र और सम्भूति नामक दो पुत्रों के रूप में जन्में।

एक समय इसी नगर के शंख नामक राजा के नमुचि नामक मन्त्री ने महा अपराध किया, अतः राजा ने उसे मारने के लिए भूतदित्र चाण्डाल को आदेश दिया। चाण्डाल ने नमुचि से कहा- “यदि तुम भौरे में रहकर मेरे पुत्रों को अध्ययन कराते हो, तो मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ।” जीने की इच्छा से नमुचि ने चाण्डाल की बात स्वीकार की और उसके पुत्रों को अभ्यास कराने लगा, परन्तु यहाँ भी उसने अपनी मर्यादा छोड़कर चाण्डाल की स्त्री के साथ व्यभिचार किया। चाण्डाल ने नमुचि को “जार” मानकर उसे मारने का विचार किया। पुत्रों द्वारा यह बात जानकर नमुचि भागकर हस्तिनापुर नगर गया और वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का मन्त्री बना।

गीत-संगीत इत्यादि में कुशल बने चाण्डालपुत्रों ने वाराणसी के लोगों को आकर्षित किया, जिससे नगर के सारे पुरुष तथा स्त्रियाँ उनके पीछे दौड़ने लगे। इससे ब्राह्मण, आदि जन चाण्डालपुत्रों से ईर्ष्या करने लगे तथा राजा से कहकर उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया। कौमुदी-महोत्सव के दिन चाण्डाल-पुत्रों ने वेश परिवर्तन कर नगर में प्रवेश किया तथा वस्त्र से मुँह ढंककर हर्षपूर्वक गीत गाने लगे। गीत से आकर्षित हुए लोगों ने उन्हें पहचान के लिए उनके मुख से वस्त्र हटाकर देखा। ये तो वे ही चाण्डालपुत्र हैं- ऐसा कहकर सभी लोग उन्हें लकड़ी, ईंट और पत्थर से मारने लगे। मार खाते-खाते वे बड़ी मुश्किल से नगर के बाहर निकले और पीड़ा से विचार करने लगे कि रूपादि गुण होते हुए भी हमारे जीवन को धिक्कार है कि हम अपनी निन्द्य जाति के कारण तिरस्कार के पात्र बनें। इस तरह दोनों ने संसार से वैराग्य प्राप्त किया और मरने का निश्चय कर पर्वत पर चढ़े। वहाँ दोनों ने कायोत्सर्ग में खड़े एक मुनि को देखा। दोनों ने पास जाकर उनको वन्दन किया। मुनि ने योग्य जानकर ध्यानपूर्ण करके उनसे पूछा कि वे कहाँ से आए हैं? उन्होंने अपनी सारी बात बताई तथा पर्वत से गिरकर मरने का

संकल्प भी मुनि से कहा। फिर मुनि ने कहा- “ऐसा विचार करना भी अनुचित है। यदि तुम्हें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हुआ हो, तो साधुधर्म को स्वीकार करो।” उनके वचनों को मानकर दोनों उनके पास दीक्षित हो गए।

कालान्तर में वे मुनि गीतार्थ बनें तथा निरन्तर दुष्कर तप करते हुए विचरने लगे। एक दिन वे हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वे नगर के उद्यान में स्थिर हुए। एक दिन मासक्षमण के पारणे हेतु सम्भूतिमुनि ने भिक्षार्थ नगर में प्रवेश किया। वहाँ नमुचिमुनि ने सम्भूतिमुनि को देखा और पूर्व परिचय का स्मरण कर ‘यह मेरा दुराचरण लोगों से कह देगा’- ऐसा मानकर अत्यन्त कुविकल्पवश होकर उन्होंने अपने पुरुषों को भेजकर मुनि को लकड़ी, मुक्के, आदि के प्रहारों से मरवाकर नगर से बाहर निकलवा दिया। इससे सम्भूतिमुनि को प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न हुआ। वे समस्त मनुष्यों को जलाने के लिए मुख से अग्नि निकालने लगे। उसके धुएँ से सर्वत्र घने बादल हो गए और नगर में अन्धकार छा गया। उस समय सनत् चक्रवर्ती आदि के द्वारा मुनि को शान्त करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु जब वे शान्त नहीं हुए तब लोगों के द्वारा समस्त घटनाओं को सुनकर चित्रमुनि वहाँ शीघ्रतापूर्वक पधारे और उन्हें मधुर वाणी से समझाने लगे- “भो! भो! महायशस्वी जिनेश्वर के वचनों को जानते हुए भी तुम क्रोध क्यों कर रहे हो? अनन्त भवभ्रमण के हेतुभूत इस क्रोध से आपका संसार परिभ्रमण होगा, इसे क्या आप नहीं जानते हो?”

अपकार करनेवाले नमुचि का भी क्या दोष है, क्योंकि जीवों के सुख-दुःख उनके कर्मों के कारण होते हैं। इस तरह चित्रमुनि के उत्तम वचनों को सुनकर क्रोध-कषाय से युक्त बने सम्भूतिमुनि उपशान्त हुए तथा वहाँ से वे दोनों उद्यान में गए। वहाँ वे अनशन स्वीकारकर उसके एक भाग में बैठ गए। एकदा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने अपनी पट्टरानी सहित सम्भूतिमुनि को नमस्कार किया। स्त्रीरत्न की केशराशि का स्पर्श होने से सुख का अनुभव करते हुए सम्भूतिमुनि ने मन में विचार किया कि यदि मेरे इस तप का फल हो, तो मैं भी जन्मान्तर में चक्रवर्ती बनूँ। चित्तमुनि ने उन्हें समझाया कि यह संसार भोग करने जैसा नहीं है, किन्तु अनेक प्रकार से समझाने पर भी सम्भूतिमुनि ने निदान कर लिया। अन्त में मरकर वे दोनों सौधर्म-देवलोक में देदीप्यमान देव हुए।

वहाँ से च्यवकर चित्तभूति का जीव पुरिमताल नगर में धनवान् सेठ के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ और सम्भूतिमुनि का जीव कपिलपुर में ब्रह्मराजा की चूलणी रानी के पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उसका ब्रह्मदत्त नाम रखा गया तथा कालान्तर में छः खण्ड को साधकर वह चक्रवर्ती बना। फिर चक्रवर्ती की तरह वह

पाँचों इन्द्रियों के विषय-सुखों को भोगने लगा। एकदा उसे जाति-स्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। इससे पूर्वजन्म के भाई की खोज कराने के लिए उसने अपने पाँच भवों के विवेचनवाला एक आधा श्लोक बनाया -

“आस्व दासी मृगै हसौ मातंगावमरौ तथा”

अर्थात् हम दोनों दास, मृग, हंस, चाण्डाल और देव थे। लोगों को दिखाने के लिए इसे राजदरबार में एक स्थान पर लटका दिया तथा यह घोषणा करवाई कि जो इस श्लोक का उत्तरार्द्ध पूर्ण करेगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दूंगा। इधर पूर्व के चित्तभूति के जीव को भी जातिस्मरणज्ञान होने से उसने घर का त्याग कर दीक्षा स्वीकार की और विहार करके उसी नगर में पहुँचा। धर्म-ध्यान में तल्लीन हो, वह एक उद्यान में रहने लगा। उस समय वहाँ एक रहट चलानेवाले के मुख से उसने वह आधा श्लोक सुना। फिर मुनि को उसका अर्थ समझ में आते ही उन्होंने उसका उत्तरार्द्ध श्लोक इस प्रकार कहा-

“एषानौषष्टिका जाति, रन्योन्याभ्यां वियुक्तया”,

अर्थात् यह हमारा छठवाँ जन्म है, जिसमें हम एक-दूसरे से अलग हुए हैं। रहट चलानेवाले ने मुनि के मुख से आधी पंक्ति सुनी। वह राजा के पास गया और उस श्लोक का उत्तरार्द्ध राजा को सुनाकर वह श्लोक पूरा किया। उसे सुनते ही पूर्व भाई के प्रेमवश राजा मूर्च्छित हो गया। इधर राजपुरुष ‘यह राजा का अनिष्टकारक है’- ऐसा मानकर उसे मारने लगे। तब उसने कहा- “मुझे मत मारो, यह श्लोक मुनि ने रचा है।” उसके इन शब्दों को राजा ने सुना और प्रसन्नचित्त होकर राजा भाई मुनि के पास गया और अतीव स्नेहभाव से उसके चरणों में नमस्कार कर वहाँ बैठ गया। मुनि ने उसे धर्म उपदेश दिया। उसकी उपेक्षा करके चक्रवर्ती ने मुनि से कहा- “हे भगवन्त! कृपा करके आप राज्य स्वीकार करें, विषय-सुखों को भोगें और इस दीक्षा को छोड़ दें।” मुनि ने कहा- “हे राजन्! राज्य और भोग दुर्गति का मार्ग है। जिन-वचनों के रहस्य को जानकर तू इन राज्यसुखों का त्याग कर और जल्दी दीक्षा स्वीकार कर, जिससे हम दोनों साथ-साथ तप करेंगे।” राजा ने कहा- “हे भगवन्त! प्रत्यक्ष सुखों को छोड़कर परोक्ष के लिए क्यों दुःखी होते हो?” फिर मुनि ‘निदानरूप दुश्चेष्टित के प्रभाव से राजा को समझाना अति दुष्कर है’-ऐसा जानकर उसे धर्म उपदेश कहने से रुक गए।

कालान्तर में मुनि ने अपने कर्मों को क्षय करके शाश्वत सुख मोक्ष प्राप्त किया। चक्रवर्ती अपने अनेक पापकर्मों के कारण अन्त समय में रौद्रध्यान करके

मृत्यु को प्राप्त हुआ और सातवीं नरक में उत्कृष्ट आयुष्यवाला नरक का जीव बना।

संयम के लिए पराक्रम, शक्ति (सत्त्व), बल, वीर्य, बुद्धि, कुल, आदि के लिए जो निदान करता है, वह प्रशस्त निदान माना गया है और अभिमान के कारण जो निदान करता है, वह अप्रशस्त माना गया है। संयम के शिखर पर आरूढ़ होने वाली, कठिन तपस्या करनेवाली और त्रिगुप्ति से गुप्त आत्मा भी परीषह से पराभव प्राप्त कर और अनुपम शिवसुख की अवगणना करके अति तुच्छ विषय-सुख के लिए निदान करती है, वह कांच की मणि के लिए वैदूर्यमणि को खो देती है।

संवेगरंगशाला के प्रस्तुत कथानक में निःशल्यता का वर्णन करते हुए निदानशल्य के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया गया है। इसमें संयम हेतु पराक्रम, सत्त्व, बल, वीर्य, संघयण, बुद्धि, स्वजन, कुल, आदि के सम्बन्ध में जो निदान किया जाता है, उसे प्रशस्तनिदान कहा गया है एवं मान, कषाय, आदि की पूर्ति हेतु सौभाग्य, जाति, कुल, रूप, पद, आदि का जो निदान किया जाता है, उसे अप्रशस्तनिदान कहा है। निदान के दुष्परिणामों के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने जो ब्रह्मदत्त की कथा दी है, वह हमें व्यवहारवृत्ति (भाग ४, पृ. ४१), बृहत्कल्पवृत्ति (१६००), उत्तराध्ययनवृत्ति (पृ. २१४), आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।



पीठ एवं महापीठ मुनियों की कथा

जो चारित्र्य-व्रत का सम्यक् पालन करते हुए अल्प अतिचार लगने पर उसकी आलोचना नहीं करता है, परन्तु मायायुक्त रहता है तथा मायाशल्य को त्यागे बिना लम्बे समय तक तप का कष्ट सहन करता है, उस आत्मा को उस तप का शुभ फल भी नहीं मिलता है। चिरकाल तक दुष्कर तप करनेवाले पीठ और महापीठ- दोनों को स्वीत्व प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में संवेगरंगशाला में पीठ और महापीठ मुनियों की निम्न कथा का उल्लेख है:-⁸²⁴

राजा, मन्त्री, सेठ, सार्थपति एवं वैद्य- इन पाँचों के पाँच पुत्र आपस में मित्र थे। उनमें वैद्य का पुत्र ऋषभदेव भगवान् का जीव था। एक समय उन्होंने कुष्ठ-रोग से ग्रस्त क्षीण हुए शरीरवाले एक मुनि को धर्म-ध्यान में लीन देखा। इससे वैद्यपुत्र को उनकी सेवाभक्ति करने की इच्छा प्रकट हुई। सभी ने मिलकर

उनकी चिकित्सा की, इससे श्रेष्ठ पुण्य का बन्ध किया और आयुष्य पूर्ण होने पर पाँचों मरकर अच्युत देवलोक में समृद्धशाली देव बने। फिर पाँचों वहाँ से चलकर इसी जम्बूद्वीप में पुण्डरीकिणी नामक नगरी में इन्द्र से पूजित वज्रसेन राजा की धारणीदेवी की कुक्षी से अतिसुन्दर पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। वे पाँचों कुमार वृद्धि करते हुए यौवनावस्था को प्राप्त हुए। उनमें प्रथम वज्रनाभ चक्रवर्ती, दूसरा बाहुकुमार, तीसरा सुबाहुकुमार, चौथा पीठ और पाँचवां महापीठ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तीर्थकर-नामकर्म के कारण वज्रसेन राजा ने अपना पद, राज्य, वज्रनाभ चक्रवर्ती को सौंप दिया और स्वयं दीक्षा स्वीकार कर उत्तम साधुत्व में, मोह को जीतकर केवलज्ञान को प्राप्त कर भव्य जीवों को प्रतिबोध करते हुए पृथ्वीमण्डल में विचरने लगे। राजर्षि गांव, नगर, जंगल में (आश्रम, शून्यघरों में) विहार करते हुए पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे। वहाँ देवों ने आश्चर्यकारक सर्वश्रेष्ठ समवसरण की रचना की। उसमें वज्रसेन तीर्थकर विराजमान हुए। उसी समय भगवान् का आगमन जानकर वज्रनाभचक्रवर्ती अपने भाइयों के साथ प्रभु को वन्दन-स्तुति करने आया और उचित स्थान पर बैठा। भगवान् ने संसार में जन्म, जरा और मृत्यु के महाभय को नाश करने का धर्मोपदेश दिया। देशना सुनकर चारों भाइयों सहित वज्रनाभ चक्रवर्ती ने दीक्षा स्वीकार की।

वज्रनाभ स्वाध्याय-ध्यान में एकाग्रचित्त बना आराधना में दिन व्यतीत कर रहा था। बाहु और सुबाहु ग्यारह अंगों का अभ्यास कर शुभ मन से तपस्वी साधुओं की आहार-पानी आदि से सेवाभक्ति करते थे। पीठ और महापीठ- दोनों उत्कर, आदि आसन करते हुए स्वाध्याय ध्यान में लीन रहते। वज्रनाभमुनि बाहु और सुबाहु की निश्चल सेवा को देखकर उनकी प्रशंसा करते। इससे पीठ और महापीठ ने सोचा कि जो विनयवान् होते हैं, उनकी प्रशंसा होती है, स्वाध्याय करनेवालों की प्रशंसा नहीं होती है। इस प्रकार के कुविकल्पों को आलोचना करते समय गुरु से नहीं कहा। इस तरह दीर्घकाल तक विशुद्ध आराधना करते हुए भी दोनों ने स्त्रीत्व-नामकर्म का बन्ध किया। फिर आयुष्य पूर्ण होने पर वज्रनाभ का जीव भरतक्षेत्र में नाभीकुलकर के पुत्र ऋषभदेव भगवान् बना। बाहु का जीव ऋषभदेव का प्रथम पुत्र भरत नाम से चक्रवर्ती बना और सुबाहु बाहुबली नामक अति बलिष्ठ दूसरा पुत्र हुआ। पीठ और महापीठ- दोनों ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी पुत्रियाँ हुईं। इस प्रकार आलोचना नहीं करने पर मायाशल्य का दोष अशुभ और स्त्रीनामकर्म के बन्ध का कारण होता है, इसलिए मायाशल्य का त्याग करना चाहिए।

संवेगरंगशाला में प्रस्तुत कथानक के द्वारा यह बताया गया है कि माया कुटिलता का ही अपर नाम है। मायाचारी के भावों में मलिनता, वचनों में मधुरता और व्यवहार में विश्वासघात होता है। वह छल-कपट द्वारा कार्यसिद्धि चाहता है; अतः क्षपकमुनि को समाधिमरण की आराधना हेतु मायाशल्य का त्याग करना अनिवार्य होता है। माया (कपट) शल्यसहित किए गए उग्र तप से भी आत्मा को शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने पीठ-महापीठ की कथा का निर्देश किया है। प्रस्तुत कथानक के संकेत हमें आवश्यकचूर्णि (भाग १, पृ. १३३ एवं १८०) में भी प्राप्त होते हैं।



नन्दमणियार की कथा

मिथ्यात्व का आधार मिथ्यादर्शनशल्य को कहा गया है, इस शल्य से जीव को मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का उदय होता है- बुद्धि के भेद से, कुतूहिलों की प्रशंसा से और अभिनिवेश, अर्थात् मिथ्या आग्रह करने से यह शल्य होता है। मिथ्यात्वरूपी शल्य से युक्त व्यक्ति दानादि धर्म करते हुए भी अपनी मलिन बुद्धि से सम्यक्त्व को नष्ट करके नन्दमणियार नामक व्यापारी के समान दुर्गति में जाता है। इस प्रसंग में संवेगरंगशाला में नन्दमणियार की निम्न कथा वर्णित है:-⁸²⁵

राजगृह नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करता था। वहाँ नन्द नामक सेठ मणियों का व्यापार करता था। एक दिन वीर परमात्मा का उस नगर के उद्यान में आगमन हुआ। भगवान् के आगमन की बात सुनकर नन्द सेठ शीघ्र उद्यान में पहुँचा और भगवान् को वन्दन किया। फिर धर्मदेशना श्रवण करने के लिए उचित स्थान पर बैठा। उस समय वीर परमात्मा ने भव्य जीवों को पाँच महाव्रतरूप साधुधर्म का और बारह व्रतरूप गृहस्थधर्म का उपदेश दिया।

देशना श्रवणकर नन्द सेठ ने गृहस्थ-धर्म के करने योग्य बारह व्रतों को स्वीकार किया। फिर सेठ ने पुनः भावपूर्वक परमात्मा को वन्दन किया और स्वयं को संसार से पार उतरने के समान मानता हुआ परमात्मा की अनेक विशेषणों से युक्त स्तुति करने लगा। सेठ प्रतिदिन हर्षोल्लासपूर्वक अपने नियमों का पालन करने लगा। परमात्मा का जब अन्यत्र विहार हो गया, तब धीरे-धीरे नन्द सेठ का मन धर्म से विचलित होने लगा। वीर परमात्मा एवं संयतियों का विहार होने से

और असंयतियों का सम्पर्क होने से नन्द सेठ सम्यक्त्व से च्युत हो गया। एक बार सेठ ने ज्येष्ठ मास में पौषधशाला में पौषधसहित अष्टम तप (तीन उपवास) की आराधना की। सूर्य के प्रचण्ड ताप से सेठ के शरीर में शिथिलता आई तथा वह तृषा और भूख से पीड़ित बना। उस समय नन्द सेठ ने समीप में जल से भरी बावड़ी (बाड़ी) को देखा और मन में विचार किया कि वे लोग धन्य हैं, कृतपुण्य हैं, जिन्होंने यह बावड़ी बनाई है, अतः मैं भी कल राजा से आज्ञा प्राप्त कर एक सुन्दर एवं बड़ी बावड़ी तैयार कराऊँगा। ऐसा विचारकर उसने दूसरे दिन सूर्योदय होते ही पौषध को पार कर स्नान किया और विशुद्ध वस्त्रों को धारण कर तथा भेंट के लिए विविध वस्तुएँ लेकर वह राजा के पास गया। राजा को विनयपूर्वक नमस्कार करके उसने कहा- ‘हे देव! आपश्री की आज्ञा से मैं नगर के समीप बाहर ही बावड़ी बनाने की इच्छा करता हूँ। ऐसा कहकर राजा की आज्ञा प्राप्तकर उसने मुसाफिरों के लिए भोजनशाला से युक्त विभिन्न प्रकार के कमल एवं स्वच्छ जल से युक्त नन्द नामक रमणीय बावड़ी तैयार की। वहाँ से स्नान करते, जलक्रीड़ा करते तथा जल को पीते हुए लोग परस्पर ऐसा बोलते कि नन्दमणियार धन्य है, जिसने यह सुन्दर बावड़ी बनवाई है। लोगों से अपनी ऐसी प्रशंसा सुनकर नन्द सेठ अत्यन्त प्रसन्न होता। कुछ समय पश्चात् पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के दोष से शत्रु के समान दुःखकारक - १. ज्वर २. श्वास ३. खाँसी ४. दाह ५. नेत्रशूल ६. पेट में दर्द ७. मस्तक में दर्द ८. कोद ९. खसरा १०. बवासीर ११. जलोदर १२. कान में दर्द १३. नेत्र में पीड़ा १४. अजीर्ण १५. अरुचि और १६. भगन्दर-इस तरह अति भयंकर सोलह व्याधियों ने एकसाथ उसके शरीर को आ घेरा। उस वेदना से पीड़ित सेठ ने नगर में घोषणा करवाई कि जो मेरे इन रोगों में से एक रोग का भी शमन कर देगा, मैं उसकी दरिद्रता दूर कर दूँगा। अनेक वैद्य आए, किन्तु सभी निराश होकर लौट गए। वेदना से पीड़ित नन्द सेठ अन्त में मरकर अपनी ही बावड़ी में गर्भज मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ। ‘वह नन्द सेठ धन्य है, जिसने यह बावड़ी बनवाई है’- ऐसा लोगों के मुख से सुनकर मेंढकरूपधारी नन्द सेठ को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ तथा वैराग्यभाव को प्राप्त होते ही, ‘यह मिथ्यात्व का ही फल है’- ऐसा विचार करते हुए वह पुनः पूर्व की तरह अपने व्रतों का पालन करने लगा तथा ऐसा अभिग्रह किया कि आज से मैं हमेशा छट्ठ-छट्ट पारणा (अर्थात् दो-दो उपवास फिर पारणा) करूँगा। पारणों में भी पुरानी सेवा का ही सेवन करूँगा। ऐसा निश्चय करके वह मेंढक महात्मास्वरूप व्रत-प्रत्याख्यान में लीन रहने लगा।

एक समय वहाँ महावीर परमात्मा पधारे। तब लोगों के मुख से ‘चलो! शीघ्र चलो! वीर परमात्मा पधारे हैं, उन्हें वन्दन करें’- ऐसा कहते सुनकर मेंढक

को भी परमात्मा की भक्ति करने की इच्छा हुई और तुरन्त उनको वन्दन करने के लिए अपनी तेज चाल से वह गुणशील उद्यान में जाने लगा। इधर श्रेणिक महाराजा भी विशाल जनसमूहसहित परमात्मा के दर्शन और वन्दनार्थ चले। उस समय राजा के घोड़े के खुर के अग्रभाग से मेंढक दब गया और उसने उसी समय अनशन स्वीकार किया तथा प्रभु का स्मरण करता हुआ वह मेंढक मरकर सौधर्म-देवलोक में दुर्दुरांक नामक देव बना। वहाँ से च्यवकर अनुक्रम से वह महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होकर मुक्ति को प्राप्त करेगा।

आपातकाल में सिद्धि को प्राप्त करनेवाले नन्द मणियार ने मिथ्यात्वशल्य के कारण मेंढक की निम्न गति को प्राप्त किया, अतः इस कथानक को पढ़कर साधक को इस शल्य का त्याग कर देना चाहिए।

संवेगरंगशाला में यह बताया गया है कि मिथ्यात्व एक शल्य है। मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म के उदय से मनुष्य की समझ विपरीत हो जाती है। वह जीव को अजीव तथा धर्म को अधर्म मानने लगता है। ऐसी धारणाओं से घिरा हुआ व्यक्ति अपने सम्यक्त्व का नाश कर लेता है। इस सन्दर्भ में जो नन्दन मणियार की कथा दी गई है, वह हमें ज्ञाताधर्मकथा (६३-६५) में भी उपलब्ध होती है। जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कथानक ज्ञाताधर्मकथा से ही संकलित किया होगा- ऐसी सम्भावना है।



अध्याय - ६

उपसंहार

जैन-धर्म साधनाप्रधानया आराधनाप्रधान है। उसमें आराधना के दो रूप हैं- सामान्य आराधना और विशेष आराधना। सामान्य आराधना के अन्तर्गत गृहस्थधर्म और मुनिधर्म की साधना आती है, जबकि विशेष आराधना का तात्पर्य समाधिमरण की साधना है। जैन-धर्म में समाधिमरण की आराधना की परम्परा अति प्राचीन है। उपलब्ध जैन-साहित्य में आचारांगसूत्र का प्रथमश्रुतस्कन्ध प्राचीनतम माना गया है। आचारांगसूत्र के प्रथमश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में समाधिमरण के प्रकारों और विधि का उल्लेख उपलब्ध होता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी दो स्थलों पर समाधिमरण सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम उसके पंचम अध्ययन में बालमरण और पण्डितमरण का विस्तार से उल्लेख हुआ है। उसके पश्चात् उसके छत्तीसवें अध्ययन के अन्त में समाधिमरण की विधि का प्रतिपादन करते हुए उसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-ऐसे तीन विभाग किए गए हैं और उत्कृष्ट समाधिमरण का काल बारह वर्ष बताया गया है। इसके अतिरिक्त उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, आदि ग्रन्थों में भी विभिन्न मुनियों और साध्वियों के जीवनवृत्त का चित्रण करते हुए उनके द्वारा गृहीत समाधिमरण और उसके काल का निर्देश मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक-साक्ष्यों की दृष्टि से भी महावीर के पूर्व से लेकर आज तक समाधिमरण की यह परम्परा यथावत् जीवित है। साहित्यिक-साक्ष्यों के अतिरिक्त यदि हम पुरातात्विक-साक्ष्यों की ओर जाएं, तो हमें ईसा पूर्व से ही अनेक पुरातात्विक और अभिलेखीय-साक्ष्य मिलते हैं, जिनमें समाधिमरण ग्रहण करनेवालों के निर्देश हैं। तमिलनाडु और कर्नाटक में ऐसी अनेक अभिलेखयुक्त गुफाएं हैं, जिनमें साधकों ने समाधिमरण ग्रहण किया था। वस्तुतः, जैन-संघ में समाधिमरण ग्रहण करने की परम्परा अति प्राचीनकाल से लेकर आज तक जीवित है। आज भी प्रतिवर्ष अनेक जैन-आराधक समाधिमरण ग्रहण करते हैं।

यही कारण है कि आगमों एवं प्रकीर्णक-ग्रन्थों के अतिरिक्त भी उसमें भगवतीआराधना, मरणसमाधि, आराधनापताका, संवेगरंगशाला, आदि समाधिमरण से सम्बन्धित अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए हैं। प्रस्तुत गवेषणा में मैंने समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित संवेगरंगशाला का चयन विशेष रूप से इसलिए किया है कि समाधिमरण सम्बन्धी जो भी साहित्य आज उपलब्ध है, उन सभी में यह ग्रन्थ सबसे विशाल है तथा प्राचीन होते हुए भी विगत पच्चीस-तीस वर्षों में ही प्रकाश में आया है। मरणसमाधि, भगवतीआराधना, आराधनापताका तथा वीरभद्रकृत आराधनापताका, आदि समाधिमरण से सम्बन्धित इन सभी स्वतन्त्र ग्रन्थों में संवेगरंगशाला ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो लगभग दस हजार गाथाओं में समाप्त होता है। यह ग्रन्थ लगभग ईसा की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है, किन्तु समाधिमरण पर लिखे जानेवाले स्वतन्त्र ग्रन्थों की श्रृंखला में प्राकृत भाषा में रचित यह अन्तिम ग्रन्थ है। इसके पश्चात् प्राकृत-भाषा में समाधिमरण से सम्बन्धित इतना विशाल आकर ग्रन्थ लिखा गया हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है। संस्कृत और मरुगुर्जर में भी इस विषय पर इतना विशाल ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। इस प्रकार समाधिमरण पर प्राकृत-भाषा में रचित भारतीय-साहित्य का यह अन्तिम ग्रन्थ है, जो समाधिमरण की प्राचीन परम्परा को अपने में समेटे हुए है।

जहाँ तक संवेगरंगशाला का प्रश्न है, यह कृति आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व तक विद्वानों को अप्राप्त ही थी। मात्र कुछ ग्रन्थों में इसके लिखे जाने की सूचना थी, तो कुछ भण्डारों में ही इसकी हस्तप्रत उपलब्ध होने की सूचना थी, किन्तु इस कृति के सम्बन्ध में विशेष जानकारियों का प्रायः अभाव था। यही कारण है कि जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास, भाग-५, जो प्रथमतः ईस्वी सन् १९६६ में छपा था, उसमें स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया गया है कि यह कृति अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत कृति का सर्वप्रथम प्रकाशन विक्रम संवत् २०२५, तदनुसार ईस्वी सन् १९६६ में मूल गाथाओं के रूप में जवेरी कान्तिलाल मणिलाल मुम्बई के द्वारा किया गया। इसका सम्पादन आचार्य विजयमनोहरसूरि के शिष्य हेमन्द्रविजयजी ने किया है। उसके पश्चात् इस कृति को उन्हीं आचार्य विजयमनोहरसूरि के शिष्य आचार्य भद्रकरसूरि ने गुजराती अनुवाद के साथ विक्रम संवत् २०३२, तदनुसार ईस्वी सन् १९७६ में महावीर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ पालड़ी अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित करवाया। इसी क्रम में विक्रम संवत् २०४१, तदनुसार ईस्वी सन् १९८५ में पन्यास श्रीपद्मविजयजी के द्वारा इसका मात्र हिन्दी-अनुवाद मेरठ से प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने की कथा अधिक पुरानी नहीं है। ग्रन्थ की अनुपलब्धता के कारण

पूर्व में किसी भी जैन-विद्वान् ने इस पर कोई शोध-कार्य नहीं किया और न ही इस ग्रन्थ को लेकर शोधलेख लिखे गए। इस प्रकार समाधिमरण पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी अद्यतन यह ग्रन्थ अचर्चित ही रहा।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए डॉ. सागरमल जैन के निर्देशानुसार मैंने इसे अपने शोध का विषय बनाने का निश्चय किया। यद्यपि यह ग्रन्थ अति विस्तार के साथ मौलिक रूप में लिखा गया है, फिर भी समाधिमरण सम्बन्धी पूर्व ग्रन्थों से अप्रभावित नहीं है। इसकी प्रतिपादन-शैली, विषयवस्तु और कथानक- तीनों में ही पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण देखा जाता है। यहाँ तक कि इन ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ भी आंशिक अन्तर के साथ उपलब्ध होती हैं। वीरभद्रकृत आराधनापताका से इस ग्रन्थ का विभाग-वर्गीकरण और कथानक- दोनों ही पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होते हैं, किन्तु इस आधार पर इसे अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की मात्र अनुकृति नहीं कहा जा सकता है। इसके चिन्तन में अनेक मौलिक-तत्त्व समाए हुए हैं; विशेष रूप से इसका कथा-विभाग अति विस्तृत है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया गया है, जैन-परम्परा में आचारांग से लेकर परवर्ती अनेक आगमों में समाधिमरण का उल्लेख उपलब्ध होता है। विशेष रूप से आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपातिक-दशांग आदि मूलभूत आगमों में तथा उनके पश्चात् प्रकीर्णक-साहित्य में विशेष रूप से चन्द्रवैध्यक, मरणसमाधि, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, आदि में समाधिमरण का उल्लेख उपलब्ध है। न केवल आगमों एवं प्रकीर्णकों में, किन्तु आगमों के पश्चात् भी जैन-आचार्यों ने समाधिमरण की अवधारणा पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों में जिनचन्द्रसूरि के आलोच्य ग्रन्थ संवेगरंगशाला का एक महत्वपूर्ण स्थान है। समाधिमरण को लेकर श्वेताम्बर-परम्परा में मरणसमाधि, मरणविभक्ति, आराधनापताका (प्राचीन आचार्यकृत) आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ तो बने हैं, किन्तु इसके साथ-साथ चरित्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में भी समाधिमरण के विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत किए गए हैं। न केवल श्वेताम्बर-परम्परा में, अपितु दिगम्बर-परम्परा में भी मूल आराधना या भगवतीआराधना (लगभग ६ठी शती) के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ यापनीय आचार्य शिवादि के द्वारा लिखा गया और उस पर अपराजितसूरि के द्वारा लगभग दसवीं शती में बृहद्काय-टीका भी लिखी गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में संलेखना या समाधिमरण सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ बने हैं। इन ग्रन्थों में आचार्य जिनचन्द्रसूरि की कृति संवेगरंगशाला का भी

महत्वपूर्ण स्थान है, जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इस संवेगरंगशाला की श्वेताम्बर-परम्परा में जहाँ वीरभद्रकृत आराधनापताका से अत्यन्त सन्निकटता देखी जाती है, वही यह ग्रन्थ दिगम्बर-परम्परा की भगवतीआराधना से भी निकटता रखता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि समाधिमरण ग्रहण करनेवाले व्यक्ति के लिंग की चर्चा को लेकर भगवतीआराधना में गृहस्थ को भी मुनि का अचेल-लिंग प्रदान करने का उल्लेख है, वहीं संवेगरंगशाला में न केवल साधु को, अपितु गृहस्थ को भी अचेल-लिंग स्वीकार करने की बात कही गई है। यद्यपि यह एक भिन्न ज्ञात है कि जिनचन्द्रसूरि ने अचेलता को स्पष्ट करते समय अल्प एवं जीर्ण वस्त्रधारक को भी अचेल कहा है। अचेलता की यह व्याख्या श्वेताम्बर-परम्परा से प्रभावित है। इस तरह हम देखते हैं कि संवेगरंगशाला पर यापनीय-परम्परा में रचित भगवतीआराधना का व्यापक प्रभाव है। इसी प्रसंग में प्रतिलेखन के जिन गुणों का उल्लेख संवेगरंगशाला में हुआ है, वही उल्लेख भगवतीआराधना में यथावत् रूप से मिलता है। वैसे तो संवेगरंगशाला मूलतः श्वेताम्बर परम्परा में रचा गया है, फिर भी उसमें अचेलत्व का समर्थन एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जो उस अचेल-परम्परा के प्रभाव को सूचित करता है। इसी प्रकार संवेगरंगशाला में समाधिमरण करनेवाले विभिन्न साधकों की जो कथाएँ दी गई हैं, वे भी भगवतीआराधना, आराधनापताका से बहुत कुछ समरूपता लिए हुए हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि संवेगरंगशाला के कर्ता आचार्य जिनचन्द्रसूरि न केवल श्वेताम्बर-परम्परा से परिचित थे, अपितु वे भगवतीआराधना की अचेल-परम्परा से भी प्रभावित थे। भगवतीआराधना संवेगरंगशाला के अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती ग्रन्थ है, किन्तु उसके कथास्रोत वही हैं, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों ही परम्पराओं में लोकविश्रुत रहें हैं, फिर भी आचार्य जिनचन्द्रसूरि की संवेगरंगशाला का इसी विधा के अन्य ग्रन्थों से यह वैशिष्ट्य है कि जहाँ भगवतीआराधना, आराधनापताका, आदि मूल सिद्धान्त की चर्चा अधिक विस्तार से करते हैं और कथा-भाग का अति संक्षिप्त में मात्र नाम निर्देश करते हैं, वहाँ संवेगरंगशाला में सिद्धान्त-पक्ष की अपेक्षा भी कथापक्ष को अधिक महत्व देते हुए उसका विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भगवतीआराधना और आराधनापताका- दोनों ही ग्रन्थ संवेगरंगशाला से पूर्ववर्ती हैं और इसलिए यह मानना समुचित होगा कि संवेगरंगशाला दिगम्बर-परम्परा की भगवतीआराधना और उसकी अपराजितसूरि की टीका से तथा श्वेताम्बर-परम्परा की वीरभद्रकृत आराधनापताका से अधिक प्रभावित रही है, किन्तु दूसरी ओर इस ग्रन्थ का प्रभाव इसके परवर्ती साहित्य पर भी देखा जाता है, विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र का पंचम प्रकाश, जो मृत्युकाल

जानने के विविध उपायों की चर्चा करता है, संवेगरंगशाला से अत्यधिक प्रभावित है, क्योंकि उसमें निमित्त, शकुन, आदि द्वारा मृत्यु की सन्निकटता जानने के जो उपाय वर्णित हैं, वे जैन-परम्परा में संवेगरंगशाला में ही प्रथम बार उल्लेखित हैं और संवेगरंगशाला योगशास्त्र से पूर्ववर्ती है। हमारी जानकारी में संवेगरंगशाला के पूर्व जैन-परम्परा में इनका उल्लेख देखा नहीं जाता है।

यद्यपि यह ग्रन्थ मुख्य रूप से समाधिमरण पर लिखा गया है, किन्तु समाधिमरण ग्रहण करने की पूर्वपीठिका के रूप में आराधना-विधि की चर्चा करते हुए इसमें गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का विवेचन भी मिल जाता है। वस्तुतः, इसमें सामान्य आराधना के रूप में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म की विस्तृत विवेचना का मुख्य कारण यह है कि गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का पालन वस्तुतः समाधिमरण की साधना की पूर्वपीठिका है। जिस तरह नींव के बिना भवन तैयार नहीं होता, उसी प्रकार जीवन के पूर्वार्द्ध में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म की साधना किए बिना समाधिमरण की साधना भी सम्भव नहीं होती है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ में सर्वप्रथम हमने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में चर्चा करते हुए यह देखने का प्रयास किया है कि जैन-साहित्य में और विशेष रूप से समाधिमरण से सम्बन्धित जैन साहित्य में प्रस्तुत कृति का क्या स्थान और महत्व है। कृति के महत्व और स्थान के सम्बन्ध में हम पूर्व में कुछ संकेत कर चुके हैं, यद्यपि इस कृति के रचयिता आचार्य जिनचन्द्रसूरि ईस्वी सन् के ११वीं शताब्दी में हुए हैं। वे जैनधर्म के सुविहित परम्परा के एक प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं, जो मूलतः चैत्यवासी यति-परम्परा से भिन्न रही है। खरतरगच्छ में अपने आद्य आचार्यों के रूप में जिनचन्द्रसूरि का भी उल्लेख मिलता है, फिर भी यह दुर्भाग्य का विषय ही रहा है कि उनके व्यक्ति एवं जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रायः अनुपलब्ध ही है। उनके सम्बन्ध में जो सबसे महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है, उससे यह ज्ञात होता है कि वे नवांगी-टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि के बड़े गुरुभाता थे। इससे यह भी फलित होता है कि वे जिस परम्परा में हुए हैं, वह परम्परा विद्वान् आचार्यों की परम्परा रही है। यद्यपि उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का तो अभाव है, किन्तु प्रस्तुत कृति एवं उनकी अन्यान्य कृतियों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वे अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य रहे हैं। इस शोधग्रन्थ के प्रथम अध्याय में हमने उनके जीवन-चरित्र के साथ-साथ प्रस्तुत कृति की विषयवस्तु का अति विस्तार से विवेचन किया है, साथ ही यह बताने का प्रयास भी किया है कि विषयवस्तु के विवेचन की अपेक्षा से प्रस्तुत कृति किन-किन पूर्ववर्ती ग्रन्थों का अनुसरण करती

प्रतीत होती है। विषयवस्तु के निरूपण की शैली की अपेक्षा से यह कृति वीरभद्रकृत आराधना-पताका से प्रभावित है।

तत्पश्चात् सामान्य आराधना के रूप में मुख्य रूप से गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का विवेचन किया गया है। संवेगरंगशाला का वैशिष्ट्य यह है कि चाहे वह मूलतः समाधिमरण से सम्बन्धित ग्रन्थ हो, किन्तु उसमें समाधिमरण ग्रहण करने के पूर्व गृहस्थजीवन और मुनिजीवन में जो साधना की जाना चाहिए, उसका भी विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। संवेगरंगशाला के अनुसार समाधिमरण की साधना वही व्यक्ति सफलतापूर्वक कर सकता है, जिसने गृहीधर्म और मुनिधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन किया हो, इसलिए प्रस्तुत कृति के दूसरे अध्याय में हमने गृहस्थजीवन और मुनिजीवन के सामान्य आधार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। गृहस्थ-आचार की पूर्व भूमिका के रूप में चाहे संवेगरंगशाला में स्पष्ट रूप से मार्गानुसारी-गुणों का उल्लेख न हुआ हो, किन्तु उसमें समाधिमरण ग्रहण करने के पूर्व श्रावक के द्वारा अपने पुत्र को दी जानेवाली हित-शिक्षाओं में अनेक मार्गानुसारी गुणों का उल्लेख हुआ है। जैन-धर्म का यह मानना है कि गृहीधर्म की आराधना के पूर्व व्यक्ति को सामान्य रूप से उन मानवीय-गुणों का विकास कर लेना चाहिए, जिनके बिना गृहीधर्म का सम्यक् परिपालन सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन-धर्म में धार्मिक या आराधक होने से पूर्व व्यक्ति का मनुष्य होना आवश्यक है। मानवीय-गुणों के बिना कोई भी पुरुष किसी भी धर्म का आराधक नहीं माना जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन की प्रथम गाथा में ही स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि मनुष्य के लिए जो बातें अत्यन्त दुर्लभ कही गई हैं, उसमें सबसे प्रमुख मनुष्यत्व, अर्थात् मानवीय-गुणों का विकास आवश्यक है। मानव-शरीर को प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है, जितना मानवीय-गुणों को प्राप्त करना है। कोई भी व्यक्ति मानवीय-गुणों के अभाव में अच्छा जैन, अच्छा बौद्ध, अच्छा हिन्दू या अच्छा मुसलमान नहीं हो सकता है। यही कारण है कि संवेगरंगशाला में समाधिमरण के लिए तत्पर गृहस्थ-आराधक भी सर्वप्रथम अपने पुत्र को मानवीय गुणों के विकास के लिए हित-शिक्षा देता है। जब तक व्यक्ति में मानवता का विकास नहीं होता, तब तक वह धार्मिक भी नहीं होता। जैन-धर्म के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की आराधना भी तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का जीवन मानवीय गुणों से ओतप्रोत हो।

मानवीय-गुणों के रूप में सप्तदुर्व्यसन-त्याग और मार्गानुसारी गुणों के पालन की चर्चा है। इसकी चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति के दूसरे अध्याय में गृहस्थों के बारह अणुव्रतों और उनके अतिचारों का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

सप्तदुर्व्यसन-त्याग और मार्गानुसारी गुणों का परिपालन यह बताता है कि यह व्यक्ति जैन-गृहस्थ होने की योग्यता रखता है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में इनका क्रमबद्ध विवेचन तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु प्रकीर्ण रूप से इनकी चर्चा हमें मिल जाती है, जिसका निर्देश समाधिमरण के इच्छुक पिता द्वारा पुत्र को दी जानेवाली हित-शिक्षा में मिलता है। गृहस्थधर्म की चर्चा के अन्तर्गत बारह अणुव्रतों और श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से ही मिलता है। जहाँ तक संवेगरंगशाला में श्रावकधर्म के विवेचन का प्रश्न है, इस ग्रन्थ में दो सन्दर्भों में श्रावकधर्म का विवेचन हुआ है—प्रथम तो समाधिमरण के इच्छुक साधक के द्वारा अपने पुत्र को दी जानेवाली शिक्षा में तथा दूसरे ग्यारह प्रतिमाओं की क्रमिक-साधना के सन्दर्भ में। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति परवर्ती दिगम्बर-विद्वान् आशाधर के समान ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर ही गृहस्थ-धर्म का विवेचन प्रस्तुत करती है। इसमें दूसरी व्रत-प्रतिमा की चर्चा में ही पाँच अणुव्रतों की चर्चा हुई है, गृहस्थ के शेष व्रतों का उल्लेख नहीं हुआ है। अन्त में, श्रावक को समाधिमरण के लिए प्रेरित किया गया है।

जहाँ तक मुनिजीवन का प्रश्न है, प्रस्तुत कृति में पंच-महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, दस यतिधर्म, बाईस परीषद, बारह प्रकार के तप, आदि का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस कृति का द्वितीय अध्याय गृहस्थधर्म और मुनिधर्म की सामान्य विवेचना में, श्रावकधर्म की प्रस्तुत विवेचना में जिनचन्द्रसूरि ने प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है, अपनी ओर से कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है।

इस शोधप्रबन्ध में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के विवेचन के पश्चात् समाधिमरण की पूर्वपीठिका के रूप में उन बातों का मुख्य रूप से विवेचन किया है, जिनका ज्ञान और अनुसरण समाधिमरण को ग्रहण करने के पूर्व आवश्यक है। समाधिमरण कौन ग्रहण कर सकता है, उसकी क्या योग्यता या अर्हता होना चाहिए, इसकी चर्चा इस भाग में की गई है। प्रस्तुत चर्चा में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि समाधिमरण को स्वीकार करने की योग्यता उसी व्यक्ति में होती है, जिसको मृत्यु अपने अति सन्निकट प्रतीत हो और जिसके मरण की अपरिहार्य स्थिति बन गई हो, तब साधक द्वारा समाधिमरण स्वीकार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से यह ज्ञातव्य है कि यदि स्वस्थ होते हुए भी और युवावस्था में भी असाध्यरोग या प्राणान्तक संकट के कारण अचानक मृत्यु की स्थिति अपरिहार्य बन गई हो, तो साधक को संक्षिप्त विधि के द्वारा सागरी-संथारा स्वीकार करना चाहिए, अर्थात् यह प्रतिज्ञा ग्रहण करना चाहिए कि यदि इस

उपसर्ग में मेरी मृत्यु होती है, तो मुझे यावज्जीवन के लिए आहार, आदि का त्याग है, किन्तु यदि यह उपसर्ग या संकट टल जाता है, तो मुझे सामान्य जीवन जीने का अधिकार है। विस्तृत समाधिमरण की साधना के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जब वृद्धावस्था के कारण जीवन का संध्याकाल अति सन्निकट प्रतीत हो, संयमी-जीवन जीना अपने लिए और दूसरों के लिए भारभूत बन गया हो, असाध्य रोगादि के कारण निकट भविष्य में ही मृत्यु की सम्भावना हो, तो वह व्यक्ति भावपूर्वक दीर्घ विधि से समाधिमरण को स्वीकार कर सकता है। इसी प्रसंग में ब्रन्धकार ने मरण के विविध रूपों की विस्तार से चर्चा की है और यह बताया है कि समाधिमरण के साधक को किस प्रकार का मरण स्वीकार करना चाहिए। साथ ही, इसी प्रसंग में मृत्यु की सन्निकटता को जानने के जो विविध उपाय हैं, उनकी चर्चा भी जिनचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत कृति में की है। जिनचन्द्रसूरि ने यहाँ न केवल शारीरिक-लक्षणों के आधार पर मृत्यु की सन्निकटता को जानने के उपाय बताए हैं, अपितु उन्होंने देवता, शकुन, निमित्त, मन्त्र, आदि साधना से भी मृत्यु की सन्निकटता को जानने की विधि प्रस्तुत की है। यह तो सत्य है कि उस काल में ये विधियाँ प्रचलित थीं। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में इनका अनुसरण किया है, किन्तु इनकी वैज्ञानिक-सत्यता कितनी है- यह अन्वेषणीय है। इसके साथ ही प्रस्तुत अध्याय में समाधिमरण ग्रहण करने के योग्य स्थल, संस्तरक, आदि की खोज किस प्रकार करना चाहिए और किस प्रकार के संस्तर, आदि को ग्रहण करना चाहिए, इसकी भी विस्तृत चर्चा की गई है। इस अध्याय के अन्त में विजहणाद्वार के आधार पर समाधिमरण द्वारा मृत्यु को प्राप्त क्षपक की देह का विसर्जन किस प्रकार किया जाना चाहिए, इसका उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में पूर्वकृतियों एवं प्रस्तुत कृति से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में मृत मुनि के देह का न तो दाह-संस्कार होता था और न ही उसे भूमि में गाड़ा जाता था, अपितु उस देह को पर्वत पर या जंगल में मुनियों द्वारा विसर्जित कर दिया जाता था। इस सम्बन्ध में कुछ टोने-टोटके का उल्लेख भी आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, भगवतीआराधना के समान ही इस कृति में भी देखने को मिलता है, यथा- शव की अंगुली आदि में छेद करना या बांधना, नक्षत्र के आधार पर तृण के पुतले बनाकर शव के साथ रखना, आदि।

समाधिमरण की पूर्वपीठिका एवं देहविसर्जन-विधि पर प्रकाश डालने के उपरान्त प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के अगले खण्ड में सर्वप्रथम समाधिमरण की आराधना-विधि की चर्चा करते हुए अल्पकालिक समाधिमरण की साधना और दीर्घकालिक समाधिमरण की साधना के स्वरूप का विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् दीर्घकालिक समाधिमरण की साधना की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यह

बताया गया है कि सर्वप्रथम समाधिमरण के साधक को अपने गण एवं शिष्य-समूह से समाधिमरण की स्वीकृति प्राप्त करना होता है। इस चर्चा के प्रसंग में जिनचन्द्रसूरि ने यह बताया है कि समाधिमरण के इच्छुक साधक को किस प्रकार अपने शिष्यों को सम्बोधित करना चाहिए और उनसे अनुमति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रसंग में शिष्य भी अपने गुरु को किस प्रकार सम्बोधित करे, इसका भी उल्लेख किया गया है। यह समग्र चर्चा प्रस्तुत कृति के परगणसंक्रमण-विधि उपद्वार में भी की गई है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि साधक के कुछ संघीय-दायित्व होते हैं, उनसे मुक्त होकर ही समाधिमरण किया जा सकता है। यदि साधक आचार्य के पद पर अधिष्ठित हो, तो दूसरे आचार्य, आदि की नियुक्ति करके संघ का दायित्व उन्हें सौंप देना चाहिए। शिष्यों की एवं गण की स्वीकृति मिलने के पश्चात् समाधिमरण के इच्छुक मुनि का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य निर्यापक-आचार्य की खोज करना होता है। साधक को स्पष्ट रूप से यह निर्देश है कि उसे न केवल निकट क्षेत्र में, अपितु सुदूर क्षेत्रों में भी निर्यापक-आचार्य की खोज करना चाहिए। इसी प्रसंग में निर्यापक आचार्य की योग्यता एवं गुणों की चर्चा भी यहाँ हमने संवेगरंगशाला के आधार पर प्रस्तुत कृति में की है। इस चर्चा के प्रसंग में जिनचन्द्रसूरि ने यह भी उल्लेख किया है कि निर्यापक-आचार्य को किसी क्षपक को स्वीकार करने के पूर्व अपने स्वगण के साधुओं की सहमति भी प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि निर्यापक-आचार्य के स्वगण के साधुओं की अनुमति हो, तो ही निर्यापक आचार्य को उस क्षपक को अपने गण में प्रवेश देने हेतु उपसम्पदा प्रदान करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि समाधिमरण के साधक को स्वगण का त्याग करके परगण में प्रवेश के समय पुनः उपसम्पदा ग्रहण करना होता है। समाधिमरण की साधना में स्वगण का त्याग इसलिए आवश्यक माना गया है कि शिष्यों के प्रति मोह, आदि के कारण उसकी समाधिमरण की साधना में बाधा हो सकती है। वस्तुतः, शिष्यों और गण के प्रति जो आसक्ति और ममत्व का भाव है, उसके उच्छेदन के लिए यह प्रक्रिया आवश्यक मानी गई है। क्षपक के परगण के प्रवेश के समय उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात् प्रस्तुत अध्याय में संवेगरंगशाला के आधार पर यह बताया गया है कि निर्यापक-आचार्य क्षपक को किस प्रकार अनुशासित करे, या हितशिक्षा दे, ताकि उसका मनोबल और भाव-विशुद्धि बनी रहे।

परगण में प्रवेश के पश्चात् समाधिमरण के साधक क्षपक को विशिष्ट प्रकार की तपाराधना करना होती है। ये तप-आराधनाएँ मुख्य रूप से एक ओर शरीर को कृश करने के लिए की जाती हैं, तो दूसरी ओर व्यक्ति की शरीर के प्रति रही आसक्ति को तोड़ने के लिए की जाती हैं। प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय के इस

सन्दर्भ में हमने बाह्य एवं आभ्यन्तर-तप के प्रकारों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि क्षपक को बाह्य-तपों के द्वारा शरीर को कृश करने के साथ-साथ अपने दोषों की विशुद्धि के लिए आभ्यन्तर-तपों पर विशेष बल देना चाहिए। प्रस्तुत कृति में आभ्यन्तर तप में भी प्रमुखता आलोचना और प्रायश्चित्त को दी गई है। इस प्रसंग में संवेगरंगशाला के आधार पर प्रायश्चित्त का निर्धारण करने के लिए जैन-परम्परा में प्रचलित पाँच प्रकार के व्यवहारों की चर्चा की गई है। इस चर्चा में जिनचन्द्रसूरि ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रायश्चित्त देने के पाँच आधार हो सकते हैं। सर्वप्रथम जिनप्रणीत आगमों के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाना चाहिए, यदि आगम में उस प्रकार के अपराध और उसके प्रायश्चित्त के विधान का स्पष्ट उल्लेख न हो, अथवा आगमज्ञाता आचार्य आदि न हों, तो आगमों पर आधारित श्रुतकेवली प्रणीत अन्य ग्रन्थों, अर्थात् श्रुत को आधार बनाना चाहिए। यदि श्रुत में भी ऐसी व्यवस्था न हो, या श्रुतधर उपलब्ध न हो, तो गीतार्थ-आचार्य से मार्गदर्शन प्राप्त करके उनकी आज्ञा के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाना चाहिए। यदि गीतार्थ-आचार्य की उपलब्धि भी सम्भव न हो, तो फिर पूर्व परम्परा, अर्थात् अपनी धारणा या जानकारी के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है। यहाँ धारणा से तात्पर्य अपनी गण-परम्परा को या गुरुजनों से प्राप्त परम्परा को ही धारणा कहा गया है। उपर्युक्त चारों के अभाव में जीत, अर्थात् स्वविवेक के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रस्तुत अध्याय में हमने संवेगरंगशाला के अनुसार इन पाँचों ही आधारों की चर्चा प्रस्तुत की है। इसके पश्चात् आलोचना करते समय किन-किन दोषों से बचना आवश्यक होता है, इसकी चर्चा करते हुए आलोचना के दस दोषों का उल्लेख किया गया है।

क्षपक को आलोचना के माध्यम से अपने पूर्व दोषों की विशुद्धि करके सांसारिक-भोगों के प्रति आसक्ति से ऊपर उठने के लिए बारह भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की आवश्यकता होती है। जैन परम्परा में बारह भावनाएँ या अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं। अनुप्रेक्षाएँ वस्तुतः आसक्ति से विमुक्ति के सहज उपाय हैं। इस प्रकार क्षपक को आलोचना के द्वारा पूर्वकृत पापों से और अनुप्रेक्षा के द्वारा सांसारिक-भोगों की आसक्ति से ऊपर उठकर दुष्कृत की गर्हा और सुकृत्यों की अनुमोदना करते हुए संसार के समस्त प्राणियों से निर्मल हृदय से क्षमायाचना करना होता है। क्षमायाचना के पश्चात् क्षपक को चार शरण किस प्रकार स्वीकार करना चाहिए, इसका उल्लेख संवेगरंगशाला के आधार पर प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। समाधिमरण के साधना-काल में क्षपक को अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने की आवश्यकता होती है, अतः संवेगरंगशाला में

जिनचन्द्रसूरि ने इन्द्रियदमन की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है, किन्तु समाधिमरण का मुख्य लक्ष्य तो कषायों से ऊपर उठना चाहिए, इसकी चर्चा संवेगरंगशाला के आधार पर की है।

कषायों का सम्बन्ध लेश्याओं, अर्थात् मनोभावों से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति कषायों से ऊपर उठता है, वैसे-वैसे उसकी लेश्याओं की विशुद्धि होती है, अतः यहाँ हमने जैन-दर्शन के अनुसार षट्लेश्याओं की चर्चा करते हुए यह बताया है कि समाधिमरण का साधक किम प्रकार अप्रशस्त लेश्याओं से ऊपर उठकर प्रशस्त लेश्याओं के माध्यम से शुभ एवं शुद्ध भावों में अपने ध्यान को केन्द्रित करे। इसीलिए प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में हमने संवेगरंगशाला के आधार पर चार ध्यानों का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि साधक को आर्त और रौद्र-ध्यान से ऊपर उठकर धर्म और शुक्लध्यान पर आरूढ़ होना चाहिए। धर्मध्यान और शुक्लध्यान पर आरूढ़ होने के लिए उनके स्वरूप का बोध भी आवश्यक है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हमने इन ध्यानों के लक्षण, प्रकार आदि की विस्तृत चर्चा की है और यह बताया है कि इन ध्यानों के विभिन्न चरणों से विकास करते हुए अन्त में साधक अप्रतिपाति-क्रियाव्युच्छेद-शुक्लध्यान को प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

समाधिमरण की आराधना विधि के विस्तृत विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत कृति के अगले भाग में संवेगरंगशाला की आराधना से सम्बन्धित कथाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि संवेगरंगशाला के वृहदाकार का कारण उसमें आराधना से सम्बन्धित कथाओं का विस्तृत विवेचन है। संवेगरंगशाला में आराधना सम्बन्धी विविध पक्षों के प्रस्तुतिकरण के साथ-साथ सामान्यतया एक और कहीं-कहीं दो-दो कथाएँ भी उल्लेखित हैं। संवेगरंगशाला में उल्लेखित ये सभी कथाएँ आचार्य जिनचन्द्रसूरि की अपनी पूर्व परम्परा से ही प्राप्त रही हैं। प्रस्तुत कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कथाओं में कोई भी कथा आचार्य जिनचन्द्रसूरि की अपनी कल्पना नहीं है। उन्होंने इन कथाओं का चयन मुख्यतः आगमों एवं आगमिक-व्याख्या-साहित्य के आधार पर किया है। संवेगरंगशाला में आराधना से सम्बन्धित विभिन्न सन्दर्भों में ६६ कथाएँ दी गई हैं। इनमें से कुछ कथाएँ तो भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, उत्तराध्ययन, आदि अंग-आगमों में उल्लेखित हैं, किन्तु अधिकांश कथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति, आचारांगनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, आवश्यकमूल-भाष्य, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि, उत्तराध्ययनचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य,

व्यवहारभाष्य, नन्दीसूत्र, हरिभद्रीयवृत्ति, सूत्रकृतांगवृत्ति, उत्तराध्ययनवृत्ति, ओषधवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, आदि आगमिक-व्याख्या-साहित्य से गृहीत की गई हैं। कौन सी कथा किस आगम से, अथवा आगमिक-व्याख्या-साहित्य के किस ग्रन्थ से उद्धृत की गई है, इसका हमने इस अध्याय में प्रत्येक कथा के सन्दर्भ में यथाप्रसंग उल्लेख किया है। आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त इसमें उल्लेखित कुछ कथाएँ श्वेताम्बर-परम्परा में मरणसमाधि, मरणविभक्ति, प्राचीन आचार्यप्रणीत आराधनापताका और वीरभद्रकृत आराधनापताका, आदि समाधिभरण से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थों में श्री जिनचन्द्र द्वारा संवेगरंगशाला में गृहीत की गई हैं। ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत कथाएँ उपर्युक्त ग्रन्थों में संक्षिप्तरूप में या संकेत रूप में उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है, उसमें भगवतीआराधना, आराधना-कथाकोश में भी आराधना सम्बन्धी अनेक कथाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। जिनचन्द्र द्वारा उल्लेखित इन कथाओं की उनसे भी कुछ समरूपता है।

प्रस्तुत अध्याय में हमने इन विभिन्न कथाओं का उल्लेख करते हुए भगवतीआराधना, आदि में कौन-कौनसी कथाएँ हैं, इसका संकेत भी यथाप्रसंग किया। इस प्रकार प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का यह पंचम अध्याय न केवल संवेगरंगशाला के कथाओं का संकलन है, अपितु वह किस कथा का क्या प्रयोजन है और संवेगरंगशाला में उस कथा को किस सन्दर्भ में उपस्थित किया गया है और उनके मूलस्रोत आगमिक-व्याख्या-साहित्य में एवं समाधिभरण से सम्बन्धित ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ हैं, इसका हमने अन्वेषण करने का प्रयत्न किया है और इस अन्वेषण में हमने यह पाया है कि संवेगरंगशाला में जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत प्राचीन स्रोत आगम और आगमिक-व्याख्याएँ रही, फिर भी जिनचन्द्रसूरि ने इन आराधना से सम्बन्धित कथाओं को जितने विस्तार से प्रस्तुत किया है, उतने विस्तार से न तो वे आगमों में हैं और न ही वे आगमिक-व्याख्याओं में उपलब्ध होती हैं। दोनों आराधनापताकाओं में तथा शिवार्य की भगवतीआराधना में भी इन कथाओं के मात्र संकेत ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार जैनकथा-साहित्य और विशेष रूप से आराधना से सम्बन्धित कथा-साहित्य के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में प्रस्तुत अध्याय अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करता है। इस शोधपूर्ण अध्ययन में हमें डॉ. मोहनलाल मेहता और ऋषभचन्द्र द्वारा प्रणीत 'प्राकृत प्रापर नेम' भाग १-२ से विशेष सहायता मिली है, किन्तु दोनों आराधनापताकाओं में और भगवतीआराधना में इन कथाओं को खोजने का प्रयत्न हमने स्वयं किया है। इस प्रकार यह पंचम अध्याय विवरणात्मक होते हुए भी, शोध की दृष्टि से उपयोगी बने, इसका हमने पूरा ध्यान रखा है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का उपसंहाररूप जो अन्तिम अध्ययन है, वह जहाँ एक ओर पूर्व के अध्यायों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है, वहीं उन अध्यायों के वैशिष्ट्य को भी इंगित करता है। इस उपसंहार में उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के पश्चात् अन्त में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समाधिमरण की अवधारणा जैन-परम्परा के अतिरिक्त अन्य परम्पराओं में किस रूप में उपस्थित रही और उसकी क्या मूल्यवत्ता और उपादेयता है।

समाधिमरण का तुलनात्मक-विवेचन :-

समाधिमरण की अवधारणा संवेगरंगशाला का मुख्य विवेच्य-विषय है। जैनधर्म में जीवन के सन्ध्याकाल में, अथवा सामान्य-अवस्था में भी जब मृत्यु अपरिहार्य तथा अत्यन्त सन्निकट प्रतीत हो, तब समाधिमरण स्वीकार करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से पाई जाती है। जैन-आचार्यों का यही सन्देश रहा है कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीर, आदि बाह्य एवं कषाय, आदि आभ्यन्तर-परिग्रह से अनासक्त होकर समाधिभावपूर्वक मृत्यु का आलिङ्गन करना चाहिए। उनका मानना है कि जो साधक मृत्यु को सन्निकट देखकर उद्विग्न होता है, मृत्यु से बचना चाहता है, उसने वस्तुतः अनासक्त जीवन जीने की कला को नहीं सीखा है। वस्तुतः, न केवल जैनसाधना-पद्धति, अपितु समस्त भारतीय-साधना-पद्धतियों में अनासक्त जीवनदृष्टि के विकास को सम्पूर्ण साधना का सारतत्त्व माना गया है, अतः मृत्यु के सन्निकट होने पर अनासक्त-भाव से उसका स्वागत करते हुए शरीर का विसर्जन कर देना ही साधना का सारतत्त्व है। वस्तुतः, समाधिमरण का तात्पर्य यही है कि जीवन की सन्ध्या वेला में बाह्य और आभ्यन्तर-परिग्रह के प्रति ही नहीं, अपितु अपने शरीर के प्रति भी अनासक्त होकर मृत्यु का सहर्ष स्वागत करना चाहिए। इस प्रकार समाधिमरण अनासक्त-भाव से देह के विसर्जन की एक प्रक्रिया है। जैन-परम्परा में संवेगरंगशाला में उल्लेखित समाधिमरण स्वीकार करने की यह परम्परा प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक युग तक प्रचलित है।

बौद्ध-परम्परा में समाधिमरण ग्रहण करने की यह प्रक्रिया केवल जैन-परम्परा में ही है, अन्यत्र नहीं है- ऐसा मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि जैनधर्म के सहवर्ती बौद्ध-धर्म में भी यह परम्परा रही है। संयुक्तनिकाय में असाध्यरोग से पीड़ित भिक्षु वल्कलि तथा भिक्षु छण्ण के द्वारा शस्त्र, आदि के माध्यम से भी शरीर-त्याग करने का समर्थन स्वयं भगवान् बुद्ध ने किया था। उन्होंने इन भिक्षुओं को निर्दोष कहकर परिनिर्वाण को प्राप्त करने वाला बताया। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध का समाधिमरण की साधना से कोई

विरोध नहीं है। आज भी जापानी-बौद्धों में हरी-करी की प्रथा प्रचलित है। यद्यपि इस सम्बन्ध में जैन और बौद्ध-परम्परा में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ बौद्ध-परम्परा में शस्त्र, आदि के माध्यम से तत्काल मृत्युवरण कर लेना वैध माना जाता है, वहीं जैन-परम्परा में सामान्यतया शास्त्र, आदि के माध्यम से तात्कालिक-मृत्यु ग्रहण करने का विरोध किया गया है, क्योंकि जैन-परम्परा के अनुसार सामान्य परिस्थिति में शस्त्र, आदि के माध्यम से मृत्यु का वरण करना किसी-न-किसी रूप में मरण की आकांक्षा का सूचक है, क्योंकि यदि व्यक्ति में मरणाकांक्षा नहीं है, तो फिर मरण के लिए इतनी आतुरता भी क्यों? जैन-परम्परा के अनुसार समाधिमरण में मरणाकांक्षा को एक दोष या अतिचार माना गया है। जैन-परम्परा में शस्त्र, आदि के माध्यम से तत्काल मृत्यु को प्राप्त करना सामान्य रूप में मिथ्यादृष्टि का परिणाम है। जैन धर्म के अनुसार शस्त्र आदि के माध्यम से तत्काल देह का विसर्जन कर देना केवल उन्हीं विशेष परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, जब ऐसा प्रतीत हो कि आध्यात्मिक और चारित्रिक-मूल्यों का संरक्षण केवल मृत्यु को प्राप्त करके ही सम्भव है। ऐसी परिस्थिति को छोड़कर अन्य परिस्थितियों में शस्त्र, विष, आदि के माध्यम से तात्कालिक-रूप में देह-विसर्जन को जैनधर्म में अनुचित माना गया है।

हिन्दू-परम्परा और समाधिमरण :-

जहाँ तक हिन्दू-परम्परा का सवाल है, उसमें भी आत्महत्या को अनुचित बताया गया है, किन्तु परिस्थितिविशेष में आत्महत्या करनेवाले को उचित भी माना गया है। पाराशरस्मृति में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, अहंकार और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है, वह साठ हजार वर्ष तक नरक की यातनाएँ भोगता है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म में भी सामान्य रूप से स्वेच्छा से मृत्युवरण या आत्महत्या को अस्वीकार किया गया है, किन्तु हिन्दू-धर्मशास्त्र में ऐसे भी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जहाँ मृत्युवरण को समर्थन मिलता है। मनुस्मृति (११/६०, ६१), याज्ञवल्क्यस्मृति (३२५३), गौतमस्मृति (२३१), वशिष्ठधर्मसूत्र (२०२२), आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (१/६/२५/१-६) में प्रायश्चित्त के निमित्त अग्नि, आदि में जलकर देह का विसर्जन कर देना उचित माना गया है। न केवल इनमें, अपितु महाभारत के अनुशासनपर्व (२५/६२, ६४), वनपर्व (८५/१३००), तथा मत्स्यपुराण (१४६/३४, ३५) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग एवं उपवास, आदि के माध्यम से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है- ऐसा भी कहा गया है, किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हिन्दू-परम्परा केवल शास्त्र-अनुमोदित परिस्थितियों में ही मृत्युवरण को मान्यता प्रदान करती है, फिर भी निर्ममत्व भाव से शान्तिपूर्वक देह-विसर्जन की जो प्रक्रिया जैनधर्म में देखी जाती है, वह अन्यत्र

दुर्लभ है। हिन्दू-परम्परा में प्रयाग में अक्षयवट से कूदकर, अथवा काशी में करवत लेने की परम्परा प्रचलित रही है, फिर भी इतना निश्चित है कि समाधिमरण के सम्बन्ध में जैन-परम्परा में जितनी गम्भीरता से विचार किया गया है, उतनी गम्भीरता से अन्य परम्पराओं में विचार उपलब्ध नहीं होता है।

समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर :-

सामान्यतया यह देखा जाता है कि जिन लोगों को समाधिमरण के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं है, वे समाधिमरण और आत्महत्या को एक ही मान लेते हैं, क्योंकि दोनों में ही स्वेच्छपूर्वक देहत्याग किया जाता है; किन्तु गहराई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता है कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है। समाधिमरण और आत्महत्या में मूलभूत अन्तर व्यक्ति के दृष्टिकोण का है।

जिनका जीवन भौतिकता से ग्रसित है, जो जरा-सा भी भौतिक कष्ट सहन नहीं कर सकते हैं, जिनका मनोबल टूट चुका है, जिन्हें आत्मा की नित्यता का विश्वास नहीं है, वे ही व्यक्ति मुख्य रूप से अपनी समस्याओं से ऊबकर मन की सावेगिक-अवस्था से ग्रसित होने पर आत्महत्या करते हैं; परन्तु जिन्हें आत्मा की अमरता का परिज्ञान है, जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि आत्मा और देह-दोनों पृथक् हैं, वे ही व्यक्ति समाधिमरण में मन की सावेगिक-अवस्थाओं से पूरी तरह मुक्त होकर समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं तथा उन्हें देहत्याग के समय किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती है, जैसे- एक यात्री को अगली यात्रा के लिए होटल का कमरा छोड़ते समय मन में किंचित् भी पीड़ा नहीं होती।

व्यक्ति आत्महत्या क्यों करता है? इस प्रश्न पर थामस मसारक ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं⁸²⁶- व्यक्ति अपनी समस्याओं से घिरा रहता है, वह उन समस्याओं से मुक्त होना चाहता है, इसके लिए वह अथक प्रयास करता है, लेकिन जब वह इन समस्याओं से मुक्त नहीं हो पाता है, तो आत्महत्या या प्राणाघात करके समस्याओं से छुटकारा पा लेता है। आत्महत्या किन-किन परिस्थितियों एवं किन समस्याओं के कारण की जाती है, इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं- व्यक्ति प्राकृतिक, भौतिक एवं सामाजिक-समस्याओं से बचने के लिए आत्महत्या करता है।

प्राकृतिक-परिस्थिति के कारण - उस स्थानविशेष या देशविशेष का परिवेश अनुकूल नहीं होने पर व्यक्ति आत्महत्या करता है।

भौतिक-परिस्थिति के कारण - शारीरिक-अक्षमता, सामाजिक-प्रतिष्ठा पर आघात लगने के कारण, राजनीतिक-सन्नास के कारण तथा आर्थिक-अभाव या बड़ा धाटा लगने के कारण। इनसे उत्पन्न समस्याओं से छुटकारा नहीं पाने से उनसे बचने हेतु ही व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है।

जस्टिस टी.के. तूकोल अपनी पुस्तक *Sallekhana is not Suicide* में आत्महत्या के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि व्यक्ति मानसिक, शारीरिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत कष्टों से गम्भीर रूप से ग्रस्त होने पर ही आत्महत्या करता है। किसी भी व्यक्ति के समक्ष व्यक्तिगत समस्याओं में परिवार, विवाह, प्रेम, रोजी-रोटी, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-मिलन, शारीरिक-दुर्बलता, आदि की समस्याएँ होती हैं। एक ओर व्यक्ति में सामाजिक-स्तर पर समाज में अपना उच्च स्थान कायम रखने की, अधिक धन-दौलत कमाने की, यश पाने की कामना रहती है; तो दूसरी ओर वह अपमान, ग्लानि, क्षोभ से बचना चाहता है। कभी-कभी व्यक्ति के समक्ष राजनीतिक-समस्या भी मुँह बाएं खड़ी रहती है। प्रत्येक व्यक्ति देश में सम्मान या देश के सर्वोच्च पदों को पाने की इच्छा रखता है, समस्याओं का निदान करना चाहता है। यदि यह सम्भव होता है, तो ठीक है, अन्यथा व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है।⁸²⁷

युवाचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार व्यक्ति आत्महत्या किसी तरह के आवेश, आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर करता है। इस अवस्था में व्यक्ति पहाड़ से लुढ़ककर, वृक्ष से गिरकर, आत्मदाह, विषपान, आदि बाह्य-विधियों की सहायता से आत्मघात करता है।⁸²⁸

उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्महत्या सामान्य व्यक्ति की नहीं, बल्कि असामान्य व्यक्ति की मनोदशा की परिचायक है।

सामान्य-अवस्था में व्यक्ति देहत्याग के विषय में सोच भी नहीं सकता है, लेकिन कुछ परिस्थितियोंवश समस्याओं के निराकरण में असफल होने पर वह देहत्याग कर देता है। व्यक्ति जब उत्तेजना की चरम सीमा को पार कर देता है, तब ही आत्महत्या करता है, मात्र सामान्य मोहग्रस्तदशा में वह देहत्याग नहीं

⁸²⁷ T.K. Tukol, *Sallekhana is not suicide* P. 71

⁸²⁸ अणुव्रत, अप्रैल १९८८, पृ. २४.

करता। समाधिमरण की प्रक्रिया में भी देहत्याग किया जाता है, लेकिन दोनों अवस्थाओं में किए जानेवाले देहत्याग में बहुत बड़ा अन्तर है। एक आवेग और आवेशयुक्त अवस्था में किया जाता है, तो दूसरा आवेग और आवेशमुक्त अवस्था में।

समाधिमरण एवं आत्महत्या में पाए जानेवाले अन्तरों का चित्रण आधुनिक जैन-चिन्तकों ने मनोवैज्ञानिक-आधारों पर गहराई से किया है।

जैनदर्शन के मूर्द्धन्य मनीषियों ने कहा है कि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है, क्योंकि समाधिमरण में मृत्यु की कभी इच्छा नहीं होती है। समाधिमरण के समय जो आहारादि का त्याग किया जाता है, उस परित्याग का कारण देहपोषण की इच्छा का अभाव होता है। आहार के परित्याग से उसकी मृत्यु हो सकती है, किन्तु उसको मृत्यु की आकांक्षा नहीं होती है। जैसे- किसी व्यक्ति के शरीर में यदि कोई फोड़ा हो चुका है, डाक्टर उसकी शल्यचिकित्सा करता है; शल्यचिकित्सा से उसे वेदना अवश्य होती है, लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है। आकांक्षा तो स्वस्थ होने की होती है। वह शल्यचिकित्सा व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु उसके कष्ट के प्रतिकार के लिए है। वैसे ही संधारा-संलेखना की जो प्रक्रिया है, वह मृत्यु के लिए नहीं, परन्तु जन्म-मरण की प्रक्रिया के प्रतिकार के लिए है।⁸²⁹

यदि एक रूग्ण व्यक्ति की चिकित्सा के दौरान मृत्यु हो जाती है, तो वह मृत्यु हत्या नहीं कहलाती है, फिर समाधिमरण में होनेवाली मृत्यु आत्महत्या कैसे हो सकती है, क्योंकि एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए, तो दूसरी आध्यात्मिक-जीवन की रक्षा के लिए है। समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना चाहता है, उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं, वरन् जीवन की सान्ध्यबेला में द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमन्त्रण है, जबकि संधारा या समाधिभरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है।⁸³⁰

⁸²⁹ दर्शन और चिन्तन, उद्धृत पृ. ४३६.

⁸³⁰ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ४४०.

जैनधर्म में आत्मघात को पाप एवं आत्मा के लिए अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और संलेखना-दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है, जबकि संलेखना या समाधिमरण परम उत्साह से समभाव धारण करके की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, तो संलेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अमरता के प्रति आस्था नहीं होती, वह तो दीपक के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि संलेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक-यात्रा को सुधारना है।⁸³¹

आत्महत्या में व्यक्ति की मानसिकता बेहोशी, अर्थात् अविवेक की होती है, जबकि समाधिमरण चित्त की एक सम्यग्दशा है। इसमें व्यक्ति अपनी मौत का साक्षी होता है। आत्महत्या दुर्गति का कारण है, जबकि समाधिमरण सद्गति का। तत्त्वार्थवार्त्तिक के अनुसार राग-द्वेष क्रोधादिपूर्वक प्राणों के नाश किए जाने को अपघात या आत्महत्या कहते हैं, लेकिन समाधिमरण में न तो राग है, न द्वेष और न ही प्राणों के त्याग का अभिप्राय ही है। इसे ग्रहण करनेवाला व्यक्ति जीवन और मरण-दोनों के प्रति अनासक्त रहता है।⁸³² यह शरीर नाशवान् है, इसके प्रति राग रखना व्यर्थ है तथा इस देह की रक्षा करने से कोई लाभ नहीं है, अतः व्यक्ति देहासक्ति को त्यागकर समाधिमरण स्वीकार करता है, जबकि आत्महत्या करनेवाले के मन में मात्र यही भावना रहती है कि देह का त्याग शीघ्रातिशीघ्र कर दे। वह अपने तीव्र आवेगों की दशा में ही देहत्याग करता है।

सर्वार्थसिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तु रखी हो और कदाचित् घर में आग लग जाए, तो वह येन-केन-प्रकारेण अग्नि बुझाने का प्रयास करता है, पर हर सम्भव प्रयास के बाद भी यदि आग बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसने अपनी ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, इसी तरह रोगादिकों से आक्रान्त होने पर एकदम-से संलेखना (समाधिमरण) नहीं ली जाती है, साधक तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझकर

⁸³¹ जैन तत्त्वविया, पृ. १७७.

⁸³² तत्त्वार्थवार्त्तिक ७/२२/७.

यथासम्भव रोगादिकों का योग्य उपचार/प्रतिकार करता है, किन्तु पूरी कोशिश करने पर भी जब रोग असाध्य दिखता है, उसका प्रतिकार सम्भव प्रतीत नहीं होता है, तब उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत होता हुआ, अपने संयम की रक्षा के लिए अनुद्विग्नता एवं समभावपूर्वक मृत्यु के स्वागत में तत्पर हो जाता है।⁸³³

सागारधर्मामृत में समाधिमरण को आत्मघात नहीं मानते हुए कहा गया है कि स्वीकार किए हुए व्रतों के विनाश के कारण उपस्थित होने पर जो व्यक्ति विधि के अनुसार भक्तप्रत्याख्यान, आदि के द्वारा सम्यक् रीति से देहत्याग करता है, उसे आत्महत्या का दोष नहीं लगता है, किन्तु क्रोधादि के आवेशों में जो विषपान करके या शस्त्रघात द्वारा या जल में डूबकर, अथवा आग लगाकर प्राणों का घात करता है, उसे आत्मघात का दोष होता है।⁸³⁴

तात्पर्य यह है कि आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मन में विभिन्न तरह की भौतिक-अभिलाषाओं को संजोए रहता है, उसकी अभिलाषा अगर पूर्ण हो जाती है, तो उसे खुशी होती है, वह मरना नहीं चाहता है, अन्यथा उसी अतृप्ति के दुःख से दुःखी हो वह अपना प्राणत्याग करता है, अतः समाधिमरण जहाँ प्रीतिपूर्वक निःशत्य, निःकषाय-भाव से किया जाता है, वही आत्महत्या दुःखपूर्वक सशत्य और सकषायभाव से की जाती है।

न्यायविद् श्री तुकोल के अनुसार समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर से बचने के लिए तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना से ही देहत्याग करता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए समस्त संचित कर्मों का क्षय तथा आगे आनेवाले कर्मों को रोकना होता है। इसके लिए व्यक्ति दीर्घ समय तक नाना प्रकार के तपों की साधना करता है, जिससे कि उसके कर्मों का क्षय हो और मन निर्मल हो जाए, लेकिन आत्महत्या तो व्यक्ति उस समय उत्पन्न असम्मानजनक परिस्थितियों से बचने के लिए करता है। ये परिस्थितियाँ अपमान, अपराध, भावनात्मक लगाव, आदि हैं। इनसे बचने के लिए वह शीघ्र मृत्यु की कामना करता है। किसी प्रकार की साधना की अपेक्षा बाह्य साधनों की सहायता से वह तत्काल अपना प्राणाघात करता है।⁸³⁵

⁸³³ सर्वाधिसिद्धि पृ. ३६३.

⁸³⁴ सागारधर्मामृत ८/८.

⁸³⁵ Sallekhana is not Suicide - P- 87.

समाधिमरण एवं आत्महत्या के अन्तर पर भलीभांति विचार करने के पश्चात् उनके ग्रहण करने की परिस्थितियों में भी भिन्नता दृष्टिगत होती है। समाधिमरण जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, भारभूतता, वृद्धावस्था, असाध्यरोग, आदि के कारण शरीर के जर्जरित हो जाने पर धर्मरक्षार्थ मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है, जबकि आत्मघात जीव के किसी भी क्षण तीव्र आवेगों की दशा में किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणामों में दीनता, भीति, उदासी पाई जाती है। उसका मन सांसारिक-वस्तुओं और भोगविलासों में लगा रहता है। समाधिमरण में परम उत्साह, निर्भीकता, वीरता का सद्भाव पाया जाता है तथा उसके मन में सांसारिक-वस्तुओं तथा अन्य भौतिक-पदार्थों के प्रति आसक्तियाँ नहीं होती हैं।

काका कालेलकर समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आत्महत्या में व्यक्ति निराश होकर कायरतापूर्ण ढंग अपनाकर देहत्याग करता है, वहीं दूसरी ओर जब व्यक्ति यह सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही, तब वह आत्म-साधना के लिए समाधिमरण करता है, अर्थात् समभावपूर्वक शरीर-त्याग करता है।⁸³⁶

फूलचन्द्र बरैया के अनुसार समाधिमरण और आत्महत्या की विधि में भी अन्तर है। जहाँ आत्महत्या दुःख से छुटकारा पाने की भावना से की जाती है, वहीं समाधिमरण प्रीतिपूर्वक या प्रेमपूर्वक किया जाता है। व्यक्ति को जब यह भलीभांति विदित हो जाता है कि उसका मरणकाल आ चुका है, तब वह निःशल्य, निःकषाय-भाव से जीने या मरने की अभिलाषा से, अथवा मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, आदि की आकांक्षा से रहित होकर समाधिमरण करता है।⁸³⁷

मनुष्य के भीतर दो प्रकार की आकांक्षाएँ होती हैं, एक- जीने की अभिलाषा और दूसरी- मरने की आकांक्षा। जिन लोगों की जीने की आकांक्षा या जिजीविषा स्वर्ण हो जाती है, तो वह मरणाकांक्षा में बदल जाती है, फिर वे आत्महत्या करने में तत्पर हो जाते हैं। व्यक्ति चाहता है कि यह वस्तु मुझे मिले और नहीं मिलती है, तो वह आत्महत्या के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु यदि वह वस्तु उसे मिल जाए, तो वह आत्महत्या के लिए तैयार नहीं होता है। व्यक्ति चाहता है कि वह बड़ी प्रतिष्ठा, यश और इज्जत के साथ जीए। जब वह इज्जत नहीं रह जाती है, प्रतिष्ठा गिर जाती है, तब वह आत्महत्या करने के लिए तैयार

⁸³⁶ परमसखा मृत्यु, पृ. ४३.

⁸³⁷ जैनमित्र, वर्ष ६७, पृ. १३६.

हो जाता है, किन्तु यदि उसे वह प्रतिष्ठा, इज्जत वापस मिलती है, तो वह आखिरी किनारे से, यानी मौत से वापस लौटकर आने को तत्पर रहता है। किसी का धन, पद, आदि खो जाता है, तो वह मरने को तैयार हो जाता है।

इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति मृत्यु नहीं चाहता है, उसमें एक जीवन का इतना प्रबल आग्रह है कि वह यह निर्णय लेता है कि मैं इस धन, पद या सम्मान के साथ ही जीऊँगा, यदि यह धन, पद, सम्मान नहीं है, तो मैं मर जाऊँगा। इस प्रकार जीने की आकांक्षा एक विशिष्ट आग्रह को पकड़ लेती है। वह आग्रह इतना गहरा भी हो सकता है कि वह पूर्ण नहीं होकर अपने से विपरीत भी जा सकता है। मरने तक को तैयार हो सकता है, लेकिन गहराई में जीवन की ही आकांक्षा है। जितनी भी आत्महत्याएँ की जाती हैं, आवेश के क्षणों में ही की जाती हैं, वह क्षण खत्म हो जाए, तो आत्महत्या नहीं हो सकती है। आवेश क्षणिक होता है। उस आवेश में आदमी इतना पागल हो जाता है कि वह नदी में, कूद पड़ता है, अपने को आग में जला देता है, या जहर पी लेता है।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि समाधिमरण एवं आत्महत्या भिन्न-भिन्न है, क्योंकि पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि समाधिमरण एवं आत्महत्या के कारण, उद्देश्य, परिस्थिति आदि में पूर्णतः भिन्नता है। जहाँ तक आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है, तो समाधिमरण निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है, तो समाधिमरण का ध्येय समभावपूर्वक मृत्यु को मित्र बनाकर अपने सद्गुणों की रक्षा हेतु शरीर के मोह का त्याग है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना है, तो दूसरे का लक्ष्य जीवन को संवारना है। आत्महत्या के समय व्यक्ति खिन्नता, उद्धिग्नता तथा पराजयता के भावों का शिकार होता है, जबकि समाधिमरण का साधक प्रसन्नता, समता, निर्भयता तथा वासनाओं पर आत्मा की विजय के भावों से सराबोर होता है।

किसी कृति का मूल्यांकन केवल इन तथ्यों पर निर्भर नहीं होता है कि कृति कब और किस भाषा में लिखी गई, कृतिकार कौन है और कृति की विषयवस्तु क्या है, अथवा यह कि कृति अपने पूर्वाचार्यों की कृतियों से किस प्रकार प्रभावित है और उसने अपने परवर्ती आचार्यों को किस रूप में प्रभावित किया है। संवेगरंगशाला के सम्बन्ध में हमने इन सभी तथ्यों पर विचार भी करने का प्रयास किया है, लेकिन ये सब समीक्षाएँ कृति के कलेवर को ही छू पाती हैं, उसकी अन्तरात्मा को नहीं। किसी भी कृति की संरचना के पीछे लेखक का कोई मूलभूत प्रयोजन होता है, कोई लक्ष्य होता है, जिसे वह कृति के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहता है। कृति की रचना में कृतिकार का सन्देश सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् होता है, अतः इस उपसंहार में हमें यह विचार करना होगा कि कृति का मूलभूत सन्देश क्या है। वह सामान्य आचार के रूप में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का विवेचन करने के पश्चात् विशेष आराधना के रूप में समाधिमरण का जो विवेचन कर रहा है, उसके पीछे उसका मूलभूत दृष्टिकोण क्या है? प्रस्तुत कृति संवेगरंगशाला में आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने गृहीधर्म और मुनिधर्म की सामान्य विवेचना के पश्चात् विशेष रूप से समाधिमरण की साधना पर अधिक बल दिया है। समाधिमरण की साधना क्यों आवश्यक है और उसकी समकालीन परिस्थितियों में क्या उपयोगिता है, इस पर विचार करके ही हम लेखक के सन्देश को सम्यक् प्रकार से समझ सकते हैं। समाधिमरण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- समाधि+मरण। समाधिमरण का लक्ष्य यही है कि मृत्यु की उपस्थिति में व्यक्ति की चेतना अनुद्विग्न और शान्त रहे। शान्तिपूर्वक या समभावपूर्वक शरीर का त्याग करना ही समाधिमरण है, जिसे जैन-परम्परा में संलेखना या संथारे के रूप में जाना जाता है। प्रश्न यह होता है कि समाधिमरण की क्या उपयोगिता या सार्थकता है। जन्म लेना और मृत्यु को प्राप्त होना-यह हमारी ही क्या, सम्पूर्ण प्राणी-जगत् की मूलभूत प्रवृत्ति है। मृत्यु की अपरिहार्यता एक ऐसा तथ्य है कि जिससे कोई भी बच नहीं पाता है, किन्तु यह भी एक अनुभूत सत्य है कि सामान्य व्यक्ति जब अपनी मृत्यु को निकट देखता है, तब वह भयभीत होता है, उद्विग्न होता है और दुःखी भी होता है। मृत्यु का भय एक ऐसा भय है कि दुनिया के सारे भय उसके पीछे छूट जाते हैं। व्यक्ति कभी नहीं चाहता है कि उसका मरण हो। वह व्यक्ति संसार में रहकर भी अमरता की कामना करता है। उपनिषद् में ऋषियों ने कहा था 'मृत्योर्मा मृतगमय', अर्थात् हम मृत्यु से अमरता की ओर बढ़ें, किन्तु जब तक मनुष्य के मन में मृत्यु का भय रहा हुआ है, वह अमरता का पथिक नहीं हो सकता। अन्तर में मरण का भय और बाहर अमरता का संघोष संगतिपूर्ण नहीं। व्यक्ति मृत्यु से डरता है, लेकिन यह डर एक निरर्थक और अयथार्थ है। वस्तुतः, मृत्यु से हमारा आमना-सामना कभी होता ही नहीं है, क्योंकि जब तक हम हैं, मृत्यु नहीं है, और जब मृत्यु है, तब हम नहीं हैं। मरण के इस निरर्थक भय को समाप्त करने के लिए ही समाधिमरण की साधना की जाती है। वह समभाव और शान्तिपूर्वक मृत्यु के आलिंगन का प्रयास है। जन्म और मृत्यु जीवन के दो ऐसे छोर हैं, जिन पर व्यक्ति का अधिकार नहीं है। इन दो छोरों के बीच जो जीवन की धारा बहती है; वही हमारी अपनी है। जो इस धारा का पान करके तृप्त हो जाता है, इच्छाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठ जाता है, वही अभय को प्राप्त होता है। जन्म और मरण जीवन के दो ऐसे छोर हैं, जो हमारे अधिकार में नहीं है किन्तु इन दोनों

छोरों के बीच रहा हुआ जीवन हमारी निजी सम्पदा है। यदि व्यक्ति इसका सम्यक् रूप से उपयोग कर लेता है, तो मृत्यु का भय उसे विचलित नहीं करता है। समाधिमरण की साधना वस्तुतः जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न है। वह निर्भयता की साधना है। आज विश्व में जितने भी तनाव हैं, सबके पीछे या तो मनुष्य की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ हैं, या फिर मरण के वियोग का भय है। जिनचन्द्रसूरि की प्रस्तुत कृति का सार यही है कि हम अपना जीवन इस प्रकार से जीएं कि मृत्यु के समय उद्विग्नता हमारे पास भी न फटकने पाए। जीवन के सन्ध्याकाल में ऐसी उद्विग्नता की अनुभूतिमात्र वही साधक कर सकता है, जो समाधिमरण की साधना के लिए सदैव तत्पर रहता है। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु भी महोत्सव बन जाती है, क्योंकि उसका ऐसा दृढ़ विश्वास होता है कि मृत्यु तो पुराने जर्जर शरीर को त्यागकर या तो नए शरीर को प्राप्त करना है, या अमरता को वरण करना है। मृत्यु से भयभीत वही होता है, जो उसके लिए पूर्व तैयारी नहीं करता है; जिस प्रकार परीक्षा से वही विद्यार्थी डरता है, जो वर्षभर अपनी तैयारी नहीं करता है। हमारी दृष्टि में प्रस्तुत कृति का लक्ष्य यदि कोई है, तो वह मनुष्य को मृत्यु के भय से विमुक्त बनाकर उसे अमरता का पथगामी बनाना है और कृतिकार अपने इस उद्देश्य में पूर्णतः सफल कहा जा सकता है।



सहायक ग्रन्थ सूची

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
अन्तद्दशा	सं.- मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	१९८१
अनुत्तरोपपातिकसूत्र	श्री कन्हैयालालजी महाराज	अ.भा.स्वे.रथा.जैन शास्त्रों द्वारा समिति, मू. राजकोट (सौराष्ट्र)	१९५६
अनुयोगद्वारसूत्र		आगमोदय समिति, मुम्बई	१९२४
अंगुत्तरनिकाय (तीन भाग)	अनु.-भदन्त आनन्द कौसल्यायन् महाबौधि सभा	कलकत्ता	
अष्टपाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य	देहली से प्रकाशित	
आचारांगसूत्र	श्री मिश्रीमलजी महाराज मधुकर	श्री आगमप्रकाश समिति ब्यावर	१९८६
आचारांगनियुक्ति	भद्रबाहु	रतलाम	१९४१
आचारांगचूर्णि	जिनदासगणी	रतलाम	१९४१
आवश्यकनियुक्ति	भद्रबाहु	आगमोदय समिति, मुम्बई	२४५४
आवश्यकचूर्णि	मलयगिरी	आगमोदय समिति, मुम्बई	२४५४
आवश्यकवृत्ति	मलयगिरी	आगमोदय समिति, मुम्बई	१९२८, ३६
आवश्यकभाष्य		विजयदानसूरि, जैन सिरिज़, सूरत	१९३६, ४६
आचारांगसूत्र (१, २)	आ. श्री	जैन प्रकाशन	१९६३

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
स्कन्ध)	आत्मारामजी	समिति, जैन स्थानक, लुधियाना	१६६४
आचारांगसूत्र (तीनों भाग)	मुनि श्री कन्हैयालालजी	अ.भा.स्वे.रथा.जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट	१६५७
आत्मानुशासन	आचार्य गुणभद्र	श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी	वी.सं. २५०६
आराधनापताका (प्राचीन आचार्यकृत) आराधनापताका (वीरभद्रकृत भाग-२)	स्व. पुण्यविजयजी	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	१६८७
आराधनाकथाकोश	शान्तिकुमार जयकुमार	जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शौलापुर	१६७८
इतिहासियम (ऋषिभाषित)		सूरत	१६२७
उत्तराध्ययनसूत्र	स.श्री मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	१६८४
उपासकदशांगसूत्र	श्री आत्मारामजी	जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना	१६६४
उपासकदशांगवृत्ति	अभयदेव		
उत्तराध्ययनवृत्ति	कमल संयम	लक्ष्मीचंदजैन लाइब्रेरी, आगरा	१६२३
उत्तराध्ययनचूर्ण		रिषभदेव केसरीमल, रतलाम	१६३३
ओर्धन्युक्ति		आगमोदय समिति,	१६१६

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
ओषधवृत्ति	द्रोणाचार्य	बम्बई मेहसाणा आगमोदय समिति, बम्बई मेहसाणा	१६१६
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	पं. मनोहरलाल शास्त्री	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, मुम्बई	१६२८
कल्पसूत्र		श्री सण्णन उपकरण भण्डार शिवजी राम भवन, जयपुर	२०५४
कर्मग्रन्थ	मुनिजीवविजयजीकृत	श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल वेणिचंद सुरचंद शाह, मेहसाणा	१६१५
कषाय	साध्वी हेमप्रज्ञाश्री	श्रीविचक्षण प्रकाशन, नईदुनिया, इंदौर	१६६६
खरतरगच्छ दीक्षा नन्दी सूची	सं. भंवरलाल नाहटा म.विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी ३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर	
गोम्मतसार श्रीमद्भगवद्गीता	आचार्य नेमिचन्द	श्री परम श्रुत प्रभावक गीताप्रेस, गोरखपुर	
छहढाला	पं. दौलतरामजी	श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिरट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)	वी. सं. २५०५
जैन धर्म का मौलिक इतिहास	प्रेरणा आचार्य हस्तीमलजी	जैन इतिहास समिति आ. विनयचन्द ज्ञान भण्डार लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर	१६८७ १६६५

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास	डॉ. मोहरलाल मेहता प्रो. हीरालाल आर.काप डिया	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान आई. टी.आई रोड़, करौंदी, वाराणसी-५	१९६८ १९६१
जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा	श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज.)	१९७७
जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन,	डॉ. सागरमल जैन	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राज.)	१९८२
जैन-धर्म और तान्त्रिक-साधना	डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी	१९६७
जैन तत्त्वविद्या	मुनि प्रमाणसागर	भारतीय ज्ञानपीठ १६-इन्टीट्यूशनल एरिया लोदी रोड़, नई दिल्ली	२०००
तत्त्वार्थसूत्र	पं. सुखलाल संघवी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	१९७६
तत्त्वार्थवार्तिक (भाग-२)	डॉ. महेन्द्रसागर जैन न्यायचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१९५७
तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वाति	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा शोलापुर	
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थ-सिद्धि टीका	पूज्यपाद	शोलापुर	१८३६
तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक-टीका	टकलंक	कलकत्ता	१९२६

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
तीर्थोद्गालीक	पुण्यविजयजी		
दर्शनपाहुड द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्द	देखिए अष्टपाहुड	
धर्मामृत (सागर)	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	१९७८
धर्मामृत (अनगार)	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	१९७७
धर्मसंग्रह			
नन्दिसूत्र	मुनि हस्तीमलजी द्वारा सम्पादित	जैन आगम ग्रंथमाला	
निशीथचूर्णि	जिनदासगणी	सन्मति ज्ञानपीठ आगरा	१९५७
प्रकीर्णक साहित्य, मनन और मीमांसा	डॉ. सुरेश सिसोदिया	संस्थान, पद्मिनी मार्ग उदयपुर	१९६५
पङ्कण्यसुत्ताई (भाग १, २)	मुनि पुण्यविजय	महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई	१९८७
पंचाशक-प्रकरणम्	डॉ. दीनानाथ शर्मा (अनुवादक), सं. प्रो. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी आई.टी.आई. रोड़, करौंदी, वाराणसी	१९६७
पद्मनन्दि-पंचविंशति	श्री बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर	वी.सं. २५०६
प्रवचन-सारोद्धार भाग- १, २	अनुवादिका साध्वी हेमप्रभाश्री	देवेन्द्रराज मेहता, प्राकृत भारती अकादमी, मालवीय नगर, जयपुर	१९६६ २०००
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	अमृतचन्द्र	सेन्द्रल जैन पब्लिक हाउस, लखनऊ	१९३३
पंचास्तिकाय संग्रह	श्रीलाल जैन	आ. श्री	१९६८

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
	न्यायतीर्थ	भरतसागरजी म. संघ	
प्रज्ञापना	सं. मुधकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.)	१६६५
बारह भावना संग्रह	पं. लादुराम माणिकचन्द अजमेर	महेन्द्र भवन, मदनगंज, किशनगढ़ (राज.)	वी. सं. २५०५
बारस अणुवेक्खा	आ. कुन्दकुन्द	कान्ताबेन छोटालाल वोरा प्रकाशन, मोटा आंकडिया (सौराष्ट्र)	वी.सं. २४६८
बृहद्कल्पभाष्य	सं. पुण्यविजयजी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	१६३३
बृहद्कल्पनिर्युक्ति	सं. पुण्यविजयजी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	१६३३
भगवतीसूत्र	घासीलालजी	जैन शास्त्रोद्धार समिति	१६७१
भगवती- आराधना (दोनों भाग)	पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर	१६७८
मूलाचार (पूर्वार्द्ध)	आर्थिकारत्न ज्ञानमतीजी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	१६८४
मोक्षमार्ग प्रकाशन	पं. टोडरमल	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४ बापूनगर, जयपुर (राज.)	१६८२
मज्झनिकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप	नव नालंदा महाविहार संस्करण	
महावीरचरियं	गुणचन्द्र		
महासमाधि		आगमोदय समिति	१६२७

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
योगशास्त्र	आ. केशर सूरीश्वरजी म.	मुम्बई श्री मुनिचन्द्र श्रमण आराधना ट्रस्ट गिरिविहार तलेटी रोड़, पालीताणा	१६७७
योगसार	श्रीमद् योगीन्दुदेव	श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, आगास (गुजरात)	१६६०
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	पं. पन्नालाल “बसन्त”	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली	१६७२
राजवार्तिक	अकलकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली	
व्याख्याप्रज्ञप्ति (भाग ३, ४)	सं. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	१६८६
बृहद्द्रव्यसंग्रह	श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव	श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुज.)	वी.सं. २५०३
वसुनन्दिश्रावकाचार	सं. हीरालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१६५२
विशेषावश्यकभाष्य	श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण टीका हेमचन्द्र, हर्षचन्द्र, भूराभाई	बनारस	२४४१
व्यवहारभाष्य	श्रीभद्रबाहु स्वामी केशवलाल प्रेमचन्द्र	अहमदाबाद	
समवायांगसूत्र	सं. श्री मधुकर	श्री आगम प्रकाशन	१६८२

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
	मुनि	समिति, ब्यावर	
स्थानांगसूत्र	सं. श्री मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति	१९६२
श्री समाधिशतक टीका	ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद	जैन मित्र सूरत	१९८७
सर्वार्थसिद्धि:	पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१९५५
समाधिभरणोत्साहदीपक	हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली	१९८२
समयसार	ज्यचन्द	जिनवाणी प्रकाशन विभाग, श्री जैन मंदिर सराय, रोहतक	वि.सं. २४६८
समाधिभरण	डॉ. रज्जनकुमार सं. सागरमल जैन विजय कुमार	पार्श्वनाथ विद्यापीठ आई.टी.आई.रोड, करौदी, वाराणसी	२००१
संवेगरंगशाला (हिन्दी)	पन्यास श्री फद्मविजय	सरस्वती पुस्तक भण्डार हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद	१९८५ वि.सं. २०४१
श्रीसंवेगरंगशाला (मूलग्रन्थ)	ग्रन्थकार श्री जिनचन्द्रसूरि, सं. मुनि हेमन्द्रविजय पं. बाबुभाई सवचंद	पण्डित बाबुभाई सवचंद ६५५/अ मनसुखभाई पोल, कालुपुर अहमदाबाद-१	१२५० वि.सं. २०२५
संवेगरंगशाला ग्रंथ (गुजराती)	आ. विजयभद्रंकरसूरिजी	श्री महावीर जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ ओपेरा सो. पालडी, अहमदाबाद आगमोदय समिति	१९८७ २४४२

नाम	लेखक का नाम	समिति	सं.
सूत्रकृतांगटीका	शीलकाचार्य	संस्थापक दीप रत्नसागर, आगम आराधना केन्द्र, अहमदाबाद	२०००
ज्ञानार्णव	पं. बालचन्द्रजी शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर	१९७७
ज्ञाताधर्मकथांग	श्री मिश्रीमलजी (मधुकर)	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	१९८१
त्रीणि छेदसूत्राणि	युवाचार्य श्री मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	१९९२
श्रमणसूत्र	अमरमुनिजी महाराज	सन्मति ज्ञानपीठ आगरा	१९६६
श्रावकधर्म	महासती उज्ज्वल कुमारी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	१९५४





प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 में संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ हैं। यहाँ 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।

इस परिसर में साधु-साधवियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्यों के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

प्रकाशन सूची

1. जैन दर्शन के नव तत्त्व-डॉ. धर्मशीलाजी
2. Peace and Religious Harmony-Dr. Sagarmal Jain
3. अहिंसा की प्रासंगिकता-डॉ. सागरमल जैन
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा-डॉ. सागरमल जैन
5. जैन गृहस्थ के षोडश संस्कार-अनु. साध्वी मोक्षरत्ना श्री
6. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्ना श्री
7. अनुभूति एवं दर्शन-साध्वी रुचिदर्शनाश्री
8. जैन विधि-विधानों के साहित्यों का बृहद इतिहास-साध्वी सौम्यगुणाश्री
9. प्रतिष्ठा, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री
10. प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि-अनु. मोक्षरत्नाश्री
11. धर्म का मर्म-डॉ. सागरमल जैन
12. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा-डॉ. सागरमल जैन

लेखिका एक परिचय...



नाम	- साध्वी प्रियदिव्यांजना श्री
सांसारिक नाम	- शशिकला झाबक
जन्म स्थान	- चैन्नई (मद्रास)
पिताश्री	- हेमचंद्रजी सा. झाबक
मातुश्री	- यशबाला झाबक
जन्म	- 8/8/1973
दीक्षा	- 23/2/1994
दीक्षा स्थल	- चैन्नई (मद्रास)
लघु दीक्षादाता	- श्रीमद् विजयकलापूर्ण सूरिश्वरजी म. सा.
बड़ी दीक्षा दाता	- उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभ सागरजी म. सा.
दीक्षा गुरु	- पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका प. पू. सुलोचना श्री जी म. सा.
विहार क्षेत्र	- तामिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक
अध्ययन	- हिन्दी, संस्कृत, तर्क-न्याय, व्याकरण, आगम आदि एम. ए. - जैन विद्या और तुलनात्मक धर्म-दर्शन पीएच. डी. - संवेगरंगशाला में साधना और आराधना स्वरूप
तपश्चर्या	- मासक्षमण, वर्षीतप, वीशस्थानक तप, वर्धमान आयम्बिल तप, अट्टाई, नवपद ओली
विशेषता	- अल्पवय में ही आपने ज्ञान, साधना, और तप आराधना केशिखर को छुआ है। आपका तप एवं संयम से विभूषित आपका जीवन प्रेरणादायी है। वाक्पटुता एवं प्रफुल्लित सौम्य चेहरा प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करता है। आपका जीवन आत्मचिंतन, तप-त्यागमय जीवन, मधुरवाणी, सरलता, क्षमा, परोपकार आदि गुणों से सुरभित है।